समाजशास्त्र

समाजशास्त्र

विवेचना और परिप्रेक्ष्य

(Sociology: Analysis and Perspective)

राम आहूजा
मुकेश आहूजा

रावत पब्लिकेशन्स
जयपुर • नई दिल्ली • बैंगलोर • मुम्बई • हैदराबाद • गुवाहाटी

प्रस्तावना

यह पुस्तक अनेक लक्ष्यो को ध्यान मे रखकर लिखी गई है। इनमे से प्रमुख लक्ष्य है समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण धारणाओ को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के साथ प्रस्तुत करना। पुस्तक समाजशस्त्र के मूलभूत सिद्धान्तो को प्रस्तुत करने के प्रति समर्पित है। समाजशास्त्र की अनेक पुस्तके विभिन्न पाठ्यक्रमो हेतु विशेषकर हिन्दी मे बहुत प्रारभिक प्रतिपादन के साथ लिखी जाती हैं। परिणामस्वरूप उनकी विषय सामग्री अत्याधिक सरल और सतही हो जाती है। *ऐसी पुस्तके विद्यार्थियो की कल्पनाशक्ति को उत्तेजित नहीं कर सकतीं। इस पुस्तक मे पाठक देखेगे कि हमने विषयवस्तु को सरलीकृत करने का प्रयास किया है। हमे विश्वास है कि विषयवस्तु समाजशास्त्र के अध्ययन का एक अनोखा उपगमन प्रस्तुत* करेगी। नवीनतम विचारो को भी यथास्थान शामिल किया गया है।

हमारा प्रयास रहा है कि विषयवस्तु को ऐसी शैली मे प्रस्तुत किया जाए जिसे आसानी से समझा जा सके तथा साथ ही जो चर्चित विषयो की जटिलताओ के साथ न्याय भी कर सके। विषयवस्तु की सरचना व निरूपण इस प्रकार है कि वह उच्च पाठ्यक्रमो और प्रतियोगी परीक्षाओ मे भी सहायक हो सके। जहाँ तक शब्दावली का प्रश्न है इसे सरलतम रखने का प्रयास किया गया है। समाजशास्त्र को समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि समस्याओ को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि पाठक उन्हे स्वय के अनुभवो से जोड सके। इसीलिए अमूर्त विचारो, धारणाओ व सिद्धान्तो को जहाँ सभव हुआ है रेखाचित्रो के साथ व सावधानीपूर्वक चयनित उदाहरणो के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक मे समूह, प्रस्थिति, समाज, समाजीकरण, स्तरीकरण, सामाजिक परिवर्तन तथा महत्वपूर्ण सामाजिक सस्थाओ   परिवार, धर्म, राज्य, अर्थव्यवस्था, शिक्षा आदि की मूलभूत धारणाओ का समावेश है। ऐसा इनके समाजशास्त्रीय सबधो तथा समाजशास्त्र के प्रारभिक विद्यार्थियो की पहुँच को ध्यान मे रखकर किया गया है। आवश्यकतानुसार कुछ अध्यायो को छोडा जा सकता है अथवा इनका विभिन्न क्रमो मे अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक अध्याय एक स्वतत्र इकाई के रूप मे लिखा गया है। सावधानी रखी गई है कि तथ्यो को दोहराया न जाए।

हम उन समस्त लेखकों व प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं जिनकी पुस्तकों का हमने सहारा लिया है तथा उनके अंशों को उद्धरित किया है। किसी भी ऐसी वैचारिक विकृति के लिए क्षमा प्रार्थी भी हैं जो अनजाने में किसी लेखक के लेखन में पैदा हो गयी हों। पाठकों से अनुरोध है कि वे पुस्तक के संबंध में अपने सुझावों से अवगत कराएं जिससे अगले संस्करण को अधिकाधिक उपयोगी बनाया जा सके।

राम आहूजा
मुकेश आहूजा

अनुक्रमणिका
(Contents)

1

समाजशास्त्र : एक परिचय

(Sociology : An Introduction)

समाजशास्त्र क्या है? (What is Sociology)

विभिन्न लेखकों ने समाजशास्त्र की परिभाषा भिन्न प्रकार से दी है। रिचर्ड टी शैफर (Richard T Schaefer, 1989 5) ने इसे सामाजिक व्यवहार, मानव समूह, लोगो की अभिवृत्ति व व्यवहार पर सामाजिक सबधो का प्रभाव तथा समाज किस प्रकार स्थापित होते हैं व बदलते हैं, इन विषयो के व्यवस्थित अध्ययन को समाजशास्त्र कहा है। एन्थनी गिडिन्स (Anthony Giddens, 2001 2, 4) ने इसे समूहों व समाज का अध्ययन माना है। पीटर रोज एव ग्लेजर (1982 2) (Peter Rose and Glazer) के अनुसार यह मानव समाज का वैज्ञानिक एव सामाजिक सबधो के *नमूनो का अध्ययन है। इयान रॉबर्टसन* (Ian Robertson, 1983 : 3) इसे सामाजिकी *व्यवहार का अध्ययन मानते है। हॉर्टन व हण्ट (Horton and Hunt, 1984 4)* के *अनुसार समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। थियोडोरसन* व थियोडोरसन (Theodorson and Theodorson, 1969 · 401) के अनुसार यह व्यक्तिगत एव समूह की अत क्रिया की प्रक्रिया व नमूनो का अध्ययन है। एलिस व लिपेझ (Ellis and Liptez, 1979 . 5) के मतानुसार समाजशास्त्र सामाजिक अत:क्रियाओ व आपसी सबधो के विभिन्न रूपों का अध्ययन है। वहीं मेटा स्पेंसर (Metta Spencer, 1970 . 2) के विचार से यह सामाजिक समूहो के सगठन तथा

समूहों के व्यक्तिगत व्यवहार पर होने वाले प्रभाव का अध्ययन है। मैक्स वेबर ने कहा है समाजशास्त्र "मानव मस्तिष्क की अन्तःक्रियाओं" का अध्ययन है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र लोगों की अभिवृत्तियों व व्यवहार पर सामाजिक संबंधों के प्रभाव का अध्ययन करता है इसके साथ ही समाज की रचना कैसे होती है व उनमें बदलाव किस प्रकार आता है का भी अध्ययन करता है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजशास्त्री अकेले व्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तियों के समूह पर अध्ययन करते हैं। व्यक्तियों के समूह में दो मित्र हो सकते हैं या एक परिवार के सदस्य या एक से अधिक राजनैतिक दलों के सदस्य हो सकते हैं, इसकी कोई सीमा नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि समाजशास्त्रियों की व्यक्ति में रुचि ही नहीं होती। उनकी रुचि व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों के पैटर्न में होती है व अपना ध्यान ऐसे व्यक्तियों पर केन्द्रित करते हैं जो एक समाज, एक धर्म, एक जाति, एक वर्ग इत्यादि के सदस्य होते हैं तथा एक-दूसरे की अभिवृत्तियां व व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

माइक ओ डोनेल (Mike O' Donell, 1997:2) के अनुसार समाजशास्त्र समुदायों का जिनका आकार एक छोटी सी जनजाति से लेकर संपूर्ण समाज हो सकता है, का व्यवस्थित अध्ययन है। आज तो लोग 'वैश्विक समाज' (Global Society) की बात करने लगे हैं। व्यक्तियों के विभिन्न आकार के समूहों को मिलाकर समाज बनता है। समाजशास्त्र एक व्यक्ति व दूसरे व्यक्ति के बीच, व्यक्तियों व समूहों के बीच तथा विभिन्न समूहों के बीच अंतःक्रियाओं का अध्ययन करता है। व्यक्ति कुछ विशिष्ट समूहों अथवा समाज को प्रभावित कर सकता है तथा यह उनसे प्रभावित भी हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि समाजशास्त्र व्यक्तिगत अनुभव व बाहरी घटनाओं के बीच के संबंधों की व्याख्या करता है। वह व्यक्ति व समाज के बीच संबंधों की भी व्याख्या करता है। इसे स्पष्ट करने हेतु हम एक उदाहरण लेते हैं। एक विद्यालय को बन्द करना पड़ता है। एक व्यक्ति द्वारा विद्यालय के बन्द होने को केवल एक निजी समस्या के रूप देखा जाता है। यह विद्यालय बन्द होने के कारणों की ओर ध्यान नहीं देता। समाजशास्त्री विद्यालय की कार्य पद्धति का विश्लेषण करेगा, वहाँ दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता व सबसे महत्वपूर्ण विद्यालय के बन्द होने के कारणों की समीक्षा करेगा। क्या यह शिक्षकों का आन्दोलन है? क्या संस्था के धन का प्रबन्धन द्वारा दुरुपयोग किया गया है? क्या अकुशल शिक्षक प्रति वर्ष अच्छे परिणाम देने में असफल रहे हैं? इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा विद्यालय के ढांचे तथा उसकी कार्य प्रणाली का सही रूप से सामाजिक आकलन हो सकेगा।

सी राईट मिल्स (C Wright Mills, 1970) द्वारा समाजशास्त्रीय कार्यों को समाजशास्त्रीय कल्पना के आवश्यक उपकरण के रूप में वर्णित किया गया है। मिल्स

का मानना है कि समाजशास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया मात्र नहीं है बल्कि घटनाओ का विस्तृत सदर्भ मे अध्ययन करना है। उदाहरण के लिए यह हमे बताता है कि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियो मे हम विशिष्ट प्रकार का व्यवहार क्यो करते हैं अथवा दूसरे व्यक्ति तथा समूह विशिष्ट प्रकार से कार्य क्यो करते हें? (स्वज्ञान प्राप्ति)। ग्रामीण गरीबी उन्मूलन, परिवार नियोजन झुग्गी बस्ती, मुक्त शहर आदि लोक कल्याणकारी कार्यक्रम क्यो असफल होते ह? (मूल्याकन, नीति निर्धारण, कार्यक्रम) अथवा किसी व्यक्ति के सास्कृतिक मूल्य अन्य समुदायो के सामाजिक मूल्यो से किस प्रकार भिन्न होते हैं? समाजशास्त्रियो को अपने स्वय के समाज को किसी बाहरी *व्यक्ति की दृष्टि से आकलित करना चाहिए न कि अपने सीमित अनुभवों व पूर्वाग्रहो* के आधार पर। मिल्स यह भी कहते हैं कि 'समाजशास्त्री कल्पना हमे 'व्यक्तिगत समस्या तथा सामाजिक ढाचे के सार्वजनिक मुद्दे' के बीच एक कडी प्रदान करती है।

समाजशास्त्र का मुख्य जोर समूह अथवा सामाजिक अत क्रियाओ पर रहता हे न कि व्यक्ति पर। यह समूह छोटा (परिवार), मध्यम आकार का (श्रम सगठन), बडे आकार का (ग्राम) अथवा बहुत विस्तृत (आधुनिक औद्योगिक समाज) हो सकता है। सामाजिक अत क्रिया का अर्थ है लोग एक-दूसरे से किस प्रकार व्यवहार करते हैं तथा एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यही सामाजिक अत.क्रिया लोगों के सामाजिक व्यवहार (परिवार म पत्नी का पति के प्रति व्यवहार, मनमुटाव के कारण इत्यादि) को निश्चित करती है तथा सामाजिक सस्थाओ परिवार, जाति, विद्यालय, इत्यादि का निर्माण करती है।

टॉमस फोर्ड होल्ट (Thomas Ford Hoult, 1969 307) ने कहा है कि समाजशास्त्र सामान्यत लोगो के सामाजिक सबधो तथा विशेष रूप से इन सबधो के परिणामो का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र लोगो के सामाजिक व्यवहार तथा उनके द्वारा निर्मित समूहो का अध्ययन करता है। यह समूहो के बीच अत:क्रिया, उनके उद्‌गम का पता लगाना तथा विकास का अध्ययन करता है। यह समूहों की क्रियाओ का उसके सदस्यो पर क्या प्रभाव पडता है, इसका विश्लेषण करता है (हॉर्टन व हण्ट, 1984 : 4)। समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है समाज को समझाना।

कला के रूप मे समाजशास्त्र (Sociology as an Art)

अनेक समाजशास्त्री अपने विषय को विज्ञान से अधिक कला मानते हैं। वे वैज्ञानिक *ज्ञान एव कलात्मक समझ के बीच अतर पर जोर देते हैं। बौद्धिक रूप से* हम जो ग्रहण करते हैं वह ज्ञान की परिधि में आता है, जबकि तीव्र भावनाओ के सबध मे अनुभूति होती है उसे हम समझ कह सकते हैं।

मार्क्स, वेबर तथा कूले जेसे समाजशास्त्रियों ने समझ को अधिक भावपूर्ण

व्याख्या की है। वेबर ने इसका विचार एक प्रकार की सम्था के रूप में किया है जिसके विषय में लोग जानते तो हैं किन्तु उसे दस्तावेजो मे तथा वैज्ञानिक रूप मे सिद्ध नहीं कर सकते। कूले (Cooley) ने समझ को महानुभूतिपूर्ण आत्मनिरीक्षण (Introspection) कहा है। एक समाजशास्त्री अपने विषय को इस प्रकार जान पाएगे कि बाद में वे जब भी चाहेंगे, अपनी पूर्ण क्षमता के साथ याद कर सकेंगे व उसका वर्णन कर सकेंगे। इस प्रकार वे इसे हमेशा आत्मनिरीक्षण द्वारा समझ सकेंगे।

ज्ञान व समझ के बीच का अन्तर उतना ही बडा है जितना समाजशास्त्र का एक विज्ञान तथा एक कला के रूप में है। इन अतिरिक्त विधियों का भी महत्वपूर्ण अन्तर है। एक वैज्ञानिक के रूप मे समाजशास्त्री का सबध औपचारिक वैज्ञानिक अन्वेषण की किसी कसौटी से होता है। समाजशास्त्री विशेष रूप मे ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें अपना अन्वेषण इस प्रकार करना चाहिए कि अन्य व्यक्ति भी उस प्रक्रिया को वैसे ही दोहरा सकें। दूसरे शब्दो मे यदि अध्ययन को दोहराया जाता है तो परिणाम एक समान ही होंगे।

उदाहरण के लिए मान लेते हैं कि समाजशास्त्री राजस्थान के विश्वविद्यालयो में मादक दवाओ की प्रकृति तथा उनके दुष्परिणामों का अध्ययन करना चाहते हैं। सर्वप्रथम वे इस विषय मे संबंधित सभी जानकारी तथा आकडे एकत्र करेंगे। वे एक प्रश्नावली बनाकर सामान्य विद्यार्थियों, होस्टल मे रहने वाले विद्यार्थियो, विशेषज्ञो, विद्यार्थियों के सबधियों तथा जिन्हें उपयुक्त समझते हैं, ऐसे व्यक्तियों से जानकारी एकत्र करेंगे। इसके उपरान्त उनका विश्लेषण करेंगे तथा अपने निष्कर्ष निकालेंगे। अन्य समाजशास्त्री भी इसी प्रकार अध्ययन को दोहराकर सभवत: वही परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

इसके विपरीत कलाकार के रूप मे समाजशास्त्रियों का सबंध तथ्यात्मक जानकारी तथा अनवेषण को दोहराने से कम होगा। नशीली दवाओं के दुष्प्रभाव का अध्ययन करने हेतु वे सहभागियों के अभिमतो, अनौपचारिक उपकरण तथा अन्य तकनीक का प्रयोग करेंगे। फिर भी कलाकार के रूप में एक समाजशास्त्री वैज्ञानिक अन्वेषण के सिद्धान्तो की अनदेखी नहीं करेंगे।

वास्तव में सामाजिक जगत को पूर्ण रूप मे समझने हेतु समाजशास्त्र एक कला व एक विज्ञान, इन दोनों परिप्रेक्ष्यो की आवश्यकता है। समाजशास्त्री रॉबर्ट इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में (Sociology as Science)

विज्ञान क्या है? क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है? ज्ञान प्राप्ति की तार्किक एव व्यवस्थित प्रक्रिया ही विज्ञान है। विज्ञान वह मानवीय ज्ञान है जो अनुभवों (अथवा

ज्ञानेन्द्रियो से प्राप्त अनुभवो) के आधार पर किसी घटना के विषय सिद्धान्त प्रतिपादित करे तथा जिसकी सत्यता को किसी योग्य व्यक्ति द्वारा परीक्षण कर सत्यापित किया जा सके (थियोडार्सन व थियोडोरसन 1969 368 69)। सबद्ध सामान्यीकरण जो ज्ञान भडार के अग होते हैं व व्यक्तिगत अनुभवो को परिलक्षित नहीं करते बल्कि वे सारे विज्ञान समुदाय की आम राय होते हैं। विश्व के बारे म ज्ञान के सत्य को अनेक व्यक्तियो द्वारा प्रेक्षण करने के उपरान्त ही निश्चित किया जाता है। यह इस मान्यता पर आधारित होता है कि प्रेक्षक का पूर्वाग्रह तथा मूल्यो का पर्याप्त रूप से नियत्रित किया गया है जिसस वे सिद्धान्त अधिक स अधिक वस्तुनिष्ठ हो सके। फिर भी विज्ञान की धारणाए तथा सिद्धान्त समय-समय पर की जाने वाली आलोचना के शिकार हो ही जाते हैं तथा उनके पुन परीक्षण व पुनरीक्षण की गुजाइश बनी रहती है।

हॉर्टन व हण्ट (1984 13) के अनुसार समाजशास्त्र एक विज्ञान है। इसे दो प्रकार से समझाया जा सकता है —

(अ) यह वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा प्राप्त व परीक्षित ज्ञान का भडार है। (ब) यह अध्ययन की एक ऐसी पद्धति है जिससे ज्ञान की खोज की जाती है।

कफ (E L Cuff 1979 4) के अनुसार समझ पैदा करने की वैज्ञानिक विधि एव अन्य विधियो म दो प्रकार से अन्तर बताया जा सकता है.— (i) इन्द्रियानुभाविक प्रासगिकता (Empirical Relevance) जो विधि वैज्ञानिक होने का दावा करती है उसे इन्द्रियानुभाविक रूप स प्रासगिक होना चाहिए। इस विधि द्वारा निष्पादित कोई भी कथन, वर्णन तथा व्याख्या को इन्द्रियो से अनुभव कर उन्हे सत्यापित तथा परीक्षित किया जा सके। (ii) स्पष्ट प्रक्रिया (Clear Procedure) वैज्ञानिक विधियो द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया स्पष्ट होनी चाहिए। इस प्रक्रिया से न केवल यह स्पष्ट हो कि निष्कर्ष किस प्रकार निकाले गए हैं बल्कि वह इतनी स्पष्ट होनी चाहिए कि इसका प्रयोग अन्य लोग भी कर सकें तथा निकाले गए निष्कर्षो का परीक्षण भी कर सकें।

यदि हम प्रथम परिप्रेक्ष्य को देखे तो पाएग कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योकि वह वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा निष्पादित ज्ञान की शाखा है जिसे वैज्ञानिक आधार पर परखा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र अनुमानो मिथक कथाओं लोक कथाओ आत्म प्रेरणा अथवा अतर्ज्ञान के आधार पर व्यक्त विचारो को स्वीकृत नहीं करता। बल्कि यह वैज्ञानिक सबूतों पर आधारित निष्कर्षों को ही स्वीकारता है। यदि हम दूसरे परिप्रेक्ष्य अध्ययन को म वैज्ञानिक प्रक्रिया मे देखे तो भी समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योकि इसमे अध्ययन हेतु वैज्ञानिक प्रक्रिया ही अपनाई जाती है।

माइक ओ डोनेल (1997 : 38) ने मत व्यक्त किया है कि यदि विज्ञान को सत्यापित किए जाने योग्य ज्ञान के भंडार के रूप मे परिभाषित किया जाता है तो समाजशास्त्र एक विज्ञान है। किन्तु यदि विज्ञान की सकीर्ण व्याख्या सकारात्मक विधि से प्राक्कल्पना कर परीक्षण के रूप मे की जाती है तो समाजशास्त्र को शायद ही विज्ञान की श्रेणी मे रखा जा सके। उनके अनुसार व्याख्यात्मक समाजशास्त्र मानव समझ में अधिक सबंधित है, न कि वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर की गई नमित्तिक व्याख्या अथवा तथ्यो के वर्णन से। इस आधार पर हम व्याख्यात्मक समाजशास्त्र को अवैज्ञानिक नहीं कह सकते बल्कि यह गैर वैज्ञानिक हो सकता है। सी राइट मिल्स जैसे व्याख्यात्मक समाजशास्त्री उनके द्वारा किए गए कार्य को वैज्ञानिक कार्य कहलाने के जरा भी इच्छुक नहीं हैं। व्याख्यात्मक समाजशास्त्री प्रत्यक्षवादी जिस चीज से घबराते हैं उसे ही मानने को तैयार हैं : समाज तथा समाजशास्त्रीय अन्वेषण मे व्यक्ति परकता का समावेश। व्यक्तिपरकता के दो पहलू हैं (अ) अन्वेषणो के अपने स्वय के मूल्य होते हैं (ब) वे लोग जिनका अध्ययन किया जाना है। वे व्यक्तिगत तौर पर व्यवहार करते हैं इससे उनके व्यवहार का पूर्वाभास नहीं होता। गारफील्ड जैसे नृजाति–विधिशास्त्री कहते हैं कि समाजशास्त्रियों के लिए सत्य के निष्क्रिय दर्शक के रूप मे रहना असंभव है। किसी चीज के आकलन मे व्यक्तिपरकता पर यदि जोर दिया जाता है तो उनकी किसी रिपोर्ट अथवा प्रेक्षण मे सटीकता कैसे आ सकती है? अर्नेस्ट गेलनर ने हेरॉल्ड गारफिंकल द्वारा व्यक्तिपरकता पर जोर देने की आलोचना की है। उन्होंने समाज को समझने की प्रक्रिया मे अनुभवपरक विधि अपनाने की वकालत की है। अल्फ्रेड शूज (Alfred Schutz) मानते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक विज्ञानो मे सही व सटीक भविष्यवाणी करना सभव नहीं है। किन्तु शूज ने यह भी कहा है कि सामाजिक अन्वेषको को अपने निष्कर्षों को दूसरे प्रेक्षकों के निष्कर्षों से मिलान करना चाहिए। यदि दोनों मे एकरूपता है तो इस प्रकार अध्ययन में वस्तुनिष्ठता लाना संभव होगा।

कुछ विद्वानो का मत है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है या नहीं, इस बात को तीन कसौटियो पर कस कर जाना जा सकता है— ज्ञान भंडार की विश्वसनीयता, ज्ञान का व्यवस्थापन तथा ज्ञान के संग्रहण व विश्लेपण की प्रक्रिया।

विश्वसनीय ज्ञान के रूप मे समाजशास्त्र में विभिन्न अध्ययनो द्वारा ज्ञान का संग्रहण किया गया है। इनमे परिवार, समुदायो व समाजों के सामाजिक संगठनों का आधुनिकीकरण, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया, स्वयं का विकास आदि पर अध्ययन शामिल है। जनसख्या शास्त्र, चिकित्सकीय समाजशास्त्र, असामान्य व्यवहार का समाजशास्त्र, धार्मिक समाजशास्त्र, सामाजिक स्तर विन्यास आदि क्षेत्रों मे भी अध्ययन किए गए हैं। किन्तु इनकी विश्वसनीयता भविष्यवाणी के परीक्षण पर निर्भर है।

अध्ययन के कुछ क्षेत्रो मे विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करना कठिन होता है। कुछ अध्ययनो मे भविष्यवाणी मे त्रुटिया टालना सभव नहीं होता। समाजशास्त्रियो के कुछ अन्वेषणो द्वारा विश्वसनीय ज्ञान प्रस्तुत किया गया है किन्तु उसे हमेशा प्रयोग नहीं किया जाता। इस प्रकार यदि यह कहा जाता है कि गरीबी, विघटित परिवार तथा अनैतिक पालको के कारण बच्चो मे अपराधी प्रवृत्ति आती है, इसका अर्थ यह कभी नहीं होगा कि गरीबी उन्मूलन या परिवारो के विघटन को रोककर अथवा पालको मे नीतिमत्ता पैदा कर आपराधिक प्रवृत्ति को मिटाया जा सकता है।

ज्ञान का व्यवस्थापन उसके अवयवो के आपसी सबधों पर निर्भर करता है। समाजशास्त्र मे अनेक अत सबध हैं जिन्हे और अधिक खोज के लिए उपकरण के रूप मे प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वे इतने अधिक नहीं हैं कि सपूर्ण क्षेत्र के लिए पर्याप्त सश्लेषण प्रस्तुत कर सके। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि महिलाओ के विरुद्ध हिसा उनमे असहायता की भावना तथा स्वय के बारे मे न्यून भावना का होना, ससाधनो की कमी, आधारभूत ढाचे की खराब स्थिति तथा पारपरिक मूल्यो से चिपके रहने के कारण होती है। क्या साधनो की कमी तथा स्वय के बारे मे न्यून भावना के बीच सबध को पर्याप्त रूप से सिद्ध किया जा सकता है? ऐसी कई महिलाए हैं जो निरक्षर एव गरीब हैं फिर भी वे निर्भीक व साहसी हैं। अत: ज्ञान का एक भाग पूर्ण घटना की व्याख्या नहीं कर सकता।

यदि हम पद्धति की बात करें तो विश्वसनीय व वैज्ञानिक तथ्यो को एकत्र करने के लिए उपकरणो का प्रयोग किया जाता है किन्तु फिर भी परिमेय (Measurable) मानदडो के अनुरूप सूचनाए एकत्र करना हमेशा सभव नहीं होता। कभी-कभी सूचनाए एकत्र करने की प्रक्रिया खर्चीली होती है। इसलिए जिस मात्रा मे ज्ञान उपलब्ध है वह अनुमानित है और परिशुद्ध नहीं है।

एक विज्ञान अपने सामान्यीकरणो व पूर्वकथनो के लिए सत्यापनीय प्रमाणो के सावधानीपूर्वक व व्यवस्थित विश्लेषण पर निर्भर करता है—ऐसे प्रमाण जिन्हे अन्यो द्वारा परीक्षण करने पर भी हमेशा वही निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। सामाजिक जीवन, जो कि समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु है, मे सायोजिक घटनाओ का क्रम नहीं होता। सामाजिक प्रक्रियाए प्राय, व्यवस्थित एव एक पैटर्न के अनुसार होती हैं। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र मे भी अन्वेषण की उन्हीं सामान्य विधियो का प्रयोग किया जाता है, जिनका अन्य सभी विज्ञानो मे प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक वैज्ञानिको के समान ही समाजशास्त्री भी प्रयोग करते हैं तथा परिशुद्ध व सटीक निष्कर्षों को निकालने तथा सिद्धान्तो के निर्माण के लिए सावधानीपूर्वक रिकार्ड किए गए प्रेक्षणो का प्रयोग करते हैं। अत: यद्यपि समाजशास्त्र अन्य प्राकृतिक विज्ञानो की तरह अभी उतना उन्नत नहीं है फिर भी इसमे निष्कर्षों को निकालने के लिए वैज्ञानिक विधियो का प्रयोग किया जाता है अत इसे वैज्ञानिक दर्जा प्राप्त है।

समाजशास्त्र को एक परिपूर्ण विज्ञान, जो परिशुद्ध व्याख्या तथा पूर्व कथन देता है, नहीं कहा जाता क्योंकि इसका सीधा संबध मानव से है जो अपना व्यवहार जब व जैसा चाहे बदलने मे सक्षम होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके ऐसे व्यवहार के कारण प्राय: जटिल होते हैं जिन्हें चिन्हित करना कठिन होता है। अतः हम ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि विज्ञान को (अ) एक संगठित व प्रमाणित ज्ञान के रूप में जिसे वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा प्राप्त किया गया है तथा (ब) एक अध्ययन की विधि जिसके द्वारा प्रमाणित ज्ञान की खोज की जाती है, के रूप में परिभाषित किया जाता है, तो समाजशास्त्र एक विज्ञान है। सरल शब्दों में कहे तो समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि इसकी विधिया वैज्ञानिक हैं तथा इसमें मानव के सामाजिक जीवन का प्रमाणित ज्ञान समाहित है।

यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है। इसके पक्ष व विपक्ष में दलीलें दी जा सकती है। यदि संतुलित पक्ष के लिए हम निस्बेट के विचारों को स्वीकार करते हैं जो समाजशास्त्र का मोटे तौर पर वैज्ञानिक आधार है, इसे अस्वीकार नहीं करते किन्तु वे सी राइट मिल्स के इस विचार से सहमत हैं कि समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका पर जोर देना चाहिए। वे कहते हैं कि इससे समाजशास्त्र को एक कला का गुण मिलता है। वे समाजशास्त्र को दोनों—विज्ञान व कला मानते हैं।

समाजशास्त्र के प्रकार (Types of Sociology)

एक समाजशास्त्री के रूप मे जब हम समाजशास्त्र की बात करते हैं तो हमें समाजशास्त्र के विभिन्न प्रकारों मे भेद को जानना चाहिए। लेस्टर वार्ड (Lester Ward) की परिभाषा के अनुसार विशुद्ध (Pure) या बुनियादी (Basic) समाजशास्त्र वह शास्त्र है जिसमे सामाजिक घटना के बुनियादी पहलुओं के बारे मे अधिक गहन ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही अध्ययन किया जाता है। विशुद्ध ज्ञान एवं सैद्धांतिक विकास के उद्देश्य से किया गया समाज का वैज्ञानिक व पूर्वाग्रहयुक्त अध्ययन ही बुनियादी समाजशास्त्र है।

व्यावहारिक (Applied) समाजशास्त्र मे सामाजिक स्थिति अथवा सामाजिक संबंधों की पद्धति अथवा मानव व्यवहार व संगठनों को समझने व उनके विश्लेषण करने मे समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का क्रियान्वयन होता है।

क्लिनिकल (Clinical) या ठोस (Concrete) समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक संबंधों को बदलना तथा बदलाव लाने में सहायता करना होता है। यह बदलाव परिस्थिति को एक इकाई के रूप में अथवा 'व्यवस्था' के रूप मे समझकर किया जाता है। उदाहरण के लिए अत्यधिक पारिवारिक तनाव से ग्रस्त लोगों को

व्यावहारिक रागोपचार (Behaviour Therapy) अथवा पर्यावरण रोगोपचार (Environment Therapy) द्वारा चिकित्सा करना।

आनुभविक (Empirical) समाजशास्त्र मे विशुद्ध समाजशास्त्र द्वारा विकसित सिद्धान्तो का प्रयोग सामाजिक घटनाओ के अन्वेषण हेतु किया जाता है।

थियोडोरसन की व्याख्या के अनुसार औपचारिक (Formal) समाजशास्त्र जार्ज सम्युअल द्वारा प्रारभ किया गया वह प्रयास है जो सामाजिक अत.क्रियाओं के रूप व उसकी विषयवस्तु के बीच अतर ढूढता है और जो दोनो का पृथक से विश्लेषण करना है। अत क्रियाओं के स्वरूप म समाज के मूलभूत ढाचे का पृथक मे समावेश होता है न कि विशिष्ट समाजो की ठोस प्रवृत्तियो का। इस प्रकार औपचारिक समाजशास्त्र बहुत अधिक अमूत (Abstract) व सामान्य होता है।

समाजशास्त्र का उदय (Origin of Sociology)

ज्ञान की शाखा के रूप मे समाजशास्त्र अभी नया है। पाश्चात्य समाज मे यह उन्नीसवीं सदी की दूसरी चोथाई में उभर कर आया, जब फ्रासीसी गणितज्ञ एव दार्शनिक आगस्ट काम्टे (Auguste Comte) ने 1838 मे अपने समाज के अध्ययन मे समाजशास्त्र (Sociology) का उल्लेख किया।

सन् 1840 म पूर्व दार्शनिको का सारा ध्यान आदर्श समाज की ओर था। 1840 के बाद उनका ध्यान वास्तविक समाज जो अस्तित्व मे ह, उस ओर गया। इससे पूर्व किसी ने भी विद्यमान समाज के विश्लेषण का प्रयास नहीं किया। किन्तु ऑगस्ट काम्टे, हरबर्ट स्पसर, दुर्खीम आदि ने इस सोच को बदल दिया। विद्यमान समाज को समझकर उन्होंने उसम सुधार लाने का प्रयास किया। काम्टे ने कहा कि समाज को ठीक से समझने मे वज्ञानिक विधियों का सहारा लेना आवश्यक है। समाजशास्त्र के विकास के मुख्य कारण हैं —

(अ) कुछ बुद्धिजीविया ने पुरानी पारपरिक धारणाओ को छोडकर मानवीय सबधा को तार्किक आधार पर सोचने के प्रबुद्ध तरीको को अपनाया।

(ब) इस युग मे कई क्रातिया हुई जैसे फ्रासीसी क्रान्ति, अमेरिकी स्वतत्रता सग्राम आदि। इन क्रातियो ने केवल लोगो को अधिक अधिकार दिए बल्कि उन्होंने लोगो के नये उत्तरदायित्वो को भी चिन्हित किया।

(स) औद्योगिक क्राति का समाज के सभी आयामो पर प्रभाव पडा।

आगस्ट काम्टे (1798-1857) ने कहा कि समाजशास्त्र समाज का समग्र रूप से अध्ययन करेगा। ऐसा क्रमबद्ध रूप से पहले कभी नहीं हुआ था। उसने आगे यह भी कहा कि जब समाजशास्त्री समाज को ठीक तरह से जानने लगेंगे तो वे समाज

में और अधिक प्रगति करने हेतु मार्गदर्शन देने मे अधिक सक्षम होंगे। इस प्रकार समाज को शासित करने मे समाजशास्त्रियो की प्रमुख भूमिका निभानी होगी।

हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) (1820-1903) को समाजशास्त्र के क्षेत्र मे काम्टे के कार्य को आगे बढाने का श्रेष्ट ब्रिटिश सामाजिक विचारक जाना जाता है। उन्होंने जैविक विकासवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार समाज सरलता से जटिलता की ओर जाता है। आगस्ट काम्टे के विपरीत स्पेंसर समाजशास्त्रियो द्वारा समाज की कार्यप्रणाली मे दखलदाजी करने के पक्ष मे नहीं थे। उनके अनुसार समाजशास्त्री का कार्य समाज का अध्ययन करना और उसमें बिना दखलदाजी किए गए अध्ययन को लिपिबद्ध करना है। इस प्रकार उनकी पहुंच (Approach) वस्तुनिष्ट तथा दखलदाजी न करने की थी।

एन्थनी गिडिन्स मानते थे कि समाजशास्त्र का जन्म फ्रासीसी क्राति (1789) तथा अठारहवीं सदी मे इंग्लैण्ड मे हुई औद्योगिक क्राति के कारण हुआ। उन्नीसवीं सदी में निम्न तीन कारणो ने लोगो को समाजशास्त्र की ओर ध्यान देने हेतु बाध्य किया—

(i) **औद्योगिक अर्थव्यवस्था**—वैज्ञानिक आविष्कारो व तकनीकी प्रगति के कारण उद्योगो पर आधारित औद्योगिक अर्थव्यवस्था का उदय।

(ii) **शहरों का विकास**—उद्योगो के कारण शहरी विकास हुआ, परिणामस्वरूप लाखों की सख्या में लोग गाव छोडकर शहरों मे बस गए।

(iii) **राजनैतिक परिवर्तन**—शहरो में लोगों के लोकतंत्र के प्रति विचारों में परिवर्तन आया। इसका कारण फ्रांस की क्राति था, जिसका असर इग्लैण्ड व जर्मनी पर भी पड़ा। अतः इन समाजो में समाजशास्त्र का विकास हुआ।

हर्बर्ट स्पेंसर ने सन् 1878 में इग्लैण्ड मे 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' (प्रिंसिपल ऑफ सोशियोलोजी) नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उन्होंने समाजशास्त्र के ऑर्गेनिक विकास की बात कही तथा सामाजिक विकास के सिद्धान्त को विकसित किया। अमेरिका में लेस्टर वार्ड ने अपनी पुस्तक 'गतिशील समाजशास्त्र' *(Dynamic Sociology)* सन् 1883 मे प्रकाशित की। दुर्खीम ने सन् 1885 में 'सामाजिक विधियों के नियम' *(Rules of Sociological Methods)* प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने वैज्ञानिक कार्यप्रणाली की बात की। उनकी पुस्तके 'आत्महत्या' *(Suicide)* सन् 1897 में तथा 'श्रम विभाजन' *(Division of Labour)* सन् 1893 मे प्रकाशित हुई। अमेरिका में 1890 के दशक मे अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विषय को प्रारंभ किया गया। सन् 1895 से *American Journal of Sociology* का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। सन् 1930 तक अनेक समाजशास्त्र संबंधी पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी मे जिन सुप्रसिद्ध समाजशास्त्रियो ने समाज का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करने मे तथा समाजशास्त्र के विकास मे योगदान दिया वे थे— आगस्ट काम्टे (1798 1857), हबर्ट स्पेसर (1820 1903), कार्ल मार्क्स (1818-1883), एमिल दुर्खीम (1858-1917), मैक्स वेबर (1864-1920), जॉर्ज हर्बर्ट मीड (1863-1931) तथा चार्ल्स होर्टन कूले (1864 1929)। बीसवीं सदी के मध्य मे अमेरिका के चोटी के समाजशास्त्री थे टालकट पार्सन्स (1902-1979) चार्ल्स राइट मिल्स (1916 1962) व इरविग गॉफ मैन (1922-1982)

पश्चिम के कुछ अन्य समाजशास्त्रियो जिन्होने समाजशास्त्र के विकास मे योगदान दिया, वे थे लेस्टर वार्ड जिन्होने सामाजिक प्रगति व समाज सुधार की बात कही विलियम ग्राहम समनर जिन्होने साधारण लोगो के दैनिक जीवन के रीति रिवाजो का सूक्ष्म अध्ययन किया। इनके अलावा रॉबर्ट पार्क (Robert E Park) अर्नेस्ट डब्ल्यू बर्गेस (Ernest W Burgess) किग्सले डेविस (Kinsley Davis) तथा अन्य अनेक समाजशास्त्रियो ने भी समाजशास्त्र के विकास मे योगदान दिया।

भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in India)

रामकृष्ण मुखर्जी *(Sociology of Indian Sociology, 1979)* के अनुसार भारत मे समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रारभ मे विशेषत. 1920 व *1940 के बीच कुछ व्यक्तियो के प्रादुर्भाव से जिन्हे मुखर्जी ने अग्रणीय* समाजशास्त्री कहा है, निम्न प्रवृत्तियो से प्रारभ हुई—

(1) भारत मे तत्कालीन कुछ ब्रिटिश प्रशासको द्वारा भारतीय सामाजिक परिदृश्य से सबधित 'क्या' और 'क्यो' प्रश्नो के आधार पर तेजी व विस्तार से जानकारी एकत्र करना। बुद्धिजीवियो ने इस जानकारी के आधार पर किए गए विश्लेषणो को व्यक्तिनिष्ठ माना तथा वे इसे वस्तुनिष्ठ बनाना चाहते थे।

(2) सन् 1783 व उसके बाद के वर्षों मे बगाल मे आर्थिक सगठन का पुनर्गठन हुआ, जिसके कारण जमीदारो का एक प्रबुद्ध वर्ग पैदा हुआ, जिसने सामाजिक विकास तथा नये सिद्धान्तो मे अपनी रुचि दिखाई।

(3) अग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य सस्कृति के विस्तार के कारण, भारत मे एक *प्रबुद्ध वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो भारतीय समाज को वस्तुनिष्ठता तथा तार्किक आधार* पर समझना चाहता था।

(4) कुछ भारतीय बुद्धिजीवी समाज सुधारको के रूप से उभरे, जिन्होंने प्राप्त नये ज्ञान के आधार पर समाज सुधार प्रस्तावित किए, उन्हे शासक वर्ग से भी पूर्ण सहयोग मिला क्योंकि वे इन सुधारो के विरुद्ध नहीं थे।

थे किन्तु वे राजनीति मे सक्रिय नहीं थे। इनमे से अधिकाश बगाली थे किन्तु कुछ मुबई निवासी थे। ये लोग समाजशास्त्र की ओर विभिन्न विषयों से आए थे। इन्होने अनुसधान हेतु भिन्न भिन्न विधियो का प्रयोग किया तथा भारतीय समाज के विभिन्न आयामो पर जोर दिया। आर के मुखर्जी द्वारा इन पुरोगामी समाजशास्त्रिया मे से कुछ को चिन्हित किया गया। ने इस प्रकार हैं—एस टी कतकर *(History of Caste in India,* 1909) वी एन दत्त *(Studies in Indian Social Polity,* 1944), के पा चट्टोपाध्याय (*Urban Working Classes,* 1947), विनय कुमार सरकार (*The Positive Background of Hindu Society,* 1914), जी एस घुर्ये (*Caste and Race in India* 1969), ए के कोमरास्वामी (*Dance of Shiva,* 1948) राधाकमल मुखर्जी (*The Dynamics of Morals,* 1952) तथा डी पी मुखर्जी (*Diversities,* 1958)

समाजशास्त्र एव अन्य विषय (Sociology and Other Subjects)

विज्ञानों को दो भागो मे बाटा जाता हे—प्राकृतिक विज्ञान व सामाजिक विज्ञान। प्राकृतिक विज्ञान मे प्रकृति के भौतिक लक्षणो तथा वे किस प्रकार एक दूसरे से सबध रखते हैं व परिवर्तित होते हैं इसका अध्ययन होता है। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, खगोलशास्त्र आदि सभी प्राकृतिक विज्ञान हैं। सामाजिक विज्ञानो मे समाजशास्त्र मानवशास्त्र (Anthropology) अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, लोक प्रशासन आदि शामिल हैं। यद्यपि ये सभी सामाजिक विज्ञान लोगो के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं फिर भी इनमे से प्रत्येक एक विशिष्ट आयाम का अध्ययन करता है। बार्न्स तथा बोकर का कथन है कि समाजशास्त्र अन्य विज्ञानो की न तो दासी है और न ही मालकिन बल्कि यह उनकी बहन है।

आगस्ट कास्टे ने समाजशास्त्र को एक सश्लिष्टात्मक (Synthetic) विषय कहा है जिसमे अनेक क्षेत्रों व समस्याओ का अध्ययन शामिल ह, तथा इसमे अनेक सामाजिक विज्ञानों के विषयो के विचारो का उपयोग सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो के विश्लेषण हेतु किया जाता है। पीटर रोज (1982 . 4) ने कहा है सामाजिक समस्याओ मे शामिल है—विभिन्न सस्कृतियों के बीच तथा आपस मे अतर (सामाजिक मानव विज्ञान), वस्तुओं व सेवाओ के उत्पादन वितरण तथा उपभोग का सामाजिक जीवन पर प्रभाव (अर्थशास्त्र), अधिकारा का स्वभाव व राजनीति मे उनकी अभिव्यक्ति (राजनीति शास्त्र) वैयक्तिक अन्तर्सम्बन्ध (सामाजिक मनोविज्ञान)।

वास्तव मे सभी सामाजिक विज्ञान जो मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं आपस मे सबधित होते है। यद्यपि अनेक क्षेत्रो मे अन्य विषयो पर अभिव्यापित (Overlapping) होते हुए भी समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान का एक पृथक विषय है। इसका स्वय का परिप्रेक्ष्य है। जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया गया है, समाजशास्त्र विभिन्न प्रकार की अत.क्रियाओ का समूह के विशेष लक्षणो

पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन करता है जैसे अत:क्रियाओ में शत्रुता का समूह की एकता, सुसगतता व मनोदशा पर प्रभाव। यह विभिन्न प्रकार की अत.क्रियाओ का मूल्यों व सिद्धान्तों पर पडने वाले प्रभाव का भी अध्ययन करता है। जैसे पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय विवाह पर, आर्थिक ढाचे पर, राजनैतिक विचारधाराओ आदि पर। हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्र समाज का लोगो की अभिवृत्तियो व व्यवहार पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र (Economics) का सबध आर्थिक गतिविधियो के अध्ययन से होता है जैसे उत्पादनों का उपभोग व वितरण सामग्री व सेवाओ का विभाजन कीमतो व करों का निर्धारण इत्यादि। यह मुद्रा का प्रवाह तथा माग व पूर्ति का मूल्य से सबध आदि घटको का भी अध्ययन करता है। शायद ही किसी अर्थशास्त्री का ध्यान किसी व्यक्ति के वास्तविक आर्थिक व्यवहार अथवा अभिवृत्ति की ओर जाता है। न ही वे किसी सामाजिक सगठन का उत्पादक उद्यम के रूप मे अध्ययन करते हैं। वे इन्हें समाजशास्त्रियो के जिम्मे छोड़ देते हैं। समाजशास्त्री प्राय: ऐसे विषयो का अध्ययन करते हैं जिनका सबध अर्थशास्त्र से होता है। उदाहरण के लिए व्यापारियो व प्रबधको की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा अभिप्रेरणा, शिक्षा का उत्पादकता मे योगदान तथा वस्तुओं के मूल्यो पर प्रतिष्ठा का प्रभाव।

अर्थशास्त्र मे मानव को एक विवेकशील व्यक्ति के रूप में देखा जाता है जो केवल अपने आर्थिक कल्याण से ही प्रेरित होता है। पारपरिक अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि आर्थिक उपादान समाज मे रहने वाले व्यक्तियो के सामाजिक व्यवहार व सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। आर्थिक उपादानो के व्यापक प्रभाव के संबध में कार्ल मार्क्स का कहना है कि उत्पादन के साधन तथा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति ही आर्थिक संबधो को निर्धारित करती हैं तथा आर्थिक सबंधो मे बदलाव ही अंत मे समाज के सामाजिक-राजनीतिक आदि सबधो को प्रभावित करता है। अत: इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि मार्क्स के वर्ग सघर्ष के सिद्धान्त को समाजशास्त्र मे भी उसी प्रकार से प्रयोग किया जाता है जैसे कि अर्थशास्त्र मे। जब अर्थशास्त्री आर्थिक व्यवहारों के सामाजिक संबंधों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करते हैं तो उनका यह कार्य समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए भी महत्वपूर्ण होता है।

वेबलन (Veblen) द्वारा धनी वर्ग पर किया गया अध्ययन तथा अन्य विद्वानों द्वारा किया गया कार्य समाजशास्त्र के लिए भी उतना ही प्रासगिक है, जितना कि अर्थशास्त्र के लिए। अंत: क्रियाओ के अध्ययन हेतु समाजशास्त्रीय पद्धति को अपनाकर अर्थशास्त्री भूमि, श्रम, मशीनों, वस्तुओं, धन आदि ससाधनों के बटवारे का मानवीय क्रियाओं पर पडने वाले प्रभाव का विश्लेषण करते हैं तथा उनके विभिन्न संयोजनो के संगटन का अध्ययन करते हैं (गोल्डनर व गोल्डनर, 1963:15)।

विलफ्रेदो परेटो (Vilfredo Pareto, 1935) ने अपनी कृति 'मन और समाज'

मे अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अर्थशास्त्र मानव व्यवहार के केवल एक पक्ष की चर्चा करता है अर्थशास्त्र मे तार्किक क्रिया का विश्लेषण किया जाता है। किन्तु समाजशास्त्र म अतार्किक क्रियाओ का भी विश्लेषण किया जाता है, जिनके द्वारा सामाजिक जीवन का अधिकाश भाग निर्मित होता है। प्राकृतिक विज्ञानो के विपरीत सामाजिक घटनाओं की व्याख्या के लिए अतार्किक विश्वासो का विश्लेषण किया जाना अत्यावश्यक है। जोसेफ शुम्पीटर (Joshep Schumpeter) ने समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र को एक दूसरे का पूरक विषय माना है।

मनोविज्ञान व्यक्तियो की मानसिक प्रक्रियाओ जैसे सवेग प्रवृत्तिया बुद्धि, अवबोधन इत्यादि का अध्ययन करता है। यह व्यक्तित्व के विकास पर ध्यान केन्द्रित करता है। यह विकास की प्रक्रिया जीवो मे सतत चलती रहती है (जैसे सवेग चिता, मथन प्रतिक्रियाए आदि)। इन प्रक्रियाओ मे सबधित मानवीय व्यवहार पर भी मनोविज्ञान का अध्ययन केन्द्रित रहता है। जबकि मनोविज्ञान अधिगम प्रेरणा अवबोधन प्रवृत्तिया का विकास आदि का अध्ययन करता है समाजशास्त्र समाज मे व्यक्ति किस प्रकार अत क्रियाए करते हैं तथा इनका व्यक्तियो के पारस्परिक सबधो पर क्या प्रभाव पडता है इस पर ध्यान केन्द्रित करता है।

मानव विज्ञान (Anthropology)—वह विज्ञान है जो मानव की प्रारभिक अवस्था स उसकी आज की अवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करता है। मानव विज्ञान के प्रमुख उप विभाग हैं—पुरातत्व विज्ञान (Archeology) भौतिक मानव विज्ञान (Physical Anthropology) तथा सामाजिक मानवविज्ञान (Social Anthropology))। ए एल क्रोबर के अनुसार समाजशास्त्र और मानवशास्त्र जुडवा बहने (Twin Sisters) हैं।

पुरातत्व विज्ञान खुदाई मे निकले अवशेषो के आधार पर पुरातन, सस्कृति तथा उस विकास का अध्ययन करता है। भौतिक मानवशास्त्र मे मानव के शारीरिक गठन का इतिहास, उसका क्रमागत विकास तथा वर्तमान अवस्था तथा भाषा विज्ञान जो भूतकाल के तथा वतमान के बोली के ढाचो का विश्लेषण करता है का अध्ययन शामिल होता है।

मानवविज्ञान का सबध व्यापक रूप से वितरित घटनाओ—तथ्यो से होता है जैसे रीति–रिवाज, सस्थाए जैसे वश, जनजाति आदि। आधुनिक मानव वैज्ञानिको ने आधुनिक सामुदायिक घटनाओं का अध्ययन किया है। किन्तु वे मुख्य रूप से लघु-समाजो के तुलनात्मक अध्ययन ही रहे हैं।

समाजशास्त्री और सामाजिक मानवशास्त्री ऐतिहासिक कारको के कारण उन

समाजों का चयन करते हैं जिनमें भिन्नता अधिक प्रकट होती है बनिस्पत समरूपताओं के। मानवशास्त्री (Anthropologists) और समाजशास्त्री दोनों ही भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से प्रागलिपिक (Pre-literate) समाजों का अध्ययन करते हैं।

सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मानवविज्ञान समाज या समुदाय का सांस्कृतिक तथा सामाजिक संरचना का अध्ययन करता है। यह विशिष्ट भौगोलिक वातावरण तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समाज की समग्राकृति तथा सांस्कृतिक विशेषताओं उनकी जटिलताओं सामाजिक संबंधों के अध्ययन व समझ पर विशेष जोर देता है। थियोडोरसन तथा थियोडोरसन (1969 13) ने कहा है कि सांस्कृतिक मानवविज्ञान किसी संस्कृति के विकास उसकी वर्तमान विशेषताओं व उसमें हो रहे निरंतर परिवर्तनों के विश्लेषण पर वहां के विशिष्ट भौगोलिक परिवेश ऐतिहासिक संदर्भ तथा मनोवैज्ञानिक उपादानों का क्या प्रभाव होता है इसमें संबंधित होता है। पूर्व में सामाजिक मानवशास्त्र केवल यथार्थ एवं पुरातन समाजों में ही संबंधित रहता था किन्तु अब इसमें आधुनिक समाज का अध्ययन भी सम्मिलित हो गया है।

समाजशास्त्री एवं सामाजिक मानव वैज्ञानिक एक दूसरे द्वारा किए गए अध्ययनों का पूर्ण रूप से लाभ उठाते हैं। कुछ ख्यातनाम आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जिनमें मलिनोस्की, रेडक्लिफ ब्राउन इत्यादि शामिल हैं, ने अपने अनुसंधानों में सामाजिक अंत:क्रियाओं के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित किया है। रेडक्लिफ ब्राउन (*Structure and Function of Primitive Society*, 1952 189-90) ने सामाजिक मानवशास्त्र की व्याख्या मानव समाजों का अध्ययन अथवा व्यक्तियों के सहचारिता के संबंधों जो कि सामाजिक संबंधों के जटिल जाल द्वारा जुड़े होते हैं, के अध्ययन रूप में की है। उन्होंने सामाजिक मानवशास्त्र को तुलनात्मक समाजशास्त्र (Comparative Sociology) के समकक्ष माना है।

राजनीति शास्त्र (Political Science) में सरकार के संगठन व प्रशासन, उसका इतिहास व सिद्धान्त, सत्ता की प्राप्ति, विभाजन व उसे कायम रखने का अध्ययन होता है। यह शासन की कार्य प्रणाली, राजनैतिक अभिजात वर्ग का राजनैतिक दलों व दबाव गुटों के व्यवहार आदि का भी अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्री अब राजनैतिक व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण के लिए अधिक से अधिक समाजशास्त्रीय आधार का प्रयोग करने लगे है। वे अब सामाजिक अंत:क्रियाओं की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगे हैं। हेराल्ड लासवल, जिन्होंने अधिकारों का वर्णन व्यक्तियों के एक-दूसरे से संबंधित स्थिति के रूप में किया है, का मानना है कि अधिकारहीन लोगों को सशक्त करने के प्रयासों पर उनकी प्रतिक्रिया पर ही अधिकार प्राप्त व्यक्ति निर्भर करते हैं। समाजशास्त्री व्यक्तियों की सामाजिक अंत:क्रियाओं का अध्ययन विभिन्न परिस्थितियों में करते हैं जबकि राजनीतिशास्त्री

सामाजिक अंत क्रियाओ का अध्ययन राजनैतिक व शासन संबंधी स्थितियों में ही करते हैं और वह भी मुख्यतः सत्ता के प्रवाह की थाह लेने के लिए।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में भेद

(i) राजनीतिशास्त्र राज्य एवं शासन का विज्ञान है। समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।

(ii) राजनीतिशास्त्र केवल राजनैतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र समस्त सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

(iii) राजनीतिशास्त्र केवल उन मानवीय संबंधों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिनके लक्षण राजनीतिक होते हैं। समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के सभी प्रकारों व रूपों का सामान्य रीति से अध्ययन करता है।

(iv) राजनीतिशास्त्र उन सामाजिक नियंत्रणों का अध्ययन करता है जिन्हें राज्य ने अपनी स्वीकृति प्रदान की है। समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के समस्त साधनों का अध्ययन करता है यथा– संस्थाएं, परम्पराएं, विधान आदि।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में पारस्परिक आदान प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र एक प्रकार से समाजशास्त्र का अंग है।

इतिहास (History) में इतिहासकार मानव के भूतकाल की घटनाओं का–– प्रथम लिखित अभिलेख के प्रादुर्भाव से वर्तमान तक अध्ययन करते हैं। किसी विशिष्ट समय पर वास्तव में क्या घटित हुआ इससे ही उनका संबंध रहता है। जैसे भारत में 1857 का स्वतंत्रता संग्राम कैसे प्रारंभ हुआ व उसे कैसे दबाया गया? दूसरी ओर समाजशास्त्री मानव व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों के विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इतिहास युद्धों का वर्णन करता है तो समाजशास्त्र युद्ध को सामाजिक घटना के रूप में और इसके प्रभावों का अध्ययन करता है। इतिहास सभ्यता और संस्कृति का विशिष्ट काल के आधार पर अध्ययन करता है वहीं समाजशास्त्र सभ्यता और संस्कृति की उत्पत्ति विकास आदि की प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

समाजशास्त्री जब विभिन्न आन्दोलनों का अध्ययन करते हैं जैसे जनजाति आंदोलन, नक्सली आंदोलन, किसान आंदोलन, औद्योगिक श्रमिकों का आंदोलन, पिछड़ी जातियों तथा वर्गों का आंदोलन आदि तब वे उन आंदोलनों से भी आगे जाकर सामाजिक आंदोलनों के बारे में एक सामान्य प्राक्कल्पना का निर्माण करते हैं। इतिहासकार किसी विशिष्ट घटना में लोगों के व्यवहार से ही अपना सरोकार रखते हैं जबकि समाजशास्त्री उन प्रक्रियाओं का सामान्यीकरण करते हैं। फिर भी इतिहासकार एवं समाजशास्त्री एक-दूसरे के उपकरणों तथा कार्य प्रणालियों का अध्ययनों हेतु उपयोग करते हैं। जहाँ समाजशास्त्रियों को सामाजिक संस्थाओं के उदय

एवं विकास के अध्ययन हेतु पारंपरिक इतिहासकारों की आवश्यकता होती है, वहीं इतिहासकार भी किसी घटना से संबंधित अनेक तथ्यों में से सही तथ्यों को चुनकर तथा उन चुने हुए तथ्यों में से सामाजिक तथ्यों के चुनाव में मार्गदर्शन हेतु समाजशास्त्रियों के सामान्यीकरणों पर ही निर्भर रहते हैं।

इस प्रकार इतिहासकारों व समाजशास्त्रियों के बीच दोहरा आदान–प्रदान होता है। वे एक-दूसरे को आवश्यक सामग्री प्रदान करते हैं।

बदलती जाति प्रथा, महिलाओं की दशा में परिवर्तन, विवाहों के पैटर्न में परिवर्तन आदि का समाजशास्त्रियों द्वारा विश्लेषण इतिहासकारों द्वारा इन प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न समय पर किए गए विश्लेषणों द्वारा ही संभव हो सकता है।

विश्व के महानतम इतिहासकारों में से कुछ ने सामाजिक इतिहास लिखा है। यह इतिहास राजाओं तथा युद्धों का वर्णन नहीं करता बल्कि ऐसी घटनाओं का वर्णन करता है, जिनके बारे में समाजशास्त्रियों को जिज्ञासा रही है—जैसे परिवार में पुरुष व महिलाओं के बीच संबंध।

एक इतिहासकार भूतकाल में कोई घटना किस प्रकार घटित हुई, इसे बताने में गर्व अनुभव करता है। एक समाजशास्त्री एक ही प्रकार की अनेक घटनाओं में तुलना करता है तथा वह तब तक संतुष्ट नहीं होता, जब तक यह समझाने योग्य नहीं होता कि कुछ घटनाएं उसी प्रकार क्यों घटित हुई व अन्य प्रकार से क्यों नहीं।

गोल्डनर व गोल्डनर (1963:17) ने कहा है कि मैक्स वेबर, जो इतिहासकार तथा समाजशास्त्री दोनों थे, की रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों विषय एक दूसरे को किस प्रकार सामग्री प्रदान करते हैं। प्रोटेस्टेंटवाद ने पूंजीवाद के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया, इसे समझाने में वेबर रुचि रखते थे। इतिहासकार के नाते उन्होंने अनेक देशों में प्रोटेस्टेंटवाद व पूंजीवाद के विकास का गहराई से अध्ययन किया था। समाजशास्त्री के नाते उन्होंने इन घटनाओं के बारे में सामान्यीकरणों का विकास किया। उन्होंने बताया कि किस तरह प्रोटेस्टेंटों ने अपने कठिन परिश्रम व मितव्ययिता के सिद्धान्तों तथा अभिवृत्तियों से एक नये आर्थिक स्वरूप के विकास में सहायता ली।

समाजशास्त्रीय नियम (Sociological Laws)

समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करता है। दुर्खीम के अनुसार सभी वस्तुएं व घटनाएं सामाजिक तथ्य होती हैं। (सांस्कृतिक विशेषताएं तथा मनोग्रंथिया, आर्थिक, राजनैतिक, सौंदर्यपरक तथा न्यायिक तथ्य आदि)। इस प्रकार मानवीय गतिविधियों के क्षेत्र में खोजा गया कोई भी नियम समाजशास्त्रीय नियम कहलाएगा।

समाजशास्त्रीय नियम प्रमाणिक हैं।

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *The Rules of Sociological Methods* मे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि समाजशास्त्र अपने ही प्रकार के यथार्थ से सबध रखता है। मार्क्स पेरेटो तथा स्पेसर ने भी समाज की सूक्ष्म सरचना पर ध्यान केन्द्रित किया है तथा उसी स्तर पर उसके निर्धारक नियमो को व्यक्त करने का प्रयास किया। टी एबैल (T Abel, 1980 212) ने समाजशास्त्रीय नियमो के निम्न पाच वर्गों का वर्णन किया है —

1 वे नियम जो सामाजिक तथ्यो के अपरिवर्ती सहअस्तित्व (Invariant co-existence) को निश्चयपूर्वक व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए—

(i) सभी प्रकार का समाजीकरण प्राथमिक समूहो से ही प्रारभ होता है— कूले

(ii) वे सभी नियम जो लोकाचारो द्वारा समर्थित होते है, उन्हे प्रवर्तित नहीं किया जा सकता सम्नर

2 वे नियम जो कार्यात्मक निर्भरता (Functional Dependence) अथवा सामाजिक तथ्यो के बीच सह-परिवर्तन को व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए—

यदि अन्य स्थितियाँ समान रहे तो उन काल खण्डो मे जब विद्यमान सस्कृति अथवा सामाजिक सबधो का तत्र अथवा दोनो, मे तीव्र परिवर्तन होता है, तब अपने–अपने समाजो मे आतरिक अशाति बढती है। जब वे बलशाली व स्पष्ट होते हैं तब आतरिक अशाति का झुकाव घटने की ओर होता है तथा वह निम्न स्तर पर रहती है— सोरोकिन

3 वे नियम जो सामाजिक तथ्यो के बीच नैमित्तिक सबधो (Casual Connections) को व्यक्त करते हैं अथवा सुझाते हैं। उदाहरण के लिए—

साधारण रूप से एक नेता की शैली, सदस्यो की आकाक्षाओ व परिस्थिति की आवश्यकता द्वारा अधिक निर्धारित होती है वरन नेता के स्वय की विशेषताओ के— बेरेलसन व स्टेनर

4 वे नियम जो सामाजिक तथ्यो के बीच सबधो की सभावना अथवा साख्यिकीय सभावना (Statistical Probability) व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए—

औद्योगिक समाजो मे सामाजिक गतिशीलता की मात्रा उनके द्वारा साधित औद्योगीकरण की मात्रा से प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित होती है— बेरेलसन व स्टेनर

5 वे नियम जो विकास की नियमितता तथा नियमित झुकावो (Regular Tendencies) को व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए—

जब करिश्माई प्रभुत्व स्थिर नहीं रहता बल्कि वह या तो परंपरागत अथवा बुद्धिसंगत अथवा दोनों का मिला जुला रूप हो जाता है। जब उसमें नित्यता आ जाती है, तब करिश्माई समूह अन्य प्रकार के प्रभुत्व में विकसित होने लगता है— वेबर

उपयोग किए गए सभी उदाहरण सामान्यीकरण हैं जो कि आगमन विधि द्वारा बनाए गए हैं अथवा ऐसी प्राक्कल्पनाएं हैं जिन्हें अनुभवों के आधार पर मान्य किया गया है। वास्तव में समाजशास्त्रीय नियमों को अन्य तथ्यों अथवा नियमों द्वारा समर्थित किया जाता है जो उससे तार्किक रूप से सम्बंधित रहते हैं।

अनेक समाजशास्त्रीय नियमों की एक और विशेषता यह है कि उनमें निहित मात्रात्मक संबंधों को संख्याओं द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उदाहरणों में दिए गए नियमों में से कोई भी नियम समीकरण के रूप में व्यक्त नहीं है। समाजशास्त्र में संख्यात्मक नियमों की कमी का कारण समाजशास्त्रीय चरों (Variable) को नापने हेतु असंदिग्ध माप प्राप्त करने में कठिनाई तथा समान प्रयोगात्मक स्थितियों में तथ्यों का निरीक्षण करना लगभग असंभव होता है। समाजशास्त्र नियमों की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे सीमित हैं।

समाजशास्त्रीय नियम समय अथवा स्थान द्वारा नियंत्रित होते हैं। किसी विशिष्ट ऐतिहासिक कालखण्ड तथा किसी विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र से लागू होने वाले नियम 'विशिष्टीकृत नियम' कहला सकते हैं न कि 'साधारण नियम'। क्योंकि साधारण नियम किसी भी समय व कहीं भी सत्य साबित होते हैं। वेबर का समाजशास्त्रीय नियम जो पूंजीवाद की आधुनिक भावना के विकास का संबंध प्रोटेस्टेण्ट यतिवाद (Protestant Asceticism) की नैतिकता से जोड़ता है विशिष्टीकृत नियम का एक उदाहरण है जबकि दुर्खीम का आत्महत्या का नियम सामान्य समाजशास्त्रीय नियम का उदाहरण हो सकता है।

गिडिन्स ने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान नहीं माना है। उनके विचार से सामाजिक प्रक्रियाओं के लिए अमूर्त नियम नहीं हो सकते। सामाजिक संगठन के जो तत्व अपरिवर्तनीय हैं, उनके संबंध में स्थायी नियम नहीं बनाये जा सकते। होमन्स मानते थे कि समाजशास्त्र के मूलभूत नियम मनोविज्ञान के नियम होते हैं।

समाजशास्त्र का महत्व

समाजशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसका बहुत अधिक व्यावहारिक महत्व है। यह सामाजिक समालोचना तथा व्यावहारिक सामाजिक सुधारों में अनेक प्रकार से योगदान दे सकता है। समाजशास्त्र हमारी सांस्कृतिक संवेदनशीलताओं की वृद्धि में योगदान प्रदान करता है, जिससे हमारी नीतियां विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित होती है। व्यावहारिक रूप से हम किसी विशिष्ट नीतिगत कार्यक्रम को लागू करने के परिणामों का अन्वेषण कर सकते हैं। साथ ही समाजशास्त्र हमें स्व-प्रबोधन प्रदान

करता है तथा व्यक्तियों तथा समूहो को अपने स्वय के जीवन की दशाओ मे परिवर्तन करने के अधिक अवसर भी प्रदान करता है।

समाजशास्त्र किस प्रकार हमारे जीवन मे सहायता कर सकता है?

मिल्स ने अपनी समाजशास्त्रीय कल्पना के विकास के समय जोर देकर कहा है कि समाजशास्त्र हमारे जीवन मे अनेक प्रकार से व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

सामाजिक विभिन्नताओ का ज्ञान (Awareness of Cultural Differences)—समाजशास्त्र हमे हमारे सामाजिक विश्व को अन्य लोगों के दृष्टिकोण से देखने मे मदद करता है। यदि हम यह भली–भाति समझ ले कि अन्य लोग किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं तो हम उनके समक्ष आने वाली कठिनाइयो को और अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह मनुष्य को स्वय तथा दूसरो को समझने मे सहायक होता है। समाजशास्त्र अवधारणाओं और कार्यात्मक दोनो विशेषताओ के आधार पर उपयोगी है।

नीतियो के प्रभाव का मूल्याकन (Assessing the Effects of Policies)—समाजशास्त्रीय अनुसधान हमे नीतिगत निर्णयो के परिणामो का आकलन करने मे हमे व्यावहारिक सहायता प्रदान करता है। व्यावहारिक सुधारो का कार्यक्रम जिन उद्‌देश्यो की प्राप्ति हेतु डिजाइन किया गया है उन्हे प्राप्त करने मे पूर्णत· असफल हो सकता है अथवा ऐसे अनपेक्षित परिणाम दे सकता है जो वाछनीय न हो।

आत्मिक प्रबोध (Self-enlightenment)—समाजशास्त्र हमे स्व आत्मिक प्रबोध—स्वय के बारे मे बेहतर समझ प्रदान कर सकता है। हम जैसा व्यवहार करते हैं वह क्यो करते हैं इसके विषय मे तथा हमारे समाज के व्यवहार के विषय मे जितना अधिक हम जानेगे, उतने ही अधिक हम हमारे भविष्य को प्रभावित करने मे सक्षम होगे।

जैसी स्थितिया विद्यमान हैं वे वैसी क्यो हैं तथा व्यक्ति विशिष्ट प्रकार का व्यवहार क्यो करते हैं, आदि से सबधित अनेक कल्पनाओ को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने हेतु समाजशास्त्र मूल्यवान उपकरण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यह ऐसे मुद्‌दो पर भी चर्चा करता है जिन्हे अन्य वैज्ञानिक तथा सामाजिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य नजरअदाज कर देते हैं। समाजशास्त्र हम सभी लोगो द्वारा अनुभव की जाने वाली सामाजिक समस्याओ का निदानात्मक उत्तर प्रदान नहीं करता, फिर भी यह हमे सोचने तथा कुछ प्रश्नों के स्पष्टीकरण तथा उन्हे ठीक से समझने मे सहायता करता है। अन्य विषयो के समान ही समाजशास्त्र समाज मे उसके उपयोग के लिए मूल रूप से मूल्यवान है। मनुष्य व समाज के बारे मे सत्य की स्थापना तथा उसके प्रसारण के स्तर से लेकर विभिन्न प्रकार से उसके अनुप्रयोग तक समाजशास्त्र का समाज हेतु महत्व है। मानव समाज को सभ्य तथा सुसस्कृत बनाने के लिए समाजशास्त्र सर्वथा उपयोगी है।

❖❖❖

2

सामाजिक परिप्रेक्ष्य

(The Sociological Perspective)

एक समय था जब लोग व्यक्तियों के सामाजिक दृश्य, सामाजिक जीवन तथा सामाजिक व्यवहार को सहज बोध, अनुमान, लोक विवेक, काल्पनिक कथाओं, अंधविश्वास, स्वयं के अनुभव आदि के द्वारा समझते थे। इसके बाद वह समय आया जब व्यवस्थित अनुसंधान द्वारा निकाले गए तथ्यों के आधार पर वैज्ञानिक विधि से प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किए जाने लगे। प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा अपनाई जाने वाली विधियों को सामाजिक विज्ञान में भी अपनाया जाने लगा। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान का अपने विशिष्ट परिप्रेक्ष्य से ही संबंध होता था। मानव समाज तथा सामाजिक व्यवहार के अध्ययन हेतु समाजशास्त्र ने भी अपने स्वयं के परिप्रेक्ष्य का उपयोग किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य से पारंपरिक समाजशास्त्रियों जैसे आगस्ट काम्टे, दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा मार्क्स ने समाज का विश्लेषण विशिष्ट समाजशास्त्रीय विधि से किया। माइक ओ डोनेल (1997:5) का मानना है कि यद्यपि समकालीन समाजशास्त्रियों ने मार्क्स, वेबर तथा दुर्खीम द्वारा पूछे गए प्रश्नों के अतिरिक्त तथा कभी-कभी भिन्न प्रश्न किए किन्तु इन पारंपरिक समाजशास्त्रियों द्वारा किए गए कार्य का औचित्य दो प्रकार से परिलक्षित होता है। पहले सामान्य प्रश्न जो इन समाजशास्त्रियों ने पूछे थे, वे वही हैं जो आज के समाजशास्त्री पूछते हैं। दूसरे इन समाजशास्त्रियों द्वारा तैयार किए गए

सामाजिक विश्लेषणों समाधानों अथवा सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सुधार ही किए गए हैं। उन्हें पूर्णत बदला नहीं गया है। अब प्रश्न उठता है कि ये सामाजिक परिप्रेक्ष्य क्या हैं?

सामाजिक परिप्रेक्ष्य क्या है? (What is Sociological Perspective)

सामाजिक परिप्रेक्ष्य सामाजिक विश्व को समझने के प्रयासों की विभिन्न विधियां है (कफ 1979 2)। ये परिप्रेक्ष्य (Perspective) अथवा उपागम (Approach) समाज को तथा हमारे अनुभवों से परे के विशाल विश्व को देखने हेतु हमें प्रेरित करते हैं। समाजशास्त्र हमें धनवानों तथा गरीबों शक्तिशाली एवं कमजोर लोगों झोपड़ पट्टी व्यक्तियों तथा अपराधियों बेरोजगारों एवं शापितों अल्पसंख्यकों जो स्वयं को भेदभाव पीड़ित तथा दुःखित समझते हैं तथा समूहों जो भेदभावपूर्ण सहूलियतें प्राप्त करते हैं की दुनिया में ले जाता है। इन सभी लोगों के अपने अपने अनुभव होते हैं तथा वे सामाजिक यथार्थ को अपने अपने अनुभवों के आधार पर परिभाषित करते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य हमें हमारे स्वयं के दृष्टिकोण से भिन्न दृष्टिकोण को महत्व देने ये दृष्टिकोण कैसे निर्मित हुए इसे समझने तथा इसी प्रक्रिया में हमारे स्वयं के दृष्टिकोण हमारी प्रवृत्तियों व हमारे जीवन को अच्छी तरह समझने के योग्य बनाते हैं (रॉबर्टसन 1981 4)। मानव व्यवहार लोग जिन समुदायों में रहते हैं तथा उन समुदायों में जो अंतःक्रियाएं होती हैं उनके द्वारा निर्धारित होते हैं। यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का आधार है।

औद्योगिक क्रांति तथा उन्नीसवीं सदी के घटनाचक्र के प्रभाव में विभिन्न समाजों की सामाजिक आर्थिक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो रही थीं। विभिन्न समाजों तथा विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बारे में दार्शनिकों का दृष्टिकोण अनुमान आधारित तथा अमूर्त था। किन्तु औद्योगिक क्रांति तथा प्रजातंत्र के परिदृश्य ने उन्हें समाज तथा उनके परिवेश की समस्याओं की ओर देखने की वैज्ञानिक व तार्किक विधियां अपनाने को बाध्य किया। शहरों के विकास व्यवसायों में परिवर्तनशीलता शिक्षा का विशिष्टीकरण कृषि आधारित जीवन से उद्योग आधारित जीवन में परिवर्तन प्राथमिक संबंधों का गौण संबंधों में परिवर्तन धर्म के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव, इत्यादि ने उस समय के बुद्धिजीवियों को उनके परिवेश में हो रहे सामाजिक ढांचे के परिवर्तन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने हेतु प्रेरित किया। यह समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव का संकेत था। समाजशास्त्र जो दर्शनशास्त्र से अन्य प्राकृतिक विज्ञानों से तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे अर्थशास्त्र मनोविज्ञान आदि से सर्वथा भिन्न था। बीसवीं सदी में इस विषय (समाजशास्त्र) के विकास के साथ समाजशास्त्रियों ने यह प्रतिपादित करना प्रारंभ किया कि उनके अध्ययन का परिप्रेक्ष्य तथा सैद्धान्तिक व्याख्या के मॉडल अन्य परिप्रेक्ष्यों से किस प्रकार भिन्न हैं। आज

समाजशास्त्र आपस मे सबधित दो क्षेत्रों के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करता है: (अ) लोगो के आपसी सबधो का पैटर्न व उनकी पुनरावृत्ति (यह व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यवहार के अध्ययन से भिन्न है) तथा (ब) मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले सामाजिक घटक। इन दोनों पर ध्यान केन्द्रित करने को ही अध्ययन का "सामाजिक परिप्रेक्ष्य" कहते हैं।

समाज की वास्तविकताओं तथा उसके परिदृश्य को सभी द्वारा समान रूप में नहीं देखा जाता। उदाहरण के लिए केथरिन फ्रैंक (Katherine Frank) द्वारा लिखित इन्दिरा गाँधी की जीवनी (जो डॉम मॉरस व इदर मलहोत्रा की पुस्तकों से भिन्न है) को ही ले। देखने मे यह एक पुस्तक ही दिखाई देगी किन्तु इसकी व्याख्याए भिन्न हो सकती हैं। एक प्रकाशक इसे एक वस्तु के रूप में देखता है जिसकी बिक्री से उसे लाभ होगा, एक अर्थशास्त्री इसे एक ऐसी वस्तु के रूप में देखेगा जिसका मूल्य 550 रु है कांग्रेस पार्टी के सदस्य इसे तोड मरोडकर लिखी लिखी गई विकृत जीवनी के रूप मे देखेंगे जो उनके नेता का सही चरित्र चित्रण नहीं करती, एक साधारण वाचक इसे एक निरकुश नेता की कार्यप्रणाली पर लिखी गई पुस्तक के रूप मे देखेगा। इस प्रकार विभिन्न व्यक्ति इस पुस्तक मे विभिन्न प्रकार की सामग्री देखेंगे। ठीक इसी प्रकार समाजशास्त्र समाज व सामाजिक व्यवहार पर विभिन्न विशिष्ट परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है—एक दृष्टिकोण जो अन्यो के दृष्टिकोण से जैसे एक दार्शनिक, एक चिकित्सक, एक वकील, एक पुलिस अधिकारी, एक अर्थशास्त्री, एक राजनीतिक, एक मनोवैज्ञानिक आदि से भिन्न होता है। एक पृथक विषय होने से समाजशास्त्र का अपना एक स्वतंत्र विचार करने का केन्द्र बिन्दु होता है तथा सामाजिक परिदृश्य के सबध मे तथ्यों को एकत्र कर अनुसधान करना, उनका विश्लेषण व उनकी व्याख्या करना आदि की भिन्न विधियाँ होती हैं। इसका एक पृथक परिप्रेक्ष्य है—सामाजिक व्यवहार तथा सामाजिक सबधो के पैटर्न पर केन्द्रित अध्ययन।

रिचर्ड शेफर (1989 : 5) के अनुसार सामाजिक परिप्रेक्ष्य का उद्देश्य सामाजिक क्रियाओं तथा सामाजिक व्यवहार के अतर्निहित आवर्ती पेटर्न को अकित करना है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि किसी प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता के प्रशंसको की इच्छा होती है कि वे उनमे व्यक्तिश: मिले, उनसे बात करे, उनके साथ फोटो खिचवाए। लोगों की ऐसी इच्छा क्यो होती है? क्या इन लोगों को अपने परिवार के सदस्यो, मित्रो, पड़ोसियो, सहकर्मियों आदि से अधिक आदर प्राप्त होगा यदि वे इस विभूति से हाथ मिलाते हैं अथवा उनके साथ तीन वाक्य का सवाद साध लेते है? क्या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा मे वृद्धि होगी। इससे सामाजिक परिप्रेक्ष्य न केवल लोगों के सामाजिक व्यवहार के पैटर्न को अंकित करता है बल्कि इससे भी आगे

बढकर वह व्यवहार के इस पैटर्न के कारणो पर भी प्रकाश डालता है। वृहद् सामाजिक शक्तियां का प्रभाव यहाँ सामाजिक परिप्रेक्ष्य का मुख्य विचार बन जाता है। समाजशास्त्री केवल एक प्रशासक के व्यक्तित्व अथवा उसके अभिनेता से मिलने के उसके अनूठे कारणो की ओर ध्यान देकर ही सतुष्ट नहीं होते बल्कि वे मानते हैं कि असख्य लोग फिल्मी सितारो से मिलने की तमन्ना रखते हैं तथा भारतीय सस्कृति के वृहद् सामाजिक सदर्भ म इन प्रशासको की सामूहिक भावनाओं और व्यवहार का परीक्षण भी करत हैं।

रॉबर्टसन (1981 4) के अनुसार मानवीय व्यवहार वे जिन समुदायों मे रहते हैं तथा उन समुदायो मे जो सामाजिक अत क्रियाए होती हैं उनसे प्रभावित होता है और यही समाजशास्त्र का मूल परिप्रेक्ष्य ह। एक व्यक्ति विशिष्ट समय जिस समाज मे रहता है वह उसके व्यवहार को निर्धारित करता हे। यदि एक व्यक्ति अमेरिका मे एक औद्योगिक घराने मे अथवा पाकिस्तान म एक शिया परिवार मे अथवा चीन मे किसी किसान के परिवार म अथवा भारत के किसी ब्राह्मण कुल मे जन्म लेता है तो उसके जीवन सबधी विचार उसके आत्मिक अनुभव उसकी अभिवृत्तिया व भावनाए बिल्कुल भिन्न होगी। अत समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे समाज को नैसर्गिक मानदड कर ही उसका विश्लेषण नहीं किया जाता बल्कि समाज को व्यक्तियो द्वारा निर्मित सस्था माना जाता है तथा इसलिए व्यक्तिया द्वारा उसमे परिवर्तन भी किए जा सकते हैं।

इस सबध मे और उदाहरण लेते हे। समाजशास्त्री स्वय को किस प्रकार अपने परिचित नित्य कार्य से अलग करता है, जिससे वह समाज को नई दृष्टि से देख सके। मान ले विवाह तय करने के उद्देश्य से एक लडका व एक लडकी के बीच लडकी के घर पर दोपहर के भोज पर एक बैठक का आयोजन किया गया हे, जिसमे कुछ घनिष्ठ सबधियो को भी आमत्रित किया गया ह। यह एक सामाजिक घटना है। एक समाजशास्त्री इस घटना से अपने दृष्टिकोण से क्या जानना चाहेगा? लडका व लडकी दोनो ही एक दूसरे को प्रभावित करने हेतु एक दूसरे के विषय मे जानकारी प्राप्त करने मे अधिक रुचि रखते हे न कि केवल बातचीत करने अथवा खाने मे। समाजशास्त्री ध्यान से देखेगा कि लडका व लडकी आपस मे कैसे बात करत ह लडके व उसके माता पिता की उपस्थिति का लडकी के व्यवहार पर कैसे प्रभाव पडता है लडके व लडकी के माता-पिता द्वारा उन्हे अकेले मे मिलने का अवसर देने पर स्थिति मे क्या परिवर्तन हुआ लडके तथा उसके माता-पिता व भाई बहन द्वारा लडकी स किस प्रकार के प्रश्न पूछ गए लडक तथा लडकी क माता पिता के बीच दहेज के सबध मे क्या कोई चर्चा हुई लडकी न किस निर्भीकता म अथवा सकोच के साथ प्रश्नो क उत्तर दिए लडकी न लडक स किस प्रकार क प्रश्न पूछ

लड़के तथा अथवा उसके माता-पिता ने किस प्रकार लड़की के पसंद नापसंद के संकेतों को व्यक्त किया। इस प्रकार इन सब प्रश्नों में सारा फोकस सामाजिक व्यवहार, सामाजिक अंतःक्रिया सामाजिक संबंध तथा स्थिति पर नियंत्रण हेतु उपयोग में आने वाले मानदंडों पर रहता है। एक समाजशास्त्री की रुचि व्यवहारों की तुलना करने में होती है। ये सभी प्रेक्षण बताते हैं कि यह घटना केवल दो व्यक्तियों से ही संबंधित नहीं है किन्तु इसमें अधिक बड़े प्रश्न परिलक्षित होते हैं तथा समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु अच्छी विषयवस्तु प्रस्तुत करती है।

हम एक और उदाहरण लेते हैं। एक समाजशास्त्री इस बात का अध्ययन करता है कि एक व्यक्ति जब भीड़ में होता है तब उसका व्यवहार उस व्यवहार से भिन्न होता है जब वह अकेला होता है। लोग सिनेमा के हीरो का अनुसरण क्यों करते हैं? इस प्रकार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सामाजिक व्यवहार के पटर्न की पहचान करने से भी अधिक होता है। यह व्यवहार के पटर्न को समझने का भी प्रयास करता है। समाजशास्त्री व्यक्ति के व्यक्तित्व अथवा उसके व्यवहार के कारणों को जानकर ही संतुष्ट नहीं होते। वे समाज व संस्कृति के वृहद् सामाजिक संदर्भ में व्यक्ति की साझा संवेदनाओं व व्यवहारों का परीक्षण करते हैं। इस प्रकार वे एक असाधारण प्रकार की सृजनात्मक सोच पर निर्भर करते हैं जिसे सी. राइट मिल्स (1959) ने समाजशास्त्रीय कल्पना (Sociological Imagination) कहा है जो व्यक्ति तथा वृहद् समाज के आपसी संबंधों की अभिज्ञता है। यह अभिज्ञता समाजशास्त्री को व्यक्ति के निकटस्थ वैयक्तिक सामाजिक वातावरण एवं दूरस्थ निर्वैयक्तिक संसार जो व्यक्तियों के चारों ओर व्याप्त है तथा उन्हें रूप देने में मदद करता है, को समझने योग्य बनाती है।

अल्विन गोल्डनर तथा हेलन गोल्डनर ('आधुनिक समाज', 1963:19) के अनुसार समाजशास्त्र का मुख्य परिप्रेक्ष्य सामाजिक अंतःक्रियाओं का अध्ययन है अर्थात लोगों के बीच क्रियाएं उनके एक दूसरे से संबंध, उनके आपसी व्यवहार, तथा नित्य जीवन के आदान-प्रदान आदि। मैक्स वेबर ने भी कहा है कि लोग एक-दूसरे की ओर अनेकानेक प्रकार से अनुस्थापित होते हैं। वे अन्य लोगों की आकांक्षाओं की प्रत्याशा करते हैं तथा प्रतिक्रिया दर्शाते हैं तथा तदनुसार अपना व्यवहार निश्चित करते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य इस बात को मानता है कि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं होता, उसका व्यवहार उसके आस पास के लोगों द्वारा ही निश्चित होता है। संक्षेप में कहें तो व्यक्ति अंतःक्रिया करना चाहता है, वह समूहों का सदस्य होता है, वह अलग-अलग परमाणु के समान नहीं होता।

समाजशास्त्री लोगों के साझा मूल्यों व आस्थाओं जो लोगों की अंतःक्रियाओं को नियंत्रित करते हैं, में भी रुचि रखते हैं। लोगों से भेंट प्राप्त करना तथा उन्हें भी भेंट देना एक अंतःक्रिया का पैटर्न है जो कुछ आदर्शों तथा मूल्यों द्वारा मार्गदर्शित

होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक समाजशास्त्री का केन्द्र बिन्दु दो या दो से अधिक लोगों के बीच सबधो उनके साझा आदर्शों व मूल्यो के अध्ययन पर होता है।

पीटर बर्जर (Peter Berger 1963) ने कहा है कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य 'विशिष्ट मे सामान्य को देखना' होता है अर्थात् किसी विशिष्ट व्यक्ति के व्यवहार में सामाजिक जीवन के पैटर्न को पहचानना। यद्यपि व्यक्ति अपने आप मे अनोखा होता है किन्तु समाज विभिन्न वर्ग के लोगो के साथ भिन्न व्यवहार करता है बच्चो की तुलना मे वयस्क महिलाओ की तुलना म पुरुष गरीबो की तुलना मे अमीर शहरी लोगो की तुलना मे ग्रामीण निरक्षरों की तुलना मे शिक्षित आदि। समाजशास्त्री यह अध्ययन करते हैं कि सामान्य वर्ग के लोग अपने जीवन के अनुभवो को किस प्रकार रूप देते हैं अथवा किन्हीं विशिष्ट लोगो को क्रियाओ उनके विचारो तथा सवेदनाओ पर समाज का क्या प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए वे विभिन्नताए जो किशोरो (12-18 आयु वर्ग) को युवाओ (18-25 आयु वर्ग) अथवा मध्य आयु वर्ग (25-40 वर्ष) से अलग करती हैं वे केवल शारीरिक परिपक्वता से सबधित नहीं होतीं बल्कि अन्य घटको मे भी सबधित होती हैं जैसे उत्तरदायित्व सामाजिक मूल्य, आतरिक सघो, वर्ग स्थिति अनुसार सत्ता आदि।

दुनिया को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे देखने मे लोग लिंग के महत्व के प्रति जागरूक हो जाते हैं। पुरुष व महिलाए भिन्न प्रकार का कार्य करते हैं उनकी पारिवारिक जिम्मेदारिया भिन्न होती हैं उनके अनुभव भिन्न होते हैं आदि।

मेकियनिक तथा प्लमर (Macionic and Plummer, 1997 4-13) ने कहा है कि दुनिया को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का अर्थ है —

(i) यह समझना कि समाज किस प्रकार व्यक्तियो की क्रियाओ को प्रभावित करता है।

(ii) वैयक्तिकता को सामाजिक सदर्भ (Social Context) मे देखना।

(iii) अपने समाज को वैश्विक सदर्भ (Global Context) मे समझना।

(i) समाज व्यक्तियो की क्रियाओ को किस प्रकार प्रभावित करता है अथवा समाज किस प्रकार व्यक्ति के विचारो व कार्यों को दिशा प्रदान करता है। (Seeing *how society shapes action that individuals do or society guiding* individuals)

मान ले कि एक लडकी, जो कम्प्यूटर प्रशिक्षण प्राप्त है को पाच लडको मे से जिनकी पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न है, एक को चुनने को कहा जाता है। उसका चयन उसकी आवश्यकताओं, आकाक्षाओं, उसके सामर्थ्य, वर्ग, पृष्ठभूमि, पारिवारिक

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन करते हुए दुर्खीम ने समझाया ह कि आत्महत्या समाज द्वारा प्रेरित की जाती ह तथा उसके कारण आदर्शो की कमी अथवा वयक्तिक व सामाजिक विघटन अथवा समूह का कल्याण अथवा कडे सामाजिक आदश जिनके लिए व्यक्ति स्वय को उत्तरदायी मानता है हो सकते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य यह वताते हैं कि आत्महत्या की क्रिया वाहर मे भले ही समाज से अलग अलग लगे किन्तु उसमे भी सामाजिक शक्तियाँ काय करती है।

(iii) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे वैश्विक सोच (Global Thinking in Sociological Perspective)

हाल ही के कुछ वर्षो म वृहद् ससार तथा उसमे समाज क स्थान का अध्ययन समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को प्रभावित करने लगा ह। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी जिसने कम्प्यूटर इजीनियरिंग का कोर्स पास किया है जानता है कि यदि उसे अपनी पसद की नोकरी भारत म न भी मिले किन्तु उसके रुचि की नौकरी उस सयुक्त राज्य अमरिका जापान यूरोप अथवा उसके पसद के किसी अन्य देश मे अवश्य मिल जाएगी। विश्व क अधिक आय वाले सम्पन्न देशो में औद्योगीकरण हो चुका है तथा अधिकाश लाग अनेक भोतिक सुखों का लाभ उठाते हैं। इन देशो के व्यक्ति इसलिए अच्छा जीवन नहीं व्यतीत करत क्योंकि वे बहुत होशियार हैं तथा कर्मठ कार्यकता हैं वल्कि इसलिए कि उनके देश सम्पन्न हैं। इस प्रकार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य विश्व की सम्पन्नता, गरीबी के कारणा तथा परिणामा का गहन परीक्षण करता है तथा हमारे देश की सीमाओ से बाहर के ससार के जीवन को समझाता है। यह बात उजागर कर के मानव व्यवहार उतना वैयक्तिक नहीं हे जितना हम सोचते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य ने हमारी साधारण सूझ-बूझ को भी सदेह के घेरे मे ला दिया है। लोग प्राय सामाजिक पैटर्न के अनुसार ही व्यवहार करते हैं।

इस युग मे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मनुष्य समाज द्वारा किस प्रकार प्रभावित होता है, इसे ही नहीं देखता वल्कि अब वह वेश्विक परिप्रेक्ष्य का अधिक से अधिक प्रयोग करता है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य की ओर सकेत करते हुए मेकियन्स तथा प्लमर ने कहा है कि (1) अब विश्वभर के सभी समाजो के एक दूसरे से सबध बढते ही जा रहे हैं। वायुयान लोगो को दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक कुछ ही घटो मे ले जाते हैं इलेक्ट्रानिक उपकरण जैसे ई मेल पत्रो दस्तावेजो तथा चित्रो को मिनटो मे भेज सकते हैं। इस प्रकार दुनिया भर के लोग वस्तुओ को वाट रहे हैं। (2) वैश्विक परिप्रेक्ष्य हमे दिखाता है कि भारत की मानवीय समस्याए अन्य देशो से कम अथवा अधिक गभीर हैं। (3) सारे विश्व का विचार करना हमे स्वय को जानने की सबसे अच्छी विधि है। व्यक्ति की क्रियाए तथा उसके जीवन के विकल्प अनेक सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रभावित होते हैं जेसे— लिग आयु, धर्म जाति, वर्ग, परिवार, समूह की सदस्यता, सस्कृति, समाजीकरण की प्रकृति आदि।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के लाभ (Benefits of Sociological Perspective)

मेकियन्स एव प्लमर ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के निम्नलिखित लाभ अकित किए हैं —

1 यह हमे प्रचलित मिथ्याओ के पीछे छिपे सत्य को खोजने के योग्य बनाता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण हमे बताता है वे विचार जिन्हे हमने बिना परीक्षण किए मान लिया था वे हमेशा सत्य नहीं होते। इस प्रवृत्ति को समाजशास्त्र हतोत्साहित करता है।

   समाजशास्त्रीय उपागम सोचन का एक तरीका बन जाता है जिसमे पूर्वनिर्धारित कल्पनाओ के सत्यो का विवेचनात्मक मूल्याकन किया जा सके। यह हम प्रश्न करने के लिए प्रेरित करता है कि क्या ये आस्थाए वास्तव मे सत्य है, इनको व्यापक मान्यता क्यो है? समाजशास्त्र मान लेने की प्रवृत्ति को भी चुनौती देता है।

2 यह हमे हमारे जीवन मे आने वाले अवसरो तथा बाधाओ के मूल्याकन करने योग्य बनाता है। हमें यह समझने योग्य बनाता है कि हम हमारे लक्ष्यो का प्राप्त कर सकेंगे अथवा नहीं तथा उन्हे प्राप्त करने हेतु किस प्रकार प्रभावी रूप से कार्य कर सकते हैं।

3 यह हमे समाज मे सक्रिय रहने की शक्ति प्रदान करता है। समाज मे यथास्थिति बनाए रखने के स्थान पर हम उसे नया रूप देने मे सक्रिय भाग ले सकते हैं। सामाजिक जीवन के किसी भी पहलू का मूल्यांकन सामाजिक शक्तियो की पहचान तथा उनके परिणामो का मूल्याकन करने की योग्यता पर निर्भर करता है। सी राइट मिल्स ने भी कहा था कि समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Imagination) लोगो को सक्रिय नागरिक बनाने मे मदद करती है। हमे समाज की कार्य पद्धति की जितनी अधिक समझ होगी, उतना ही अधिक हम सामाजिक जीवन को आकार देने मे सक्रिय रूप से भाग लेंगे।

4 यह मानव मे पाई जाने वाली भिन्नताओं तथा मानवीय पीडाओं की पहचान करने तथा इस विविधता भरे विश्व मे जीवन की चुनौतियो का सामना करने मे हमारी सहायता करता है। यह हमे अनेक प्रकार के दुःखों— गरीबी, विवाह-विघटन आदि की ओर देखने हेतु प्रेरित करता है कि प्राय: ये समस्याए किस प्रकार उत्पन्न होती है।

   संक्षेप मे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का उपयोग करने मे चार सामान्य लाभ होते हैं। पहला यह हमारी विश्व की सुपरिचित समझ को चुनौती देता है तथा तथ्य व कल्पनाओ को अलग करने मे सहायता करता है। दूसरा यह हमें अवसरो व बाधाओं से परिचित कराता है, जो हमारे जीवन को आकार देती हैं। तीसरा

यह समाज मे अधिक सक्रिय भागीदारी को प्रोत्साहित करता है। चौथा यह सामाजिक विविधता की जागरूकता को बढाता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की समस्याए (Problems with the Sociological Perspectives)

विश्व को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से देखे तो जहाँ लाभ है, वहीं कुछ विशिष्ट समस्याए भी हैं जैसे—

(i) समाजशास्त्र भी परिवर्तनशील विश्व का एक भाग ह। समाज तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं। जब हालात व परिस्थितियाँ बदलती हैं तो निष्कर्ष गलत सिद्ध हो सकते हैं।

(ii) विश्व मे अच्छे इरादो के बावजूद समाजशास्त्र नृजाति केन्द्रित रह गया है। यह विशिष्ट सास्कृतिक दृष्टिकोण स अनभिज्ञ है।

(iii) समाजशास्त्र का समाज पर प्रभाव पडता है। समाजशास्त्र ऐसे विचारो का सृजन करता है जो समाज की कार्यपद्धति को आकार देते हैं।

समाजशास्त्री का कार्य (Sociologists' Task)

यहा यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि समाजशास्त्री का कार्य समाज मे अत:क्रियाओ से सबधित सामान्य नियम विकसित करना अर्थात् किसी एक विशिष्ट घटना के बारे मे वक्तव्य न देकर अनेक घटनाओ के बारे मे मत व्यक्त करना है। उदाहरण के लिए यह कहना कि सगे-सबधियों के बीच विवाह करना पूर्णत निषिद्ध है यह एक सार्वभौमिक सामान्यीकरण है जो सभी समाजो के सबध म हमेशा व हर स्थान पर लागू होता है। किन्तु यह भी एक वास्तविकता है कि सभी सामान्य नियम सार्वभौम नहीं होते। उदाहरण के लिए जाति प्रथा केवल भारत मे ही विद्यमान है जिसम जाति की सदस्यता वशानुगत होती है तथा विभिन्न जातियो के बीच सबध उस जाति की औपचारिक सामाजिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। यद्यपि हाल के वर्षों मे जाति प्रथा कुछ शिथिल हुई है किन्तु एक समय ऐसा भी था जब जाति के आदर्शों अथवा मानदडो का उल्लघन करने पर जाति से निष्कासित किया जाता था। यह कथन केवल भारतीय समाज के सबध मे, वह भी कुछ काल के लिए (20वीं सदी के आरभ मे) सत्य था जब जाति प्रथा बहुत कठोर थी।

समाजशास्त्री का अन्य कार्य है कि जो स्थिति या विद्यमान हैं वे क्यो है यह समझना। उदाहरण के लिए सैद्धातिक रूप से यह समझाना कि किस प्रकार की महिलाए पुरुष हिसा की शिकार होती हैं तथा किस प्रकार के पुरुष महिलाओं के साथ हिसात्मक व्यवहार करते हैं तथा हिसाचार के लिए क्या प्रेरणाए है। इस हेतु समाजशास्त्री सामान्यीकरण के विभिन्न घटको को खोजता है जो आम होते हैं। वह

यह प्राक्कल्पना प्रस्तुत कर सकता है कि वे महिलाएं ही प्रायः पुरुषों की हिंसा की शिकार होती हैं जिनकी स्वयं के संबंध में अच्छी धारणा नहीं होती, जिनमें आत्म विश्वास नहीं होता, जो पारंपरिक मूल्यों से चिपकी रहती हैं तथा जिनके पास संसाधनों की कमी होती है। इस व्याख्या की खोज समाजशास्त्र को अन्य नये सामान्यीकरणों की ओर ले जाती है जो उसे पूर्व में ही प्राप्त सामान्यीकरणों को स्पष्ट कर सकते हैं। इन नए सामान्यीकरणों का परीक्षण करना अनिवार्य होता है।

इस बात पर भी जोर दिया जा सकता है कि समाजशास्त्री के सामान्यीकरण "क्या हैं" बताते हैं न कि "क्या होना चाहिए"। वह वास्तव में दुनिया कैसी है अथवा सामाजिक अंत:क्रियाएं, आस्थाएं व सामाजिक मूल्य जैसे हैं, वैसे ही उनका वर्णन करता है। वह जो देखता है उसका वर्णन जितना संभव होता है उतनी वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता तथा भावना शून्यता के साथ करता है। वह अपने विश्लेषण में भय या पक्षपात, पूर्वाग्रह या झुकाव प्रदर्शित नहीं करता। फिर भी समाजशास्त्री "क्या हो सकता है" का अध्ययन करता है।

कुछ लोग मानते हैं कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों के प्रतिवेदन हमें वही बताते हैं जो पूर्व में ही स्पष्ट होता है अथवा जो हमें हमारी सहज बुद्धि बताती है। यह सोच त्रुटिपूर्ण है। इसके लिए हम निम्न उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं:—

(1) निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों की अपेक्षा अधिक अपराध करते हैं। (2) अधिक अंग्रेजी सीरियल तथा अंग्रेजी फिल्में देखने से युवा वर्ग अधिक यौन संबंधी अपराध करते हैं। (3) लोगों के छोटे प्रतिदर्श की तुलना में बड़े प्रतिदर्श लेने से अधिक सटीक मूल्यांकन होता है। (4) भारत में संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं। (5) हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान परिवार नियोजन के पक्ष में कम हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो ये सब परिकल्पनाएं सत्य नहीं हैं। (a) अपराध एक सीखा हुआ व्यवहार है तथा अपराध की दृष्टि में गरीबी महत्वपूर्ण घटना नहीं है। (b) हिन्दी फिल्में व टेलीविजन के सीरियल युवाओं को यौन एवं हिंसा के लिए उतने ही अधिक प्रेरित करते हैं जितने अंग्रेजी के सीरियल व फिल्में। (c) जनमत का सही आकलन विभिन्न प्रकार के लोगों का सावधानीपूर्वक किये गए चयन पर निर्भर करता है न कि उनकी अधिक संख्या पर। (d) संयुक्त परिवार पद्धति अपने निवासीय स्वरूप में बदल रही है, न कि उसके कार्यों व दायित्वों की दृष्टि में। (e) परिवार नियोजन के विषय में मत किसी के धर्म से संबंधित नहीं होते। इस प्रकार सहजबुद्धि से प्राप्त विचार हमेशा ही समाजशास्त्रीय निष्कर्षों से मेल नहीं खाते, यद्यपि सहज बुद्धि तथा सहज बोध समाजशास्त्र की अंत:दृष्टि के बहुत अच्छे स्रोत हो सकते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन अधिक वैज्ञानिक होते हैं, यद्यपि वे प्राकृतिक विज्ञानों की तरह शुद्ध व्याख्या तथा भविष्यवाणी प्रस्तुत नहीं करते।

समाजशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है जिसमे विश्व मे अन्तरर्राष्ट्रीय सबधो का सामना करने हेतु व्यक्तियो के आपसी सबधो के प्रश्न भी शामिल हैं। समाजशास्त्रियो ने सैनिक समाजशास्त्र, अवकाश का समाजशास्त्र राजनैतिक भ्रष्टाचार, मतदान की प्रवृत्ति, महिलाओ के साथ हिसा, ग्रामीण विकास, नगरीय नियोजन अपराधो के शिकार व्यक्ति, श्रमिको का शोषण, विभिन्न समाजो की आधुनिकीकरण की प्रक्रियाए बुद्धिजीवी अभिजात्य वर्ग शेयर बाजार के प्रबधको का नैतिक व्यवहार, नौकरशाही मे अल्पसख्यक समूह, अविवाहित महिलाए सामाजिक असमानता, शिक्षा व सामाजिक परिवर्तन आदि अनेक विषयो पर अनुसधान किए हैं। इस सब अनुसधानो का सामान्य उद्देश्य सामाजिक जीवन को समझना है, सामाजिक जीवन की सरचना कैसी है, यह कैसे कार्य करती है, इसमे कैसे परिवर्तन होता है आदि। समाजशास्त्रियो द्वारा ली जाने वाली समस्याए मानवीय होती हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त विधिया वैज्ञानिक होती हैं क्योकि वे स्वय को विषयवस्तु से अलग कर लेते है तथा उनका ध्यान वस्तुनिष्ठ विश्लेषण पर केन्द्रित होता है।

समाजशास्त्री अलग व्यक्तियो की अपेक्षा व्यक्तियो के समूहो म अधिक रुचि रखते हैं। किसी व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन तभी किया जाता है, जबकि वह सामाजिक पैटर्न का एक उदाहरण हो। अपने अनुसधानो मे समाजशास्त्री उन्हीं व्यक्तियो पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं जो किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग मे आते हैं। वे सामाजिक क्रियाओ का विश्लेषण करते हैं, सामाजिक सबधो का मूल्याकन करते हैं तथा लोगो के सामाजिक मानदडो के अनुरूप अथवा प्रतिकूल व्यवहारो का परीक्षण करते हैं।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण (Sociological Analysis)

समाजशास्त्र मे दो प्रकार के विश्लेषण हो सकते हैं:—

(i) एक समाजशास्त्री सभी समाजो मे पाए जाने वाली किसी घटना मे अथवा समाज के सभी क्षेत्रो मे रुचि रख सकता है। उदाहरण के लिए वह अपराधशास्त्र (महिलाए अपराध क्यो करती हैं तथा महिलाओ मे अपराध करने की प्रेरणा पुरुषो की प्रेरणा से किस प्रकार भिन्न होती है) अथवा जनसख्या शास्त्र (जनसख्या नियत्रण में आने वाली विभिन्न बाधाए) अथवा सामाजिक मनोविज्ञान (सामूहिक अनुभवो से व्यक्तित्व किस प्रकार प्रभावित होता है) अथवा औद्योगिक समाजशास्त्र (प्रबधन मे श्रमिको की भागीदारी उद्योगो मे सामाजिक सबधो को किस प्रकार प्रभावित करती है) अथवा ग्रामीण समाजशास्त्र (ग्रामीण विकास कार्यक्रमो की विफलता के कारण) अथवा सामाजिक स्तरीकरण (जातियो का वर्गों मे बदलना) आदि के अध्ययन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है। ये विशेषताएं समाजशास्त्री के विश्लेषण के उपकरणो सहित उसके कौशलों व रुचियो पर निर्भर करती हैं।

(ii) एक समाजशास्त्री समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपकरणों को समाज के किसी विशिष्ट क्षेत्र में लागू करने में विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है जैसे ग्रामीण या शहरी जीवन, अथवा महिलाओं के साथ हिंसा व महिला सशक्तीकरण। ये विशिष्टता के अनुप्रयोग विभिन्न घटकों को व्यापित (Cover) करते हैं।

अतः ये दोनों विश्लेषण के प्रकार सिद्धान्त एवं प्रयोग में स्पष्ट रूप से विभाजन नहीं करते।

समाजशास्त्र में परिप्रेक्ष्य (Perspective in Sociology)

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने मानव व्यवहार के अध्ययन एवं अनुसंधान के परिणामों की व्याख्या करने के लिए विभिन्न उपागमों का प्रयोग किया है। 19वीं सदी में पुरोगामी समाजशास्त्रियों ने समाज की संरचना कैसी है? वह ऐसी क्यों है? तथा समाज कैसे बदलते हैं? आदि प्रश्नों का अध्ययन किया। आधुनिक समाजशास्त्री भी इन्हीं प्रश्नों पर विचार करते हैं किन्तु उनके अध्ययन में कुछ और प्रश्न जुड़ गए हैं। प्रारंभ के समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयोग किए गए तीन परिप्रेक्ष्य हैं— प्रकार्यात्मक, संघर्षात्मक व अंत.क्रियात्मक। आधुनिक समाजशास्त्री और भी कुछ उपागमों का प्रयोग करते हैं जैसे परिवर्तनवादी (Radical) परिप्रेक्ष्य, नारी अधिकारवादी (Feminist) परिप्रेक्ष्य, उत्तर आधुनिकवाद (Post Modernism) परिप्रेक्ष्य आदि। समाजशास्त्री परिप्रेक्ष्य को पूर्ण रूप से समझने के लिए हम कुछ प्रमुख उपागमों के बारे में अगले अध्याय में विस्तृत चर्चा करेंगे।

❖❖❖

3

प्रभावी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

(Dominant Theoretical Perspectives)

समाजशास्त्र में सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य (Theoretical Perspectives in Sociology)

सिद्धान्त अर्थहीन घटनाओ को एक सामान्य रूपरेखा मे रखते हैं जिसमे हम उनके कारणो व परिणामो को समझ सकते हैं उनका परीक्षण तथा उनको भविष्यवाणी कर सकते हैं। समाजशास्त्रियो को भी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यो से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। रॉबर्ट (1968 . 7) ने समाजशास्त्रीय सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को समाज व सामाजिक व्यवहार का एक व्यापक पूर्वानुमान कहा है जो समाज को किन्हीं विशिष्ट समस्याओ का दृष्टिकोण प्रदान करता है।

किसी भी समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का व्यक्ति और समाज के बीच के सबधो को समझाना चाहिए। वर्ष 1880 व 1960 के बीच समाजशास्त्र के अन्दर उन परिप्रेक्ष्यो, जो सरक्षण पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तथा उन परिप्रेक्ष्यो जो स्व व अन्या मे अन्त: क्रिया पर ध्यान केन्द्रित करते हैं के बीच बल देने के प्रश्न पर मतभेद उभर कर आए जो मोटे तौर पर बडे पैमाने व छोटे पैमाने के बीच क्रमश: थे। अधिक सरचनात्मक परिप्रेक्ष्य हैं— प्रकार्यात्मक व सघर्षात्मक। अन्य परिप्रेक्ष्यो—अत:क्रियावाद व नृजातीय पद्धति के लिए एक सयुक्त शब्द-व्याख्यात्मक का प्रयोग किया गया है। यह बताता है कि ये परिप्रेक्ष्य मुख्यत: 'स्व' अन्यो के साथ सबधो मे समाज की कैसे व्याख्या करता है, इसमे सबध रखते हैं तथा ऐसा करने मे उसमे से अर्थ निकालते

हैं। वेबर के समाजशास्त्र में दोनों—संरचनात्मक व व्याख्यात्मक तत्व शामिल हैं।

उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य (Evolutionary Perspective)

उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र का सबसे पुराना सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य है। काम्टे व हर्बर्ट स्पेंसर के विचारों पर आधारित यह परिप्रेक्ष्य मानव समाजों का उदय कैसे होता है तथा वे कैसे विकसित होते हैं इसकी सन्तोषजनक व्याख्या करता प्रतीत होता है। उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य अपना ध्यान उन अनुक्रमों (Sequences) पर केन्द्रित करता है जिनमें से समाज गुजरते हैं। उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर समाजशास्त्री विभिन्न समाजों में होने वाले परिवर्तनों व विकास के पैटर्नों को खोजने का प्रयास यह देखने के लिए करते हैं कि उनमें कुछ सामान्य अनुक्रम मिलते हैं अथवा नहीं। उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र का प्रमुख परिप्रेक्ष्य नहीं है

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Functionalist Perspective)

दुर्खीम को समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जाता है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज की संरचना तथा कार्यों का अध्ययन करता है। इसे कभी-कभी संरचनात्मक प्रकार्यवाद भी कहते हैं।

यह परिप्रेक्ष्य सहयोगी समूहों व संस्थाओं की संरचनाओं का विश्लेषण सामाजिक-सांस्कृतिक तंत्र के अंदर उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के संबंध में करता है। यह परिप्रेक्ष्य समाज की कल्पना एक ऐसे तंत्र के रूप में करता है, जिसके सभी अवयव आपस में जुड़े होते हैं तथा उसके किसी भी अवयव को अलग से नहीं समझा जा सकता। किसी भी एक अवयव में परिवर्तन होने उस तंत्र में कुछ असंतुलन आ जाता है। इसके परिणामस्वरूप अन्य अवयवों में भी परिवर्तन होते हैं तथा संपूर्ण तंत्र का एक प्रकार से पुनर्गठन हो जाता है। यह परिप्रेक्ष्य मुख्य रूप से व्यवस्था व स्थायित्व की प्रक्रिया पर केन्द्रित होता है जो जैविक विज्ञानों में पाए जाने वाले जैविक तंत्र के मॉडल पर आधारित होता है। प्रारंभ में इस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग हर्बर्ट स्पेंसर तथा बाद में किंग्सले डेविस (1937), टालकट पारसन्स (1951) तथा रॉबर्ट मर्टन (1957) ने किया। स्पेंसर ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार किसी जीव का एक ढांचा होता है अर्थात् जिसमें अनेक अवयव होते हैं जो आपस में संबंधित रहते हैं तथा जीव को जीवित रखने में प्रत्येक अवयव के कुछ कार्य होते हैं, उसी प्रकार समाज का भी एक ढांचा होता है। उसके आपस में संबंधित अवयव हैं— परिवार, धर्म, निगम, सेना आदि। ये सभी अवयव उन्हें सौंपे गए तथा उनसे अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न करते हैं तथा इस प्रकार प्रत्येक अवयव सामाजिक तंत्र को स्थायित्व देने में अपनी भूमिका निभाता है।

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य यह मानदंड चलाता है कि समाज पूर्ण रूप से एकीकृत

करने की भूमिका) तथा अप्रकट कार्यों (अचेत, गुप्त, अनभीष्ट, अमान्यता प्राप्त व छिपे उद्देश्य), साथ ही अप्रकार्यात्मक (यह प्रक्रिया जो वास्तव में सामाजिक तंत्र को बाधा पहुंचाए अथवा जो अस्थिरता पैदा करे) पहलुओं की भी चर्चा की है।

सन् 1960 में प्रकार्यवाद पर तीव्रता से प्रहार किए गए कि यह परिप्रेक्ष्य रूढ़िवादी है, समाज में होने वाले सामाजिक परिवर्तन, संरचनात्मक विरोधाभासों और संघर्ष को महत्व नहीं देते। यही नहीं, इसकी जैवकीय उपमा ने इसे रूढ़िवादी बना दिया है। वास्तव में आलोचना पूर्ण रूप से सही नहीं है। सन् 1970 और 1980 के दशकों में घटनाओं की व्याख्या और समझ की एक विचारधारा के रूप में प्रकार्यवाद का लोप हो गया। संशोधित रूप में नव प्रकार्यवाद का जन्म हुआ। जैफरी एलेक्जेंडर (Jaffrey Alexander) ने कहा है कि सामाजिक घटनाओं की व्याख्या का यह एक परिप्रेक्ष्य है, जिसमें सामाजिक जीवन के उपेक्षित पक्षों पर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य (Conflict Perspective)

एक ओर जहाँ प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य स्थिरता, सर्वसम्मति, तथा संतुलन पर जोर देता है, वहीं संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य समाज को एक निरंतर संघर्षरत इकाई के रूप में देखता है। विभिन्न गुटों में स्पर्धा के कारण संघर्ष की स्थिति बनती है अथवा तनाव उत्पन्न होता है जो आवश्यक नहीं कि हिंसात्मक हो। समाजशास्त्र बीसवीं सदी के आरंभ में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य से प्रभावित हुआ। किन्तु 1960 के दशक से संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य अधिक आकर्षक होता चला गया। संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य को परिवर्तनवादी (Radical) समझा गया तथा प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को रूढ़िवादी (Conservative) समझा गया।

यह परिप्रेक्ष्य मुख्यतः कार्ल मार्क्स की रचनाओं पर आधारित है किन्तु इसको अन्य विद्वानों के कार्य से अधिक बल मिला है। मार्क्स ने सभी ऐतिहासिक युगों में वर्ग संघर्ष एवं निम्न वर्ग के शोषण को पाया। प्रारंभ में समाजशास्त्रियों ने इस परिप्रेक्ष्य को अधिक गुणकारी नहीं समझा किन्तु बाद में मिल्स (Mills, 1956) लेविस कोजर (Lewis Coser, 1956), डेरेनडार्फ (Dahrendorf, 1959) तथा कौलिन्स (Collins, 1975) ने इसे पुनर्जीवित किया। मार्क्स ने उत्पादक संपत्ति के स्वामित्व के लिए विभिन्न वर्गों में संघर्ष की बात कही किन्तु आधुनिक संघर्ष सिद्धान्तवादी इससे कम संकीर्ण विचारधारा को मानते हैं। उनकी दृष्टि से सत्ता तथा धन हेतु संघर्ष एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें केवल विभिन्न वर्ग ही नहीं अपितु राष्ट्र, प्रजातियां, धार्मिक समुदाय, जातीय गुट तथा विभिन्न लिंग भी एक-दूसरे के विरूद्ध रहते हैं। संघर्ष सिद्धान्तकारी मानते हैं कि प्रबल गुटों अथवा वर्गों की सत्ता के माध्यम से ही समाज एकजुट बना रहता है। प्रकार्यवादियों के अनुसार साझे मूल्यों के कारण ही समाज एकजुट रहता है। किन्तु संघर्षवादी इसे नहीं मानते। उनके अनुसार यह

वास्तव मे आम सहमति नहीं है। होता यह ह कि प्रबल समूह अपने मूल्य लोगों पर थोपकर बलात् आम सहमति बनाते हैं तथा लोगो पर शासन करते हैं। प्रकार्यवादियो का मानना है कि सद्भावपूर्ण सतुलन सभी के लिए लाभकारी होता है जबकि सघर्षवादी मानते हैं कि यह कुछ लोगों के लिए लाभकारी तथा अन्यो के लिए सजा के रूप मे होता है।

रिचर्ड शफर (1989 19) का मत ह कि सघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने समाजशास्त्रियो को समाज को उन व्यक्तियो के दृष्टिकोण से देखने हेतु प्रेरित किया जो निर्णय लेने की प्रक्रिया को शायद ही कभी प्रभावित करते हो। उदाहरण के लिए भारत म समाजशास्त्रियो ने अब इस बात का विश्लेषण प्रारभ कर दिया है कि अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति अन्य पिछडा वर्ग महिला कृषक औद्योगिक श्रमिक भूमिहीन काश्तकार आदि का सघर्ष समतावादी समाज की स्थापना मे किस प्रकार सहायक हो सकता है।

प्रकार्यवादी समाज को एकीकृत समग्र क रूप में देखते हैं जिसमें मानदड, मूल्य तथा सस्थाए पर्याप्त रूप से जुड जाते हैं। वे एक अपेक्षाकृत आसानी से चलने वाला तत्र का निर्माण कर लेते हैं। सघर्षवादी विचारक समाज को विभिन्न गुटो मे बटा हुआ देखते हैं जो सतत तनाव की स्थिति मे बना रहता है। इसमे सर्वसम्मति के स्थान पर अवपीडन (Coercion) ही लोगों को एक सूत्र मे बाँधकर रखता है। सघर्षात्मक सिद्धान्त के अनुसार सबध आपसी हितो के द्वारा नियत्रित होते हैं। प्रभावशाली समूह उन लोगो पर नियत्रण रखते हैं जो अधीनस्थ होते हैं।

प्रकार्यवादी मानते हैं कि गरीबी समकलित (Integrative) होती है। सघर्षवादी विचारक मानते हैं कि गरीबी ठीक से कार्य न होने से अर्थात अपकार्य (Dysfunctions) से आती हैं। सश्लिष्ट (Synthetic) दृष्टिकोण दावा करता है कि यह समाज के कुछ अवयवो के लिए प्रकार्यात्मक है किन्तु अन्य के लिए नहीं।

प्रकार्यवादी (काम्टे स्पेंसर दुर्खीम तथा टालकट पारसन्स) समाज को एक एकात्मक तत्र के रूप मे देखते हैं जिसमे सस्थाए एक दूसरे से सबधित रहती हैं। ये व्यवहार को नियत्रित करने के नियम प्रदान करती हैं जो एक प्रकार का सतुलन बनाए रखने तथा समान मूल्यों को बनाए रखने मे मदद करता है तथा लोगों को एक सूत्र मे बाधकर रखता है। इसके विपरीत सघर्षवाद विचारक—जो मार्क्स की परपरा मे आते हैं—समाज को एक सघर्ष का मैदान मानते हैं जहा विभिन्न समूह व वर्ग एक दूसरे से सघर्षरत हैं तथा प्रत्येक प्रभुता प्राप्त करने मे लगा रहता है।

प्रकार्यवादी तथा सघर्षवादी विचारक प्राय. उसी समाज अथवा सामाजिक घटक को भिन्न दृष्टि से देखते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योकि उनके अवबोधन विभिन्न पूर्वानुमानो अथवा समस्याओ से प्रभावित होते हैं। प्रकार्यवादी इस पूर्वानुमान को मानते हैं

घटित धारणाओं तथा चित्रों को समझकर ही जाना जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति अर्थों, उद्देश्यों व अभिप्रेरणाओं को प्राप्त करते हैं तथा वही उनकी क्रियाओं का संचालन करते हैं। यह माना जाता है कि व्यक्ति के सामाजिक जीवन को समझने के लिए उसके विश्वासों, मनोवृत्तियों, भावनाओं व इरादों को समझना आवश्यक है। इसके अनुसार समस्त क्रियाएं किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होती हैं। इसके साथ ही ये क्रियाएं किसी परिस्थिति विशेष में घटित होती हैं जिसकी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में अहम् भूमिका होती है।

वे समाजशास्त्री जो सामाजिक क्रिया अथवा व्याख्यात्मक परिप्रेक्ष्य का समर्थन करते हैं वे इस बात को खारिज करते हैं कि समाज की स्पष्ट संरचना होती है जो लोगों को किसी निश्चित तरीके से व्यवहार करने हेतु निर्देशित करती है। कुछ सामाजिक क्रियावादी सामाजिक संरचना के अस्तित्व से इंकार नहीं करते किन्तु वे मानते हैं कि वह संरचना व्यक्तियों के कार्य से ही बनती है।

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद परिप्रेक्ष्य (Symbolic Interactionism Perspective)

प्रकार्यात्मक तथा संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य समाज का विश्लेषण वृहत् अथवा विस्तृत सामाजिक स्तर पर करते हैं किन्तु अंतःक्रियावादी परिप्रेक्ष्य व्यक्तियों तथा समूहों के बीच सामाजिक अंतःक्रियाओं का अध्ययन सूक्ष्म स्तर पर करता है। जार्ज मीड को अंतःक्रियावादी परिप्रेक्ष्य का जनक कहा जाता है। वास्तव में अंतःक्रियावादी परिप्रेक्ष्य को ही प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादी परिप्रेक्ष्य ही कहते हैं। बाद में वेबर ने व्यक्ति की क्रियाओं को कर्ता, जो कि कार्य कर रहा है, की दृष्टि से देखने के महत्व पर जोर दिया। इसके बाद इरविंग गॉफमैन ने भी इस वृहत् रूप से प्रयोग किए जा रहे अंतःक्रियावाद उपगमन पर जोर दिया। प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद का उदय भाषा व अर्थ के महत्व के कारण हुआ। इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण घटक प्रतीक है। प्रतीक वह होता है जो किसी दूसरी वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। मूक अंगविक्षेप अथवा अन्य प्रकार के संप्रेषण भी प्रतीक होते हैं। प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद से प्रभावित समाजशास्त्री दैनंदिन जीवन के संदर्भ में अक्सर प्रत्यक्ष अंतःक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे समाज और उसकी संस्थाओं के निर्माण में इस प्रकार की अंतःक्रिया की भूमिका पर जोर देते हैं। अंतःक्रियावादी मानते हैं कि व्यक्ति आपस में संकेतों जिनमें शब्द, हावभाव व चिह्न शामिल हैं, के माध्यम से मुख्यतः अंतःक्रिया करते हैं। प्रत्येक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ होता है जैसे आओ, जाओ आदि। अधिकांश अर्थों का आदान-प्रदान बोले गए अथवा लिखित शब्दों के माध्यम से होता है। लोग अपनी प्रतिक्रिया शब्द पर न देकर उसमें निहित अर्थ पर देते हैं। उदाहरण के लिए ट्रैफिक लाइट का विशिष्ट अर्थ होता है व इसी प्रकार ट्रैफिक पुलिस के सिपाही की सीटी अथवा उसके हाथ के इशारों का। जिस प्रकार समाज एक वस्तुनिष्ठ वास्तविकता

है (चूंकि लोग समूह संस्थाएं सभी वास्तविक होते हैं) उसी प्रकार "मैं" भी एक व्यक्तिनिष्ठ वास्तविकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अन्य व्यक्ति समूह तथा संस्थाएं नहीं होती हैं जैसे कि वह उनको देखता है। लोग सहानुभूतिशील हैं अथवा प्रतिशोधी, पुलिस रक्षक हैं अथवा दमनकारी मालिक अपना अपना स्वयं का हित देख रहे हैं अथवा अपने श्रमिकों का भी, ये सब अवबोधन व्यक्ति का स्वयं के अथवा अन्य लोगों के अनुभवों से प्राप्त होते हैं। ये अवबोधन जिन्हें प्राप्त होते हैं उनके लिए वे यथास्थिति होते हैं।

प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद के प्रस्तावकों में से सबसे अग्रणी विचारक हर्बर्ट ब्लूमर (Herbert Blumer 1962) ब्लूमर के अनुसार यह तीन आधारिकाओं पर आधारित है— (1) मानव वस्तुओं का उनके लिए जो अर्थ है उसी के आधार पर उनकी क्रिया करते हैं। इस विचार को कभी कभी वास्तविकता का सामाजिक निर्माण भी कहते हैं। इसका अर्थ है लोक भौतिक वस्तुओं अन्य व्यक्तियों व्यवहार के नियमों तथा विचारों को किस प्रकार देखते हैं अथवा उन्हें इस प्रकार देखना सिखाया जाता है। (2) सामाजिक अंत:क्रिया के माध्यम से अर्थात अन्य लोगों से प्रत्यक्ष अंत क्रिया करने से अर्थ निकलते हैं। (3) वस्तुओं के साथ जिस व्यक्ति का संबंध आता है, उसकी व्याख्या करने की प्रक्रिया के दौरान अर्थ संशोधित होते हैं। इस प्रकार अन्य लोगों की धारणायें तथा व्यवहार के पैटर्न स्थायी नहीं रहते, बल्कि वे अस्थिर रहते हैं व उनमें लगातार परिवर्तन होते रहते हैं। गॉफमैन (E. Goffman, 1959) ने भी जोर देकर कहा है कि लोग अन्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से प्रतिक्रिया नहीं दर्शाते। उसके स्थान पर वे अन्यों के बारे में जो कल्पना करते हैं, उसमें प्रतिक्रिया दर्शाते हैं। इस प्रकार मानव व्यवहार की वास्तविकता वह नहीं होती जो अस्तित्व में होती है बल्कि वह लोगों के मस्तिष्क में उसी प्रकार निर्मित होती है जैसे कि वे एक दूसरे को देखते हैं तथा एक-दूसरे की भावनाओं व आवेगों के बारे में अनुमान लगाते हैं। कोई 'अ' नाम का व्यक्ति एक मित्र है, शत्रु है अथवा एक घमंडी है अथवा एक सहानुभूतिदायी व्यक्ति है यह उसके लक्षणों से निर्धारित नहीं होता बल्कि लोग उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इस पर निर्भर करता है। इस प्रकार उसके संबंध में वास्तविकता व्यक्ति के मस्तिष्क में निर्मित होती है तथा इसके उपरान्त ही वह इस "वास्तविकता" पर प्रतिक्रिया करता है जो उसने अपने मस्तिष्क में निर्मित कर रखी है। इसे वास्तविकता की सामाजिक निर्मित कहते हैं। इस प्रकार हम जिन व्यक्तियों से अंत:क्रिया करते हैं, वे हमारे कल्पना की उपज ही होते हैं। लेकिन उसका अर्थ यह भी नहीं होता कि सभी वास्तविकताएं व्यक्तिनिष्ठ होती हैं। इस संसार में अनेक वस्तुनिष्ठ सत्य हैं। हॉर्टन तथा हण्ट (1984 : 16) ने कहा है कि प्रतीकात्मक अंत:क्रियावादी परिप्रेक्ष्य इस बात पर ध्यान केन्द्रित करता है कि "लोग अन्य लोगों की क्रियाओं का क्या अर्थ निकालते हैं, ये अर्थ कैसे निकालते हैं तथा अन्य लोग उन पर कैसी प्रतिक्रिया करते हैं।"

अन्त क्रियावादी परिप्रेक्ष्य सामाजिक अत क्रिया के मूलभूत अथवा देनदिन प्रकार को सामान्यीकृत करते है। इन सामान्यीकरण के माध्यम स वे वृहत तथा सूक्ष्म स्तर क व्यवहार को समझाने का प्रयास करते हैं। अत क्रियावाद सार्थक वस्तुओ क विश्व म रह रहे मानवो पर दृष्टि डालने के लिए एक समाजशास्त्रीय ढाचा होता है। इन वस्तुओ मे भौतिक वस्तुए क्रियाए, अन्य लोग, सबध तथा प्रतीक भी शामिल हो सकते ह। अत क्रियावादी मानते हैं कि समाज का सुव्यस्थित रूप से विश्लेषण करना सभव हे तथा समाज सुधार करना भी सभव है। फिर भी वृहद अथवा व्यवस्था सिद्धान्तो म समाहित सुधारो की अपेक्षा ये सुधार छोटे पैमाने पर होने चाहिए तथा अधिक खण्डश होन चाहिए। प्रतीकात्मक अत क्रियावादी परिप्रेक्ष्य हमारे देनंदिन सामाजिक जीवन म हमारी क्रियाओ के स्वभाव पर अन्तर्दृष्टि डालता ह फिर भी इसकी समाज की सत्ता एव सरचना जैसी प्रमुख समस्याओ तथा वे व्यक्तिगत क्रियाओ पर किस प्रकार नियत्रण रखते हैं इसकी अवहेलना के लिए आलोचना की जाती ह।

किसी भी परिप्रेक्ष्य को हम सही या गलत नहीं कह सकते। ये समाज को देखन का एक तरीका ह। प्रत्येक परिप्रेक्ष्य भिन्न प्रश्न करता ह तथा भिन्न निष्कर्ष निकालता हैं। समाज की सबसे परिपूर्ण समझ समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को तीनो सैद्धान्तिक प्रतिमानो से जोडकर ही पाई जा सकती है। यद्यपि ये तीनो भिन्न भिन्न अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं किन्तु कोई भी दूसरे से अधिक सही नही है। प्रकार्यवादी मूल्यो पर सर्वसम्मति तथा स्थायित्व पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, सघर्षवादी असमानता, तनाव व परिवर्तन तथा अत क्रियावादी लोगो तथा समूहो के वास्तविक सामाजिक व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। निम्न तालिका तीन मुख्य परिप्रेक्ष्यों का सक्षेप मे तुलना प्रदर्शित करती है:—

	प्रकार्यवादी	सघर्षवादी	अत क्रियावादी
प्रस्तावक	आगस्ट काम्टे हरबर्ट स्पसर दुर्खीम टाल्कट पारसन्स रॉबर्ट मर्टन	कार्ल मार्क्स सी राइट मिल्स कोजर डेहरेन डार्फ	जार्ज हरबर्ट मीड चार्ल्स कूले गाफमैन
समाज की धारणा	ऐसा तत्र जिसमे परस्पर सबधित व सहभागी समूह हों जो स्थाई व एकीकृत हो। प्रत्येक घटक के कार्यों का परिणाम सपूर्ण समाज पर	ऐसा तत्र जिसमे विभिन्न गुटो व वर्गों के बीच सघर्ष व तनाव व्याप्त हो। समाज का प्रत्येक भाग लोगो के कुछ वर्गों को अन्यो म अधिक लाभकारी बनाए।	1 एक सतत प्रक्रिया जो दैनदिन सामाजिक अत क्रिया को विशिष्ट परिवेश मे प्रभावित करती है। 2 विभिन्न अर्थ व क्रियाए जो समाज को रूप देती है।

विश्लेषण का स्तर	वृहद्	वृहद्	सूक्ष्म
सामाजिक व्यवस्था	सहयोग एवं सर्वसम्मति के माध्यम से	प्रबल वर्गों द्वारा शासन व उत्पीड़न के माध्यम से	दैनंदिन व्यवहार की साझा समझ के माध्यम से
सामाजिक परिवर्तन	समाज की बदलती आवश्यकताओं के कारण पूर्वानुमेय व प्रबल	संघर्षात्मक परिणाम हो सकते हैं।	लोगों की सामाजिक स्थिति तथा उनके अन्यों के साथ सम्प्रेषण में परिलक्षित।
सामाजिक विषमता	जटिल समाजों में अपरिहार्य। विभिन्न गुटों का विभिन्न योगदान होने से उत्पन्न।	1 धन व प्रतिष्ठा का असमान वितरण 2 सामाजिक ढांचा कुछ लोगों के लिए हितकर किन्तु अन्य उससे वंचित 3 समाज के समाजवादी अभिलेखन के माध्यम से टालना सम्भव	
सामाजिक वर्ग मूल्य	सामाजिक संस्थाओं द्वारा समान मूल्यों व सर्वसम्मति का पोषण। इससे समाज मूल्यों व सर्वसम्मति का पोषण। इससे समाज में एकजुटता। समान स्थिति व समान जीवन शैली वाले लोगों के समूह	सामाजिक संस्थाओं द्वारा ऐसे मूल्यों का निर्माण जो सुविधा प्राप्त वर्ग का संरक्षण करें। सबल तथा निर्बल वर्गों के मूल्यों में भिन्नता से संघर्ष। समान आर्थिक हित तथा सत्ता वाले लोगों के समूह। कुछ लोगों द्वारा अन्यों के शोषण से इन समूहों की उत्पत्ति।	व्यक्तियों के मूल्य असमान। व्यक्तियों की दुनिया के बारे में सोच में भिन्नता वह सामाजिक वर्गों की उपयोगिता को नकारता है
मुख्य प्रश्न	1 समाज के मुख्य घटक क्या हैं? 2 ये घटक किस प्रकार एकीकृत हैं? 3 प्रत्येक घटक के समाज के संचालन के लिए क्या परिणाम हैं?	1 समाज कैसे विभक्त है? 2 विषमता के प्रमुख पैटर्न क्या हैं? 3 कुछ वर्ग अपने विशेषाधिकारों की रक्षा कैसे करते हैं? 4 अन्य वर्ग यथा-स्थिति का किस प्रकार विरोध करते हैं?	1 परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार में कैसे परिवर्तन होता है? 2 व्यक्ति अन्यों के द्वारा अनुभवित वास्तविकता को किस प्रकार ढालने का प्रयत्न करते हैं? 3 लोग किस प्रकार सामाजिक पैटर्न को निर्मित करते हैं, उन्हें बनाए रखते हैं

तथा उनमें परिवर्तन करते हैं?

व्यक्तियों के जीवन	व्यक्तियों के जीवन सभी स्थितियों में (परिवार गली समाज मोहल्ले बाजार आदि में) सामाजिक संरचना अर्थात सामाजिक व्यवहार के अपेक्षाकृत स्थाई पैटर्न द्वारा प्रभावित होते हैं।	लोगों के जीवन उनकी आर्थिक समृद्धि व प्रतिष्ठा द्वारा नियमित	व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में अन्यों की क्रियाओं का अर्थ कैसा लेते हैं इस पर उनका जीवन निर्भर करता है।
परिप्रेक्ष्य की आलोचना	1 यह पुरोगामी है क्योंकि यह एकीकरण पर जोर देता है तथा संघर्ष व तनाव की उपेक्षा करता है। 2 इसकी यह कल्पना कि समाज का एक नैसर्गिक व्यवस्था है त्रुटिपूर्ण है क्योंकि सामाजिक पैटर्न स्थान के अनुसार भिन्न होते है तथा समय-समय पर परिवर्तित होते हैं। 3 यह सामाजिक वर्ग जाति नृजाति धर्म लिंग आदि पर आधारित विषमता की अनदेखी करता है। 4 यह सामाजिक परिवर्तनों पर प्रकाश नहीं डालता।	1 यह समान मूल्य अथवा एक दूसरे पर निर्भरता किस प्रकार समाज के सदस्यों में एकता लाते हैं इसे अनदेखी करता है। 2 इसमें वैज्ञानिक वास्तुनिष्ठता नहीं है। 3 यह विशुद्ध रूप में राजनैतिक लक्ष्यों के पीछे भागता है।	1 इसमें वृहद् स्तरीय अनुसंधान का अभाव है। 2 यह बड़ी सामाजिक संरचनाओं के कार्यों पर प्रकाश डालने में असफल रहा है।
मुख्य विचार	समाज एक जटिल तंत्र है जिसके घटक सर्वसम्मति व स्थायित्व को बढ़ावा देने हेतु साथ साथ कार्य करते हैं।	समाज कुछ लोगों का अन्यों के संघर्ष का क्षेत्र है।	समाज लोगों का साथ रहते हुए एक-दूसरे के साथ की गई अंतःक्रियाओं का परिणाम है।

मानवीय व्यवहार का अध्ययन करने हेतु समाजशास्त्रियों को किस परिप्रेक्ष्य का उपयोग करना चाहिए। प्रकार्यवादी, संघर्षवादी अथवा अंतःक्रियावादी? समाजशास्त्र में तीनों का उपयोग किया जाता है। क्योंकि प्रत्येक परिप्रेक्ष्य उसी समस्या पर अपनी अनोखी अंतःदृष्टि प्रस्तुत करता है। ये परिप्रेक्ष्य एक दूसरे का अधिव्यापित करते हैं क्योंकि उनके हित मेल रखते हैं। किन्तु प्रत्येक उपागमन की आवश्यकतानुसार तथा अध्ययनरत समस्या के अनुसार वे भिन्न भी होते हैं।

नृजातीय पद्धति परिप्रेक्ष्य (Ethnomethodological Perspective)

हेरॉल्ड गारफिकल (1967) ने अपने दैनंदिन जीवन के अव्यक्त नियमों का उल्लंघन कर विद्यार्थी किस प्रकार गड़बड़ी पैदा कर देते हैं इसका अध्ययन कर इस उपागम को विकसित किया।

गारफिकल ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन एथनामेथडालॉजी' में इस नए शब्द नृजाति पद्धति का उपयोग किया। नृजाति पद्धति का अर्थ है लोगों द्वारा प्रयुक्त विधियों का अध्ययन।

इस परिप्रेक्ष्य का उद्‌गम और विकास विगत लगभग चार दशकों में हुआ है। यह परिप्रेक्ष्य दिन-प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं को समझने व व्याख्या करने पर बल देता है। लोग प्रतिदिन की सामाजिक जीवन की समझ व अर्थ को कैसे देखते हैं, उसका कैसे वर्णन करते हैं उसे कैसे समझाते हैं तथा उसे कैसे बांटते हैं साथ ही वे इस समझ व अर्थ के आधार पर अपनी क्रियाएं किस प्रकार निर्धारित करते हैं, इस बात पर ध्यान केन्द्रित करता है। नृजातीय पद्धति का वर्णन लोगों के सहज बुद्धि विवेचन का अध्ययन के रूप में किया गया है, जिसके द्वारा वे समाज व सामाजिक घटनाओं की सार्थक समझ प्राप्त करते हैं। इसका संबध लोगों द्वारा अपने सामाजिक विश्व के निर्माण तथा उसे अर्थ प्रदान करने हेतु प्रयोग में लाई गई विधियों अथवा पद्धतियों से होता है। नृजाति पद्धतिशास्त्र व्याख्या करता है कि समाज के सदस्य किस प्रकार उस विश्व की व्यवस्था को जिसमें वे रहते हैं को देखने, उसका वर्णन करने व उसकी व्याख्या करने का कार्य करते हैं। नृजाति विधिशास्त्री अल्फ्रेड शूज (Alfred Shutz) का अनुसरण करते हैं जो यह मानते हैं कि वास्तव में कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं होती, जैसा कि अन्य समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मानते हैं। केवल समाज के सदस्यों को ही सामाजिक जीवन व्यवस्थित दिखाई देता है, क्योंकि सदस्य सामाजिक जीवन को अर्थ प्रदान करने में लीन रहते हैं।

नृजातीय पद्धति का अर्थ उन पद्धतियों का अध्ययन होता है जिन्हें लोग प्रयोग करते हैं। नृजाति पद्धतिवादी पारम्परिक समाजशास्त्री एवं एक साधारण आदमी में कोई अन्तर नहीं करते। उनका तर्क है कि समाजशास्त्रियों द्वारा अपने अनुसंधान में प्रयोग की जाने वाली पद्धतियां व समाज के सदस्यों द्वारा अपने दैनंदिन जीवन में उपयोग

को जाने वाली पद्धतियां मूल रूप में समान है। इस अर्थ में साधारण आदमी अपने आप में एक समाजशास्त्रीय है। नृजाति पद्धतिवादी एक साधारण व्यक्ति द्वारा निर्मित समाज के चित्रण में तथा पारंपरिक समाजशास्त्री द्वारा प्रदत्त समाज के चित्रण में भेद नहीं करते।

प्रघटनाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Phenomenological Perspective)

प्रघटनाशास्त्रीय (फिनॉमिनोलॉजी) शब्द फेनामइ अर्थात प्रकट होना तथा लोगस अर्थात तर्क के मेल से बना है। प्रघटनाशास्त्र का उद्देश्य सार की व्याख्या करना है। फिनॉमिनालॉजी मूलत एक दर्शनशास्त्री परिप्रेक्ष्य है किन्तु इसे समाजशास्त्र में नृजातीय पद्धति शास्त्र के माध्यम से प्रवेश दिया गया। अल्फ्रेड शूज (1899-1959) ने समाजशास्त्र के संबंध में हसर्ल (Husserl 1895 1938) के उपागम को लागू किया तथा उसे विकसित किया। प्रघटनाशास्त्र गवेषणा की एक दार्शनिक पद्धति है जिसके द्वारा चेतना की व्यवस्थित तरीके से खोज की जाती है। यह कहा जाता है कि हमारा विश्व संबंधी ज्ञान जिसमें सभी प्रकार की वस्तुओं के सामान्य संज्ञान से लेकर गणितीय सूत्रों का ज्ञान सम्मिलित है की रचना चेतना द्वारा होती है और यह ज्ञान चेतना में ही बसता है। शूज का प्रघटनाशास्त्र समाजशास्त्री को सामाजिक संगठन के आधार पर समझने के लिए प्रेरित करता है। उनके अनुसार प्रघटनाशास्त्र वस्तुओं में रुचि नहीं रखता अपितु उनके अर्थों में रखता है। सामान्यत प्रघटनाशास्त्रीय विचारकों ने चेतना को केन्द्र बिन्दु बनाया है किन्तु शूज ने प्रघटनाशास्त्र के एक स्तंभ अर्थात विषयपरकता पर ध्यान दिया।

हसर्ल के अनुसार चेतना वस्तुपरक और विषयपरक दोनों हैं। शूज ने वस्तुपरक यथार्थ के स्वभाव के मामले को अलग रखा व इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित किया कि किस प्रकार सामाजिक कर्ता अपने स्वयं के अनुभवों, जिनमें दूसरों की क्रियाओं की व्याख्या करना शामिल है, का अर्थ लगाते हैं तथा उन्हें वर्गीकृत करते हैं। शूज यह नहीं मानते थे कि कर्ता बिना दूसरों के संदर्भ में अर्थ की रचना व व्याख्या करते हैं। उल्टे वे यह तर्क करते थे कि समय बीतने के साथ ही समूह समान अर्थ निर्मित कर लेते हैं जो सदस्यों को एक दूसरे को समझने तथा एक दूसरे की क्रियाओं को पूर्वानुमान लगाने योग्य बनाता है। समान अर्थ के विचार को समझने की महत्वपूर्ण धारणा है पूर्वाभास। किसी समूह में समान पूर्वाभास होते हैं तो उसके सदस्य एक दूसरे को समझने योग्य हो जाते हैं तथा वे अपने लिए एक सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन निर्मित कर लेते हैं।

प्रघटनाशास्त्रीय विचारों के अनुसार सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की विषय वस्तु में अन्तर है, अतः प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों को मानव और उसके समाज के अध्ययन में यथावत प्रयोग नहीं किया जा सकता। मानव, पदार्थ की भाँति

पितृसत्ता का संबध पूंजीवाद में जोडते हैं। वर्ग स्तरीकरण को उस मूलभूत संदर्भ मे देखा जाता है जिसमे पितृसत्ता द्वारा उत्पीडन संरचित है।

कुछ समाजशास्त्रियो का विश्वास है कि यौन (Sex) व लिंग (Gender) दोनों मे कोई भी जीवशास्त्रीय आधार नहीं है किन्तु ये समाज द्वारा निर्मित हैं, जिन्हें विभिन्न प्रकार के आकार मे ढाला जा सकता है व परिवर्तित किया जा सकता है। अन्य समाजशास्त्री यौन (Sex) व लिंग (Gender) मे अंतर करते हैं। यौन का अर्थ महिलाओं व पुरुषो मे जीवशास्त्रीय अंतर बताना है जबकि लिंग (Gender) महिलाओ व पुरुषों में सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रथा सांस्कृतिक भिन्नता से संबंधित है। नारी अधिकारवादियो की समस्या समाज मे महिलाओं की असमान स्थिति से संबंधित है। नारी अधिकारवादी के प्रमुख परिप्रेक्ष्य निम्नानुसार हैं —

उदार नारी अधिकारवाद (Liberal Feminism)

उदार नारी अधिकारवाद लिंग (Gender) समता मे विश्वास करता है और एक लिंग द्वारा दूसरो को अधीन बनाने की बात अस्वीकार करता है। स्त्रियो को मानव प्राणी के अपेक्षा यौन भोग की वस्तु समझने को भी अस्वीकार करता है। परन्तु यौन आधार पर श्रम विभाजन को यह चुनौती नहीं देता। इसका मानना है कि स्त्रियाँ पारिवारिक भूमिकाओं के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं और पुरुष बाहरी भूमिकाओं के लिए।

उदार नारी अधिकारवाद सामाजिक व सांस्कृतिक अभिवृत्तियो मे लैंगिक (Gender) असमानताओं के स्पष्टीकरणों को खोजता है। उदार नारी अधिकारवाद सुधारवादी व वृद्धिवादी (शनैः-शनैः वृद्धि) उपगमन है। उदार नारी अधिकारवादी महिलाओं की अधीनस्थता को किसी बड़े तंत्र के संरचना के भाग के रूप में नहीं देखते। वे विद्यमान तंत्र के माध्यम से ही धीरे-धीरे सुधार लाने हेतु कार्य करना चाहते हैं। इस मामले में वे उग्र नारी अधिकारवादियों की अपेक्षा अपने लक्ष्यों व पद्धतियों में अधिक संयत हैं। उग्र नारी अधिकारवादी वर्तमान तंत्र को उखाड फेकना चाहते हैं। उदार नारी अधिकारवादी महिलाओ हेतु समान अधिकारो का समर्थन करते हैं तथा उनके प्रति पूर्वाग्रह तथा भेदभाव का विरोध करते हैं जो महिलाओं की आकांक्षाओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं। वे उन कारकों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जो महिलाओ व पुरुषो मे असमानता लाने में योगदान देते हैं। उदार नारी अधिकारवादी महिलाओ के विरुद्ध मीडिया तथा कार्यस्थलो पर होने वाले लैंगिकवाद तथा भेदभाव के विषय मे चिंतित हैं। वे अपना ध्यान व ऊर्जा महिलाओं के लिए समान अवसरों को स्थापित करने तथा उनके रक्षण हेतु केन्द्रित करते हैं। उदार नारी अधिकारवादी सोचते हैं कि महिलाएँ व पुरुष पृथक रूप से कार्य करें तो अपना जीवन सुधार सकते हैं। यदि समाज उन सामाजिक व सांस्कृतिक अवरोधों को जो लिंग (Gender) के माध्यम से जड जमाए हुए हैं, को समाप्त कर दे। उदार

नारी अधिकारवादी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्दर ही महिलाओ व पुरुषो दोनो के लिए समान अवसर चाहते हैं।

उदार नारी अधिकारवादियो की राजनीतिक रणनीति का केन्द्र बिन्दु है—सार्वजनिक क्षेत्र के सभी भागा मे भेदभाव को हटाने के लिए कानूनी सुधार करना। जिन क्षेत्रो मे सुधार किया जाना है उनमे शिक्षा तत्र, राजनीति तथा श्रम बाजार शामिल हैं।

आलोचक यह तर्क करते हैं कि उदार नारी अधिकारवादी समाज मे सुव्यवस्थित रूप से चल रहे महिला उत्पीडन को स्वीकार ही नहीं करते। उदार उपगमन महिलाओ को असमान समाज मे प्रतिस्पर्द्धा करने हेतु केवल प्रोत्साहित ही करता है।

उग्र नारी अधिकारवाद (Radical Feminism)

उग्र नारी अधिकारवाद यद्यपि लैंगिक (Gender) समानता मे विश्वास करता है, लेकिन परम्परागत श्रम विभाजन को अस्वीकार करता है। इसकी मान्यता है कि लिग आधारित भूमिकाए जैविक कारको का ही परिणाम नहीं हैं बल्कि सस्कृति की देन भी हैं।

उग्र नारी अधिकारवादी यह मानते हैं कि महिलाओ के शोषण के लिए पुरुष ही उत्तरदायी हैं तथा वे ही इससे लाभान्वित होते हैं। वे मानते हैं कि पितृ सत्ता जो पुरुषो का महिलाओ पर आधिपत्य स्वीकार करती है, महिलाओ के लिए एक मुख्य समस्या है। इसलिए वे पितृ प्रधान व्यवस्था को क्राति के माध्यम से उखाड फेंकना चाहते हैं। वे लिग विहीन (Gender) समाज की रचना करना चाहते हैं। वे तर्क करते हैं कि पुरूष प्रजनन लैंगिकता (Sexuality) को नियंत्रित करने मे रुचि रखते हैं। पुरुष घरेलू कार्य जो महिलाए सम्पन्न करती हैं, पर निर्भर रहकर महिलाओ का शोषण करते हैं। घर के बाहर भी समाज मे महिलाओ की सत्ता तथा प्रभावशाली पदो पर आसीन होने से रोका जाता है। पुरुषो के विभिन्न समूह महिलाओं को नियमित करने के लिए विभिन्न युक्तियो (वास्तविक अथवा धमकी) का प्रयोग करते हैं। उग्र नारी अधिकारवादी महिला-पुरूष सबधो विशेषत: पुरूषो की महिलाओं के साथ हिसा जैसे घरेलू हिसा, बलात्कार तथा लैंगिक उत्पीडन आदि समस्याओ की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे महिलाओ को विज्ञापन, फेशन, मीडिया आदि के माध्यम से पुरुषों की भोग्य वस्तु के रूप मे प्रस्तुति का भी विरोध करते हैं।

कुछ उग्र नारी अधिकारवादी मानते हैं कि महिलाए केवल पुरुषों के बराबर ही नहीं होतीं, बल्कि वास्तव मे पुरुषो से नैतिक दृष्टि से बेहतर होती हैं। वे चाहते है कि पितृ प्रधान व्यवस्था को बदलकर मातृ प्रधान व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए। वे मानते हैं कि पुरुष न केवल महिलाओ के शोषण के लिए उत्तरदायी हैं बल्कि युद्ध, युद्ध के फलस्वरूप हुए विनाश, आतकवाद के लिए भी उत्तरदायी हैं।

आलोचक तर्क करते हैं कि पितृसत्ता की धारणा में ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक भिन्नता के लिए कोई स्थान नहीं है।

समाजवादी नारी अधिकारवाद (Socialist Feminism)

समाजवादी नारी अधिकारवादी मानते हैं कि लैंगिक असमानता का संबंध पूँजीवादी समाज के वर्गों से है। पूँजीवाद संपत्ति एवं सत्ता को कुछ ही पुरुषों के हाथों में केन्द्रित कर पितृसत्ता को बढ़ावा देता है। समाजवादी नारी अधिकारवादियों ने पूँजीवाद व पितृसत्ता के संबंधों के दो विशिष्ट मॉडल विकसित किये हैं। (i) द्वय पद्धति सिद्धान्त (Dual System Theory) जिसके अनुसार पूँजीवाद व पितृसत्ता उत्पीड़न के दो विशिष्ट रूप हैं। (ii) एकल पद्धति सिद्धान्त (Unified System Theory) जिसका यह मानना है कि पूँजीवाद व पितृसत्ता दोनों इतने जटिलता से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं कि उन पर एक तंत्र के रूप में ही विचार करना चाहिए। समाजवादी नारी अधिकारवादी सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में लैंगिक संबंध किस प्रकार क्रियान्वित होते हैं, इसके विश्लेषण को विकसित करने का लक्ष्य रखते हैं। समाज में मूलभूत परिवर्तन लाने हेतु यह आवश्यक है कि महिलाएं व पुरुष अपनी मुक्ति हेतु साथ-साथ कार्य करें न कि पृथक-पृथक। समाजवादी नारी अधिकारवादी निजी संपत्ति के अधिकार की समाप्ति की वकालत करता है क्योंकि इससे सामाजिक असमानता पनपती है।

मार्क्सवादी नारी अधिकारवाद (Marxist Feminism)

मार्क्सवादी नारी अधिकारवादी तर्क करते हैं कि महिलाओं का उत्पीड़न व शोषण पूंजीवाद का लक्षण है। इनके अनुसार महिलाओं का उत्पीड़न इस तथ्य से उजागर होता है कि महिलाओं को घर में बिना भुगतान के तथा घर के बाहर भुगतान के साथ काम करना पड़ता है। मार्क्सवादी नारी अधिकारवादियों का कहना है कि घर में तथा कार्य स्थल पर श्रम का विभाजन एवं लिंग आधारित सत्ता का ढांचा पूँजीवाद अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को परिलक्षित करता है। अपने नौकरी के कार्य तथा अपने बच्चों के बीच संतुलन बनाते-बनाते महिला प्रत्येक स्थिति में घाटे में ही रहती है। वे अपने हिस्से से अधिक का घर का कार्य तो करती ही हैं, तथा बाहर भी उनके कार्य का कम मूल्यांकन कर उन्हें कम भुगतान किया जाता है।

मार्क्सवादी नारी अधिकारवाद स्त्रियों की अधीनता को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व (Ownership) और निजी सम्पत्ति के उदय का परिणाम बताता है। पुरुषों की तरह ही स्त्रियों के काम का उपयोगी मूल्य है लेकिन विनिमय (Exchange) मूल्य नहीं है। इसलिए पुरुषों के पास स्त्रियों से अधिक शक्ति होती है और स्त्रियों का उत्पीड़न भुगतान रहित गृह कार्य के कारण होता है।

उत्तर आधुनिकतावाद परिप्रेक्ष्य (Post Modernism)

उत्तर आधुनिकतावाद का उद्गम विकसित पूँजीवादी देशो को सस्कृति से ह। 1980 के दशक से समाजशास्त्र मे उत्तर आधुनिकतावाद परिप्रेक्ष्य का प्रभाव वढता जा रहा है। कुछ उत्तर आधुनिक विचारक समाज मे हो रहे महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो का वर्णन करने तथा उन्हे समझाने से ही स्वय को सन्तुष्ट मानते हें। कुछ उत्तर-आधुनिक विचारक तर्क करते हैं कि प्रकार्यवाद, मार्क्सवाद अन्त.क्रियावाद तथा नारी अधिकारवाद ने पूर्व के युग मे सामाजिक विश्व किस प्रकार कार्य करता है, यह भले ही समझाया हो किन्तु वे अव उपयोगी नहीं हैं। उनका तर्क ह कि आज लोग अपनी स्वय की पहचान तथा जीवनशैली का चयन करने हेतु अधिक स्वतत्र हैं। कुछ उत्तर आधुनिकतावादी तो इस विश्वास को ही चुनौती देते हें कि समाज के बारे मे ज्ञान की रचना करने का कोई ठोस आधार है। ज्ञान वास्तव मे व्यक्तिनिष्ठ होता है और वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण को व्यक्त करता है।

जॉ फ्रेंकोज ल्योटार्ड (Jean Francois Lyotard) जैसे उत्तर आधुनिकवादी समाज कैसे कार्य करता हे इस पर कोई सामान्य सिद्धान्त बनाने के प्रयास का विरोध करते हैं। ल्योटार्ड सकलता (Totality) यानी सम्पूर्ण समाज को समझने की विचारधारा के विरोधी हैं। उनकी मान्यता है कि सामाजिक विश्व जैसे जटिल धारणा को समझाना वास्तव मे बहुत कठिन है। ल्योटार्ड के अनुसार उत्तर आधुनिकतावाद मशीनो के लघुकरण व व्यापीकरण पर टिका हुआ है। ज्ञान उत्पादन का साधन है। ज्ञान शक्ति है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—विवरणात्मक (Narrative) और वैज्ञानिक (Scientific)। ज्ञान अपने आप मे अब साध्य नहीं रह गया हे। ल्योटार्ड कल्पना करते हैं कि भविष्य मे युद्ध भू-भाग के विवाद पर न होकर ज्ञान पर नियत्रण के विवाद पर होगे। जिस देश मे विविध सूचनाओ का अधिकतम भण्डार होगा, वह देश उतना ही शक्तिशाली होगा।

एक और उत्तर आधुनिकतावादी विचारक ज्या बॉड्रिलार्ड (Jean Baudrillard) मानते हे कि समाज अब एक नवीन व विशिष्ट अवस्था मे पहुँच गए हैं। वे इस परिवर्तन को भाषा व ज्ञान से जोडते हैं। भाषा का खेल (Language Games) ल्योटार्ड की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। उत्तर आधुनिकतावादी मानते है कि भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा विचारो की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए भाषा का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाना चाहिए।

मिशेल फूको (Michel Foucault) के अनुसार ज्ञान के उत्पादन के माध्यम से व्यक्ति स्वय को तथा दूसरो को नियत्रित करता है। फूको ने स्पष्ट किया ह कि किस प्रकार ज्ञान द्वारा नवीन तकनीको और प्रविधियो को जन्म देकर शक्ति का प्रयोग किया जाता है। फूको का मत था कि ज्ञान की शक्ति सदैव विवाद का विषय रही है और इसके प्रति

विरोध भी प्रकट किया जाता है। जॉक़ देरिदा (Jacques Derroda) की विखडनवादी (De-construction) अवधारणा भेद (Difference) पर आधारित है। इसमें दो अर्थ निहित हैं—पहला मतभेद (Differ) और दूसरा स्थगित (Defer)। विखडन शब्दों के अर्थ समझने का एक उपागम है, जिसमे शब्दो को अन्य शब्दो के साथ जोड कर अर्थ निकाला जाता है। विखडन उपागम द्वारा यह दर्शाया जा सकता है कि किस प्रकार भाषा का प्रयोग असमानता और उत्पीड़न को बढाने हेतु किया जाता है। देरिदा के अनुसार मनुष्य के 'स्व' की पहचान समाज से होती है। समाज के अनुसार ही 'स्व' की चेतना आती है। चेतना को लाने का माध्यम भाषा होती है।

डेविड हार्वे (David Harvey) यह स्वीकार करते हैं कि समाजो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं तथा वे इन परिवर्तनो को प्रभावित करने मे आर्थिक कारणो पर बल देते हैं। जार्ज रिटजर (George Ritzer) ने अपनी पुस्तक 'कंटेम्परी सोशियोलोजिकल थ्योरी' मे लिखा है कि उत्तर आधुनिकतावाद मे सामान्यत: महान वृत्तान्तो (Meta-narrative) के विरोध का कारण है कि ये रुढिया और परम्पराओं को वैधता प्रदान करते हैं। उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य का रुझान स्थानीय स्तर पर छोटे विचारों का संश्लेषण या एकीकरण की ओर है।

कुछ विद्वान और आलोचक यह भी कहते हैं कि उपर्युक्त उल्लिखित कुछ सिद्धान्त उपागम अथवा विचारधारणाये हैं इन्हे परिप्रेक्ष्य नहीं कहा जा सकता। समाजशास्त्र में कई परिप्रेक्ष्यो का प्रयोग होता है। प्रत्येक परिप्रेक्ष्य समाज को अलग-अलग बिन्दु से देखता है, अलग-अलग प्रश्न पूछता है तथ अलग-अलग निष्कर्ष पर पहुँचाता है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज को एक परस्पर सबधित तत्र के रूप मे देखता है जिसमें प्रत्येक समूह एक भूमिका का निर्वहन करता है तथा तंत्र को क्रियाशील रखता है। सघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य लगातार तनावों व समूह सघर्ष को समाज की साधारण स्थिति के रूप मे देखता है। अत:क्रियावादी अपना ध्यान लोगों व समूहो के दैनदिन जीवन के सम्प्रेषणो व व्यवहारो पर केन्द्रित करते हैं। कुछ ऐसे भी पहलू होते हैं जिनके लिए एक से अधिक परिप्रेक्ष्य उपयोगी हो सकते हैं। कुछ समस्याओ के लिए एक परिप्रेक्ष्य अन्यो की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकता है। कुछ विषयो पर विभिन्न परिप्रेक्ष्य एक दूसरे से इतने अधिक विपरीत होते हैं कि उनमें मिलान करना संभव नहीं होता। किन्तु अधिकतर विभिन्न परिप्रेक्ष्य एक दूसरे के पूरक होते हैं। एक परिप्रेक्ष्य जिस बिन्दु की उपेक्षा करता है दूसरा उसकी पूर्ति करता है। विभिन्न परिप्रेक्ष्य एक दूसरे को आच्छादित करते हैं तथा अधिकाश समाजशास्त्री इनका उपयोग एक-दूसरे के साथ मिलाकर करते हैं। समाजशास्त्रियों द्वारा इन महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्यों का उपयोग किसी न किसी मात्रा में किया जाता है। समाज को पूर्ण रूप मे समझने के लिए सभी परिप्रेक्ष्य उपयोगी तथा आवश्यक है।

◇◇◇

4

समाजशास्त्र के संस्थापक एवं संवर्धक

(Founders and Promoters of Sociology)

रणनीति को अभी भी सामाजिक विज्ञानों में प्रत्यक्षवाद कहते हैं। सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग ने एक नये विज्ञान—समाजशास्त्र को जन्म दिया।

काम्टे का संपूर्ण बौद्धिक जीवन समाजशास्त्र को वैधता प्रदान करने का प्रयास था। उनके इन प्रयासों के फलस्वरूप विज्ञानों का एक पदानुक्रम निर्मित हो गया जिसमें समाजशास्त्र को विज्ञानों की रानी का दर्जा प्राप्त हुआ।

काम्टे समाजशास्त्र व जीवशास्त्र में एक प्रकार की समानता देखते थे। उनके विचार में दोनों का संबंध जीवों से होता है। काम्टे पूर्ण रूप से निश्चित थे कि यद्यपि अब तक जीवशास्त्र समाजशास्त्र के लिए मार्गदर्शक तथा तैयारी था। किन्तु भविष्य में समाजशास्त्र जीवशास्त्र को अंततोगत्वा व्यवस्थापन प्रदान करेगा। इस प्रकार समाजशास्त्र को सर्वप्रथम जीवशास्त्र में व्यक्तिगत जीवों तथा समाजशास्त्र में सामाजिक जीवों के बीच समानता को मान्य करना चाहिए।

कार्य प्रणाली (Methodology)

काम्टे सामाजिक विकासवादी (Evolutinist) तथा प्रत्यक्षवादी (Positivist) थे। प्रत्यक्षवादी होने से वे मानव समाज को समझने हेतु प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों का उपयोग करना चाहते थे। वे दर्शनशास्त्र की इस बात को मानते थे कि ज्ञान केवल संवेदी अनुभवों (Sensory Experiences) अथवा प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों से ही प्राप्त किया जा सकता है, न कि निराधार कल्पनाओं, सहजबोध अथवा तार्किक विश्लेषण द्वारा। उनकी कार्यविधि प्रेक्षण, प्रयोग तथा सामान्यीकरण पर आधारित थी। यद्यपि वे प्रत्यक्षवादी थे किन्तु उनका लेखन अत्यधिक काल्पनिक था। समाज के उद्देश्य को समझाते हुए उन्होंने उसे सामाजिक जीवन की मनोलहरियों तथा कमजोरियों (रुचियों व विशेषताओं) की खोज के रूप में वर्णित किया। उन्होंने कहा "मानवीय संबंधों के पैटर्न का अध्ययन दो प्रकार से उपयोगी हो सकता है, एक तो मानव समाजों की समस्याओं को समझने में तथा दूसरे उनके हल निकालने में।"

काम्टे ने समाजशास्त्र को केवल नाम व उद्देश्य ही नहीं दिया बल्कि समाज के अध्ययन हेतु तीन स्तरीय उपगमन की भी रूपरेखा प्रस्तुत की। ये तीन स्तर हैं—सैद्धान्तिक (Theoretical), आनुभविक (Empirical) व व्यावहारिक (Practical)। सैद्धान्तिक उपगमन सामाजिक जीवन के विभिन्न घटकों के उद्गम, संरचना तथा कार्यों के अमूर्त सामान्यीकरण से संबंधित होता है। आनुभविक उपगमन का संबंध व्यक्ति निरीक्षण, तुलना तथा प्रयोगों से क्या सीख सकता है, इसमें रहता है। व्यावहारिक उपगमन सैद्धान्तिक कल्पनाओं तथा अनुसंधान के निष्कर्षों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सामाजिक स्थितियों में प्रयोग करने पर जोर देता है। सिद्धान्त, अनुसंधान तथा व्यावहारिक अनुप्रयोग— ये तीनों मिलकर एक ढांचा तैयार करते हैं जिसमें समाजशास्त्रियों ने कार्य किया है तथा आगे भी करते रहेंगे।

काम्टे ने समाजशास्त्र को दो भागो मे बांटा समाज को एकीकृत कैसे रखा जाता है (इसे वे सामाजिक स्थैतिकी (Social Statics) कहते थे) तथा समाज किस प्रकार परिवर्तित होता है (इसे वे सामाजिक गतिकी (Social Dynamics) कहते थे)। सामाजिक स्थैतिकी की किसी एक समय पर समाज की संरचना तथा उसके विभिन्न अवयवो के आपसी संबधो का अध्ययन होता है जबकि सामाजिक गतिकी सामाजिक प्रक्रियाओ व सामाजिक परिवर्तन की क्रमिक अवस्थाओ का अध्ययन होता है। इसके अन्तर्गत समाज का विकास, परिवर्तन की प्रक्रिया और परिवर्तन के निर्धारक तत्वो की खोज की जाती है। काम्टे ने समाज के स्थिर एव गतिशील दोनों पक्षो का महत्वपूर्ण माना है। ये दोनो शब्द (सामाजिक स्थैतिकी व सामाजिक गतिकी) वर्तमान मे अधिक उपयोग मे नही लाए जाते।

विकास एव प्रगति का सिद्धान्त तथा तीन अवस्थाओ के नियम

(Theory of Evolution and Progress and the Law of Three Stages)

काम्टे का मानना था कि समाज के विकास को तीन अवस्थाओ मे देखा जा सकता है:—

ईश्वरपरक (अथवा सैद्धांतिक) अवस्था (The Theological (or Theoretical) Stage): प्रारंभ से लेकर यूरोप म मध्य युग तक इस अवस्था मे विश्व में विचार धर्म द्वारा नियंत्रित अथवा मार्गदर्शित होते थे। समाज को ईश्वर के इच्छा की अभिव्यक्ति तब तक माना जाता था जब तक मानव ईश्वरीय योजना को क्रियान्वित करने हेतु सक्षम रहते थे। इस प्रकार सैद्धान्तिक अवस्था सामाजिक जीवन के विभिन्न अगो के उद्गम उनकी संरचना व कार्यों के अमूर्त सामान्यीकरण तथा सर्वमान्य नियमो की खोज से संबधित थी।

पराभौतिक (अथवा इन्द्रियानुभविक) अवस्था (The Meta physical (or Empirical) Stage): यह अवस्था पुनर्जागरण (14वी सदी) से प्रारंभ हुई जब लोग समझने लगे कि समाज स्वाभाविक है न कि यह एक अलौकिक घटना ह। उदाहरण के लिए 17वीं सदी के मध्य मे थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) ने ये विचार व्यक्त किए कि समाज ईश्वर की परिपूर्णता को परिलक्षित नहीं करता बल्कि वह मानव के स्वार्थी स्वभाव द्वारा उत्पन्न विफलताओ को परिलक्षित करता है। इस प्रकार यह अवस्था मानव प्रेक्षण, तुलना तथा प्रयोग के माध्यम से क्या सीख सकता है, इससे संबंधित होती है।

वैज्ञानिक (अथवा व्यावहारिक) अवस्था (The Scientific (or Practical) Stage): यह अवस्था गैलीलियो तथा न्यूटन जैसे वैज्ञानिको के योगदानो के साथ प्रारंभ हुई। काम्टे ने भी इस वैज्ञानिक उपगमन को समाज के अध्ययन मे तथा सैद्धान्तिक पूर्वानुमानो तथा अनुसधानो के निष्कर्षो को सामाजिक स्थिति मे लागू करने हेतु उपयोग किया।

काम्टे ने कहा कि समाजशास्त्रियों का बुद्धिवादी होने के नाते उन लोगों के जीवन में सुधार करना चाहिए जो पारम्परिक चलन के कारण कुंठित हो गए हैं। फिर भी अब आधुनिक समाजशास्त्री कोई भ्रम में नहीं है तथा समाज में उनका क्या महत्त्व है, इस संबंध में उनके विचार बिल्कुल भिन्न हैं। वे मानते हैं कि उनकी भूमिका मानवीय अंतःसंबंधों के पैटर्न को समझना तथा अपनी समझ द्वारा समाज में व्याप्त समस्याओं को सुलझाना है।

समाजशास्त्र के विकास में काम्टे का योगदान

(i) काम्टे ने समाजशास्त्र को उसका नाम प्रदान किया और उसकी बुनियाद डाली जिससे वह एक पृथक् विज्ञान के रूप में विकसित हुआ।

(ii) काम्टे ने अपने तीन स्तरों के नियम के माध्यम से बौद्धिक विकास और प्रगति के बीच घनिष्ट सम्पर्क स्थापित किया है।

(iii) काम्टे ने समाजशास्त्र के सभी विषयों को दो क्षेत्रों में बांटा—सामाजिक स्थैतिकी और सामाजिक गतिकी। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने इन्हें सामाजिक संरचना तथा प्रकार्य तथा सामाजिक परिवर्तन तथा प्रगति के रूप में बनाए रखा है।

(iv) वैज्ञानिक अवलोकन एवं परीक्षण, तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य और ऐतिहासिक समाजशास्त्र संबंधी उनके विचार समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण और सार्थक माने जाते हैं।

एक समय काम्टे यह विश्वास रखते थे कि औद्योगिक समाज में धर्मों का स्थान विज्ञान ले लेगा। आज भी धर्म एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903)
HERBERT SPENCER

अंग्रेजी दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर, जिनकी पुस्तक 'सामाजिक स्थैतिकी' (*Social Statics*) सन् 1850 में तथा 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' (*Principles of Sociology*) सन् 1876 में प्रकाशित हुई, यह मानते थे कि समाज का एक पूर्ण अस्तित्व होता है। यद्यपि यह विभिन्न इकाइयों से निर्मित होता है, फिर भी कुल मिलाकर उनमें एक दृढ़ता होती है जो इन इकाइयों के बीच के निरंतर सामंजस्य द्वारा उनके द्वारा अधिग्रहीत संपूर्ण भू-भाग पर अंतर्निहित होती है।

स्पेंसर ने आगे और कहा कि समाज एक जीव है। जिस प्रकार जीव आकार तथा संरचना में बढ़ते हैं, उसी प्रकार समाज में भी वृद्धि होती है। प्रथमतः इकाइयों के समूहों के बीच असमानताएं संख्या तथा मात्रा में अस्पष्ट होती हैं किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती है, भाग तथा उपभागों की संख्या भी बढ़ती जाती है। आकार व बनावट की विभिन्नताओं के साथ ही उनके द्वारा संपादित कार्यों में भी भिन्नताएँ प्रकट होती हैं। उनके कर्त्तव्य भी भिन्न होते हैं। काम्टे के विपरीत स्पेंसर चाहते

थे कि समाजशास्त्र सामाजिक सुधारों हेतु एक तार्किक तथा प्रभावी मंच उपलब्ध कराए। सामाजिक परिवर्तन में नियोजन की भूमिका पर भी स्पेंसर व काम्टे मे मतभेद थे। वे समाजशास्त्र हेतु सामाजिक इंजीनियरिंग (Social Engineering) के विचार के विरुद्ध थे। किन्तु काम्टे के समान ही स्पेंसर भी सामाजिक विकासवादी थे तथा वे मानते थे कि समाज बर्बरता से सभ्यता की ओर विभिन्न अवस्थाओं के माध्यम से प्रगति कर रहा है।

स्पेंसर ने सन् 1859 मे एक सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की जो मानती थी कि प्राकृतिक विश्व के समान ही मानव समाजो मे भी सर्वोत्तम की उत्तरजीविता (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त लागू होता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन को समाजशास्त्रियो द्वारा मार्गदर्शित करने का प्रयास प्रकृति की नियति के साथ खिलवाड होगा। स्पेंसर मानते थे कि जिन लोगो के पास सत्ता व संपत्ति है, वे उन लोगो से श्रेष्ठ हैं जिनके पास ये नहीं है। संपत्ति व सत्ता ये उनकी नैसर्गिक श्रेष्ठता का प्रमाण है। शिक्षा तथा कल्याण योजनाओ और सामाजिक सेवाओं को उपलब्ध कर सत्ता व संपत्ति का पुन: वितरण करना सामाजिक विकास की प्रक्रिया को दिशा भूल करना है। ऐसा बलवानो के हितो की कीमत पर कमजोरो के हितों की रक्षा करना होगा।

स्पेंसर ने कहा है कि समाज मे परिवर्तन अवश्य होते रहेंगे। इसलिए हमे वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओ के प्रति आलोचनात्मक होने की आवश्यकता नहीं है और न ही सामाजिक परिवर्तन हेतु सक्रियता से कार्य करने की। स्पष्ट रूप से अपने मतभेदो के बावजूद आगस्ट काम्टे व हरबर्ट स्पेंसर इस बात पर सहमत थे कि सामाजिक व्यवहार का अध्ययन व्यवस्थित रूप से होना चाहिये।

प्रकार्यवाद (Functionalism)

स्पेंसर को उनके सामाजिक संस्था के सिद्धान्त के कारण भी याद किया जाता है। उन्होंने समाज, राज्य, धर्म, अर्थव्यवस्था आदि संस्थाओ की तुलना शरीर के विभिन्न अवयवो से की। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग सामंजस्य के कार्य कर एक पूर्ण शरीर को एकीकृत रखते हैं, उसी प्रकार समाज की विभिन्न संस्थाए भी एक सामाजिक इकाई के समान कार्य करती हैं। इस संदर्भ मे स्पेंसर को प्रकार्यवादी कहा जाता है। स्पेंसर के अनुसार बिना प्रकार्यों मे परिवर्तन के संरचना मे परिवर्तन सम्भव नहीं। एक जटिल सामाजिक संरचना मे उनके अंग या भाग एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं।

सामाजिक उद्‌विकास (Social Evolution)

हर्बर्ट स्पेंसर ने समाज के उद्‌विकास की अवस्था के आधार पर समाजो को सरल

(Simple), जटिल (Compound), दोहरी जटिल या द्वि-सयुक्त (Doubly Compound) तथा तेहरी जटिल या त्रि-सयुक्त (Trebly Compound) प्रकारों में बांटा है। इसके साथ ही उन्होंने समाजो को सैनिक तथा औद्योगिक समाजो में वर्गीकृत किया है। सैनिक समाज की विशेषता बाध्यता है, जबकि औद्योगिक समाज ऐच्छिक सहयोग पर आधारित होता है।

सामाजिक विकास के बारे में चर्चा करते हुए स्पेंसर कहते हैं कि समजातीयता (Homogeneity) से विषम जातीयता (Heterogeneity) में परिवर्तन उदाहरण सहित प्रतिपादित है : सरल जनजाति से सभ्य राष्ट्र तक अनेक संरचनात्मक विविधताएं हैं। विषम जातीयता की प्रगति के साथ ही ससजन (Cohesion) भी बढ़ता है। घुमक्कड यायावरों के समूहों मे कोई बंधनकारी सूत्र नहीं था, किसी एक प्रभावशाली व्यक्ति के अधीनस्थ स्वय को सौंपने से जनजातियों मे कुछ ससजन (Coherent) आया, जनजातियों के समूह के समूह राजनैतिक दृष्टि से एक मुखिया तथा उप-मुखियों के अधीन एक बंधन में बंधे व इस प्रकार वे एक सभ्य राष्ट्र के रूप में विकसित हुए तथा उन्होंने स्वय को इतना मजबूत बना लिया कि वे हजारों वर्ष तक साथ-साथ रहे। इसी के साथ निश्चितता में भी वृद्धि हुई। सर्वप्रथम सामाजिक सगठन अनिश्चित था, जैसे-जैसे प्रगति हुई निश्चित व्यवस्थाओं ने अधिक स्पष्ट रूप ले लिया, प्रथाओं को कानूनो के रूप में पारित किया गया जो धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की कृतियों हेतु अधिक विशिष्ट प्रकार से लागू हुए। पहले सभी संस्थाएं अस्त-व्यस्त रूप से एक-दूसरे से मिली हुई थीं जो शनैः-शनैः एक दूसरे से पृथक हुईं तथा प्रत्येक ने अपनी संरचना का आकार लिया। इस प्रकार विकास का सूत्र सभी पहलुओं में सफल रहा। इससे हमें संसजन (Coherence), बहुआयामी (Multifoxmity) व सुनिश्चितता (Definiteness) में प्रगति देखने को मिली।

समाजशास्त्र के विकास में हर्बर्ट स्पेन्सर का योगदान

ऐसा कहा जाता है कि समाजशास्त्र के जिस नक्शे को काम्टे ने बनाया, उसमें रंग स्पेन्सर ने भरे। समाजशास्त्र के विकास में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

(i) स्पेन्सर ने अपने 'योग्यतम की उत्तरजीविता' (सरवाइवल ऑफ फिटेस्ट) के माध्यम से समाजशास्त्र में तुलनात्मक अध्ययनों की परम्परा के विकास में योगदान दिया।

(ii) स्पेन्सर ने समाज के विभिन्न अंगों की परस्पर निर्भरता पर बल दिया।

(iii) स्पेन्सर ने व्यक्ति केन्द्रित समाजशास्त्र के स्थान पर इतिहास केन्द्रित समाजशास्त्र पर जोर दिया।

(iv) स्पेन्सर के सिद्धान्तों का दो कारणों से आकर्षण था— (i) वे एकीकृत

ज्ञान को पिपासा को सन्तुष्ट करते थ तथा (ii) व स्वतन्त्र उद्यम के सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल देते थे। उनरवादिता और अहस्तक्षेपवादिता सम्बन्धी उनके विचार आज भी सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तो के मूलाधार बने हुए हैं।

(५) स्पेन्सर के अनुसार समाजशास्त्र अध्ययन के क्षेत्र हैं— परिवार राजनीति धर्म सामाजिक नियन्त्रण तथा उद्योग। उन्होने समुदायो के समाजशास्त्रीय अध्ययन तथा कलाओ व सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन का भी उल्लेख किया है।

स्पेन्सर मानते थे कि रीतियाँ व धर्मानुष्ठान अपना महत्व खो देगे तथा लुप्त हो जायेंगे किन्तु आधुनिक दैनंदिन जीवन म वे नए रूप म विद्यमान हैं।

एमिल दुर्खीम (1858-1917)
EMILE DURKHEIM

फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुर्खीम सामाजिक तथ्य (*Social Fact*) श्रम विभाजन (*Division of Labour*) आत्महत्या (*Suicide*) व धर्म (*Religion*) इन विषयो मे योगदान के लिए प्रसिद्ध हैं। व प्रत्यक्षवादी (आत्महत्या) विकासवादी (श्रम विभाजन) तथा प्रकार्यवादी (धर्म) सभी थे।

दुर्खीम के विचारो के प्रमुख बिन्दु
(Central Ideas of Durkheim Thought)

सभी सामाजिक घटनाए समाज के कारण ही घटित होती हैं।

व्यक्ति की अपेक्षा समाज का प्राधान्य देना होगा क्योंकि व्यक्ति समाज की देन है न कि इसके विपरीत।

समाज प्रकार्यात्मक एकीकृत तत्र है अर्थात इसे आपस मे सबधित अवयवो के एक तत्र के रूप मे देखना चाहिए जिसके किसी भी एक अवयव का समग्र से पृथक करके नहीं समझा जा सकता।

समाज सामूहिक मनोभावो विचारो व भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता है।

समाज एक नैतिक वास्तविकता है।

कार्य व कारण मे अतर
(Difference between Function and Cause)

दुर्खीम ने 'कार्य' व 'कारण' म अतर बताया है। वे मानते थे कि 'कारण' से तात्पर्य 'किसी सामाजिक घटना का उद्गम कैसे हुआ' से होता है जबकि 'कार्य' का तात्पर्य 'यह घटना कैसे उपयोगी हो सकती है' इससे होता है। वे कहते हैं कि किसी सामाजिक घटना का उपयोग उसके विशिष्ट गुणो हेतु आवश्यक होता है। वे यह भी कहते हैं कि सामाजिक तथ्य किसी उपयोग के बिना भी हो सकता है। उसका

अस्तित्व कार्य के उपरान्त भी हो सकता है अथवा वह अपने कार्य परिवर्तित कर सकता है अथवा अपने कार्य कालान्तर में परिवर्तित कर सकता है, जसे धर्म की भूमिका आज वह नहीं रही जो पूर्व मे हुआ करती थी। भारत मे इसका सबसे अच्छा उदाहरण है— आज धर्म का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अधिक हो रहा है।

दुर्खीम 'कार्य' व सामाजिक आवश्यकता मे भी अन्तर करते थे। सामाजिक आवश्यकता की धारणा पूर्ण समाज के लिए प्रयुक्त होती है जबकि कार्य की धारणा उसके भूतकाल के लिए प्रयुक्त होती है। वे कहते हैं कि कार्य का सबध अवयव का समग्र पर प्रभाव से होता है जबकि सामाजिक आवश्यकता का सबध समग्र का अवयव पर प्रभाव से होता है।

इस प्रकार समाज के लिए परिवार की सामाजिक आवश्यकता (और न कि कार्य) है कि वह व्यक्तियों (सदस्यों) का समाजीकरण करे, उन्हें स्नेह व सुरक्षा प्रदान करे तथा समाज मे स्थान दे।

प्रकार्यवाद (Functionalism)

दुर्खीम का प्रकार्यवादी उपगमन उनकी पुस्तको 'धार्मिक जीवन के प्रारंभिक रूप' (*Elementary Forms of Religious Life*) तथा 'श्रम विभाजन' (*Division of Labour*) मे देखे जा सकते हैं। धर्म के कार्यो के विषय मे चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि धर्म नैतिकता बनाए रखता है, लोगों को सगठित रखता है, सामाजिक एकात्मकता बनाए रखता है तथा समाज को व्यक्ति से श्रेष्ठ रखता है।

'श्रम विभाजन' में कार्य गतिविधियो की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि ये भिन्न होती हैं किन्तु सम्पूरक होती हैं। ये गतिविधिया लोगों को एक सूत्र मे बांधती हैं। वे 'सामूहिक अतःकरण' के संबंध मे भी चर्चा करते हैं जो आस्थाओं व मनोभावो जो समाज के सदस्यो के समान रूप से होती है, का योग होता है। वे समाज में व्याप्त दो प्रकार के नियमों (जो एकात्मकता बनाए रखते हैं) की चर्चा करते है : पहले दमनकारी नियम जो प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं क्योंकि अपराध को सामूहिक अतःकरण के लिए आघात मानते हैं। इसलिए ये नियम दण्डात्मक होते हैं। दूसरे प्रकार के नियम प्रतिबधात्मक होते हें जो जब कोई बुरा कार्य घटित होता है, तो व्यवस्था बनाए रखते हैं। ये नियम सहकार्यात्मक होते हैं।

श्रम विभाजन : सामाजिक एकात्मकता
(Division of Labour : Social Solidarity)

दुर्खीम की पुस्तक 'समाज मे श्रम विभाजन' (सन् 1949 मे जार्ज सिम्पसन द्वारा अनुवादित) दो भागों में बंटी है। प्रथम भाग मे सामाजिक एकता का विश्लेषण है। दुर्खीम ने व्यक्ति के सामाजिक एकात्मकता के प्रति सबधो तथा एक ओर व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतत्र होते हुए भी समाज पर अधिक निर्भर क्यों रहता है, इसका

विश्लेषण किया है। दुर्खीम श्रम विभाजन के कारण होने वाली दो प्रकार की एकात्मकता की चर्चा करते हैं यांत्रिक (Mechanical) व सावयविक (Organic)। यांत्रिक एकात्मकता मूल्यों व व्यवहार की समरूपता कड़े सामाजिक प्रतिबंध तथा परम्पराओं व पारिवारिक संबंधों के प्रति निष्ठा पर आधारित होती है। यांत्रिक एकात्मकता यह शब्द छोटे अशिक्षित समाजो पर लागू होता है जहा सरल श्रम विभाजन कार्यों की बहुत कम विशेषज्ञता बहुत कम सामाजिक भूमिकाए तथा वैयक्तिकता के लिए बहुत कम सहनशीलता होती है। सावयविक एकात्मकता आधुनिक औद्योगिक समाज की विशेषता है। इन समाजो में एकता बहुत बडी संख्या मे अति-विशिष्टीकृत भूमिकाओ को एक दूसरे पर निर्भरता पर आधारित होती है। यह एक ऐसे तंत्र मे होता है जहाँ बहुत जटिल श्रम विभाजन होता है जिसके लिए समाज के करीब करीब सभी समूहो व व्यक्तियो के सहयोग की आवश्यकता होती है। यांत्रिक एकता की विशेषता एकरूपता और सावयवी एकता की विशेषता विभिन्नता है।

सामाजिक एकात्मकता ऐसे समाज की एक स्थिति होती है जहा सामाजिक समंजन व साथ म सामूहिक व सहकारात्मक कार्य समूह के उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु किए जा रहे हो।

दुर्खीम मानते हैं कि सामाजिक एकात्मकता एक ऐसी घटना है जिसका न तो प्रेक्षण किया जा सकता है और न ही उसे नापा जा सकता है। किन्तु इसका दृश्य प्रतीक कानून होता है। सामाजिक एकात्मकता अपनी उपस्थिति कुछ अभिसूचको के द्वारा प्रकट करती है। जहा सामाजिक एकात्मकता प्रबल होती हैं यह प्रबलतापूर्वक लोगो को एक-दूसरे के करीब लाती है उन्हे बार-बार एक-दूसरे के संपर्क मे लाती है तथा ऐसे अनेकानेक अवसरो का निर्माण करती है जब लोग एक-दूसरे से संबंधित होते हैं।

आत्महत्या (Suicide)

दुर्खीम का 'आत्महत्या' का सिद्धान्त यह कहता है कि आत्महत्या एक व्यक्तिगत घटना है जिसके कारण आवश्यक रूप से सामाजिक होते हैं। सामाजिक शक्तियाँ जिनका उद्गम व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है आत्महत्या के निर्धारित कारण होती हैं। ये शक्तियां विभिन्न समाजो मे, सामाजिक समूहो म तथा धर्मों मे भिन्न-भिन्न होती हैं। आत्महत्या पर अपनी पुस्तक मे दुर्खीम कहते हैं कि उनका सिद्धान्त मनोविज्ञान जीव विज्ञान अनुवांशिक विज्ञान तथा भौगोलिक कारको पर आधारित है तथा इस सिद्धान्त को सिद्ध करने हेतु वे आनुभविक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि आत्महत्या आनुवांशिकता, तनावों नकल आदि कारणो से नहीं होती। किन्तु ये सामाजिक संरचना के कारण होती हैं जो संभावित आत्महत्या को प्रवृत्त

करते हैं, इस प्रवृत्ति को बनाए रखते हैं तथा गंभीर बना देते हैं। आत्महत्या की उच्च दर लचर सामाजिक एकात्मकता का परिणाम होती है। आत्महत्या की दर आयु, लिंग, धर्म, निवास स्थान, वैवाहिक स्थिति, पारिवारिक संरचना आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के संबंध में कुछ प्रस्तावक कथन प्रस्तुत किए हैं:—

- धार्मिक समाज की एकात्मकता की मात्रा जितनी अधिक होगी, आत्महत्याओं की संख्या उतनी ही कम होगी।
- घरेलू समाज की एकात्मकता की मात्रा जितनी अधिक होगी आत्महत्याओं की संख्या उतनी ही कम होगी।
- राजनैतिक समाज की एकात्मकता की मात्रा जितनी अधिक होगी, आत्महत्याओं की संख्या उतनी ही कम होगी।
- व्यक्ति जिन सामाजिक समूहों का सदस्य है उनके एकात्मकता की मात्रा जितनी अधिक होगी, आत्महत्याओं की संख्या उतनी ही कम होगी।

दुर्खीम ने कहा है कि कुछ सामाजिक वर्गों में अन्य सामाजिक वर्गों की तुलना में आत्महत्या की दर कम होती है। उदाहरण के लिए उन्होंने पाया कि यहूदी लोग कैथोलिकों की अपेक्षा कम आत्महत्या करते हैं, कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट की अपेक्षा कम, विवाहित लोग अविवाहितों की अपेक्षा, तथा असैनिक लोग सैनिक लोगों की अपेक्षा कम आत्महत्या करते हैं। वे आगे कहते हैं कि शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में आत्महत्याएं अधिक होती हैं, युवाओं की अपेक्षा वृद्धों में, गाँवों की अपेक्षा शहरों में, बड़े परिवारों की अपेक्षा छोटे परिवारों में आत्महत्याएं अधिक होती हैं। आत्महत्याओं की दर का सीधा संबंध सामाजिक एकात्मकता के विभिन्न स्तरों अथवा दूसरों के साथ निकटता की भावनाओं से होता है।

व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है वह जितना कमजोर होगा व्यक्ति उतना ही उन पर कम निर्भर होगा। परिणामस्वरूप उतना ही अधिक वह स्वयं पर निर्भर करेगा तथा व्यवहार के किन्हीं अन्य नियमों को मान्य नहीं करेगा जो उसके निजी हितों पर आधारित होंगे। यदि व्यक्ति इस अहम की स्थिति में आत्महत्या करता है तो ऐसी आत्महत्या को अहमजनित (Egoistic) आत्महत्या कहेंगे जो अत्यधिक व्यक्तिवाद का परिणाम होती है। आत्महत्या के विचार का आरंभ किस प्रकार होता है? दुर्खीम के अनुसार आत्महत्याओं को रोकने में सामूहिक शक्ति एक उपाय हो सकता है। यदि समाज प्रबलतापूर्वक एकीकृत होगा तो वह व्यक्तियों को अपने नियंत्रण में रखेगा, उसे अपनी सेवा में समझेगा तथा स्वयं को अपनी इच्छा के अनुसार समाप्त करने से रोकेगा। किन्तु समाज व्यक्तियों पर अपनी प्रभुता नहीं थोप सकता, जब

वे समाज की अधीनता को विधिसगत मानने से मना करते हो। ऐसी अवस्था म जब व जीवन क कष्टो को धीरज के साथ सहन करने मे असमर्थ पाते हैं तो अपने जीवन को समाप्त करने को अपना विशेषाधिकार समझते हैं।

एक आर अहम्‌जनित (Egoistic) आत्महत्या अत्यधिक व्यक्तिवाद के कारण होती है तो दूसरी ओर परमार्थमूलक आत्महत्या अल्पविकसित व्यक्तिकरण के कारण हाती है। पहले प्रकार की आत्महत्याए इसलिए होती हैं क्योंकि समाज उन्हे ऐसा करन दता है। समग्र समाज अथवा उसके कुछ भाग अपने कार्यों मे अपर्याप्त रहते हैं इसलिए भी ऐसा हो सकता है। दूसरे प्रकार की आत्महत्याए समाज द्वारा व्यक्ति को अपने कडे सरक्षण मे रखने के कारण होती हैं।

दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धान्त का सार है — (1) अच्छे एकात्मक समाजो मे जहा सामूहिक चेतना और सामाजिक दृढ़ता प्रबल होती है जहाँ व्यक्ति पर समूह का दबाव अधिक होता है आत्महत्याए परमार्थमूलक होती हैं। देश की स्वाधीनता के लिए फासी पर चढना, राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध मे वीरगति को प्राप्त करना आदि परमार्थमूलक आत्महत्या के उदाहरण हैं। (2) अति व्यक्तिवादी समाजो मे जहा समूह का दबाव कम होता है जहा व्यक्ति स्वय अपने समूह के साथ एकात्मक नहीं पाता वहा आत्महत्याए अहमजनित होती हैं। (3) उन समाजो मे जहा सामाजिक व्यवस्था मे एकाएक बिगड जाती है अथवा जहा सामाजिक अव्यवस्था होती है वहा व्यक्ति समाज से पृथक हो जाता है। समूहगत सम्बन्ध के अभाव के कारण की गई आत्महत्या प्रतिमानहीनता (Anomie) मूलक है।

समाजशास्त्री प्राय तीन प्रकार की आत्महत्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं क्योकि वे सामान्य होते हैं किन्तु वास्तव मे दुर्खीम ने एक चौथे प्रकार को भी चिन्हित किया है जिसे वे भाग्यवादी (Fatalistic) आत्महत्या कहते हैं। जबकि प्रतिमानता या एनोमी (Anomie) आत्महत्याए विकार की भावना से प्रेरित होती हैं वहीं भाग्यवादी आत्महत्याए शक्तिहीनता से सबधित होती हैं जिसे व्यक्ति तब महसूस करते हैं जब उनके जीवन को उनकी सहनशीलता से अधिक नियत्रित किया जाता है। दुर्खीम का आत्महत्याओं का चार प्रकारो मे विभाजन एक प्रतीकात्मक व्याख्या है। प्रतीकात्मक व्याख्या वर्गीकरण की एक पद्धति है जिसमे दो या दो से अधिक अनन्य वर्ग होते हैं। समाजशास्त्रियो द्वारा इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार के व्यवहारो को बेहतर रीति से समझने हेतु किया जाता है।

दुर्खीम द्वारा वर्णित इन प्रकारो को समझने के लिए हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं:—

1 एक आतकवादी पकडे जाने पर गुप्त भेद खोलने से बचने के लिए स्वय को गोली मारकर मर जाता है। यह परमार्थमूलक (Altruistic) आत्महत्या हुई।

2 एक वृद्ध अकेला आदमी जिसका कोई परिवार अथवा मित्र नहीं है, अहम (Egoistic) आत्महत्या का सहारा लेता है।

3 एक व्यक्ति जिसने अपनी सारी बचत शेयरों के सौदे में गवा दी है तथा इस वजह से इस दुभाग्य को सहन नहीं कर पाता, वह अप्रतिमानता या एनोमी (Anomie) आत्महत्या करता है।

4 किसी इंजीनियरिंग कॉलेज का एक नया विद्यार्थी जो उसे दिये जाने वाले मानसिक उत्पीडन को सहन नहीं कर पा रहा है। क्योंकि उसका जीवन उसकी सहनशीलता से अधिक नियमित किया जा रहा है। उससे पार पाने के लिए भाग्यवादी (Fatalistic) आत्महत्या का रास्ता अपनाता है। भाग्यवादी आत्महत्याए शक्तिहीनता से सबधित हैं।

धर्म (Religion)

दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या "पवित्र वस्तुओं से सबधित आस्थाओ व प्रथाओं के सामाजिक तत्र" के रूप में की है। धर्म के सबध मे चर्चा करते समय वे आत्मावाद (Animism), प्रकृतिवाद (Naturism) व अलौकिक शक्तियों को अस्वीकार करते हैं तथा गणचिन्हवाद (Totemism) की बात करते हैं। धर्म का सार विश्व की दो घटनाओं मे विभाजित है— धार्मिक व धर्म निरपेक्ष। धर्म के उपदेश हैं:—

(1) धर्म व धर्म निरपेक्ष दोनों को मिलाना नहीं चाहिए।

(2) यदि दोनों को मिलाते हैं तो लोगों को शुद्धीकरण हेतु धार्मिक विधिया करनी होगी।

(3) पापात्मक परिणामों से बचने हेतु धार्मिक साम्राज्य की शरण में जाना होगा।

धर्म के आविर्भाव हैं : (1) धार्मिक पूजा के स्थानों का पृथक्करण (2) इन स्थानों का प्रयोग नित्य कार्यों हेतु नहीं होना चाहिए (3) धार्मिक अवकाशो हेतु पृथक समय। जब तक सामाजिक एकात्मकता का अस्तित्व है धर्म का अस्तित्व बना रहेगा, यही धर्म का भविष्य है।

दुर्खीम के धर्म संबंधी महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं

(1) धर्म का स्रोत समाज ही है (2) धर्म सामूहिक वास्तविकताओं का प्रतीक होता है अथवा धर्म संपूर्ण सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति है (3) गणचिन्हवाद सबसे सरल धर्म है (4) धार्मिक शक्तियाँ नैतिक शक्तियाँ होती हैं (5) धार्मिक संस्कार लोगों को एक सूत्र में बाधते हैं (6) धर्म का कार्य सामाजिक एकात्मकता को बनाए रखना है।

दुर्खीम द्वारा धर्म का प्रकार्यात्मक विश्लेषण
(Functional Analysis of Religion by Durkheim)

- ममाज के लिए धर्म का कार्य सकारात्मक हाता है। यह समाज मे नैतिक एकता बनाए रखने मे मदद करता ह।
- ऑस्ट्रेलियन जनजातियों के अध्ययन करक (सरल समाज के धर्म को समझने से) किसी भी समाज के आवश्यक लक्षणो अथवा धर्म को समझा जा सकता है। दुर्खीम ने यह निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक अनुष्ठानो का कार्य समाज के सदस्यो मे एकात्मकता को मजबूत करना होता है।
- ऐसी समारोहपूर्वक की गई गतिविधिया लोगा को बताती हैं कि यद्यपि वे अलग अलग कुलों (Clans) म अपना जीवन व्यतीत करते ह, फिर भी वे सभी एक ही ममाज के भाग हैं जिमके समान मूलभूत नैतिक नियम, आकाक्षाए तथा कर्तव्य होते हैं जो उन्हें नियत्रित करते ह।
- एक ही जनजाति मे कुल सामाजिक जीवन की एक बुनियादी इकाई होती है तथा प्रत्येक कुल का एक गणचिन्ह (Totem) होता है।
- यह गणचिन्ह जो एक प्रतीक होता है अर्थात ऐमा प्रतीक जिसे पवित्र माना जाता है तथा उनके लिए जो इसे गणचिन्ह के रूप मे मानते हैं उसका एक विशिष्ट अर्थ होता ह।
- यह गणचिन्ह व्यक्ति की भावनाआ की अभिव्यक्ति का एक साधन होता है। इन भावनाओ के अनुसार व्यक्ति जिस समाज के सदस्य ह वह व्यक्ति से बडा व बेहतर है।
- यह गणचिन्ह व्यक्तियो को उनके कार्यों की तथा सपूर्ण जनजाति से उनके सयोजन (Connections) की याद दिलाता है।
- समय समय पर भोजो, नृत्या तथा धार्मिक अनुष्ठानो पर गोत्र (Clan) के सभी लोगो के एकत्र होने से प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता है कि समूह की शक्ति उनकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक है।
- प्रत्येक व्यक्ति को खुशी तथा उदात्त सवेगो (High Emotions) का अनुभव केवल समुदाय मे एकत्र होने से ही प्राप्त होता है।
- व्यक्ति अपने सहयोगियों के साथ एकात्मकता (Solidarity) की भावना का अनुभव करता है।
- *गणचिन्ह व्यक्ति को समाज की उत्थापन शक्ति (Uplifting Force)* की याद दिलाता है।
- स्पष्टत: जनजातिया स्वय यह नहीं मानती कि गणचिन्ह समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे ऐसा अनुभव करते हैं कि वे उन्ह इसलिए पूजते हैं क्योंकि वे पूजनीय हैं।

प्र गणचिन्हों के व्यापक व प्रच्छन्न (Hidden) महत्त्व अर्थात् समाज मे नैतिक व्यवस्था को बनाए रखने म उनके कार्यो का दुर्खीम ने ही मान्यता प्रदान की। दुर्खीम मानते थे कि समाज को मूलत: विवेकपूर्ण सहमति तथा प्रतिफल के विनिमय मे एक सूत्र मे बाँधकर नहीं रखा जा सकता।

कार्ल मार्क्स (1818-1883)
KARL MARX

एक और सामाजिक चिंतक जिन्होने समाजशास्त्र के विकास पर अपनी छाप छोडी है, वे थे जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स (1818 1883) जो इग्लैण्ड मे रहते थ तथा वहीं कार्य करते थे। उन्हे एक समाजशास्त्री नहीं बल्कि अर्थशास्त्री माना जाता था। यद्यपि मार्क्स काम्टे तथा स्पेंसर के सामाजिक विकास संबधी विचारो मे सहमत थे किन्तु उनके एकीकृत समग्र के रूप मे समाज के विचारो मे सहमत नहीं थे। वे प्रकार्यात्मक चिंतन के विरुद्ध थे तथा वर्ग सघर्ष को पूजीवाद का परिणाम मानते थे। वे 'वर्ग' की व्याख्या उत्पादन के साधनों पूजी, कारखाने, मशीने, श्रम आदि के स्वामित्व के अर्थ मे करते थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तो को 'कम्युनिस्ट' (*Communist Manifesto*, 1848) तथा 'दास केपिटल' (*Das Kapital*, 1867 1879) के तीन खण्डों मे समझाया है। उन्होंने समाज के विकास को एकीकरण के माध्यम से नहीं बल्कि एक अवस्था मे दूसरी अवस्था मे जाते हुए सघर्ष के माध्यम से समझाया है।

वर्ग (Class)

मार्क्स के अनुसार वर्ग लोगो का वह समूह है जो उत्पादन के संगठन में एक ही प्रकार का कार्य करते हैं तथा उत्पादन के साधनो के साथ उनके सबंध एक समान होते हैं। किन्तु वर्ग निर्माण के बारे मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सदस्यो को अपनी सदस्यता के सबंध में सचेत रहना चाहिए जिसे सदस्यो द्वारा सामाजिक क्रिया सगठित करने हेतु उपयोग मे लाया जा सके। वर्ग को वर्ग के नाम के लिए होना ही केवल पर्याप्त नहीं है बल्कि उसे वर्ग के लिए होना आवश्यक है (कफ, 1979.66)। इस प्रकार इतिहास में कृषि दास एव कृषक एक वर्ग नहीं थे बल्कि एक श्रेणी मात्र थे।

मार्क्स ने स्वय मे ही वर्ग व वर्ग के लिए वर्ग मे अन्तर किया है। स्वय मे ही वर्ग एक सामाजिक समूह हैं जिसके सदस्यो के उत्पादन के साधनो के साथ संबंध समान होते हैं। मार्क्स का मानना था कि एक सामाजिक समूह तभी पूर्णत: एक वर्ग बनता है, जब वह स्वय के लिए वर्ग बन जाता है। इस अवस्था में उसके सदस्यो में वर्ग के प्रति चेतना तथा एकात्मकता आ जाती है। वर्ग चेतना का अर्थ है वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान। वर्ग के सदस्य तब सर्वसमता विकसित कर वर्ग मे एकात्मकता निर्मित कर लेते हैं।

वर्ग के लक्षण (Characteristics of Class)

मार्क्स के अनुसार समाज स्वय अपने को वर्गो म विभाजित कर लेता ह। यह विभाजन धनी ओर निर्धन शोपक आर शोपित शासक तथा शासित वर्गों म होता ह। मार्क्स का कथन ह कि सदा स ही प्रत्येक समाज म दो विरोधी वर्ग रहे हैं।

वर्ग के निम्न लक्षण होते हैं:–

- ✧ उत्पादन क साधनो के साथ समान सबध
- ✧ समान सस्थिति (Status)
- ✧ सीमित सामाजिक सबध
- ✧ वर्ग चेतना—यह उनके व्यवहार व समानता की भावना को निर्धारित करती ह
- ✧ निश्चित पदानुक्रम
- ✧ सभावित गतिशीलता
- ✧ उप-सस्कृति
- ✧ जीवन का समान ढग

यहा वर्ग सामाजिक प्रभाग नही होते बल्कि श्रेणिया होती ह जो उत्पादन के तरीको के ऐतिहासिक परिवर्तनो म व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए परस्पर विरोधी स्थानों से सबधित हैं। उत्पादन के साधनो व सबधो म परिवर्तन के साथ वर्ग सरचना मे परिवर्तन होता है। मार्क्स का मानना था कि सामाजिक गतिशीलता की ऊँची दर वर्ग की एकात्मकता को कमजोर करती है। जब वर्ग के लोगों की पृष्ठभूमि समान नही होगी तब वर्ग अधिकाधिक विषमजातीय होत जाएगे।

उत्पादन वितरण, विनिमय तथा उपभोग आपस म एक-दूसरे से सबधित रहत हैं। उत्पादन का एक निश्चित (रूप) उपभोग (के रूप) वितरण विनिमय तथा इन विभिन्न घटको के स्वाभाविक सबधो को भी निर्धारित करता ह। वितरण म परिवर्तन के साथ ही उत्पादन मे भी परिवर्तन होता ह। उपभोग की माग भी उत्पादन को प्रभावित करती है।

इन्हीं सब उत्पादन के सबधो से समाज की आर्थिक सरचना निर्मित होती हे वास्तविक बुनियाद जिस पर विधिक व राजनैतिक अधोरचना निर्भर रहती है तथा जो सामाजिक चेतना के निश्चित ढाचे में मेल खाती है। सासारिक जीवन में उत्पादन के तरीके जीवन की सामाजिक राजनैतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया के साधारण लक्षण निर्धारित करते हे।

उत्पादन की शक्तियां एवं उत्पादन के संबंध
(The Forces of Productions and Relations of Production)

मार्क्स के अनुसार उत्पादक शक्ति और उत्पादन सम्बन्धों के योग से ही समाज की आर्थिक संरचना का निर्माण होता है। यही अधोसंरचना (Sub-Structure) कहलाती है। इसी के आधार पर समाज की अधिसंरचना (Super-Structure) निर्मित होती है जो सामाजिक चेतना का रूप निर्धारित करती है। अधिसंरचना के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि आते हैं। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ लोगों के आर्थिक सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था आदि में भी परिवर्तन हो जाता है। जब-जब हम उत्पादन की बात करते हैं, हमारा तात्पर्य सामाजिक विकास के किसी इतिहास अथवा अवस्था से होता है (जैसे सामंतवादी युग, पूंजीवादी युग आदि)

- ऐतिहासिक युग (Historical Periods)
- एशियाटिक समाज (The Asiatic Society)—स्वामी व दास
- पुरातन समाज (The Ancient Society)
- सामंतवादी समाज (The Feudal Society)—सामंत एवं कृषि दास
- पूंजीवादी (Capitalist)—पूंजीपति एवं सर्वहारा वर्ग

मार्क्स के अनुसार ये विभिन्न युग उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही हुए। जब किसी समाज का विश्लेषण उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन संबंध के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है तब इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दिया जाता है।

भौतिक अथवा उत्पादक शक्तियां
(The Material or Productive Forces)

इसका अर्थ है—

- प्रत्यक्ष उत्पादक जैसे कृषक, मजदूर, उनके कौशल, ज्ञान एवं अनुभव
- औजार व मशीनें जिनके साथ वे काम करते हैं
- कार्य प्रक्रिया में उनके सहयोगात्मक संबंध

उत्पादन के संबंध (The Relations of Production)

इसका अर्थ है–

- उत्पादन के प्रमुख साधनों तथा अन्य महत्वपूर्ण संसाधनों के स्वामी अर्थात वे जो उत्पादन प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं।

- यह नियत्रक कौनसा विधिक अथवा राजनैतिक रूप लेता है? अर्थात समाज को वर्ग रचना

  इस प्रकार उत्पादन के सबध निम्न से सबधित होते हैं

  - सपत्ति एव सत्ता के सबध
  - परस्पर विरोधी हितो के साथ समाज का वर्गों मे स्तरीकरण

वर्ग सघर्ष ((The Class Struggle)

मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्ध आवश्यक रूप से वर्ग-सघर्ष को जन्म देते है।

मार्क्स का दावा था कि अब तक के वतमान समाज का इतिहास वग सघर्ष का इतिहास है। प्रत्येक समाज वर्ग हितो मे भिन्नताओ अथवा उत्पादन के साधनो के स्वामित्व तथा उत्पादन के सबधो के आधार पर वर्गों मे वटा होता है। पुरातन काल मे शूरवीर (Knights) व दास होते थे मध्ययुग मे सामतवादी लॉर्डस (Lords) व कृषि दास होते थे, अब आधुनिक समाज मे पूजीपति व सर्वहारा वर्ग विद्यमान है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी समाज महत्व की दृष्टि से इन दो वर्गों मे बटा है। इसमे मध्यम वर्ग को कोई स्थान नहीं है। स्वतत्र व्यक्ति तथा दास सामत तथा कृषि दास, भूस्वामी व भूमिहीन मजदूर, पूजीपति एव सर्वहारा वर्ग अर्थात दमनकारी तथा उत्पीडित—ये सभी लगातार एक-दूसरे के विरुद्ध खडे रहे हैं, ये कभी खुले मे तो कभी छिप-छिप कर युद्ध करते रहे हैं, प्रत्येक बार युद्ध की समाप्ति समाज की क्रातिकारी पुनर्रचना मे हुई अथवा युद्धरत वर्गों के विनाश मे हुई।

सामतवादी समाजो मे उत्पादन पर शिल्प सघो का एकाधिकार था। किन्तु आधुनिक पूजीवादी समाज ने जो सामतवादी समाजो के खण्डहरो से उत्पन्न हुआ है नए वर्गों को स्थापित किया है। नए बाजार, नए उपनिवेश, विनिमय के साधनो मे वृद्धि आदि ने उद्योग व व्यापार को नई स्थितिया दीं। छोटे उत्पादको का स्थान औद्योगिक मध्यम वर्ग ने ले लिया व इसके वाद औद्योगिक अरबपतियो ने— जिन्हे आधुनिक पूजीपति कहा जाता है। सामती पितृतात्रिक सबधो का स्थान ऐसे सबधो ने लिया जो स्वार्थ व नकद भुगतान पर आधारित थे। निजी साख का स्थान विनिमय मूल्य ने ले लिया। पारिवारिक सवध घटकर धन सबधो तक सीमित रह गए। उत्पीडन व सघर्ष की स्थितिया बदलकर नए रूप मे आ गईं।

पूजीपति वर्ग उत्पादन के साधनो मे सतत क्रातिकारी परिवर्तनो के बिना अस्तित्व मे नहीं रह सकता। ऐसा करने से वे उत्पादन के सबध व उनके साथ समाज के सपूर्ण सबधो मे परिवर्तन करते है। विश्व बाजार के दोहन ने प्रत्येक देश मे उत्पादन व उपभोग को विश्वव्यापी बना दिया है। पुराने राष्ट्रीय उद्योगो को नए उद्योग ने

जिनका प्रवेश सभ्य राष्ट्रों के लिए जीवन मरण का प्रश्न बन गया है, या तो ध्वस्त कर दिया है अथवा हटा दिया है। इन नये उद्योगों के उत्पादों का उपभोग न केवल गृह राष्ट्र में होता है बल्कि विश्व के प्रत्येक कोने में होता है। पुरानी आवश्यकताओं का स्थान नई आवश्यकताओं ने ले लिया है जिसमें सुदूर देशों के उत्पादों की आवश्यकता पड़ने लगी है। पुरानी राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का स्थान अब राष्ट्रों के बीच परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। यह परस्पर निर्भरता भौतिक उत्पादन के साथ बौद्धिक उत्पादन में भी हो गई है। एक राष्ट्र की बौद्धिक रचनाएं अब सबकी संपत्ति हो गई हैं। राष्ट्रीय संकीर्णता का स्थान विश्व चेतना ने ले लिया है। इस प्रकार पूंजीवादियों ने उत्पादन के साधनों में तीव्र गति से सुधार कर तथा अत्यधिक सुविधापूर्ण संचार साधनों माध्यम से सभी राष्ट्रों को सभ्यता के दायरे में खींच लिया है। लुप्त होने के भय के कारण सभी राष्ट्रों को पूंजीवादी उत्पादन के तरीकों को अपनाना एक बाध्यता हो गई है अर्थात् उन्हें भी पूंजीवादी बनने पर बाध्य होना पड़ रहा है।

जिस प्रकार सामंती संबंधों का स्थान स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा तथा नवीन सामाजिक व आर्थिक संरचना ने लिया, उसी प्रकार का आन्दोलन हम घटित होते देख रहे हैं। आज का आधुनिक पूंजीपति वर्ग अपने उत्पादन व वितरण के संबंधों तथा अपनी संपत्ति के होते हुए भी नये विश्व की शक्तियों को रोकने में असमर्थ है। यह एक नई क्रांति को जन्म दे रहा है। ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि सभ्यता, उद्योग व व्यापार बहुत अधिक बढ़ गए हैं। इससे पूंजीवादी समाज में अव्यवस्था फैल गई है। पूंजीवादी इस समस्या से किस प्रकार छुटकारा पाएगे? वृहद् उत्पादन के साधनों को नष्ट करके, नये बाजारों पर प्रभुत्व जमाकर अथवा पुराने बाजारों का और अधिक दोहन कर। जिन हथियारों से पूंजीवादी वर्ग ने सामंतवादी व्यवस्था को भंग किया था, वे ही हथियार अब पूंजीवाद के विरुद्ध हो गए हैं। मजदूर वर्ग के लिए आयु व लिंग के अन्तर विशिष्ट सामाजिक वैधता के लिए कोई अर्थ नहीं रखते। सभी श्रम के औजार हैं। मध्यम वर्ग के निम्न तबके के लोग—दुकानदार, छोटे व्यापारी, कृषक, कारीगर सभी सर्वहारा वर्ग में समाते जा रहे हैं। सर्वहारा वर्ग का विभिन्न चरणों में विकास हो रहा है।

अलगाव या विसंबंधन की धारणा (Concept of Alienation)

मार्क्स ने अलगाव या विसंबंधन शब्द अनेक सामाजिक संस्थाओं जैसे शासन, धर्म, कानून, आर्थिक जीवन आदि के साथ संबंधित किया। फिर भी उन्होंने विसंबंधन को सबसे अधिक महत्व आर्थिक क्षेत्र में दिया, क्योंकि आर्थिक विसंबंधन मस्तिष्क व क्रिया दोनों को प्रभावित करता है। विसंबंधन से मार्क्स का तात्पर्य पूंजीवादियों के लिए श्रमिकों के बलात श्रम, श्रमिकों के उत्पादन की पूंजीपतियों द्वारा चोरी तथा श्रमिकों को बाहरी व्यक्ति मानकर व उन्हें पृथक रखकर सत्ता प्राप्त करने से है। मार्क्स

ने पूँजीवाद श्रमिको को किस प्रकार विसबधित करता है इसके चार तरीके प्रस्तुत किए हैं-

(i) श्रमिको के कार्य की क्रिया से विसबधन

(ii) श्रम के उत्पादन से श्रमिको का विसबधन

(iii) मानवीय सामर्थ्य से श्रमिको का विसबधन

(iv) श्रमिको का अन्य श्रमिको से विसबधन

मार्क्स के अनुसार यह विसबधन केवल परिणाम से ही प्रतीत नहीं होता बल्कि उत्पादक क्रिया के अन्तर्गत उत्पादन की प्रक्रिया मे भी होता है। मार्क्स ने विसबधन को सामाजिक परिवर्तन की बाधा के रूप मे उसके विभिन्न रूपो मे देखा है। किन्तु उन्होने आशा व्यक्त की है कि अन्त मे श्रमिक एक सच्चे सामाजिक वर्ग के रूप मे सगठित होकर अपने विसबधन से मुक्ति प्राप्त कर लेगे। इससे वे अपनी समस्याओ के कारणो को जानकर समाज में परिवर्तन लाने हेतु प्रतिबद्ध होगे। मार्क्स ने विसबधन पैदा करने के लिए पूँजीवाद की निन्दा भी की है।

श्रमिक सघ (Labour Union)

श्रमिक सघो की निर्मित मे मार्क्स खतरा तथा सभावना दोनो ही देखते थे। उन्हे डर था कि श्रमिक सघ अपने सदस्यो के हितो की रक्षा मे ही रत्त हो जायेगे। ऐसे होने से उनका ध्यान पूँजी और श्रम के बीच व्यापक सघर्ष से हट सकता है। इसके बावजूद श्रमिक सघ नियोक्ताओ के विरुद्ध सघर्ष मे श्रमिको को एक जुट कर उनमे वर्ग चेतना के निर्माण मे सहायता प्रदान करेगे। मार्क्स का मत था कि श्रमिक सघ श्रमिक वर्ग को आगे बढाने के लिए एक बहुत बडा कदम था। वे उन्हें वर्ग सघर्ष का एक महत्वपूर्ण भाग मानते थे किन्तु वह यह भी तर्क देते थे कि श्रमिक सघो के बारे मे जागरकता को तभी बढाया जा सकता है जब उन्हे किसी राजनीतिक दल के साथ जोड दिया जाए जो सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग के हितो का प्रतिनिधित्व करे। श्रम सघवाद अतत क्रान्तिकारी राजनीतिक दलो का रूप लेगा जो सत्ता पर कब्जा कर लेगे।

मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि एक समाजवादी समाज बनेगा, पूँजीवाद समाप्त हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

मैक्स वेबर (1864-1920)
MAX WEBER

मैक्स वेबर, जो एक जर्मन समाजशास्त्री थे तथा दुर्खीम के समकालीन थे ने पाश्चात्य समाजशास्त्र पर अपनी अमिट छाप छोडी है। उनके समाजशास्त्रीय अन्वेषणो मे धर्म का

प्रादुर्भाव, नौकरशाही की कार्य पद्धति, उसकी धारणा व एक आदर्श नौकरशाही, सामाजिक कार्य, सत्ता व अधिकार के प्रकार आदि शामिल हैं। वेबर यद्यपि मार्क्स के कार्य के प्रशंसक थे किन्तु वे अनेक बिन्दुओं पर उनसे असहमत थे। उदाहरण के लिए वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि सामाजिक परिवर्तन हमेशा अर्थव्यवस्था में परिवर्तन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है अथवा वर्ग संघर्ष अटल है।

वर्ग की धारणा (Concept of Class)

वेबर की वर्ग की धारणा मार्क्स की धारणा से भिन्न थी। उन्होंने वर्ग की परिभाषा इस प्रकार की "एक प्रतिष्ठित समूह अथवा लोगों का ऐसा समूह जिनके जीवन के अवसर समान हैं तथा उनके आर्थिक हित वस्तुओं के स्वामित्व व आय के अवसरों के संबंध में समान हैं।" वर्ग सामाजिक समूह नहीं है वरन् ये लोगों का समग्र है जो जीवन के समान अवसर रखते हैं। लोगों का वर्गों में वर्गीकरण उनके उपभोग के पैटर्न पर निर्भर करता है न कि उनकी बाजार की स्थिति अथवा उत्पादन प्रक्रिया में उनके स्थान पर। प्रतिष्ठित समूह के रूप में वर्ग उन्हें मिलने वाले सामाजिक सम्मान के आधार पर एकत्रित व बंध रहते हैं। प्रत्येक वर्ग उन लोगों से जो उनके वर्ग में नहीं है, के साथ सामाजिक संबंधों को सीमित रखता है अर्थात् अपने से कनिष्ठ वर्ग से वे सामाजिक अंतर बनाए रखते हैं। वेबर मानते थे कि प्रत्येक समाज किन्हीं विशिष्ट वर्गों में ही नहीं बंटा रहता बल्कि वह गुटों तथा स्तरों में विभिन्न जीवन शैलियों के आधार पर भी बंटा होता है। वर्गों तथा प्रतिष्ठित समूहों में कभी-कभी तो संघर्ष हो सकता है न कि हमेशा।

शक्ति (Power)

मार्क्स के अनुसार शक्ति लोगों के लिए वह अवसर है जब वे अपनी इच्छा को दूसरों के विरोध के बावजूद सामुदायिक कार्य रूप दे सकते हैं। जहाँ एक ओर मार्क्स शक्ति को आर्थिक संबंधों में देखते थे, वहीं दूसरी ओर वेबर यद्यपि आर्थिक शक्ति को प्रबल मानते थे किन्तु वे कहते थे कि आर्थिक शक्ति अन्य प्रकार की विद्यमान शक्ति का परिणाम हो सकती है। उदाहरण के लिए नौकरशाह यद्यपि वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारी होते हैं किन्तु ये बहुत अधिक आर्थिक शक्ति रखते हैं। आर्थिक तंत्र एवं समाज के मूल्यों में एक प्रकार का संबंध होता है। पूंजीवाद वहीं विकसित होता है जहाँ के लोग परिश्रमी, महत्वाकांक्षी, मितव्ययी तथा स्वयं-अनुशासित आदि होते हैं। ये गुण प्रोटेस्टेन्ट धर्म के लोगों में पाए जाते हैं। अतः वेबर कहते हैं कि धर्म पूँजीवाद को पनपाता है। फिर भी इस विचार को चुनौती दी गई है।

सत्ता (Authority) एवं उसके प्रकार

वेबर ने तीन प्रकार की सत्ता का उल्लेख किया है (p 235, Vol V) न्यायिक (Legal), परंपरागत (Traditional) व करिश्माई (Charismatic)। न्यायिक सत्ता नियामक नियमों के पैटर्न की निष्ठा तथा इन नियमों के अंतर्गत उन्नत लोगों को आदेश

देने के अधिकार जैसे आरोपी व्यक्ति को पुलिस स्टेशन पर उपस्थित रहने के आदेश देने का पुलिसकर्मी का अधिकार, पर आधारित होती है। सत्ता व अधिकार में भेद करना आवश्यक है। अधिकार वैध सत्ता होती है। परम्परागत सत्ता परम्पराओं की पवित्रता में विश्वास तथा इन परम्पराओं के अतर्गत सत्ता का उपयोग करने वाले लोगों की सस्थिति की वैधता पर निर्भर करती है जैसे परिवार के मुखिया की परिवार के सदस्यों पर सत्ता अथवा कॉलेज के प्राचार्य की वहाँ के विद्यार्थियों पर सत्ता। करिश्माई सत्ता किसी व्यक्ति की विशिष्ट व अपवादात्मक पवित्रता, उसकी बहादुरी अथवा विशिष्ट चरित्र के कारण लोगों की उसके प्रति भक्ति पर आधारित रहती है, जैसे प्रसिद्ध सत महात्मा की उसके अनुयायिओ पर सत्ता।

वेबर मानते हैं कि इन तीनों आदर्श प्रकारों की सत्ता में कोई भी सत्ता निखालिस (Pure) रूप में नहीं पाई जाती।

नौकरशाही (Bureaucracy)

नौकरशाही वह सगठन है जो अपने पदानुक्रम (Hieraclhy), अवैयक्तिक (Impersonal) नियमो, अधिकार क्षेत्रो का विधिपूर्वक बटवारा, कर्तव्यो के क्षेत्र का सीमाकन आदि लक्षणो के कारण जाना जाता है। नौकरशाही पर विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय "सामाजिक समूह व औपचारिक सगठन" देखे।

सामाजिक कार्य (Social Action)

सामाजिक कार्य वह होता है जो अन्य लोगो के भूतपूर्व, वर्तमान अथवा भविष्य के सभावित व्यवहार द्वारा अनुस्थापित अथवा प्रभावित होता है। इस प्रकार यह पूर्व मे किए गए हमले के बदले, वर्तमान की सुरक्षा अथवा भविष्य के आक्रमण की दृष्टि से सुरक्षा के उपायो द्वारा प्रेरित हो सकता है। कार्य के कर्ता को जिनके विरुद्ध वह कार्य कर रहा है वे ज्ञात हो सकते हैं अथवा व्यक्तियों के रूप मे वे पूर्णत: अज्ञात हो सकते हैं। धन स्वीकार करना एक सामाजिक कार्य हैं जिसमे यह कार्य भविष्य मे आने वाले अवसर हेतु कार्य को अनुस्थापित करता है। किसी कार्य को सामाजिक कार्य की मान्यता मिलने हेतु यह आवश्यक नहीं है उसके लिए एक से अधिक व्यक्ति स्वय उपस्थित हो। किसी सामाजिक कार्य मे उस कार्य से अन्य लोगो के अपेक्षित व्यवहार को भी ध्यान मे रखा जाता है। दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार अन्य लोगो के व्यवहार अथवा अपेक्षित व्यवहार की प्रतिक्रिया के रूप मे होता है। व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने वाले लोगों को स्वय उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार जब अन्य लोगो अथवा समूहो की प्रतिक्रिया के रूप मे होता है, तब एक से अधिक लोगो की उपस्थिति निहित हो भी सकती है अथवा नहीं भी हो सकती।

प्रत्येक कार्य सामाजिक कार्य नहीं होता। निर्जीव वस्तु (जैसे एक मूर्ति) हेतु अनुस्थापित कार्य सामाजिक नहीं होता। प्रार्थना एक सामाजिक कार्य नहीं है। वर्षा से रक्षा के लिए अन्य लोगो को छाता खोलते देखकर अपना छाता खोलना सामाजिक कार्य नहीं है। मा के बुलाने पर बच्चे का उसके पास जाना एक सामाजिक व्यवहार है न कि सामाजिक कार्य। दो साइकल सवारो का आपस मे टकराना सामाजिक कार्य नहीं है किन्तु इस टकराव के परिणामस्वरूप यदि उनमें बहस, हाथापाई अथवा अपमान आदि होता है तो वह सामाजिक कार्य हो जाता है। यदि भीड मे किसी व्यक्ति के मन मे घृणा, भय, खुशी के आवेग तब पैदा होते हैं जब वह इन्हीं आवेगो को दूसरे व्यक्तियो मे पाता है, तब यह सामाजिक कार्य नहीं होगा क्योकि इसका निधारण अन्यो के कार्यों द्वारा केवल आकस्मिक रूप मे होता है। दूसरी ओर यदि कोई व्यक्ति अपने बालो को एक फिल्म अभिनेता की स्टाइल मे सवारता है अथवा यदि कोई लड़की किसी फिल्मी अभिनेत्री की स्टाइल मे कपडे पहनती है क्योकि यह फैशन मे है अथवा इससे सामाजिक सम्मान मिलता है तो यह सामाजिक कार्य बन जाता है क्योकि यह नकल के स्रोत पुरुष अथवा उसकी नकल करने वाले तीसरे व्यक्ति अथवा दोनों के व्यवहार द्वारा हेतुपूर्वक प्रतिस्थापित होता है। वेबर के अनुसार ये दोनों उदाहरण (भीड का व्यवहार तथा फैशन की नकल) सामाजिक कार्य की अनिश्चित सीमा के दायरे में आते हैं।

वेबर मानते हैं कि समाजशास्त्र किसी भी प्रकार मे केवल सामाजिक कार्य का अध्ययन नहीं है, यद्यपि यह समाजशास्त्र की विषय वस्तु है।

सामाजिक कार्यो के प्रकार (Types of Social Action)

वेबर ने चार प्रकार के सामाजिक कार्यो का वर्णन किया है:—

(i) उद्देश्य से सबधित विवेकपूर्ण कार्य जो किसी उद्देश्य द्वारा अनुस्थापित होते हैं तथा दूसरे लोगों के अपेक्षित व्यवहार द्वारा निर्धारित होता है। इस कार्य के लिए कार्यकर्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की कार्यक्षमता के आधार पर साधनों को निश्चित करता है।

(ii) मूल्य से सबधित विवेकपूर्ण कार्य जिनमे लक्ष्य मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है। एक भाई जो गुण्डो द्वारा अपनी बहन के उत्पीडन से बचाने के प्रयास में मारा जाता है, इस प्रकार के कार्य का उदाहरण है। एक बहू द्वारा सोने से पूर्व अपनी सास के पैर दबाना, लबी यात्रा पर जाने से पूर्व एक बेटे द्वारा अपने पिता के चरण स्पर्श करना, परीक्षा देने के लिए जाने से पूर्व छोटे भाई द्वारा अपने बडे भाई से आशीर्वाद लेना, ये सभी मूल्यों पर आधारित विवेकपूर्ण कार्य के उदाहरण हैं। यहाँ व्यक्ति अपने दृढ विश्वासो को क्रियान्वयन मे परिणित करते है। वे ऐसा इसलिये करते हैं कि वे यह मानते हैं कि ऐसा करना उनका कर्तव्य है, धर्म के अनुसार है, किसी सिद्धान्त के प्रति, चाहे उसमें कुछ भी हो, उनकी

निष्ठा प्रदर्शित करता है। इन कार्यों को करना व्यक्ति अपना कर्तव्य मानते हैं और इन्हें करने से आज्ञाओं का पालन करते हैं।

(iii) संवेगात्मक (अथवा भावात्मक) कार्य जिनमें कार्य के उद्देश्य व साधनों का निर्धारण संवेगों द्वारा किया जाता है जैसे मां का अपने बच्चे को चांटा मारना।

(iv) परंपरागत कार्य जिनमें उद्देश्य व साधन, दोनों का निर्धारण परंपराओं द्वारा होता है जैसे विवाह के समय पुत्री को दहेज देना।

मैक्स वेबर (p 176, Vol I) मानते हैं कि सामाजिक कार्यों के ऐसे ठोस प्रकरण खोजना जो इनमें से एक या दूसरे द्वारा अनुस्थापित हैं, बहुत अस्वाभाविक होगा।

सामाजिक संबंध (Social Relationship)

सामाजिक कार्य की धारणा को समझाते हुए वेबर ने सामाजिक संबंधों की धारणा को भी समझाया है। उनके अनुसार सामाजिक संबंध अनेक कार्यकर्ताओं के व्यवहार को तब तक दर्शाता है जब तक एक कार्यकर्ता का कार्य अन्य लोगों के कार्यों का ध्यान रखता हो। इस प्रकार सामाजिक संबंधों में यह संभाव्यता शामिल होती है कि सामाजिक कार्य घटित होने वाले हैं। वेबर के अनुसार सामाजिक संबंधों में निम्न शामिल हैं—

(1) प्रत्येक व्यक्ति के कार्य अन्यों के कार्यों द्वारा कम से कम आपस में अनुस्थापित (Oriented) होते हैं।

(2) सामाजिक संबंधों में एकमात्र रूप से यह तथ्य शामिल है कि भूतकाल, वर्तमान में तथा भविष्य में यह संभावना थी, है व बनी रहेगी कि कुछ निश्चित कार्य अपने उपयुक्त अर्थ में घटित होगा।

(3) आपस में परस्पर सामाजिक संबंध में सभी पक्ष उसका व्यक्तिनिष्ठ अर्थ समान रूप से लगाए यह आवश्यक नहीं है तथा इस अर्थ में पारस्परिकता का होना भी आवश्यक नहीं है।

(4) सामाजिक संबंध स्थाई अथवा अस्थाई दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(5) सामाजिक संबंध का व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) अर्थ परिवर्तित हो सकता है। उदाहरण के लिए किसी समय भाईचारे पर आधारित राजनीतिक संबंध आपसी हितों के टकराव में विकसित हो सकते हैं।

(6) सामाजिक संबंधों का अर्थ आपसी सहमति के आधार पर होना चाहिए।

प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा पूँजीवाद (Protestant Religion and Capitalism)

वेबर ने धर्म, राजनीति व आर्थिक हितों के बीच संबंधों का अध्ययन किया (pp 1253-1265, Vol II)। इस संदर्भ में उनकी पुस्तक *The Protestant Ethics and the Spirit of Capitalism* को एक शास्त्रीय अध्ययन माना जाता

है। उन्होने कहा है कि केवल आर्थिक घटक ही एक मात्र घटक नहीं है जिस पर अन्य घटक आधारित होते हैं। जेसा कि मार्क्स मानते है बल्कि यह एक घटक मात्र है, यद्यपि यह घटक महत्त्वपूर्ण है तथा अन्य घटको को प्रभावित करता है तथा उनमे प्रभावित भी होता है।

धार्मिक मूल्यों व आर्थिक हितों के बीच सबधो के विश्लेषण मे वेबर ने अपना ध्यान प्रोटेस्टेन्ट धर्म पर केन्द्रित किया। उन्होंने पाया कि प्रोटेस्टेन्ट लोग उद्योगो के स्वामी थे तथा अन्य धार्मिक समूहो विशेषत कैथोलिको की तुलना मे उनके पास अधिक सपत्ति तथा आर्थिक साधन थे। इसलिए वेबर यह जानना चाहते थे कि वास्तव मे प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा पूँजीवादी विचारधारा मे आवश्यक समानता है अथवा नहीं। वे यह भी जानना चाहते थे कि भारत चीन, मिश्र, ग्रीस आदि के धार्मिक मूल्य पूँजीवाद के विकास मे सहायक होते ह अथवा बाधक। पूँजीवाद तथा प्रोटेस्टेन्ट नीतिशास्त्र की व्याख्या करते समय उन्होने आदर्श प्रकार की धारणा का सहारा लिया। प्रोटेस्टेन्ट नीतिशास्त्र की व्याख्या करते समय उन्होने इसे धार्मिक धारणा के रूप मे नहीं माना है बल्कि इसे मूल्यों व आस्थाओ का ऐसा समुच्चय माना है जिसके द्वारा एक धार्मिक आदर्श निर्मित होता है। पूँजीवाद के आदर्श प्रकार को वेबर ने एक ऐसी आर्थिक क्रिया के रूप मे वर्णित किया है जिसका उद्देश्य उत्पादन का विवेकपूर्ण सगठन व व्यवस्थापन के माध्यम से अधिक से अधिक लाभ उत्पन्न करना है। उन्होने साथ ही यह भी कहा है कि अधिक से अधिक धन कमाने के आवेग का पूजीवाद से कोई सबध नहीं है। यह आवेग तो डॉक्टरो, वेश्याओ, जुआरियो, सामतो, भिखारियो, कलाकारो, बेईमान कर्मचारियो आदि मे भी पाया जाता ह। दूसरे शब्दो मे यह सभी देशो मे हमेशा ही मानव की दशा रही है। अधिक से अधिक पाने का असीमित लालच पूजीवाद के समरूप नहीं है और न ही यह उसकी विचारधारा है। किन्तु पूजीवाद लाभ कमाने के समरूप है।

पाश्चात्य पूंजीवाद मे वेबर ने एक ऐसी आर्थिक क्रिया पाई जो विनिमय के माध्यम से लाभ की अपेक्षा करती है अर्थात लाभ के शातिपूर्ण अवसर तथा यह दृढ विश्वास की लाभ कमाने की इच्छा को अनुशासन व विवेक से काम करना न कि सट्टेबाजी व जोखिम से।

प्रोटेस्टेन्ट धर्म मे वेबर ने अनेक ऐसे मूल्य पाए जो पूजीवाद की विचारधारा से समान हैं। ये मूल्य हैं—

1 वास्तविक परिणामवाद
2. कार्य को मूल्य मानना

3 व्यक्ति स्वय अपने व्यवसाय का चयन करता है, उसमे कठोर परिश्रम करता है तथा सफल होता है।

4 ऋण पर व्याज एकत्र करने की मान्यता

5 मद्यपान पर नियत्रण

6 समय की बर्बादी सबसे घातक पाप है। मिलनसारिता फालतू की गप्पबाजी, विलासिता आवश्यकता से अधिक निद्रा (स्वास्थ्य के लिए 6 से 8 घण्टे) मे समय गवाना नैतिक दृष्टि से दण्डनीय है।

7 साक्षरता व सीखने को प्रोत्साहन तथा जो अपने पैरो पर खडे होना चाहे उन्हे मदद करना।

8 अवकाशो को अमान्य करना।

9 व्यवसाय सबधी अतिनैतिकवादी विचार तथा इस विचार के अनुसार तपस्वी आचरण पर जोर देना।

10 खेल शारीरिक स्वास्थ्य व कायकुशलता के लिए आवश्यक है, न कि मनोरजन के साधन, इस विवेकपूर्ण विचार की स्वीकृति।

11 सपत्ति नैतिक दृष्टि से तब बुरी ह जब इसे अकर्मण्यता तथा जीवन के पापयुक्त आनद हेतु उपयोग मे लाया जाए तथा सपत्ति प्राप्त करना तब बुरा नही है जब इसे बाद मे आनदपूर्वक व चितामुक्त जीवन व्यतीत करने हेतु कमाया जाए। किन्तु व्यवसाय के लिए धन कमाना न केवल नैतिक दृष्टि से अनुमेय ह बल्कि आदेशित भी है।

आदर्श प्रकार (Ideal Type)

आदर्श प्रकार का अर्थ नैतिक प्रकारो (Moral Types) अथवा व्यक्तियो के सामाजिक कार्यों से नहीं है बल्कि समूहो के अदर के सामाजिक सबधो से है। यह एक धारणात्मक अथवा एक विश्लेषणात्मक निर्मित (Construct) है जो अनुसधानकर्ताओ को मूर्त (Concrete) मामलो मे समानताओ व असमानताओ को नापने के काम आती है। यह मूर्त वास्तविकता से मेल नहीं खाती।

वेबर ने मूर्तरूपता के स्तर के आधार पर तीन प्रकार के आदर्श के प्रकार विकसित किए:— (1) ऐतिहासिक विशेषताओ के आदर्श प्रकार जिसका अर्थ विशिष्ट ऐतिहासिक वास्तविकताओं से होता है जैसे 'प्रोटेस्टेण्ट नीतिशास्त्र', 'आधुनिक पूँजीवाद', 'पाश्चात्य शहर'। (2) आदर्श प्रकार जिनका अर्थ ऐतिहासिक वास्तविकताओं के अमूर्त घटको से है जो विभिन्न ऐतिहासिक एव सास्कृतिक सदर्भो मे देखे जा सकते हैं जैसे 'नौकरशाही', 'सामतवाद', और (3) आदर्श प्रकार जिसमे

किसी विशिष्ट प्रकार के व्यवहार का विवेकपूर्ण पुनर्निर्माण शामिल है अर्थात आर्थिक सिद्धान्त की सभी प्रस्थापनाएं।

वेबर का यह कथन "धर्म केवल व्यक्तिगत मानवीय स्थितियों में, अत्यन्त मंद गति में जारी रहेगा" सत्य सिद्ध नहीं हो रहा है।

सी. राइट मिल्स (1916-1962)
C.WRIGHT MILLS

सी. राइट मिल्स एक अमेरिकन समाजशास्त्री थे जो ऐसी अनेक पुस्तकें लिखने के लिए प्रसिद्ध थे जो अधिकांश आस्थाओं को चुनौती देती थीं। अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्रीय कल्पना' के लिए मिल्स सबसे अधिक चर्चा में आए। उन्हें अमेरिकन मार्क्सवादी कहा जाता है। उनका यह मत था कि समाजशास्त्र एक शुष्क विषय नहीं है, बल्कि एक ऐसा विषय है जो हमें बताता है कि हमारी अनेक समस्याओं के लिए समाज उत्तरदायी है। वे यह मानते थे कि समाज निजी समस्याओं को सार्वजनिक व राजनीतिक प्रश्नों में बदल देता है। वे यह भी मानते थे कि समाज में व्यक्ति के जीवन को आकार देने और साथ ही लोगों के जीवन को इतिहास में जोड़ने की भी क्षमता है। उनका एक प्रसिद्ध वक्तव्य इस प्रकार है-- जब एक समाज औद्योगीकृत हो जाता है तो कृषक एक मजदूर बन जाता है, एक सामंत या तो मारा जाता है अथवा एक व्यापारी बन जाता है, जब वर्गों का उदय अथवा पतन होता है तो व्यक्ति या तो रोजगार प्राप्त कर लेता है अथवा बेरोजगार बन जाता है, जब पूंजी निवेश की दर बढ़ती या घटती है, तब व्यक्ति का या तो दिवाला निकल जाता है अथवा वह नए उत्साह के साथ कार्य करता है। जब युद्ध होते हैं तब एक बीमा एजेंण्ट रॉकेट चलाने वाला बन जाता है, एक स्टोरकीपर रडार वाला बन जाता है, एक पत्नी अकेले रहती है व एक बालक पिता के बिना बड़ा होता है। एक व्यक्ति के जीवन अथवा किसी समाज के इतिहास को इन दोनों के बिना नहीं समझा जा सकता। साधारण लोग यह नहीं समझते कि जिस समाज में वे रह रहे हैं, उसमें आए उतार-चढ़ाव उनके जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते व ढालते हैं। समाजशास्त्रीय कल्पना यह मस्तिष्क का एक गुण है जो लोगों को यह समझने में मदद करती है कि दुनिया में क्या हो रहा है व उनके स्वयं के अन्दर क्या घटित हो सकता है। सामाजिक व्यवहार को समझने के प्रयास में समाजशास्त्री सृजनात्मक सोच के असामान्य प्रकारों पर निर्भर करते हैं। मिल्स ने इस सोच को 'समाजशास्त्रीय कल्पना' के रूप में वर्णित किया है। उन्होंने इसे व्यक्ति एवं वृहद् समाज के बीच संबंधों की जागरूकता भी कहा है। यह जागरूकता लोगों को उनके सबसे निकट व्यक्तिगत सामाजिक परिवेश तथा सुदूर, गैर व्यक्तिगत सामाजिक विश्व, जो उन्हें घेरे हुए है, के बीच संबंधों को समझने में तथा उन्हें आकार देने में मदद करती है। इस

समाजशास्त्रीय कल्पना का एक प्रमुख कारक है स्वयं के समाज को अपने व्यक्तिगत अनुभवों तथा सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से हटकर एक बाहरी व्यक्ति की नजर से देखने की क्षमता। 'समाजशास्त्रीय कल्पना' हमारे आस पास के दिन प्रतिदिन के जीवन की नई समझ ला सकती है। मिल्स मानते थे कि समाजशास्त्रीय कल्पना लोगों को सार्वजनिक समस्याओं के संबंध में अपने निजी कष्टों को समझने में सहायक होती है। बेरोजगारी, वैवाहिक संबंधों का ध्वस्त होना आदि को लोग उन समस्याओं के संबंध में अनुभव करते हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन में पैदा होती हैं। वे उनके विरूद्ध व्यक्ति के रूप में प्रतिक्रिया करते हैं तथा उनकी प्रतिक्रियाओं के परिणाम सम्पूर्ण समाज के लिए होते हैं। मिल्स समाजशास्त्र को जीवन के जंजाल से मुक्ति के रूप में प्रदर्शित करते हैं क्योंकि यह हमें बताता है कि समाज—न कि हमारी स्वयं की कमजोरियाँ अथवा असफलताएं हमारी अनेक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार मिल्स मानते थे कि समाजशास्त्र व्यक्तिगत समस्याओं को सार्वजनिक तथा राजनीतिक समस्याओं में परिवर्तन कर देता है। समाजशास्त्रीय कल्पना का उपयोग केवल समाजशास्त्रियों के लिए ही नहीं है किन्तु इसका महत्व समाज के सभी सदस्यों के लिए है यदि वे अपने जीवन को समझना, उसे परिवर्तित करना तथा उसमें सुधार करना चाहते हैं। मिल्स का मत है कि समाजशास्त्र का प्रयोग कल्पना तथा लचीलेपन से बेहतर किया जा सकता है न कि प्राकृतिक विज्ञान के मॉडलों से दृढ़तापूर्वक चिपके रहने से।

टालकट पारसन्स

TALCOTT PARSONS (1902-1979)

पारसन्स ने क्रिया के संवर्ग का सिद्धान्त वेबर से तथा अंशतः अर्थशास्त्र से लिया था। पारसन्स (1937) की मूलभूत क्रिया की योजना के चार घटक है—(1) कर्त्ता वांछित साध्य प्राप्त करने हेतु (2) साधनों का चयन करता है जबकि वह (3) पर्यावरण तथा (4) सामाजिक मानदंडों के पालन द्वारा बाधित होता है।

अमेरिकी समाजशास्त्री पारसन्स ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि प्रत्येक सामाजिक तंत्र को चार कार्य सम्पन्न करने चाहिये:— अव्यक्त पैटर्न का अनुरक्षण (सांस्कृतिक रूपरेखा) सामाजिक एकात्मकता, लक्ष्य की प्राप्ति (पर्यावरण के प्रति उत्पादकता) तथा अनुकूलन (पर्यावरण से संसाधन निवेश)। ये कार्य विश्लेषणात्मक अर्थात अमूर्त हैं तथा विश्लेषण के किसी भी स्तर पर लागू हो सकते हैं— व्यक्तिगत व्यक्तित्व, विशिष्ट संगठन, संस्थाए, समुदाय राष्ट्र अथवा संपूर्ण विश्व।

पारसन्स के प्रकार्यात्मक कार्य तंत्र को निम्न रेखाचित्र की सहायता से समझाया गया है:—

A	G	बाह्य
L	I	आतंरिक

इसे L-I-G-A अथवा A G-I L तालिका कहते हैं। (हम तालिका को किस ओर से पढते हैं और इस पर निर्भर)

यहां L अव्यक्त प्रतिमान अनुरक्षण (Latent Pattern Maintenance) का अर्थ है कि कार्य के किसी भी तत्र हेतु एक बुनियादी पैटर्न की आवश्यकता होती है। (सापेक्षिक स्थायित्व प्राप्त करने के लिए तथा कार्यों के सम्पादन हेतु प्रेरणा जाग्रत करना)

I — एकीकरण (Integration) से तात्पर्य है कि किसी तत्र को अपने अवयवो को साथ रखना आवश्यक होता है। (आन्तरिक समन्वय स्थापित करना तथा भिन्नताओं मे तालमेल बैठाना)

G — लक्ष्यों की उपलब्धि (Goal attainment) से अभिप्राय है कि प्रत्येक तंत्र का एक लक्ष्य होता है जिसे वह अपने पर्यावरण के सबंध में प्राप्त करता है। (लक्ष्य निर्धारण तथा तुष्टि प्राप्ति हेतु संसाधनों का चयन व उन्हें सगठित करना)

A — अनुकूलन (Adaptation) का आशय है तत्र स्वयं को अपने भौतिक पर्यावरण के संबंध में किस प्रकार सहायता करता है। (भौतिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य)

यह तालिका बहुत ही अमूर्त रूप से दो द्विभाजनीय आयामों द्वारा जनित होती है—आंतरिक व बाह्य तथा साधन एवं साध्य। ऐसा माना जा सकता है कि किसी तंत्र में प्रत्येक वस्तु या तो आंतरिक या बाह्य दिशाओं मे कार्यरत होती है तथा वह या तो साधन हो सकती है अथवा साध्य।

पारसन्स मानते थे कि उनकी L-I-G-A तालिका किसी भी कार्य के तंत्र को बुनियादी आयाम प्रदान करती है। उन्होंने इस सपूर्ण तालिका को "कार्य का सामान्य सिद्वान्त" भी कहा था।

पारसन्स समाजीकरण पर विशेष बल देते थे। वे इसे वह प्रक्रिया मानते थे जिसके माध्यम से व्यक्ति तत्र के बुनियादी मूल्य एवं मानदंडो को सीखते हैं। तंत्र के अंदर ही नियंत्रणों का एक पदक्रम होता है।

मूल्य

↓

मानदंड

↓
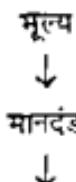
भूमिकाएँ

↓

दण्ड-विधान

L-I-G-A प्रादर्श तथा नियंत्रणो का पदक्रम सामाजिक तत्रो की समान बातो का वर्णन करते हैं। पारसन्स ने सामाजिक जीवन के ऐसे व्यापक मॉडल बनाने का प्रयास किया जो सामाजिक प्रणालियो की प्रकृति के साथ पारस्परिक क्रियाओ व अन्तर्क्रियाओ के उन प्रतिमानो की व्याख्या कर सके जिनके माध्यम से व्यक्ति सहयोगी सहभागी जीवन जीते हैं। पारसन्स के अनुसार अभिप्रेरणात्मक अभिविन्यास (Motivational Orientation) के तीन प्रकार होते हैं— सज्ञानात्मक अभिविन्यास (Cognitive Orientation), विरेचक अभिविन्यास (Cathertic Orientation) और मूल्याकीय अभिविन्यास (Evaluative Orientation)।

पारसन्स ने सामाजिक सरचना के चार प्रारूपो का उल्लेख किया है— सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान, सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान, विशिष्ट अर्जित प्रतिमान और विशिष्ट प्रदत्त प्रतिमान। यह वर्गीकरण चार सामाजिक मूल्यो पर आधारित है— सार्वजनिक सामाजिक मूल्य, विशिष्ट सामाजिक मूल्य, अर्जित सामाजिक मूल्य और प्रदत्त सामाजिक मूल्य।

पारसन्स ने सुझाव दिया है कि कोई भी सामाजिक तत्र नियत्रणो के पदानुक्रम के माध्यम से एकता के बधन मे रहता है। मूल्य सबसे अधिक मूलभूत घटक होते हैं जो मानदडो के रूप मे विशिष्टीकृत होते हैं, भूमिकाओ के रूप मे गढे जाते हैं तथा स्वीकृतियो द्वारा प्रबलित होते हैं। व्यक्ति मे मूलभूत मूल्यो की प्रतिस्थापना समाजीकरण द्वारा की जाती है। किसी भी स्तर पर तनाव के परिणामस्वरूप— जैसे व्यक्ति मे मूल्यो का त्रुटिपूर्ण समाजीकरण, मानदडो को स्पष्ट करने मे विफलता भूमिकाओ में सघर्ष अथवा स्वीकृतियो की विफलता-विचलन होता है।

रॉबर्ट के. मर्टन (1901—)

ROBERT K. MERTON

अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट मर्टन का समाजशास्त्र पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। उनका कहना था कि समाजशास्त्रियो को वृहत व सूक्ष्म दोनो उपगमनो को साथ लाने हेतु प्रयास करने चाहिये। मर्टन के अनुसार समाजशास्त्रियो को तथ्यो के बिना तथा तथ्यो को आकडो के बिना अत्यधिक सामान्यीकरण से बचना चाहिये।

रॉबर्ट मर्टन ने अपने लेखन मे सुझाया है कि नौकरशाही का प्रतिफल (उदाहरण के लिये वरिष्ठता पद्धति के आधार पर पदोन्नति) उनमे कायरता व रूढिवाद को बढावा देता है तथा नवाचार एव साहस को हतोत्साहित करता है।

मर्टन ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि एनॉमी (Anomic) की स्थिति प्रयास व प्रतिफल के बीच अनिरन्तरता है जिसके कारण लोगों को अपने लिए वास्तविक लक्ष्य निर्धारित करना तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु वैध तरीका का नियोजन करना असंभव हो जाता है। उन्होंने तीन विभिन्न कारकों में अंतर किया है। 1 सांस्कृतिक लक्ष्य जैसे— वित्तीय सफलता, आवश्यकताएं व आकांक्षाएं ये लोगों को उनके समाज द्वारा सिखाई जाती हैं। 2 मानदंड जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु वैद्य साधनों को निर्धारित करते हैं। 3 संस्थागत साधन (जैसे विद्यालयीन शिक्षा एवं नौकरी के अवसर)— व्यक्ति को उपलब्ध वास्तविक सुविधाएं एवं संसाधन। कुंठा, निराशा तथा नाराजगी इनमें से किसी एक कारक—लक्ष्य, मानदंड अथवा साधन के परिणामस्वरूप नहीं बल्कि इनमें आपसी संबंध के कारण आती है। यदि कोई समूह साधारण लक्ष्यों की आकांक्षा करता है, परंपरागत मानकों से जुड़ा रहता है तथा उन लक्ष्यों को वैधानिक रीति से प्राप्त करने के लिए उसके पास प्रचुर साधन उपलब्ध है तो कोई समस्या नहीं है। लक्ष्यों व संस्थागत साधनों के बीच जब नियोजन होता है तब तनाव पैदा होता है। मर्टन मानते थे कि अनुरूपता का रास्ता पारंपरिक लक्ष्यों को मान्य साधनों द्वारा प्राप्त करके ही पाया जा सकता है। मर्टन तर्क करते हैं कि सामाजिक विघटन से परंपरा विरोधीपन की प्रवृत्ति पैदा होगी, जिसमें आपराधिक व्यवहार शामिल है। वे बताते हैं कि सामाजिक विघटन का अर्थ सामाजिक तंत्र में अपर्याप्तताओं से है, जिनमें लोग व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में पूर्णतः असफल रहते हैं।

प्रो. मर्टन ने 1950 के दशक में प्रस्थिति और भूमिका से संबंधित कतिपय अवधारणाओं को विकसित कर सामाजिक संरचना के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मर्टन की 'सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर' (1968) एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें उन्होंने समाज के लक्ष्यों और साधनों को प्राप्त करने के लिए उपलब्ध अनुकूलन समायोजन के निम्न पाँच तरीके सुझाए हैं:—

1 **अनुवर्तन या अनुरूपता (Conformity)**—व्यक्ति प्रचलित स्थिति (Prevailing State of Affairs) को अर्थात समाज के लक्ष्यों और साधनों दोनों को स्वीकार करता है।

2 **नवाचार (Innovation)**—लक्ष्यों को स्वीकार करना है किन्तु उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों को अस्वीकार करना और उनके स्थान पर अन्य विकल्पों को स्थापित करना है।

3 **कर्मकाण्डवाद (Ritualism)**—लक्ष्यों को अस्वीकार, किन्तु साधनों को स्वीकार करना है।

4 **पलायनवादिता (Retreatism)**—सास्कृतिक रूप मे समर्थित लक्ष्यो एव सस्थात्मक साधनो दोनो की ही अस्वीकृति निहित है।

5 **विद्रोह (Rebellion)**—लक्ष्य और साधना दोनो को ही अस्वीकृति और उनके स्थान पर नए लक्ष्यो और साधना की प्रतिस्थापना।

मर्टन ने तत्कालीन प्रचलित सरचनात्मक प्रकार्यवाद म कई महत्वपूर्ण सशोधन एव परिवर्द्धन किए है। मर्टन ने प्रतिपादन किया है कि प्रकार्य (Function) अकार्य (Dysfunction) न कार्य (Non Function) प्रकट कार्य (Manifest function) और परोक्ष कार्य (Latent function) ये कुछ नई अवधारणाय हैं जो प्रकार्य से सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार प्रकार्य ये वस्तुपरक परिणाम हैं जो समायोजन म वृद्धि करते हैं। अपकार्य ऐसे वस्तुपरक परिणाम हैं जिनसे व्यवस्था के अनुकूलन और समायोजन में कमी आती है। न कार्य एसे परिणाम हैं जो विचाराधीन व्यवस्था के लिए निरर्थक सिद्ध होते हैं।

5

आधारभूत अवधारणाएं
(Key Concepts)

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व मानव समाज मे ही विकसित होता है। अर्थात् समाज मे रहने से एक बच्चे को अन्य लोगो द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता होती है, एक किशोर को अन्य लोगों के मार्गदर्शन व नियत्रण की आवश्यकता होती है, एक वयस्क अपना जीवन अपने व्यवसाय, विवाह तथा अपने सहयोगियों, संबंधियो तथा मित्रों आदि मे गुजारता है। किन्तु केवल व्यक्ति ही समाज पर निर्भर नहीं रहता। समाज भी व्यक्तियों के माध्यम से संरचित (Structured) तथा पुनरूपित (Reshaped) होता है। फिर भी व्यक्ति एवं समाज की इस परस्पर निर्भरता में समाज का ही वर्चस्व रहता है। समाज व्यक्ति के जीवन को दिशा तथा अर्थ प्रदान करता है। व्यक्ति के लगभग सभी कार्य जो वह करता है वे कुछ अर्थ मे सामाजिक होते हैं क्योंकि वे या तो दूसरों मे सीखे हुए होते हैं अथवा दूसरो के लिए होते हैं। व्यक्ति के जन्म लेने से पूर्व भी समाज का अस्तित्व था तथा व्यक्ति के जाने के बाद भी समाज का अस्तित्व लंबे समय तक बना रहेगा।

समाज क्या है? (What is Society)

समाज लोगों का एक समूह है जो किसी भौगोलिक क्षेत्र मे निवास करता है, जिसकी एक निश्चित संस्कृति होती है, उनमे एकता की भावना होती है तथा स्वय को एक

विशिष्ट अस्तित्व के रूप मे मानते हैं। थियोडोरसन व थियोडोरसन ने समाज को एक ऐसे समूह के रूप मे परिभाषित किया है जिनके पास एक व्यापक सामाजिक तंत्र होता है जिसमे मानव की मूलभूत आवश्यकताओ को सतुष्ट करने हेतु आवश्यक मूलभूत सामाजिक सस्थाओ का समावेश होता है। इसमे परस्पर सबधित भूमिकाओ का एक ढाचा होता है जिसमे व्यक्तियों के भूमिका सबधी व्यवहारो को सामाजिक मान्यताओ द्वारा निश्चित किया जाता है। यह आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर तो नही होता किन्तु इसका स्वतत्र अस्तित्व होता है तथा उसके पास लबे समय तक अस्तित्व मे बने रहने के साधन होते हैं। यह प्रजनन के माध्यम से अपने समूह की सख्या को घटने नहीं देता। इयान राबर्टसन (Ion Robertson) ने समाज को आपस मे अतःक्रियाए करने वाले व्यक्तियो का समूह कहा है जो एक ही भूखण्ड पर रहते हैं तथा जिनकी सस्कृति समान रहती है।

टाल्कट पारसन्स के अनुसार समाज उन मानवीय सम्बन्धो की पूर्ण जटिलता के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो साधन और साध्य के द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुए हो, वे चाहे यथार्थ हो या प्रतीकात्मक। समाज का निर्माण समूह की अन्त.क्रियाओ से होता है। समाज के लिए पूर्वापेक्षित (Pre-requisite) हैं— वस्तुओ का उत्पादन और वितरण की आर्थिक व्यवस्था, नवीन सतति के समाजीकरण की व्यवस्था और निश्चित परिसीमा। समाज अमूर्त होता है। समता और विषमता समाज मे व्याप्त होती है। समाज के लक्षण हैं—विशिष्ट लक्ष्य, जनसख्या और सगठन। समाज मे सहयोग और सघर्ष दोनो आवश्यक है।

समाज एक राष्ट्र से भिन्न होता है। अनेक राष्ट्रो के भूभाग पर अनेक छोटे-छोटे समाज विद्यमान हैं। राजनैतिक दृष्टि से सगठित लोग, जिनके पास स्पष्टतः निर्धारित भूभाग रहता है, जो उन सभी समान सस्थाओ के प्रति निष्ठावान होते हैं जो उन्हे एक सूत्र मे बाधकर समुदाय का रूप देती है, उन्हे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्र के लिए एक समान भाषा, समान धर्म अथवा समान नस्ल की आवश्यकता नहीं होती। एक राजनैतिक अभिकरण (सरकार) राष्ट्र पर शासन करता है। राज्य लोगो का राजनैतिक संगठन है जिसमे सरकाररूपी अभिकरण द्वारा समाज का सगठन होता है, जो विधिसगत प्रभुसत्ता का दावा करता है तथा विधिवत अधिकारो के उपयोग को सुनिश्चित करने के लिए जब आवश्यकता हो, भौतिक बल प्रयोग का अधिकार रखता है।

मानव समाज अनेक प्रकार के होते है। प्रत्येक समाज की विशेषताए कठोर नहीं होतीं। वे समाज के सदस्यो द्वारा ही निर्मित होती है तथा प्रत्येक नई पीढी द्वारा सीखी जाती हैं व उनमें सुधार भी किया जाता है। समाजो की विशेषताओ मे इतनी अधिक भिन्नताए होती हैं कि यदि एक जनजाति के समाज के सदस्य दूसरे समाज मे प्रवसन

करते हैं तो उन्हे उस समाज मे कैसा व्यवहार करना, इसका जरा भी ज्ञान नहीं होता। इसीलिए समाजशास्त्री प्रत्येक समाज की संरचना का अध्ययन पृथक स करते हैं।

समाज और 'एक समाज' (Society and 'A Society')

मैकाइवर के अनुसार जब हम समाज शब्द का उपयोग व्यक्तियो के एक ऐसे समूह के लिए करते हैं जिसके सदस्यो का जीवन लगभग समान होता है तब इसका अभिप्राय एक समाज से है। रोनाल्ड फ्रीडमैन की परिभाषा के अनुसार एक समाज विस्तृत अर्थों में वह संगठन है, जिसका कार्यात्मक और सास्कृतिक क्षेत्र मे स्वतत्र अधिकार होता है और जिसका कुछ दूसरे सगठनो पर भी प्रभुत्व होता है। गिन्सबर्ग का कथन है "एक समाज कुछ विशेष तरह से बधे हुए व्यक्तियो का एक ऐसा सग्रह है जो उन्हे उन व्यक्तियों से अलग करता है जिनके व्यवहार उनसे भिन्न हैं।" रूट्यर (Reuter) ने स्पष्ट लिखा है कि एक समाज समाज स भिन्न एक ऐसा सगठन है जिसके द्वारा लोग अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। इस दृष्टि से शिक्षक समाज 'मुस्लिम' समाज, ब्रह्म समाज विद्यार्थी समाज एक समाज के उदाहरण हैं। समाज तथा एक समाज मे निम्नलिखित अन्तर है

1 समाज सामाजिक सबधो की एक जटिल व्यवस्था है जबकि एक समाज व्यक्तियो का समूह है।
2 समाज मूर्त है जबकि एक समाज की प्रकृति अमूर्त है।
3 समाज का आकार व्यापक होता है, जबकि एक समाज तुलनात्मक रूप मे एक छोटा सगठन है।
4 समाज में विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों व मनोवृत्तियो मे भिन्नता होती है, एक समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों और मनोवृत्तियों मे बहुत कुछ समानता पाई जाती है।
5 समाज मे व्यक्ति का उत्तरदायित्व असीमित, एक समाज में व्यक्ति का उत्तरदायित्व सीमित होता है।
6 समाज की तुलना मे एक समाज अधिक परिवर्तनशील होता है।
7 समाज का कोई भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता, इसके विपरीत एक समाज का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है।

एक समाज किसी एक सामाजिक इकाई जैसे एक जनजाति को इंगित करती है। इस इकाई की अपनी राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक व अन्य संस्थाए होती हैं जो अन्य समाजो से अपेक्षाकृत स्वतत्र होती हैं।

समाज की विशेषताएं (Characteristics of Society)

समाज के लिए अनेक अनुबधो की आवश्यकता होती है :—

- ✧ एक-दूसरे से अत:क्रिया करने वाले लोगों का समूह
- ✧ समान भौगोलिक भूभाग
- ✧ समान सस्कृति
- ✧ समान सदस्यता की भावना
- ✧ एकता की भावना
- ✧ एक विशिष्ट अस्तित्व
- ✧ लोगो के व्यवहार को नियत्रित करने हेतु मानदण्ड
- ✧ लगभग पूर्ण स्वतत्रता

समाजों के प्रकार (Types of Societies)

मानव इतिहास के प्रारभ से ही मानव समाज अस्तित्व में हैं। इन समाजों को अपने जीवन निर्वाह हेतु खाद्य ससाधनों व प्राकृतिक ससाधनो के दोहन मे उपयोग की जाने वाली तकनीको के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। समय के साथ ही समाजो की सरचना तथा सस्कृति अधिक जटिल होती गई। इसे सामाजिक सास्कृतिक क्रम विकास के रूप में वर्णित किया गया है। कुछ समाज अन्यों की तुलना मे तीव्र गति से विकसित हुए किन्तु कुछ समाज विकास के किसी बिन्दु पर आकर अटक गए। कुछ समाज विघटित होकर लुप्त हो गए। अत. समाजो को उनकी निर्वहन हेतु प्रयुक्त विभिन्न रणनीतियों पर निर्भरता के आधार पर वर्गीकृत करने के उद्देश्य से समाजशास्त्रियों ने समाज के पाच प्रकार प्रतिपादित किए हैं—(i) शिकार व सग्रहण (ii) उद्यानिकी एव चरागाही, (iii) कृषि, (iv) आद्योगिक तथा (v) उत्तर औद्योगिक

शिकार एव सग्रहण करने वाले समाज (Hunting and Gathering Societies)

12000 या इससे अधिक वर्ष पूर्व समाज अपने अस्तित्व के लिए जगली जानवरो का शिकार तथा वनस्पति के सग्रहण जैसी सरल तकनीको पर निर्भर करते थे। हेव्लेट (Hewlett, 1992) के अनुसार आज इस प्रकार के कुछ ही समाज अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा तथा मलेशिया मे अस्तित्व म हैं। इस प्रकार के समाजो में लोग 40 50 के समूहों मे एक-दूसरे से कुछ अतर पर रहते थे। जानवरो तथा वनस्पति की खोज मे ये लोग यायावरी जीवन ही व्यतीत करते थे। एक स्थान के जानवर तथा वनस्पति की समाप्ति पर वे दूसरे स्थान की खोज में निकल पड़ते थे। ये समाज बधुत्व पर आधारित थे। परिवार अपने सदस्यों की रक्षा करते थे तथा अपने बच्चो को आवश्यक कौशल सिखाते थे। उन समाजो मे न तो कार्यों की विशेषज्ञता थी न ही श्रम विभाजन और न ही लोगों की एक दूसरे पर निर्भरता। वनस्पति एकत्र करने का कार्य प्राय: महिलाओं को सौंपा जाता था तथा पुरुष शिकार का कार्य करते

थे। महिलाओं का इस प्रकार पुरुषों की तुलना में सामाजिक महत्व था। उस समय औपचारिक रूप में किसी को नेतृत्व ही दिया जाता था। यद्यपि आध्यात्मिक मुखियाओं को कुछ सम्मान प्राप्त था, किन्तु उन्हें भी शिकार पर जाना होता था। लोगों के आपसी संबंध समता पर आधारित थे। हथियारों (तीर-कमान भाले तथा पत्थर के चाकू) का प्रयोग जानवरों को मारने हेतु किया जाता था, न कि युद्ध लड़ने हेतु। चूंकि लोग दुर्घटनाओं व बीमारी के अक्सर शिकार हो जाया करते थे अतः वे आपस में सहयोग व मिल बाँट कर वस्तुओं का प्रयोग करते थे। लोगों का जीवनकाल बहुत कम था। वे देवी देवताओं की पूजा नहीं करते थे किन्तु कुछ प्रेतात्माओं में विश्वास रखते थे।

उद्यानिकी एवं चारावाही समाज (Horticulture and Pastoral Societies)

इन समाजों में लोग अंशतः हाथ के औजारों से खेती और अंशतः शिकार और संग्रहण पर निर्भर रहते थे अर्थात खेती को शिकार व संग्रहण के साथ मिला लिया गया था। कुछ लोग उद्यानिकी के जानवरों (बकरी, भेड़ आदि) को भी पालने लगे तथा उनका भोजन के स्रोत के रूप में उपयोग करने लगे। शिकार के माध्यम से प्राप्त भोजन का संचय करना संभव नहीं था किन्तु जानवरों को पालने से उनका अतिरिक्त पशुधन के रूप में संचय करना संभव था। इस पशुधन को बेचकर संपत्ति संचय व उसके माध्यम से सत्ता प्राप्त की जा सकती थी। इस प्रकार कुछ लोग शक्तिशाली बन गए। कुनबों के मुखियाओं का उदय भी इसी काल में हुआ। यायावरी जीवन के कारण उनके अन्य लोगों से संपर्क बढ़े तथा इस प्रकार आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकने वाली वस्तुओं जैसे तंबू, जानवर, सरल आकार के बर्तन आदि का व्यापार संभव हुआ। किसी स्थान पर चराने के अधिकार को लेकर कभी–कभी संघर्ष हो जाते थे तथा इस प्रकार की लड़ाइयों/युद्धों में बंधक बनाए गए लोगों का गुलामों के रूप में उपयोग किया जाता था। ये लोग कुछ देवताओं में विश्वास रखते थे तथा यह मानते थे कि जो इनकी पूजा करता है, वे उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि होती रही तथा आर्थिक व राजनैतिक संस्थाओं का विकास प्रारंभ हो गया। सामाजिक संरचना व संस्कृति अधिक जटिल हो गई। अधिक विकसित उद्यानिकी वाले समाजों में आर्थिक व राजनैतिक संस्थाएं अधिक उन्नत अवस्था में विकसित हुईं क्योंकि अन्य कुनबों पर विजय तथा व्यापार के कारण उनके अधिक गांवों के साथ संबंध स्थापित हुए।

कृषि समाज (Agricultural Societies)

जिन लोगों ने कृषि कार्य प्रारंभ किया वे एक स्थान पर बस गए व स्थिर जीवन बिताने लगे। कृषि में अधिक उत्पादन के साथ विशेषज्ञता का उदय हुआ। इन समाजों में वस्तु विनिमय पद्धति प्रायः लुप्त हो गई तथा विनिमय को अधिक सुलभ बनाने

हेतु मुद्रा का आविष्कार हुआ। मुद्रा के प्रादुर्भाव से न केवल विनिमय सुलभ हुआ बल्कि आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप मे शहरो का भी विकास हुआ। इन कृषिक समाजो मे सामाजिक विषमताओं ने भी जन्म लिया। भूमिहीन श्रमिको के साथ गुलामो जैसा व्यवहार किया जाता था। पुरुषों ने महिलाओं पर प्रभुत्व जमाना प्रारभ किया। सभ्रात व्यक्तियो के हाथ मे सत्ता आ गई। राजनैतिक सस्थाए अधिक जटिल होती गईं। वशानुगत राजतत्र तथा सामतवाद का उदय हुआ। कुछ कृषि समाज सतत युद्ध मे लगे रहते थे तथा धीरे-धीरे उन्होने अपने साम्राज्य स्थापित कर लिए। आवागमन व सचार के साधना के प्रादुर्भाव से विभिन्न समाजो के दूसरे समाजो के साथ सबध स्थापित हुए। इन समाजो की सरचना तथा सस्कृति अधिक जटिल थी। जनसख्या के साथ समाजो की सख्या मे भी वृद्धि हुई।

औद्योगिक समाज (Industrial Societies)

यदि हम आठवीं सदी तक की पूर्व औद्योगिक समाजो की तुलना 18वीं सदी के मध्य के औद्योगिक समाजो से करे तो हम दोनो मे बहुत अधिक अतर पाएगे। पूर्व औद्योगिक समाज मे सामाजिक प्रतिष्ठा वशानुगत सोपी जाती थी जबकि औद्योगिक समाज मे यह अशत. सौंपी जाती है व अधिकाशत प्रयत्नो से प्राप्त की जाती है। पूर्व-औद्योगिक समाज मे सबध मुख्यत. प्राथमिक होते थे जबकि औद्योगिक समाज मे ये प्राय: गौण होते हैं। पूर्व औद्योगिक समाज मे बहुत कम श्रम विभाजन था जबकि औद्योगिक समाज मे व्यवसायो मे अधिक विशेपता पाई जाती है। पूर्व औद्योगिक समाज मे सामाजिक नियत्रण मुख्यत: अनोपचारिक था किन्तु औद्योगिक समाज मे यह औपचारिक है। पूर्व औद्योगिक समाज मे मूल्य पारपरिक तथा धर्म-आधारित थे जबकि औद्योगिक समाज मे ये आधुनिक एव धर्म निरपेक्ष हैं। पूर्व औद्योगिक समाज की सजातीय सस्कृति औद्योगिक समाज मे विषमजातीय हो गई। पूर्व-औद्योगिक समाज मे पुरातन तकनीक थी जबकि औद्योगिक समाज मे तकनीकी बहुत विकसित हो गई है। अत मे परिवर्तनो के बारे मे विचार करे जो पूर्व औद्योगिक समाज मे बहुत धीमे होते थे जबकि औद्योगिक समाज मे वे तीव्र गति से होते हे।

18वीं शताब्दी मे औद्योगिक क्राति सारे विश्व मे फैल गई। मशीनो व तकनीक के प्रयोग ने लोगो का कार्यभार घटा कर उन्हे अधिक सम्पन्न बनाया साथ ही उन्हे विश्राम हेतु अधिक समय मिलने लगा। अर्थव्यवस्था मे बदलाव के साथ ही अन्य सस्थाओं मे परिवर्तन आ गया। ये समाज बहुत बडे तथा अत्यधिक शहरी हैं। इन समाजो मे श्रम-विभाजन बहुत अधिक जटिल है तथा अनेक कार्यो मे विशेषज्ञता आ गई है। सामाजिक प्रतिष्ठा अब दी नहीं जाती बल्कि प्राप्त की जाती हे। सामाजिक सरचना मे परिवार तथा बधुत्व का महत्व कम हो गया है। बधुत्व की भावना अब कमजोर पड़ गई है। धार्मिक सस्थाओ का प्रभाव भी कम हो गया है। लोग अब

विभिन्न आस्थाओं व विचारों को मानने लगे। महिलाओं तथा पुरुषों के लिए औपचारिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। गरीबों एवं अमीरों की आय में बहुत अधिक विषमता आ गई है। राज्य का प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया है।

कार्ल मार्क्स ने कहा है कि औद्योगिक तथा उत्तर औद्योगिक समाजों में पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिलता है, पूंजीपतियों का वर्चस्व रहता है तथा गरीबों की सत्ताहीनता तथा उनका शोषण बढ़ जाता है। सर्वहारा वर्ग को कोई संतुष्टि नहीं मिलती तथा अपनी स्थिति सुधारने हेतु वे स्वयं को असहाय पाते हैं। श्रमिक अपने आपको वस्तु के रूप में तथा श्रम के स्रोत के रूप में पाते हैं जिन्हें पूंजीपतियों द्वारा खरीदा जाता है तथा काम निकलने पर अलग कर दिया जाता है। मार्क्स ने इस समाज में श्रमिकों के चार प्रकार के विमुखीकरणों (Alienation) का उल्लेख किया है:— (i) कार्य करने से विमुखीकरण, (ii) कार्य के प्रतिफल से विमुखीकरण, (iii) दूसरे श्रमिकों से विमुखीकरण, (iv) मानवीय क्षमताओं से विमुखीकरण। इसीलिए मार्क्स इस समाज को बदलने की वकालत करते हैं। उन्होंने ऐसे समाज की कल्पना की जो समाजवाद पर आधारित हो तथा जिसमें उत्पादन तंत्र अधिक मानवीय व समतावादी हो।

उत्तर औद्योगिक समाज (Post Industrial Societies)

अनेक औद्योगिक समाज उच्च तकनीकी विकास के चरण में पहुच गए हैं। डेनियल बेल (Deniel Bell) ने 1973 में इन समाजों को ऐसा समाज कहा जिसमें ज्ञान का महत्व धन सम्पदा से बढ़ जाता है और यही सत्ता, शक्ति और सामाजिक गतिशीलता का मुख्य स्रोत बन जाता है। ऐसे समाजों में वस्तुओं के निर्माण करने वाले उद्योगों की अपेक्षा सेवा प्रदान करने वाले उद्योग अथवा संस्थाएं मुख्य भूमिका अदा करती हैं। ऍलेन तूरेन (Alain Touraine) ने अपनी पुस्तक 'दि पोस्ट इन्डस्ट्रीयल सोसायटी' (1971), डेनियल बेल ने अपनी पुस्तक 'दि कमिंग ऑफ पोस्ट-इन्डस्ट्रियल सोसायटी' (1973) में भी इस बात पर बल दिया है कि उत्तर औद्योगिक समाज में ज्ञान की भूमिका (Role of Knowledge) और सूचना का उपयोग (Use of Knowledge) सबसे महत्वपूर्ण है। औद्योगिक समाज भौतिक वस्तुओं के निर्माण हेतु कारखानों व मशीनों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जबकि उत्तर औद्योगिक समाज अपना ध्यान कम्प्यूटर तथा अन्य इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों पर केन्द्रित करते हैं। औद्योगिक समाजों में लोग तकनीकी कौशलों के सीखने पर निर्भर करते हैं किन्तु उत्तर औद्योगिक समाजों में वे कम्प्यूटर, नकल करने वाली मशीनों, कृत्रिम उपग्रहों तथा अन्य प्रकार की संचार तकनीकी पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार उत्तर औद्योगिक समाजों के व्यावसायिक संरचना में बहुत अधिक बदलाव आया है।

समाजों के प्रकार (Types of Societies)

समाज का प्रकार	ऐतिहासिक काल	उत्पादन की तकनीक	जनसख्या	बसावट का पैटर्न	आपसी सबधी	श्रम विभाजन	महिलाओ की स्थिति	*सामाजिक सगठन	धर्म
शिकार एव सग्रहण	लगभग 12000 वर्ष पूर्व	आदिकालीन हथियार	25-40 लाग	यायावरी जीवन	प्राथमिक एव बधुत्व के	केवल लिग व आयु के आधार पर। विशिष्ट भूमिकाए नहीं	तुलनात्मक सामाजिक महत्व दिया जाता था।	समतावादी	प्रेतात्माओ म विश्वास किन्तु उनका पूजन नहीं
उद्यानिकी	12000-6000	जानवरो को पालना	कई हजार लोग	यायावरी जीवन	प्राथमिक एव बधुत्व के	विशिष्ट भूमिकाए नहीं	सामाजिक महत्त्व दिया जाता था।	मुखियागिरी का उदय	कुछ देवताओ को पूजते थे।
कृषि	3000-1750 A D	जानवरो द्वारा चलने वाला हल	लाखो लोग	स्थाई-ग्रामीण बसावट	प्राथमिक एव माध्यमिक व्यवसाय बन गए।	कुछ विशेषज्ञता कुछ कार्य विशिष्ट तीव्र हुई। कुछ परिवारो के पास सत्ता आ गई।	महिलाओं की स्थिति गिरी। लगा।	सामाजिक समता अधिक	देवताओ का पूजन होने
औद्योगिक	1750-1950	मशीनीकृत उत्पादन	करोडो लाग	स्थाई शहरी बसावट	पारिवारिक व बधुत्व का लुप्त होना	कार्य का अधिक विशिष्टीकरण तथा स्वतत्रता	स्थिति म सुधार	सामाजिक विषमता	देवताओ का पूजन
उत्तर-औद्योगिक	1970 से अब तक	कम्प्यूटर की सहायता से सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित अर्थव्यवस्था	करोडो लोग	अत्यधिक उन्नत शहरी बसावटे	महत्वपूर्ण अनौपचारिक सबध	अत्यधिक श्रम-विभाजन	शिक्षा के अच्छे अवसरो व आर्थिक स्वतत्रता के कारण अच्छी स्थिति	सामाजिक विषमता	देवताओ का पूजन

परंपरागत, आधुनिक तथा उत्तर आधुनिक समाज

माइक ओ डोनेल (Mike O' Donnell) ने तीन प्रकार के समाजों की बात कही है—परंपरागत (Traditional), आधुनिक (Modern) व उत्तर आधुनिक (Post-Modern)।

परंपरागत समाज वे हैं जहाँ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म से निश्चित होती है, नियंत्रण के साधन अनौपचारिक होते हैं, अर्थव्यवस्था सरल होती है, लोगों में संबंध घनिष्ठ व प्राथमिक होते हैं तथा जिसमें पौराणिक विचार व्याप्त हों। माइक ओ डोनेल इन समाजों के लिए 'आदिम', 'असभ्य' तथा 'साक्षरतापूर्व' जैसे प्रयोग स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि इस प्रकार के शब्दों का लाक्षणिक अर्थ 'बर्बरता' तथा 'सभ्यता' के अभाव के रूप में लिया जाता है। वे कहते हैं यद्यपि समाजों का वर्गीकरण करना एक समस्या है किन्तु सामाजिक संस्थाएं किस प्रकार चलती हैं तथा उनमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं यह समझने के लिए यह आवश्यक है। इनका मानना है कि परंपरागत समाज पूर्व-औद्योगिक समाज हैं जो मूल्य व प्रभुत्व पर आधारित होते हैं तथा धर्म उनके मूल में बसा होता है। इस प्रकार के समाज आज भी मध्ययुगीन यूरोपीय राज्यों, अफ्रीका, भारत, चीन तथा कई मुस्लिम व अन्य एशियाई देशों में विद्यमान हैं। इन देशों ने बीसवीं सदी की प्रथम चौथाई तक अपनी आवश्यक परंपरागत पहचान को पश्चिम के प्रभाव से जूझते हुए भी बरकरार रखा था।

आधुनिक समाज के लक्षण परंपरागत समाज से बिल्कुल विपरीत होते हैं। इस प्रकार के समाज के लोगों के बीच आपसी संबंध अधिक व्यक्तिगत नहीं होते, इसकी अर्थव्यवस्था जटिल होती है, नियंत्रण के साधन अधिक औपचारिक होते हैं, व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसकी क्षमताओं व योग्यताओं के आधार पर निर्धारित होती है तथा यहां तर्कसगत विचारों को महत्व दिया जाता है। माइक ओ डोनेल के अनुसार इन समाजों के लक्षण होते हैं—विज्ञान व तकनीकी का उदय, औद्योगीकरण, नौकरशाही तथा सामाजिक प्रगति की सभावना में अटूट विश्वास। वास्तव में वेबर ने ही आधुनिक समाज तथा नौकरशाही के सिद्धान्त को विकसित किया। मार्क्सवादियों ने औद्योगिक समाजों को पूंजीवादी तथा साम्यवादी समाजों में वर्गीकृत किया।

परंपरागत समाजों की तुलना में आधुनिक समाज व्यक्तियों पर कम प्रतिबंध लगाते हैं। दुर्खीम आधुनिक स्वतंत्रता के लाभों को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे मानते हैं कि इससे अनियमितता आ जाएगी। ऐसी स्थिति में समाज व्यक्तियों को नैतिक मार्गदर्शन नहीं दे पाएगा। सन् 1900 तक का इंग्लैण्ड तथा सन् 1950 तक के रूस व अमेरिका आधुनिक समाज के अच्छे उदाहरण हैं। टॉनीज ने पारंपरिक समाज से आधुनिक समाज में परिवर्तन का समुदाय आधारित सामाजिक संगठन से

निविदा आधारित सामाजिक संगठन (अर्थात् परस्पर स्वार्थ पर आधारित नियंत्रित संगठन) के रूप में वर्णन किया है।

उत्तर आधुनिक समाज

आज कुछ समाजशास्त्री मानते हैं कि या तो आधुनिकता में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है, अथवा आधुनिकता का अंत हो रहा है तथा उसका स्थान उत्तर आधुनिकता ले रही है। एन्थनी गिडिन्स ने इन समाजो के लिए 'विलंबित आधुनिकता' (Late Modernity) शब्द का प्रयोग किया है। माइक ओ डोनेल के अनुसार 1996 के बाद का अमेरिका विलंबित आधुनिकता का उदाहरण है। उनके अनुसार उत्तर आधुनिकता (अथवा विलंबित आधुनिकता) के प्रमुख लक्षणो में से एक है आधुनिकता की विफलता के प्रति तीव्र जागरूकता। विशेषत इसके कारण पर्यावरण को हुई क्षति तथा मानव जाति के बढ़ते खतरो के संबध में। इसी के और भी मुद्दे जुड़े हुए हैं। जैसे प्रगति के संबध में विश्वास में कमी राजनीतिक तथा सार्वजनिक मुद्दो को छोडकर व्यक्तिगत प्रश्नों की ओर झुकाव औद्योगिक कचरे व मानव शोषण में हुई वृद्धि आदि। किन्तु उत्तर आधुनिकता को समझने के लिए यह विश्लेषण पर्याप्त नहीं है।

उत्तर आधुनिक समाज की जीवनधारा कम्प्यूटर है। ज्या बॉड्रिलार्ड (Jean Baudrillard) के अनुसार उत्तर आधुनिक समाज पर संकेत (Sign), सिम्युलेशन (Simulation) और छवियों (Images) का प्रभाव है। इस पर मीडिया का प्रभुत्व होता है। मीडिया के अति यथार्थता (Hyper-reality) के निर्माण के कारण वास्तविक यथार्थता खो गई है। गिडिन्स ने ऐसे समाज को एक रिफ्लेक्स (Reflex) अर्थात प्रतिबिम्ब समाज कहा है। बॉड्रिलार्ड ने उत्तर आधुनिक समाज को उपभोग समाज कहा है। गिडिन्स के अनुसार रिफ्लेक्सिव (Reflexive) एक प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति और संस्थाएं ज्ञान का संचय कर उसे समाज को परिवर्तित और संगठित करने के लिए उपयोग में लेते हैं। इस समाज में समय और स्थान सिकुड गए हैं।

उपर्युक्त तीनो प्रकार की तुलना निम्नानुसार है :—

समाज का प्रकार	लक्षण
परंपरागत	सरल अर्थव्यवस्था, सौंपी गई सामाजिक स्थिति, पौराणिक विचारो की प्रबलता, नियंत्रण के साधनो की अनौपचारिकता, आपसी व्यक्तिगत संबध, जादू टोने तथा धर्म का महत्व, सामाजिक मान्यताओ एवं आस्थाओ का अनुपालन, समान नैतिकता पर आधारित सामाजिक संबध

आधुनिक	अधिक श्रम-विभाजन, प्रयत्नों से प्राप्त सामाजिक स्थिति का महत्त्व, निर्वैयक्तिक संबंध, औपचारिक नियंत्रण के साधन, तार्किक व वैज्ञानिक सोच, अधिक स्वतंत्रता, विशेषज्ञता पर आधारित सामाजिक संबंध, नैतिकता के संबंध में सर्वसम्मति का अभाव तथा कार्य में एक-दूसरे पर निर्भरता अधिक होना।
उत्तर आधुनिक	विज्ञान एवं तर्क की प्रबलता, नैतिक, भावनात्मक एवं व्यक्तिगत मूल्यों का महत्त्व, विज्ञान एवं तकनीकी के विकास पर जोर, औद्योगिक व मानवीय शोषण में वृद्धि।

समाजों के बदलते पैटर्न (Changing Pattern of Societies)

मुख्यत: तकनीकी तथा समान मूल्यों व आस्थाओं के संबंध में समाज एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। आधुनिक समाज परंपरागत समाज से वृहद् उत्पादन शक्ति के कारण भिन्न है। मार्क्स ने समाज में परिवर्तन लाने हेतु उत्पादन में बदलाव लाने पर जोर दिया है। दुर्खीम ने भी समाज में परिवर्तन को समझाने हेतु उत्पादक विशेषज्ञता का उल्लेख किया है। समाज में परिवर्तन क्यों होता है इसे समझाने हेतु मार्क्स ने क्रांतिकारी पुनर्गठन की ओर संकेत किया है। वेबर ने सामाजिक परिवर्तन में विचार के तरीकों के योगदान की बात की है। दुर्खीम ने सामाजिक परिवर्तन के कारण के रूप में बढ़ते श्रम-विभाजन की ओर संकेत किया है। भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए लुई ड्यूमा (Louis Dumont) ने लिखा है कि "समाज में परिवर्तन हो रहा है, किन्तु समाज का परिवर्तन नहीं हो रहा है।"

समाज एक सूत्र में कैसे बंधे रहते हैं? मार्क्स के अनुसार समाज को एकता नहीं बांधती बल्कि उत्पादक संबंध बांधते हैं जो कि समाज की प्रामाणिकता होते हैं। वेबर के अनुसार संगठनात्मक संस्कृति के साथ तार्किक वृहद् संगठन ही समाज को एक सूत्र में बांधता है तथा हमारे जीवनों को मार्गदर्शन प्रदान करता है। दुर्खीम पूर्व-औद्योगिक समाजों के नैतिकता आधारित यांत्रिक भाईचारे तथा आधुनिक औद्योगिक समाजों के स्वतंत्रता आधारित नैसर्गिक भाईचारे की बात करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि समाज किस ओर बढ़ रहे हैं? मार्क्स के अनुसार अंततोगत्वा वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी क्योंकि पूंजीवादी समाज में स्वयं के विकास बीज गड़े हुए हैं। सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी मांगों के परिणामस्वरूप साम्यवादी समाज रचना आएगी (किन्तु मार्क्स की यह भविष्यवाणी रूस में विफल हो गई)। वेबर के अनुसार बढ़ती हुई तार्किकता के कारण विश्व अवनति की ओर

चड़ेगा। दुर्खीम मानते हैं कि नए सगठन उभरकर सामने आएगे जो लोगों को उनके मतभिन्नता के साथ ही बाधकर रखेगे तथा उनकी अनियमितता की समस्याओं का हल करेगे।

परम्परागत भारतीय समाज तीन परिप्रेक्ष्य
(Traditional Indian Society Three Perspectives)

परम्परागत समाज की उपरोक्त अवधारणा एव विश्लेषणओं सहित समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में परम्परागत समाज का किस प्रकार देखा जा सकता है? परम्परागत भारतीय समाज को समाजशास्त्रीय आधार पर समझने के लिए तीन परिप्रेक्ष्यों का उपयोग हो सकता है। प्रकार्यात्मक मार्क्सवादी और सामाजिक अन्त क्रिया परिप्रेक्ष्य। प्रकार्यात्मक (दुर्खीम) का परिप्रेक्ष्य इस विचार पर आधारित है कि प्रमुख सामाजिक सस्थाए और उप-व्यवस्थाए (जैसे नातदारी आर्थिक सस्थाए आदि) मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं (जैसे प्रजनन उत्पादन उपभोग) की पूर्ति करती है। मार्क्सवादी (कार्ल मार्क्स) परिप्रेक्ष्य इस विचार पर आधारित है कि वर्ग सघर्ष एक मूलभूत सामाजिक शक्ति है और समाज की कार्यात्मकता सघर्षपूर्ण हितो वाले वर्गों से प्रभावित होती है। सामाजिक अन्त क्रिया का परिप्रेक्ष्य इस पर बल देता है कि व्यक्ति समाज को बनाते और प्रभावित करते हैं न कि समाज व्यक्तियों को तथा समाज व्यक्तियो के अनुभवो की सरचना नहीं करता बल्कि व्यक्ति' स्वय ही सामाजिक अनुभवो की रचना मे सहायता करता है।

प्रथम दो परिप्रेक्ष्य सरचनात्मक हैं अर्थात् वे प्रमुख रूप से यह विचार करते हैं कि समाज व्यक्ति और समूह के व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करता है बजाय इसके कि व्यक्ति और समूह समाज की रचना किस प्रकार करते हैं (वास्तव मे तीसरा दृष्टिकोण भी सरचनात्मक ही माना गया है।) अत सरचनात्मक समाजशास्त्री इस विषय मे रुचि लेगा कि धार्मिक विचार और मूल्य या विज्ञान और तर्क या जाति और वर्ग, या परिवार और नातेदारी, या यात्रिक और औद्योगिक अर्थ व्यवस्थाए या व्यक्ति की सामाजिक-सरचनात्मक स्थिति किस प्रकार समाज द्वारा अपेक्षा किए जाने वाली भूमिकाओ के निर्वाह के लिए व्यक्ति के अवसरो को प्रभावित करते हैं। जहा प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवहार पर सहमति दर्शाता है, वहीं मार्क्सवाद और सामाजिक क्रिया सबधी दृष्टिकोण समाज मे सघर्ष पर बल देते हैं। माइक ओ डोनेल (1997 6) के अनुसार सरचनात्मक परिप्रेक्ष्य के आधार पर जो प्रश्न और उनके उत्तर बनाए जा सकते हैं वे हैं:— 1 समाज का निर्माण किस प्रकार होता है? 2 यह समाज कैसे कार्य करता है? 3 समाज मे कुछ समूह किस प्रकार अन्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं? 4 सामाजिक परिवर्तन किन कारणो से होता है? 5 समाज क्या सहमति पर आधारित होता है या सघर्ष पर? 6 व्यक्ति का समाज के साथ

क्या सम्बन्ध है? इन्हीं प्रश्नों के आधार पर परम्परागत भारतीय समाज का विश्लेषण किया जा सकता है।

समाज: सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य (Society : Theoretical Perspectives)

समाज की व्याख्या विभिन्न सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों द्वारा की गई है —

संघर्ष (Conflict) परिप्रेक्ष्य—समाज मे विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों मे विरोधाभासी स्वार्थों के कारण अनेक प्रकार के सस्थागत सघर्ष होते हैं। समाज को इस परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत असमानता और शोषण के आधार पर विवेचित किया गया है।

नृजाती पद्धतिशास्त्र (Ethnomethodology) परिप्रेक्ष्य—इस परिप्रेक्ष्य मे समाज को अन्तःक्रिया के माध्यम से उत्पन्न प्रघटना के आधार पर विश्लेषित किया गया है। इसके अनुसार स्थितियाँ स्थायित्व के आधार पर नहीं बल्कि गत्यात्मक निरन्तरता के अनुसार समझने का प्रयास करना चाहिए।

प्रघटनाशास्त्रीय (Phenomenology) परिप्रेक्ष्य—इस परिप्रेक्ष्य मे समाज की परिभाषा विषयपरकता के आधार पर की गई है। समाज को विषयपरक एव अनुभव वस्तुपरक यथार्थ के मध्य द्वन्द्वात्मकता के आधार पर परिभाषित किया गया है।

उद्विकासीय (Evolutionary) परिप्रेक्ष्य—उद्विकासीय परिप्रेक्ष्य समाज जिन ऐतिहासिक स्थितियो से विकसित हुआ है उसकी विवेचना करता है।

सभी परिप्रेक्ष्यो में इस बात पर जोर दिया गया है कि समाज को कैसे समझा जाए।

व्यक्ति के समाज के साथ संबंध

व्यक्ति और समाज के संबंध मे कई मत हैं, जिनमे प्रमुख हैं —

प्रकार्यवादात्मक (Functionalist) मत

प्रकार्यवादी मानते हैं कि व्यक्ति समाज द्वारा परिवार, स्कूल, कार्यस्थल आदि सस्थाओं के प्रभाव के माध्यम से विकसित होते हैं। प्रकार्यवादी इस विचार से जरा भी सहमत नहीं होते कि व्यक्ति अपना स्वयं का जीवन सार्थकता से नियंत्रित कर सकते हैं। दुर्खीम के विचार से समाजशास्त्र का सबंध केवल व्यक्ति से नहीं होता।

संघर्षात्मक (Conflict) मत

व्यक्ति के समाज के साथ सबधो के विषय मे सघर्षवादियों की विचारधाराएं भिन्न हैं। परंपरावादी विचारधारा मानती है कि व्यक्ति अपने अथवा अन्य लोगों के जीवन को प्रभावित करने मे असमर्थ होता है क्योंकि वह शक्तिहीन होता है। इस विचार के अनुसार वर्ग सघर्ष तथा समाजवादी क्रांति अटल है चाहे अकेला व्यक्ति कुछ भी करे। फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि समाज में व्यक्ति की बड़ी भूमिका

होती है यद्यपि वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति को पहचान प्रमुख रूप से उसके वर्ग का सदस्य होने से ही मिलती है।

अंत क्रियावादी (Interactionist) मत

अंत.क्रियावादी विचार से व्यक्ति का समाज के साथ संबंध अत्यधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के सामाजिक कार्यों को क्या प्रभावित करता है इसके विश्लेषण से अधिक व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन मे जो अनुभव करता है उसे समझना अधिक महत्वपूर्ण है। सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा व्यक्ति के कार्य को अनोखे रूप मे अनुभव किया जाता है, क्योंकि व्यवहार मे सामाजिक व्यवहार के वृहद् रूप से समान पैटर्न होते हैं।

मूल्य एवं मानदंड
(Values and Norms)

मूल्य (Values) क्या हैं? (What are Values?)

मूल्य वांछनीयता से संबंधित एक अमूर्त विचार है। यह व्यवहार का सामान्यीकृत सिद्धान्त होता है जिसके प्रति कोई समूह तीव्र भावनात्मक रूप से प्रतिबद्ध होता है तथा जो उसे किन्हीं विशिष्ट कार्यों अथवा लक्ष्यों का आकलन हेतु मानदंड प्रदान करता है। मूल्य केवल प्रकट कथनों के रूप मे इसलिए नहीं स्वीकार किये जाते कि उन्हें समूह का प्रत्येक सदस्य दावे के साथ कहता है किन्तु इसलिए कि प्रत्येक सदस्य उनके प्रति प्रतिबद्ध होता है तथा जिन्हें उसने समाजीकरण की प्रक्रिया में अंतरीकरण कर लिया है। वुड्स (Woods) के अनुसार मूल्य दैनिक जीवन के व्यवहार को नियंत्रित करने के सामान्य सिद्धान्त हैं। मूल्य न केवल मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं अपितु वे अपने आप में आदर्श और उद्देश्य भी हैं। मीड और फेरिस के अनुसार मूल्य व्यक्ति और समाज दोनों को प्रभावित करते हैं। मूल्यों के आधार पर व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियाँ (Attitude) बनाता है। मूल्य व्यवहार के सामान्यीकृत मानदण्ड प्रदान करते हैं जिन्हें सामाजिक मानदण्डों के रूप में अधिक विशिष्ट व ठोस रूप मे व्यक्त किया जाता है। मूल्यों के उदाहरण हैं—न्याय, समानता, स्वतंत्रता आत्मनिर्भरता, सत्य अहिंसा।

मूल्यों को परिभाषित करते हुए प्रो राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत इच्छाएं और लक्ष्य हैं जिनका अंतरीकरण, अनुकूलन, सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है। प्रो मुकर्जी ने मूल्यों को दो श्रेणियों मे बाँटा है—साध्य मूल्य और साधन मूल्य। साध्य मूल मानव के आंतरिक जीवन से संबंधित ऐसे लक्ष्य एवं तृप्तियाँ हैं जिन्हें व्यक्ति और समाज दोनों ही जीवन तथा मस्तिष्क के विकास के आवश्यक समझते हैं। ये मूल्य व्यक्ति के आचरण के अंग होते हैं। साधन मूल्य, साध्य मूल्यों को प्राप्त करने मे सहायता करते हैं। उन्होंने मूल्यों

तथा अपमूल्यो नकारात्मक मूल्य मे भी भेद किया है। समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए स्वीकृत मानदड की उपेक्षा कर उनके विरूद्ध आचरण किया जाता है तो इसे अपमूल्य कहा जाता है।

मूल्य व्यक्तिगत व समूह के लक्ष्यों को एकीकृत करने हेतु सिद्धान्त प्रदान करते हैं। चूंकि मूल्य लक्ष्यो व व्यवहार के चयन मे मार्गदर्शन करते हैं, अतः मूल्यों के अध्ययन में अभिवृत्ति, व्यवहार, अतःक्रिया तथा सामाजिक संरचना का समावेश होता है।

मूल्य तथा मानदडो के सिद्धान्त एक ही नहीं है। सभी मूल्य महत्वपूर्ण होते हैं किन्तु मानदण्ड भिन्न भिन्न होते है। कुछ मानदड बहुत अधिक कठोर होते हैं व उनका पालन न करने पर दण्ड भी निर्धारित किया जाता है किन्तु कुछ मानदण्ड कम महत्वपूर्ण होते हैं। ये केवल किसी कार्य के करने के तरीको का सुझाव देते हैं किन्तु ऐसा न करने पर दण्ड निर्धारित नहीं करते। मानदड सदैव लागू अनुज्ञाओ मे अनुमोदित होते हैं जबकि मूल्य के साथ यह बात नहीं।

रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict, 1934) के अनुसार लोगों के मूल्य व मानदण्ड दोनो मिलकर उनकी संस्कृति का पैटर्न प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमी संस्कृति व्यक्तिवाद, गतिशीलता प्रतिस्पर्द्धा और समानता पर जोर देती है जबकि भारतीय संस्कृति परम्परा, सामूहिकता, कर्म तथा निर्मोह पर। सांस्कृतिक मानदण्डो में अतर इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि एक संस्कृति मे उपहार देने की प्रथा मे देने वाला स्वय को गौरवान्वित करता है व दूसरे की अवमानना करता है तो दूसरी संस्कृति मे उपहार दिए जाने वाले व्यक्ति के प्रति प्रेम, अनुराग तथा आदर व्यक्त किया जाता है।

भारतीय समाज के मूल्य (Values in Indian Society)

अनेक विद्वानो ने भारतीय संस्कृति के प्रबल मूल्यों का उल्लेख किया है तथा उनके महत्व पर चर्चा की है। अमेरिकन तीन मुख्य मूल्यों की बात करते है— समता, स्वतंत्रता तथा प्रजातत्र। एस पी कनाल (*Dialogue on Indian Culture*, 1955) ने निम्नलिखित पांच मूल्यों को चर्चा की है— अहिंसा, सत्य, क्षमा, लोकोपकारवाद, अपरिग्रह। अन्य मूल्य हैं— नैतिक उन्मुखीकरण अर्थात कार्यों को सही या गलत अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक ठहराने के लिए विश्व को नैतिक दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति, कर्म मे विश्वास आदि।

सामाजिक मानदंड या नार्म्स (Social Norms)

'नार्म्स' के लिए मानदंड, मानक, आदर्श नियम, प्रतिमान आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। लोग एक-दूसरे के साथ शब्दो, हावभाव तथा इशारों के माध्यम से अंतःक्रिया

करते हैं। व्यक्ति को किसी विशिष्ट सामाजिक स्थिति म किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसका मार्गदर्शन नार्म्स करत ह। मानदड की व्याख्या सामाजिक स्वीकृति हेतु किस प्रकार का व्यवहार ठीक हो सकता ह इस सबध म दो या अधिक लोगो की समान आकाक्षाओ द्वारा की जाती है (थियाडोरसन 276)। इस प्रकार किसी सामाजिक समूह म किसी व्यक्ति की भूमिका व दायित्व उस समूह के सामाजिक मानदडो द्वारा परिभाषित किए जात ह। वुड्स (Woods) के अनुसार सामाजिक मानदड के वे नियम या प्रतिमान है जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करत हैं व्यवस्था मे सहयोग देते हैं तथा किसी विशेष स्थिति म व्यवहार की भविष्यवाणी करना सभव बनाते है। प्रत्येक समूह के अपन स्वय क मानदड होत ह। सामाजिक मानदडो का अध्ययन लोगों के प्रकट व्यवहार का निरीक्षण कर तथा लोग अपने मानदड क्या बताते हैं इसका निरीक्षण कर किया जाता है।

मानदड एव लोकरीतिया (Norms and Folkways)

मानदडो का आकलन निम्न प्रश्नो क उत्तरा क आधार पर किया जाता है (अर्थात कुछ पैमानो के आधार पर)। य प्रश्न हैं— मानदड का पालन कितना व्यापक है? लोगो पर मानदडो का पालन करन हतु कितना दबाव है तथा उनका पालन न करने पर कितना दण्ड है? किसी विशिष्ट मानदड का समाज के लिए क्या महत्व है? क्या वही मानदड इन तीनो पैमानो पर उच्च स्तर पर है अथवा केवल एक या दो पैमानो पर? उदाहरण के लिए तुम चोरी नहीं करोगे। इस मानदड का पालन व्यापक रूप से होता है तथा इसका पालन न करन पर दण्ड दिया जाता है तथा सभी समाजो म इसका अत्यधिक महत्व है। अपन माता पिता का आदर करना अपने जीवन-साथी के साथ समानता का व्यवहार करना किसी नए कार्य का आरभ करने अथवा प्रथम बार नौकरी पर जाने से पूर्व अपन बुजुर्गों का आशीर्वाद लना आदि सभी मानदडो के उदाहरण हैं। मानदड जिन्ह नकारात्मक रूप से व्यक्त किया जाता ह उन्ह निषेधात्मक तथा जिन्हे सकारात्मक रूप म व्यक्त किया जाता है उन्हे निर्देशात्मक कहते हैं।

व्यवहार से सबधित कुछ मानदड किन्हीं सस्थाओ मे अथवा किन्हीं परिस्थितियो में आवश्यक माने जाते हैं। उदाहरण के लिए व्यवहार के मानदड परिवार म कार्य के स्थान पर, शैक्षिक सस्थाओ म पास-पडोस म क्लब म, राजनैतिक दल म आदि। इनका पालन व्यक्ति अपने कर्तव्य नैतिकता की भावना क कारण करते हैं।

कुछ मानदडो का अपेक्षाकृत कम कार्यात्मक महत्व होता है किन्तु वे अधिक समय तक टिकते हैं— जैसे विवाह के समय दूल्हे द्वारा सूट पहनना, खाना बनाते समय ऐप्रेन पहनना, भारतीय परिवारो मे कोई मानदड नहीं है (जैसे कि यह पश्चिमी परिवारो में है)। होली में सामान्यत: किसी व्यक्ति पर (वह कैसी भी पोशाक पहन हो) रग डालना एक मानदड है। ऐसा करने पर कोई नाराज नहीं होता। मानदड पीढ़ी

दर पीढ़ी, किशोरावस्था से प्रौढ़ावस्था तक, महिलाओं से पुरुषों तक, शिक्षित व्यक्ति से निरक्षर तक, शहरी व्यक्तियों से ग्रामीण व्यक्तियों तक एक जाति से दूसरी जाति तक तथा एक धर्म से दूसरे धर्म तक बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू तथा मुस्लिम समुदायों में विवाह प्रस्ताव करने के मानदंड, दोनों समुदायों में विवाह विच्छेद के मानदंड, विवाह-विच्छेद के बाद पत्नी को दिये जाने वाले निर्वाह भत्ते संबंधित मानदंड आदि। विभिन्न समाजों के मूल्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जिन मानदंडों का पालन कठोरता से किया जाता है उन्हें लोकाचार या रूढ़ि (More) कहते हैं। इन्हें समूह की स्वीकृति प्राप्त होती है और ये बिना सोचे-विचारे स्वीकार कर ली जाती है। लोकाचार दो प्रकार के होते हैं सकारात्मक और निषेधात्मक। सकारात्मक लोकाचार विशेष प्रकार का व्यवहार चाहते हैं जैसे माता पिता का आदर करो, जीवन में ईमानदारी रखो। निषेधात्मक लोकाचार वर्जना (Taboo) के रूप में कुछ व्यवहार करने को रोकते हैं जैसे चोरी नहीं करनी चाहिए। जिन मानदंडों का पालन कठोरता से नहीं किया जाता (क्योंकि ये बिना नैतिक व्यंजना के होते हैं) उन्हें लोकरीतियाँ अथवा जनरीतियाँ (Folkways) कहते हैं। समूह के अधिकांश व्यक्ति जिस प्रकार से व्यवहार करते हैं वह लोकरीति कहलाती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार लोकरीतियाँ समाज की मान्यता प्राप्त या स्वीकृत व्यवहार करने की पद्धतियाँ हैं। आकृति में दी गई टूटी रेखा बताती है कि यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि लोकाचार कहां समाप्त होते हैं व लोकरीतियां आरंभ होती हैं।

रोज तथा ग्लेजर (1982 62) ने मानदंडों में U आकार की रेखा की चर्चा की है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा।

प्रदेशन (निर्देशात्मक) (Prescriptions)			निषेधन (निषेधात्मक) (Proscriptions)
1 बड़ों का आदर करो		1	चोरी मत करो
2 अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से करो	लोकाचार (Mores)	2	झूठ मत बोलो
3 मित्रों के प्रति निष्ठावान रहो		3	धोखा मत दो
4 छोटों को आशीर्वाद दो	लोकरीति (Folkways)	4	सार्वजनिक स्थानों पर नाक साफ न करें
		5	चावल हाथ से मत खाओ

वरीयताएं (Preferences)

बहुत अधिक टी वी मत देखो

लोकरीतिया लोकाचार, प्रथाए, परिपाटियाँ आदि मानदडो के ही विभिन्न रूप हैं। 'नार्म' शब्द का प्रयोग एक मूलभूत अवधारणा के रूप मे इन सभी के लिए किया जाता हैं।

मानदडो में परिवर्तन (Variations in Norms)

लोगो का रोजमर्रा का जीवन प्रदेशनो द्वारा मार्गदर्शित तथा निषेधनो द्वारा बाधित होता है। इनमे से अनेक लोकाचार तो व्यक्ति इतनी कम आयु म सीखते हैं कि उन्हे यह याद भी नहीं रहता कि उन्होने इन्हे कब सीखा है। उदाहरण के लिए हम उन लोगो को लें जो विभिन्न धर्मों के घरो मे पले हैं। रूढिवादी मुसलमानो का दिन नमाज से प्रारभ होता है तथा वे सायकाल मे भी नमाज पढते हैं। ईसाई चर्च जाते हैं, वहा वे कर्मकाण्डो मे भाग लेते हैं, स्तोत्र (Hymn) गाते हैं तथा धर्मोपदेश (Sermons) सुनते हैं। रूढिवादी जैन साधु अपने मुह पर पट्टी बाधते हैं। शवदाहग्रह मे उपस्थित हिन्दू सदस्य जब योगदान हेतु बर्तन घुमाया जाता है तो उसमे साकेतिक दान के रूप मे कुछ राशि डालते हैं। सिख लोग गुरुद्वारे में प्रार्थना करने के बाद बाहर निकलने से पूर्व प्रसाद अवश्य लेते हैं। ये सभी कार्य किसी धर्म के प्रति आस्था को परिलक्षित करते हैं। अन्यथा सभी धर्मों के लोगो को व्यवहार के आधार पर अलग करना कठिन है।

लोकाचार व लोकरीतिया न केवल सस्कृति तथा क्षेत्र से ही प्रभावित नहीं होतीं बल्कि वे व्यक्ति के सामाजिक वर्ग तथा सामाजिक सोपान मे उसकी स्थिति से भी प्रभावित होती हैं। सम्पन्न घरो के किशोर बैडमिंटन, हॉकी, टेनिस, बास्केटबॉल आदि खेल खेल सकते हैं जबकि गरीब घरो के किशोर कबड्डी, गिल्ली-डडा आदि खेल सकते हैं।

लिग व पीढिया भी लोकाचारो व लोकरीतियो को प्रभावित करते हैं। लोकरीतिया निर्देशित करती हैं कि पुरुषो व महिलाओ को कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे वस्त्र पहनना चाहिए तथा कौन से खेल खेलने चाहिए। लोग लिग सबधी नियमो का पालन करते हैं। इसी प्रकार पीढियो का अतर भी लोगो के वस्त्रो, बालो के रखरखाव तथा यहा तक कि बोलचाल की भाषा से स्पष्टत: प्रकट होता है।

मानदंड एव क्रियाविधि (Norms and Rites of Passage)

प्रत्येक समाज मे विकास के सोपान होते हैं तथा प्रत्येक सोपान के अनुरूप व्यवहार के नियम होते हैं जैसे बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था। प्रत्येक अवस्था के लिए व्यवहार के विशिष्ट तरीके होते हैं जो व्यक्ति की सस्कृति के मूल्यो व मानदंडो द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न अवसरो हेतु कुछ

क्रियाविधियां होती हैं, जैसे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि। इन सभी अवसरों के लिए विभिन्न नियम होते हैं जो व्यवहार को मार्गदर्शित करते हैं तथा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार के मानदड व्यक्त करते हं। प्रत्येक संस्कृति में कुछ स्वच्छदता की अनुमति होती है। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि विसामान्य व्यवहार को लाभदायक, सहनीय तथा हानिकारक की श्रेणियों मे वर्गीकृत किया जाता है। भारतीय समाज मे जातियों के मानदडों से विचलन को प्रथम प्रकार का विसामान्य व्यवहार माना जाता है। विश्वविद्यालय में हाथी पर बैठकर आना दूसरी श्रेणी का व्यवहार तथा शिक्षक पर हमला करना यह तीसरी श्रेणी का विसामान्य व्यवहार माना जाता है। कोई भी सामाजिक व्यवहार जिसे अनुचित समझा जाता ह, उसी को किन्हीं उप सांस्कृतिक समूह मे स्वीकार्य माना जा सकता है। कुछ लोग शार वाले संगीत पश्चिमी नृत्य, भडकीले रंग, मसालेदार भोजन, डिस्को मे जाना, महिलाओं व पुरुषों का साथ मे नृत्य करना आदि के पक्ष में हो सकते हैं किन्तु दूसरे लोग इसे असामान्य व्यवहार मान सकते ह।

मूल्य व आस्थाएं (Values and Beliefs)

आस्था कुछ परिस्थितियों का वर्णन ह जिन्हे आस्था रखने वाले लोग सत्य व वास्तविक मानते हैं। उदाहरण के लिए लोग यह मान सकते हैं कि पृथ्वी गोल है तथा वह सूर्य के चारों ओर घूमती हे। इन कथनो को करने वाले व्यक्तियो द्वारा इन्हे वास्तविक तथा सत्य माना जाता है। किन्तु आस्थाए सत्य ही हो यह आवश्यक नहीं है। जिन परिस्थितियों का वे उल्लेख करते हैं वे विद्यमान हो भी सकती हैं अथवा नहीं भी। किन्तु दोनो ही स्थितियो में वह आस्था होगी यदि उसे मानने वाले यह सोचते हैं कि वह परिस्थिति वास्तविक ही है।

आस्था के विपरीत मूल्य ऐसी कोई वस्तु का वर्णन नहीं करते जिनके अस्तित्व के बारे में सोचा जाता है किन्तु वास्तव मे क्या होना चाहिए, इस सबध में एक विश्वास होते हैं। उदाहरण के लिए इस प्रकार के कथन जैसे "लोगों को श्रम का सम्मान करना चाहिए" अथवा "लोगो को सभी धर्मो का आदर करना चाहिए" ये यह नहीं बताते कि लोग क्या करते हैं किन्तु वे यह बताते हैं कि कुछ लोगो के विचार से उन्हे क्या करना चाहिए। ये मूल्य हैं। संक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि आस्थाएं सभाव्यत: परिस्थिति क्या है इस संबध मे विचार हे, मूल्य क्या वांछनीय है अथवा अवांछनीय, क्या औचित्यपूर्ण है अथवा क्या अनौचित्यपूर्ण हे, क्या सही है अथवा क्या गलत हे इस सबंध का विश्वास है। नीचे आस्थाओं व मूल्यों के कुछ उदाहरण दिए गए हैं जिन्हें अनेक भारतीय मानते हैं

आस्थाए	मूल्य
✧ कुछ विद्यार्थी परीक्षा मे नकल करते है।	परीक्षा मे नकल करना ठीक नहीं है।
✧ अनेक विद्यार्थी स्वय पर निर्भर रहते है।	आत्मनिर्भरता अच्छी होती ह।
✧ अमीर लोग अपना आपा शीघ्र खोते हैं।	लोगों को अपने क्रोध पर काबू करना चाहिए।
✧ वृद्ध माता-पिता प्राय: उपेक्षित होते हैं।	माता-पिता का सम्मान करना चाहिए।

समाज मे मूल्य किस प्रकार संचालित होते है? (How do Values Operate in Society)

गोल्डनर और गोल्डनर (1963 110-112) ने मूल्यो के सचालन की चार विधिया बताई हैं:–

(i) मूल्यों की सहमति (Agreeability of Values)

मूल्य उन पर हुई सहमति के आधार पर भिन्न होते हैं। कुछ मूल्यो पर लोगो की बहुत अधिक सहमति होती है तथा कुछ पर कम। किन्तु सभी महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक मूल्यो पर लोगो की सहमति होती है। इन सहमति प्राप्त मूल्यो के आधार पर ही समूह मे रहना सभव होता है। बिना सहमति मूल्यो के लोगो का व्यवहार अकल्पनीय हो जाएगा तथा लोग समान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु साथ-साथ कार्य नहीं कर पाएगे।

(ii) मूल्यो पर समझौता (Sharing of Values)

मूल्यो पर कितने लोग सहमत होते हैं यह महत्वपूर्ण होता है। किसी मूल्य को 90 प्रतिशत लोग मानते हैं अथवा 50 प्रतिशत। पहली स्थिति मे समूह के लोगो मे मूल्य के प्रति आम सहमति है किन्तु दूसरी स्थिति मे आधा समूह दूसरे आधे समूह के विरोध मे है। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि भारत मे लोग प्रजातत्र का सम्मान करते हैं। ऐसे कथन करने से बचना चाहिए क्योकि यह बताता है कि सभी भारतीय प्रजातत्र विश्वास करते है। किन्तु यह सही नहीं है। कुछ लोग मानते है कि प्रजातत्र के कारण भ्रष्टाचार फैला है, राजनैतिक दल निहित स्वार्थ के आधार पर काम करते हैं, तथा देश आर्थिक दृष्टि से पिछडा रहा गया है आदि। किन्तु अधिकाश लोग यह मानते हैं कि प्रजातत्र ही एक ऐसा राजनैतिक तत्र है जो भारत के लिए उपयुक्त है। यह इस बात को दर्शाता है कि लोग किस हद तक किसी मूल्य को मानते है।

(iii) समूह के मूल्यों का ज्ञान (Knowledge of a Group Value)

चूंकि किसी समूह में अनेक प्रकार के मूल्य होते हैं अतः उसके सदस्यों को उनके विषय में भिन्न-भिन्न सीमा तक ज्ञान हो सकता है। कुछ मूल्यों का ज्ञान अन्यों की अपेक्षा अधिक हो सकता है। समूह के मूल्यों का ज्ञान किसे है, इसका निर्धारण कौन करेगा? गोल्डनर व गोल्डनर ने कहा है कि समूह के मूल्यों का ज्ञान समूह के सदस्यों के बीच अनियमित रूप से वितरित नहीं होता बल्कि वह कि पटर्न के रूप में वितरित होता है तथा वह समूह किस प्रकार संगठित है तथा व्यक्ति का समूह में क्या स्थान है इस बात से भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए धार्मिक समूह, राजनैतिक समूह, शैक्षिक समूह, कार्य समूह आदि में जो महत्वपूर्ण मूल्य हैं अथवा जो मूल्य उस समूह के संचालन के लिए प्रासंगिक है, उनका ज्ञान समूह के सभी सदस्यों को होता है। यह बात अलग है कि कुछ शैक्षिक मूल्यों का ज्ञान राजनैतिक समूह के सदस्यों को न हो अथवा राजनैतिक मूल्यों का ज्ञान धार्मिक समूह के सदस्यों को न हो। समूह के मूल्यों के ज्ञान का प्रसार समूह के नेतृत्व पर निर्भर करता है।

(iv) समूह के मूल्यों का प्रवर्तन (Enforcement of a Group Value)

समूह के सदस्य मूल्यों का प्रवर्तन किस सीमा तक करते हैं इसमें भिन्नता होती है। मूल्य का पालन न करने पर कभी-कभी समूह की प्रतिक्रिया बहुत उग्र हो सकती है तो कभी-कभी यह प्रतिक्रिया सहनशील हो सकती है तथा मूल्यों के उल्लंघनकर्त्ता को केवल चेतावनी देकर भी छोड़ा जा सकता है। दुर्खीम ने कहा है कि मूल्यों का पालन न होने पर समूह की प्रतिक्रिया की तीव्रता इस बात पर निर्भर करेगी कि वह समूह जिस मूल्य का उलंघन हुआ है उसको कितना महत्व देता है। यह अन्तर ग्राहम समनर (Graham Sumner) ने भी लोकाचार व लोकरीति में अंतर को स्पष्ट कर समझाया है।

समूह के मूल्यों का अनुपालन (Conformity with Group Values)

लोगों के मूल्यों तथा उनके कर्मों में हमेशा सामंजस्य नहीं होता अर्थात वे हमेशा ही अपने समूह के मूल्यों का अनुपालन नहीं करते। उदाहरण के लिए यौन वफादारी संबंधी मूल्य। इसके बावजूद कि सभी समाजों के सभी लोग इस मूल्य को महत्वपूर्ण मानते हैं फिर भी यह तथ्य सभी जानते हैं कि अनेक लोग इस मूल्य का अनुपालन नहीं करते। यह संभव है कि लोग इसका अनुपालन इसलिए नहीं करते कि इस मूल्य में उनका विश्वास नहीं है। किन्तु फिर भी मूल्य महत्वपूर्ण होते हैं, उस स्थिति में भी जब लोग वास्तव में अपने कर्मों में उनका अनुपालन नहीं करते। यदि लोग ऐसे कार्य नहीं करते जो उनके मूल्यों के अनुसार आवश्यक है, फिर भी उनके व्यवहार के अन्य पहलू उनके द्वारा माने जाने वाले मूल्यों से प्रभावित होते ही हैं।

अनुपालन एव विसामान्यता (Conformity and Deviance)

वे लोग जो मानदण्डो व मूल्यो के अनुसार व्यवहार करते हैं उन्हे अनुपालक तथा जो इनका उल्लघन करते हैं उन्हे क्रमश अननुपालक (Non Conformists) तथा क्रमश विसामान्य (Deviants) कहते हैं क्योंकि वे समाज के लोकाचारो का विरोध करते हैं व उन्हे अमान्य करते हैं। एक विश्वविद्यालय ने अपने शिक्षको के लिए एक आचार सहिता पारित की जिसमे यह निर्धारित किया गया कि कोई भी शिक्षक अपने घर पर ट्यूशन नहीं करेगा अथवा कोचिग सस्थाओ मे अश कालिक नौकरी भी नहीं करेगा पूर्व मे अवकाश स्वीकृति के बिना कोई भी शिक्षक अनुपस्थित नहीं रहेगा विश्वविद्यालय के क्वार्टर्स मे कोई भी शिक्षक अनाधिकृत रूप से नहीं रहेगा आदि। यह मानदड कि कोई भी शिक्षक न्यायालय अथवा मीडिया के सामने नहीं जाएगा शिक्षको ने अस्वीकार कर दिया। कुछ ऐसे निश्चित मूल्य होते हैं जिन्हे लोग मानेगे ऐसी अपेक्षा की जाती है। इसलिए विसामान्यता (Deviance) एक सापेक्ष सिद्धान्त है। किसी स्थान अथवा किसी समय पर जो विसामान्य है हो सकता है यह अन्य स्थान व अन्य समय पर स्वीकार्य व्यवहार हो। नशीली दवाओ का सेवन नग्न रहना समलैंगिकता आदि कुछ ऐसे मूल्य हैं जो उन मूल्यो के प्रत्यक्ष विरोध मे आते हैं जिन्हे वृहद् स्वीकृति प्राप्त है। जो लोग इन लोकाचारो को अमान्य करते हैं उन्हे विसामान्य अथवा अननुपालक कहते हैं। दूसरी ओर गबन डाका डालना धोखा देना नशीली दवाओ का व्यापार भी विसामान्य व्यवहार है। इसलिए विसामान्य की व्याख्या बहुत विस्तृत है। इसे अक्सर दुर्भावना के साथ प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रियो की व्याख्या के अनुसार वह व्यवहार जो आवश्यक सामाजिक मानदड अथवा मानदडो का उल्लघन करता है विसामान्य कहलाता है।

यद्यपि विसामान्यता की यथार्थपरक व्याख्या सरल है किन्तु वास्तविक जीवन मे विसामान्य कार्य अस्पष्ट होते हैं। एक स्थिति मे से विसामान्य प्रतीत होते हैं किन्तु सभी स्थितियो मे वे वैसे ही प्रतीत हो यह आवश्यक नहीं है।

विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न सिद्धान्तो के माध्यम से विसामान्यता की व्याख्या की है। उदाहरण के लिए सदरलैण्ड (1939) ने विभेदीय सबद्धता सिद्धान्त (Differential Association Theory) प्रतिपादित किया जिसके अनुसार उन लोगो से बार बार अत क्रिया करने पर जो कानून के उल्लघन की व्याख्या स्वीकारात्मक रूप से करते हैं विसामान्यता उत्पन्न होती है। रावर्ट (1968) ने विसामान्यता को मानकशून्यता सिद्धान्त (Anomie Theory) के रूप मे समझाया है। उनके अनुसार विसामान्यता उन अतरालो के कारण पैदा होती है जो समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यो एव उन्हे प्राप्त करने के वैध साधनो के बीच पाए जाते हैं। इन अतरालो के कारण मानदड विहीनता (Normlessness) अथवा मर्यादाविहीनता (Anomie) भी पैदा होती है।

यदि कोई व्यक्ति विसामान्य व्यवहार करते हुए पाया जाता है तो उसे इसके लिए सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है तथा उस पर विसामान्य का ठप्पा लगा दिया जाता है।

सामाजिक संस्था (Social Institution)

संस्था की धारणा (The Concept of Institution)

संस्था शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हरबर्ट स्पेंसर ने किया। संस्था की समाजशास्त्रीय धारणा सामान्य रूप में उपयोग में आने वाली धारणा से भिन्न है। संस्था सामाजिक भूमिकाओं एवं मानदंडों का एक एकीकृत तंत्र है जिसे किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संगठित किया जाता है। रॉस (Ross) के अनुसार सामाजिक संस्थाएं सामान्य इच्छा द्वारा स्वीकृत और स्थापित मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था है। सामाजिक संस्था एक सुस्थापित कार्यविधि है जो मानव व्यवहार का नियमन करती है। संस्था में निहित भूमिकाएं व मानदंड उस अपेक्षित व्यवहार की व्याख्या करते हैं जो विशिष्ट सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु आवश्यक होते हैं। उदाहरण के लिए परिवार की संस्था पति, पत्नी, बच्चों, माता-पिता तथा परिवार से संबंधित अन्य व्यक्तियों की भूमिकाओं के लिए मानदंड प्रदान करती है जिन पर विशिष्ट सामाजिक तंत्र आधारित है। इस प्रकार संस्था एक भवन नहीं है, यह लोगों का एक समूह नहीं, यह एक संगठन भी नहीं है। जनरीतियां व रूढ़ियाँ जब समाज द्वारा व्यवहार में स्वीकृत होकर स्थायित्व प्राप्त करने लगती हैं तो वे संस्था बन जाती हैं। हॉर्टन तथा हण्ट ने संस्था को "लोकरीतियों व लोकाचारों का एक संगठित समूह जो किसी प्रमुख मानवीय क्रिया के आस-पास केन्द्रित होता है" के रूप में परिभाषित किया है। समनर ने संस्थाओं को संस्कृति का वाहक बताया है। संस्थाएं संरचित प्रक्रियाएं हैं जिनके माध्यम में लोग अपनी क्रियाएं चालू रखते हैं। संस्थाओं के सदस्य नहीं होते, उनके अनुयायी होते हैं। हम एक उदाहरण ले सकते हैं। धर्म संस्था लोगों का एक समूह नहीं है। यह पवित्र उद्देश्य से संबंधित विचारों, आस्थाओं तथा प्रथाओं का एक तंत्र है। सिख लोगों का एक संगठन है जो सिख धर्म की आस्थाओं को स्वीकार करते हैं तथा उसकी रीतियों का पालन करते हैं। इस प्रकार सिख एक धर्म है, हिन्दू एक धर्म है, इस्लाम एक धर्म है। धर्म आस्थाओं व रीतियों का एक तंत्र होता है। कोई भी धर्म नष्ट हो जाता है यदि उसमें विश्वास करने वाले अनुयायी ही न हों।

परिभाषित संस्थाएं हैं— जाति, शैक्षिक संस्थाएं, राजनीतिक संस्थाएं, आर्थिक संस्थाएं, धार्मिक संस्थाएं, शासन प्रणाली आदि। अनुष्ठान (Rituals) और लोककथा (Folk Tale) जैसी द्वितीयक संस्थाएं समाज में मनुष्य के मूल व्यक्तित्व संबंधी संघर्ष का समाधान और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

सस्था और समाज में अन्तर

(Difference between Institution and Society)

सस्था और समाज म निम्नलिखित अन्तर है—

(i) सस्था सामाजिक आचरण या व्यवहार की सामाजिक दशा है समाज मानवीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

(ii) सस्थाए कार्यविधि के प्रकार ह समाज के द्वारा इन्हे मान्यता प्रदान की जाती है।

(iii) सस्था नियमो रीतियो व प्रथाओ का सगठन है समाज सामाजिक सम्बन्धो की व्यवस्था है।

सस्थाओं के घटक

गोल्डनर व गोल्डनर (पृष्ठ 484 485) ने सस्थाओ के निम्नलिखित घटको का वर्णन किया है:—

1 सस्थाओ मे स्थायित्व का गुण होता है। सभी सदस्यो द्वारा व्यवहार के लगभग समान तरीके अपनाए जाते हैं।

2 सस्थाए निर्धारित होती हैं अथात व्यवहार की रीतिया निधारित होती हैं तथा वे मानव निर्मित होती हैं। उदाहरण क लिए विवाह प्रक्रिया जोडीदार चुनने की प्रक्रिया बैंकिग पक्रिया जेलो मे प्रयुक्त प्रक्रिया आदि।

3 सस्थाओ मे व्यवहार के तत्र आलिप्त रहते हैं अर्थात वे विशिष्ट पहचान वाले विभिन्न व्यक्तियो की समय-समय पर क्रियाए अथवा भूमिकाए निर्धारित करती हैं— जैसे अस्पताल में डॉक्टर नर्से मरीजो आदि की क्रियाए।

4 सस्थाओ मे कुछ अश तक अतर किया जाता है अर्थात प्रत्येक सस्था जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्र मे व्यवहार प्रदान करती है। उदाहरण के लिए इसके सदस्यो की क्रियाए व सबध एक परिवार मे बैंक कॉलेज जेल आदि मे भिन्न होंगे।

5 सस्थाए पुनरावर्तक समस्या के समाधान म मदद करती हैं अर्थात सस्थाओ मे आने वाली समस्याए अस्थाई नहीं होतीं, वे बार बार आती रहती हैं जैसे किसी परिवार मे बच्चो का समाजीकरण, किसी बैंक मे आर्थिक व्यवहार, किसी जेल मे कैदियो का व्यवहार किसी अस्पताल मे मरीजो का इलाज आदि

सस्थाओं का विकास (The Development of Institutions)

सस्थाए मुख्यत सामाजिक जीवन के कारण अनियोजित रूप से पकट होती हैं। लोग हमेशा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यावहारिक तरीको की खोज मे होते हैं। पुनरावृत्ति के माध्यम से वे मानदडीकृत पैटर्न तक पहुँच जाते हैं। जैसे जैसे समय बीतता है ये पैटर्न सहायक लोकरीतियो के निकाय का रूप ले लेते हैं जो उन्हे आधार

प्रदान करते हैं तथा स्वीकार करते हैं। एक विवाह प्रथा का विकास स्वच्छद सभोग की प्रवृत्ति से हुआ। धन का संचय, उधार देना व लेना, तथा उसके स्थानातरण के तरीके की आवश्यकता की पूर्ति हेतु बैंकिग सस्थाएँ विकसित हुई। जैसे-जैसे इनका विकास होता है तथा उनमे परिवर्तन होते हैं, लोग इन रीतियो को कानूनी स्वीकृति दे देते है।

निश्चित मानदडो की स्थापना जो व्यवहार के लिए सामाजिक प्रस्थिति, भूमिका तथा प्रकार्य नियत करते है सस्थाकरण के अतर्गत ही आते है। स्वस्फूर्त व प्रयोगात्मक व्यवहार का नियमित, पूर्वानुभेद व पटर्न वाले व्यवहार मे बदलना भी सस्थाकरण में विहित है।

संस्थाओं के मूलभूत तत्व

आचार संहिता (Codes of Behaviour)

रॉबर्ट हैनसन ने लिखा है कि प्रत्येक सस्था की पृष्ठभूमि मे तीन तत्व – व्यवस्थित समूह, जटिल व्यवहार प्रतिमान और भौतिक सस्कृति के सकुल जुडे होते हैं।

संस्थागत व्यवहार में लोग अपनी भूमिकाओ को औपचारिक संहिता के रूप में व्यक्त करते ह जैसे निष्ठा की शपथ (पुलिस या सेना में, विवाह में, चिकित्सकीय पेशे मे आदि)। एक औपचारिक आचार संहिता चाहे वह कितनी भी प्रभावशाली हो, उपयुक्त भूमिका निर्वहन की गारंटी नहीं हो सकती। विवाह मे ली गई प्रतिज्ञा के बावजूद अनेक पति व पत्नी बेवफा हो सकते हैं, डॉक्टर भी पैथोलॉजी टेस्ट के लिए कमीशन लेकर भ्रष्ट हो सकते हैं आदि।

संस्थाओं के कार्य (Functions of Institutions)

संस्थाए प्रकट या प्रत्यक्ष (Manifest) व अव्यक्त या अप्रत्यक्ष (Latent) दोनों प्रकार के कार्य करती हैं। प्रकट कार्य वे हैं जिन्हे करने हेतु लोग सस्थाओ से अपेक्षा करते हैं, जैसे परिवार द्वारा बच्चे का पालन, समाजीकरण, आर्थिक सहायता, सुरक्षा प्रदान करना आदि। आर्थिक सस्थाएं वस्तुओं का उत्पादन व वितरण करती हैं। शालाएं बच्चों को शिक्षित करती हें। प्रकट कार्य स्पष्ट होते हैं, उन्हे स्वीकार किया जाता है तथा सामान्यतः उनका अनुमोदन किया जाता है। दूसरी ओर अप्रकट कार्य सस्थाओ के अनपेक्षित तथा अप्रत्याशित परिणामों के कारण होते हें। उदाहरण के लिए आर्थिक संस्था द्वारा तकनीकी परिवर्तनो को बढावा देना संस्था का अप्रकट कार्य है। किसी संस्था के अप्रकट कार्य, प्रकट कार्यों की सहायता कर सकते हैं, वे प्रकट कार्यों के लिए अप्रासंगिक हो सकते हैं अथवा वे प्रकट कार्यों को दुर्बल बना सकते हे। संस्था के प्रकार्य (Functions) हैं—प्रस्थिति तथा भूमिका प्रदान करना, सामाजिक नियंत्रण स्थापित करना और मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करना। आधुनिक जटिल समाजो में एक संस्था द्वारा किए गए कार्य दूसरी संस्थाए भी करती हे।

सस्थाए यद्यपि मानव आवश्यकताओ को पूरा करती हैं परन्तु कुछ सस्थाए व्यक्ति को कुछ कार्य करने से रोकती है। ऐसी स्थिति म कुछ व्यक्ति सामाजिक नियमो की अवहेलना करते हैं। दुर्खीम और मर्टन ने इस स्थिति को सामाजिक नियमहीनता (Social Anomie) कहा है।

सस्थाओ के परस्पर सबध (Interrelationship of Institutions)

गोल्डनर व गोल्डनर (1963 475 496) के अनुसार प्रत्येक सस्था दूसरी सस्थाओ से निम्नानुसार सबद्ध होती हैं

1. **सस्थागत एक दूसरे पर निर्भरता**— सस्थाए अक्सर एक दूसरे से सबधित रहती हैं जैसे परिवार जाति शिक्षा सस्थाए तथा धर्म।
2. **एक-दूसरे पर साकेतिक निर्भरता**— इसका तात्पर्य है कि दो या अधिक सस्थाए आपस मे एक दूसरे की मददगार होती हैं जैसे परिवार प्रोपर्टी तथा धार्मिक सस्थाए।
3. **सस्थागत प्रभुत्व**— कुछ समाजो मे एक सस्था सपूर्ण सामाजिक तत्र पर प्रभुत्व रखती है। इस सस्था के मूल्य व मानदड दूसरी सस्थाओं की सक्रिया मे प्रवेश कर जाते हैं तथा ये सस्थाए प्रभुत्व वाली सस्था की सेवा के रूप मे ही कार्य करती ह।
4. **सस्थागत विभेदीकरण तथा प्रतिस्पर्धा**— एक सस्था के हित दूसरी सस्था के हितो के हमेशा ही अनुकूल नहीं रहते। इसका परिणाम प्रतिस्पर्धा मे होता है। इस प्रकार किसी विशिष्ट सस्था के कार्य किसी भिन्न सस्था के सदस्यो द्वारा हमेशा ही स्वीकार नहीं किए जाते।
5. **सस्थागत स्वायत्तता**— सस्थागत स्वायत्तता का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि कोई भी सस्था दूसरी किसी सस्था द्वारा उस पर किए गए अतिक्रमण का विरोध करती है।

सामाजिक सस्थाए · परिप्रेक्ष्य (Social Institutions : Perspectives)

सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन करने से समाजशास्त्रियो को समाज की सरचना की अतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। सामाजिक सस्थाए आस्थाओं व व्यवहार की सगठित पैटर्न होती हैं जो मूलभूत सामाजिक आवश्यकताओ पर केन्द्रित होती हैं।

प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (Functionalist View)

सामाजिक सस्थाओ को समझने का एक तरीका यह है कि वे आवश्यक कार्य जैसे कर्मचारियो को बदलना, नये भर्ती किए गए लोगों को प्रशिक्षण देना तथा व्यवस्था बनाए रखना आदि को किस प्रकार सम्पन्न करती हैं। प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा सामाजिक सरचना के प्रकार का ब्यौरा नहीं देती जो प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक होती है।

संघर्षात्मक दृष्टिकोण (Conflict View)

संघर्षात्मक तथा प्रकार्यात्मक दोनों परिप्रेक्ष्य के विचारक इस बात पर सहमत हैं कि सामाजिक संस्थाएं मूलभूत सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संगठित की जाती हैं। संघर्ष सिद्धान्तवादियों को प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण मे अंतर्निहित इस निहितार्थ से आपत्ति है कि परिणाम आवश्यक रूप से कुशल व वांछित होते हैं। संघर्ष सिद्धान्तवादी इस बात पर सहमत हैं कि सामाजिक संस्थाएं सत्ताधारी लोगों के विशेषाधिकारो को बनाए रखने में सहायता करती हैं तथा अन्य लोगों को ज्ञानहीन रखने मे योगदान करती हैं।

अंत:क्रियावादी दृष्टिकोण (Interactnist View)

अंत:क्रियावादी सिद्धान्तवादी इस बात पर जोर देते हैं कि हमारा सामाजिक व्यवहार हमारे द्वारा स्वीकार की गई भूमिकाओं व परिस्थितियों द्वारा जिस समूह मे हम शामिल होते हैं उसके द्वारा तथा उन संस्थाओं द्वारा अनुकूलित होता है, जिनके अधीन हम कार्य करते हैं। अंत:क्रियावादी परिप्रेक्ष्य से यदि हम देखे तो हम पाएंगे कि भूमिकाएं संस्थितिया, समूह व संस्थाएं समग्र संरचना द्वारा प्रभावित होती हैं।

समिति (Association)

धारणा (Concept)

समिति लोगो का एक ऐसा समूह है जो किसी विशिष्ट कार्य में लगा रहता है। यह एक औपचारिक समूह होता है जो किसी विशिष्ट उद्देश्य से संगठित किया जाता है। यह समूह अपने संगठन के नियम व प्रक्रियाओं को नेतृत्व के एक औपचारिक तंत्र को, तथा अपने सदस्यों के समान हितों को प्रस्थापित करता है। मेकाइवर तथा पेज के अनुसार समिति सामान्य प्रकार से उद्देश्यों या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक संगठित समूह है। समिति मे सदस्यों की सीमित लीनता के कारण उनके बीच निर्वैयक्तिक तथा गौण संबंध ही रहते हैं। समितियो के उदाहरण हैं परिवार श्रमिक संघ, विद्यार्थी संघ, राजनैतिक दल, खेलकूद के क्लब, व्यापारिक संघ, समाजशास्त्रीय संघ आदि। समिति के निर्माण हेतु आवश्यक है— व्यक्तियों का समूह, व्यक्तियो के द्वारा आचार संहिता का पालन ओर संगठित अथवा असंगठित व्यक्ति।

यद्यपि समितियाँ स्वैच्छिक होती हैं फिर भी कुछ समितियां ऐसी भी हैं जो स्वैच्छिक नहीं हैं। ये औपचारिक रूप से संगठित विशिष्ट प्रकार के समूह होते हैं जिनकी सदस्यता जन्म तथा बाध्यता पर निर्भर करती है न कि इच्छा पर।

समिति के लक्षण (Characteristics of Association)

ब्रूम एवं सैल्जनिक (Broom and Selznick, p 203) के अनुसार एक समिति के महत्वपूर्ण लक्षण निम्नानुसार हैं:—

4 संस्था आचरण व व्यवहार की सामाजिक अवस्था है, समिति मानवीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है।

5 संस्था में नियम पालन करना अनिवार्य है, समिति मे नियमो का पालन ऐच्छिक होता है।

6 संस्था की सदस्यता ग्रहण नहीं की जाती, समिति का निर्माण व्यक्तियो की सदस्यता से होता है।

मैकाइवर के अनुसार यदि हम किसी संगठित समूह का विचार करते हैं तो वह एक समिति है और यदि कार्य प्रणाली के रूप का विचार करते हैं तो वह एक संस्था है। समिति से सदस्यता और संस्था से सेवा का बोध होता है।

समुदाय (Community)

समुदाय (Community) शब्द लेटिन भाषा के दो शब्दो 'Com' तथा 'munis' से मिलकर बना है। 'Com' का अर्थ है एक साथ (Together) और 'munis' का अर्थ सेवा करना (Serving)। इस प्रकार Community का अर्थ है— एक साथ सेवा करना अथवा एक साथ सेवा के अधिकारों और कर्तव्यों को निभाना। दूसरे शब्दो मे एक निश्चित स्थान में सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो समूह संगठित होता है, उसे समुदाय कहते हैं। किंग्सले डेविड का मत है कि समुदाय वह लघुत्तम क्षेत्रीय समूह है, जो सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को आत्मसात कर सकता है। समुदाय को परिभाषित करने के लिए मैकाइवर द्वारा हम भावना और सामान्य क्षेत्र दो विशेषताओं का प्रयोग किया है। समुदाय बनता है उन लोगों से, जो एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं, जो एक दूसरे के साथ अन्योन्य क्रिया करते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि वे अपने कुछ सामान्य संलक्षणो या मूल्यों मे एक दूसरे के सहभागी हैं। समाजशास्त्री प्रायः इसे विशिष्ट अर्थ प्रदान करते हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के समाजशास्त्रियो ने समुदाय का विश्लेषण करने हेतु एक सैद्धांतिक रूपरेखा विकसित की थी। जर्मन समाजशास्त्रियों में से एफ टॉनीज (F Tonnies, 1855-1936) ने सन 1887 मे सामाजिक संगठन की एक धारणा विकसित की थी जिसे जर्मन भाषा मे गैमिनशाफ्ट (Gemeinschaft) तथा गैसेलशाफ्ट (Gesselschaft) के नामो से जाना गया। जर्मनी के गैमिनशाफ्ट शब्द का अर्थ मोटे तौर पर समुदाय होता है। जैसा कि टानीज ने परिभाषित किया है उसमें प्रारंभिक समूहों के अनेक लक्षण विद्यमान हैं। गैमिनशाफ्ट के संबंधों के अनुसार लोग भावनाओं के कारण संगठित होते हैं, उनके समान पारंपरिक लक्ष्य, समान आस्थाएं, समान मूल्य व मानदड होते हैं तथा इन सबके कारण उनमें एक समान शक्तिशाली बंधन की भावना विकसित होती है। उनकी अंतःक्रियाओ मे समूह का

महत्व परिलक्षित होता है। ये समूह के प्रत्येक सदस्य के कल्याण की चिंता को स्व खुशी से स्वीकार करते है।

गैमिनशाफ्ट समुदाय ग्रामीण जीवन का प्रतीक होता है। यह एक छोटा समुदाय होता है जहा लोगो की पृष्ठभूमि तथा अनुभव समान होते हैं। वास्तव मे सभी लोग एक दूसरे को जानते हैं तथा सामाजिक अत क्रिया घनिष्ठ व परिचित होती है। सामाजिक समूह के प्रति प्रतिबद्धता होती है। मोटे तौर पर लक्षण हैं—

(a) लोगो के व्यक्तिश आपसी सम्बन्ध तथा मुख्यत धर्मपरक (b) मित्रता एव बधुत्व के कारण व्यक्तिया मे घनिष्ठता (c) परम्परा सर्वसम्मति तथा सूचना पर बल। इस प्रकार के समाज ग्रामीण कृषि समाजो से मिलते जुलते थे। गैसेलशाफ्ट वे समाज थे जिनमे गौण तथा विशिष्ट प्रकार के सम्बन्धो को प्राथमिकता दी जाती थी। इनमे सगठन कमजोर थे तथा उपयोगिता के लक्ष्यो पर अधिक बल दिया जाता था।

गैसेलशाफ्ट समुदाय मे सामाजिक नियत्रण अनौपचारिक माध्यम तथा नैतिक प्रतिपादन द्वारा रखा जाता है। गैसेलशाफ्ट आधुनिक शहरी जीवन की विशेषताओ के साथ एक आदर्श प्रकार का समुदाय होता है। अधिकाश लोगो मे अन्य रहवासियो के साथ सामुदायिक भावना का अभाव रहता है। सामाजिक सबध सामुदायिक भूमिकाओ द्वारा नियत्रित होते है। स्वार्थ प्रबल होता है। सामाजिक नियत्रण कानून जैसी औपचारिक तकनीको पर अधिक निर्भर रहता है। गैसेलशाफ्ट म सामाजिक परिवर्तन जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू होता है।

गैमिनशाफ्ट तथा गैसेलशाफ्ट मे तुलना

गैमिनशाफ्ट	**गैसेलशाफ्ट**
ग्रामीण जीवन का प्रतीक	शहरी जीवन का प्रतीक
प्रदत्त सस्थिति पर बल	अर्जित सस्थिति पर बल
सामाजिक सस्थाए घनिष्ठ व परिचित	सामाजिक सस्थाए विशिष्ट कार्यों हेतु बनाए जाने की अधिक सम्भावना
अनौपचारिक सामाजिक नियत्रण प्रबल	औपचारिक सामाजिक नियत्रण का स्पष्ट रूप
सामाजिक परिवर्तन तुलनात्मक दृष्टि से कम लोगो मे सामुदायिकता की भावना	सामाजिक परिवर्तन का स्पष्ट रूप एक पीढी के अन्दर ही सामुदायिक भावना कम

एक समुदाय स्थान, लोगो तथा समान अस्तित्व की भावना पर निर्भर करता

है। समुदाय आकार के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। द्वितीयक समूहों पर निर्भरता के कारण समुदाय के आकार मे विस्तार होता है। स्पष्टत: कुछ समुदाय अन्यो की अपेक्षा अधिक घनिष्टता से जुडे होते है। जैसे–गाँव, नगर, जनजाति समुदाय।

समुदाय एक सर्वसमाहित समूह होता है जिसके दो लक्षण होते हैं– (अ) इसके अदर व्यक्ति अपने अधिकाश अनुभव प्राप्त कर सकता है तथा उसके लिए महत्वपूर्ण सभी गतिविधिया समुदाय मे ही सम्पन्न करता है। (ब) यह आपस मे समान निवासी की भावना तथा इस भावना से जुडे रहते हैं कि समूह उनके लिए उनकी पहचान को परिभाषित करता है। सिद्धान्तत: समुदाय का सदस्य अपना सपूर्ण जीवन समुदाय में ही व्यतीत करता है, वह समुदाय के दूसरे सदस्यो के साथ बन्धुत्व की भावना रखता है तथा वह समुदाय के चिन्ह को भी उसी प्रकार स्वीकार करता है जसे वह अपने नाम व परिवार की सदस्यता को स्वीकार करता है। सामान्य जीवन, हम की भावना और स्वत: विकास समुदाय की विशेषताएँ हैं।

समिति और समुदाय दोनो ही मनुष्यों का समूह हैं किन्तु समिति आशिक है जबकि समुदाय पूर्ण। समिति की सदस्यता स्वच्छिक, समुदाय की सदस्यता अनिवार्य हैं। समुदाय के अन्तर्गत समिति एक समूह है। समिति और समुदाय मे सापेक्षिक आत्मनिर्भरता है। समिति और समुदाय दोनो मूर्तिमान (Concrete) हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समुदाय के लक्षणो को तीन परिप्रेक्ष्यों में जाँचा जा सकता है—भौगोलिक, सांस्कृतिक व संरचनात्मक।

भौगोलिक आयाम (The Geographical Dimension)

जब लोग घर के बारे मे सोचते हैं तब वे किसी विशिष्ट स्थान के बारे में विचार करते हैं। उस स्थान का एक नाम होता है तथा यह एक विशेष भावना को जाग्रत करता है। जैसे मेरा शहर, मेरा गाव, मेरा मुहल्ला। भौगोलिक आयाम की दृष्टि से समुदाय एक गाव से लेकर बडे शहर तक का हो सकता है। यायावर लोगों का भी एक स्थायी गाव होता है जहा वे वर्ष का कुछ समय नियमित रूप से व्यतीत करते हैं। समुदाय को किसी स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर बसने हेतु बाध्य किया जा सकता है। कभी-कभी एक समुदाय दूसरे समुदाय मे विलीन हो जाता है। भौगोलिक क्षेत्र तथा उस स्थान सबधी भावनात्मक लगाव साथ रहने को सीमांकित करते हैं तथा एकात्मकता की भावना की बुनियाद रखते हैं।

सांस्कृतिक आयाम (The Cultural Dimension)

एक आदर्श समुदाय के लोगों की समान संस्कृति होती है अर्थात समान आस्थाएं, समान मूल्य व समान मानदंड। एक आदर्श समुदाय का सांस्कृतिक आयाम पवित्रता के अधिक सदृश्य होता है न कि लौकिकता के। समुदाय अपने अस्तित्व के लिए

सांस्कृतिक समरसता तथा इस भावना पर निर्भर करता है कि इस संस्कृति में सही मूल्य व मानदंड समाहित हैं। किसी छोटे गांव अथवा कस्बे के लोग इन मानदंडों का आसानी से पालन करवा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को सभी पहचानते हैं तथा वह आलोचना का पात्र हो सकता है। दूसरी ओर शहर लौकिक मूल्यों के प्रतीक होते हैं।

संरचनात्मक आयाम (The Structural Dimension)

प्रत्येक समुदाय का एक बाहरी संरचनात्मक चरित्र होता है। समुदाय के सभी सदस्य समुदाय के अंदर की लगभग सभी सामाजिक संस्थाओं में सहभागी होते हैं। समुदाय के सदस्यों में यह अपेक्षा की जाती है कि वे जानें कि उन्हें कैसा व्यवहार करना है तथा वे किस प्रकार दूसरों को परेशान किए बिना संपूर्ण तंत्र के लोकाचारों तथा लोकरीतियों से हटकर व्यवहार कर सकते हैं। छोटे नगरों के विरुद्ध बड़े शहरों में लोगों को अज्ञात बने रहने के अधिक अवसर मिलते हैं तथा उन्हें विशेषज्ञता की अधिक आवश्यकता होती है। शहरों में समुदाय की भावना का स्थान प्रायः विमुखता की भावना द्वारा ले लिया जाता है।

जॉर्ज मरडॉक ने कहा है कि मानव के सामाजिक संगठनों की वास्तव में दो ही सार्वभौम इकाइयां होती हैं—परिवार व समुदाय।

वास्तविक तथा प्रतीकात्मक बन्द तंत्र के रूप में समुदाय

(Communities as Real and Symbolic Closed System)

कई समुदाय बन्द तंत्र होते हैं जिनमें बाहरी व्यक्तियों द्वारा किए गए उल्लंघनों को कठोरता से दण्डित किया जाता है। बंद तंत्र के रूप में समुदाय बाहरी व्यक्तियों को अस्वीकार कर सकते हैं अथवा कम परिवर्तनीय व्यवधान रख सकते हैं जो समुदाय के सदस्यों व बाहरी व्यक्तियों के बीच अंतर पर अधिक जोर दें।

ग्रामीण-शहरी आयाम (The Rural-Urban Dimension)

रॉबर्ट रेडफील्ड ने ग्रामीण समुदाय को लघु समुदाय कहा है। ग्रामीण समुदायों को प्रायः कृषि प्रधान समझा जाता है जबकि शहरी समुदायों को निर्माण, व्यापार व सेवाओं का केन्द्र माना जाता है। सोरोकिन तथा जिमरमेन ने ग्रामीण व शहरी समुदायों के बीच अनेक प्रकार के अन्तर गिनाए हैं— आकार, सघनता, विषम जातीयता, सामाजिक विभिन्नता तथा स्तरीकरण, गतिशीलता, पर्यावरण एवं अंतःक्रियाओं का तंत्र। शहरी समुदायों की पहचान बड़े, सघन बसे तथा समजातीय के रूप में करना कुछ सीमा तक ही उचित होगा। साधारणतः शहरी व ग्रामीण समुदायों के बीच प्रमुख अन्तर जनसंख्या के आकार, जनसंख्या की सघनता तथा व्यावसायिक व सामाजिक विभिन्नताओं का ही होता है। ग्रामीण व शहरी धारणाओं में इस अभिज्ञा को भी शामिल किया जाना चाहिए कि ये दोनों ध्रुवीय हैं तथा इन दोनों ध्रुवों के बीच वाले भी -र्ं समुदाय होते हैं। आज के समकालीन

संसार में समुदायों के रूपों के तीव्र एवं विशुद्ध आयामों का अस्तित्व ही नहीं है। दोनों ध्रुवीय प्रकार के समुदायों के बीच अंतर क्रमिक (Gradual) व निरन्तर (Continuous) होता है न कि गुणात्मक।

नये परिप्रेक्ष्य (New Perspectives)

आधुनिक विचारक समुदाय की धारणा की उपयोगिता को चुनौती देते हैं। उनका मानना है कि नई परिस्थितियों में वह अब अप्रचलित हो गई है। एम आर स्टेन (M R Stein) ने सन् 1960 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द एक्लिप्स ऑफ कम्युनिटी' में समुदाय की पारम्परिक धारणा की आलोचना की है। समुदाय के एक अन्य आलोचनात्मक लेख में कहा गया है कि तकनीकी प्रवाहों की भूमिका अब महत्वपूर्ण हो गई है। मेलविन एम वेबर ने समुदाय के विचार पर प्रहार कर उसे एक क्षेत्रीय परिबद्ध सामाजिक अस्तित्व (Bounded Social Entity) कहा है तथा समीपता विरहित समुदाय (Community Without Propinquity) की बात कही है— एक नया रूप जिसे तकनीकी विकास की श्रृंखला ने संभव किया है तथा जो घनिष्ठ संबंधों से जुड़े व्यक्तियों में स्थानीय अलगाव को संभव बनाता है।

समुदाय के समाजशास्त्रीय पहलू (Sociological Aspects of the Community)

समुदाय में अनेक भिन्नताएं होती हैं। समुदाय के कुछ पहलू निम्नानुसार हैं:--

(अ) **जनसांख्यिकीय (Demographic) पहलू**—समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण पहलू उसकी जनसंख्या से संबंधित है। समुदाय का आकार, संयोजन व विभाजन महत्वपूर्ण घटक हैं। दुनिया भर के समुदायों में आने वाला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है उनका शहरीकरण। शहरीकरण तत्वतः जनसंख्या के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया है। दुनिया में बड़ी तीव्र गति से शहरीकरण हो रहा है तथा जिस तीव्र गति से यह महत्वपूर्ण जनसांख्यिकीय प्रक्रिया चल रही है, उसके भविष्य में कम होते अथवा ढीले पड़ने के कोई चिन्ह नजर नहीं आ रहे हैं।

(ब) **पारिस्थितिक (Ecological) पहलू**—मानवीय पारिस्थितिक पारंपरिक रूप से समुदाय के स्थानिकी तथा सांसारिक पहलुओं से संबंधित रही है। शहरों में लोगों तथा सेवाओं का वितरण संयोगिक रीति से नहीं हुआ है। सामाजिक समूहों की स्थानिक व्यवस्था में एक क्रम है। अमीर लोग शहर के एक भाग में तो गरीब लोग दूसरे भाग में रहते हैं।

(स) **संरचनात्मक (Structural) पहलू**—समुदाय अपने आप में सामाजिक समूह की एक इकाई है। इसमें कई अन्य संगठित इकाइयां शामिल हैं। इन असमान कार्यकारी इकाइयों के अतिरिक्त इसमें बड़ी संख्या में औपचारिक तथा अनौपचारिक संघों का भी समावेश होता है। संघों के पैटर्न के विपरीत समुदाय का पैटर्न साधारणतः अनियोजित रहता है। यह प्रायः उन शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जो तब पैदा

होती हैं जब लोग कितनी भी सख्या मे घनिष्ठ सबधो के लिए बाध्य होते हैं—ये शक्तिया हैं—प्रतिस्पर्धा, प्रभुत्व हेतु सघर्ष, आर्थिक काला के लिए आपसी सहयोग आदि। प्रत्येक समुदाय बाह्य सरचनात्मक स्वरूप प्रदर्शित करता है।

(द) व्यावहारिक (Behavioural) पहलू—अनेक समाजशास्त्री मनोवैज्ञानिक के इस आयाम पर जोर देते हैं तथा निष्कर्ष निकालते हैं कि बिना स्वचेतना के कोई समुदाय, समुदाय ही नहीं रहता। समुदाय की भावनाओं मे विभिन्न घटको तथा विभिन्न अभिवृत्तियो का समायोजन होता है जो सूक्ष्म रूप से मिश्रित होते हैं। लोगो के अनेक समुदायों मे तीन घटक विभिन्न मात्रा मे स्पष्ट होते हैं– पहचान की भावना, भूमिका तथा निर्भरता।

समुदायो मे किस प्रकार परिवर्तन होता है? (How Communities Change?)

परिवर्तन जीवन का एक अपरिहार्य तथ्य है। समुदाया म अनेक प्रकार से परिवर्तन होते हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी समुदायो मे परिवर्तन हो सकता है। इसका सबसे आम पैटर्न है विस्तार। कभी-कभी एक समुदाय दूसरे समुदाय मे विलीन हो जाता है। किसी समुदाय को एक स्थान से विस्थापित होकर दूसरे स्थान पर बसना पड सकता है। सरचनात्मक परिवर्तनो के कारण भी समुदाय परिवर्तित हो सकते हैं। समुदायो मे गुणात्मक परिवर्तन भी हो सकते हैं। परिप्रेक्ष्य मे परिवर्तन का एक स्रोत जन सचार साधन भी हो सकता है।

समुदाय और समाज में अन्तर

(1) समुदाय, समाज का बाह्य रूप है। समुदाय मे समता और विषमता पाई जाती है। जिमरमैन एव फ्रैम्प्टन (Zimmerman and Frampton) के अनुसार समुदाय ने *सामान्य इच्छा, स्वाभाविक एकता, प्रथाए होती है। समाज मे व्यक्तिगत इच्छा,* विचारधारा और लोकमत होता है।

(2) समुदाय मूर्त है, समाज अमूर्त—समुदाय किसी एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र मे रहने वाले लोगो का समूह है। समुदाय की भौतिक विशेषता इसे मूर्तरूप प्रदान करती है इसे देखा जा सकता है। यह सामाजिक सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था है। सबधो के जाल को जिससे समाज बनता है, देखा या छुआ नहीं जा सकता। समाज एक अमूर्त अवधारणा है।

(3) सामुदायिक भावना—समुदाय का आकार छोटा होता है। समुदाय के सदस्यों मे सामुदायिक भावना होती है। 'हम' भावना के कारण समुदाय के सदस्यो मे एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता पाई जाती है। समाज मे सामुदायिक भावना (Community Sentiments) होती है। हम भावना के कारण समुदाय के सदस्यों मे एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता पाई जाती है। समाज मे सामुदायिक भावना का

होना आवश्यक नहीं है। समाज मे संगठनात्मक और विघटनात्मक दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध मिलते हैं।

(4) **विभाजन**—समुदाय मे अनेक छोटे समूह होते हैं, जिनका अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है। समाज एक व्यवस्था है। इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। एक पूर्ण इकाई के रूप में ही इसका अध्ययन किया जाता है। एक समाज में एक से अधिक समुदाय होते हैं। अनेक समुदाय मिलकर समाज बनाते हैं।

(5) **सदस्यता**—समुदाय की सदस्यता अनिवार्य है। व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। एक व्यक्ति एक समय मे केवल एक समुदाय का सदस्य होता है। व्यक्ति समाज से संबंधित होता है परन्तु समाज का सदस्य नहीं होता। समाज सामाजिक संबंधो की व्यवस्था होती है जिसका व्यक्ति सदस्य नहीं बन सकता।

6

प्रस्थिति व भूमिका

(Status and Role)

सामाजिक सरचना क्या है? (What is Social Structure?)

सामाजिक सबधो का परीक्षण प्रस्थिति एव सामाजिक भूमिकाओ के रूप मे किया जाता है। ये दोनो मिलकर उसी प्रकार सामाजिक सरचना का निर्माण करते हैं जैसे की नीव दीवारे, छत दरवाजे, खिडकिया तथा फर्नीचर एक भवन की सरचना बनाते हैं। यद्यपि किसी विशेष भवन का लक्षण जैसे बगला या एक बहुमजिली इमारत, या एक झोपडी या एक गाँव का घर आदि यह सब उसके अवयवो के निश्चित प्रकार व उनके आपसी सबधो पर निर्भर करता है। सामाजिक सरचना का अर्थ है "विभिन्न घटको अथवा अवयवो के एक-दूसरे के सबधो का सुसगठित रूप से व्यवस्थापन"। सामाजिक सरचना से तात्पर्य है— (i) प्रस्थिति व भूमिकाओ के एक-दूसरे के अत सबधो का पैटर्न (जो किसी समाज अथवा समूह मे किसी समय विशेष पर पाया जाता है, (ii) जिसमे अपेक्षाकृत स्थाई सामाजिक सबध शामिल हैं (iii) जिसमे अधिकारो व दायित्वो का सगठित पैटर्न है (व्यक्तियो, समूहो का एक अत क्रिया के तत्र मे) तथा (iv) जिसका सामाजिक मानदडो व सामाजिक सस्थाओ के रूप मे विश्लेषण हुआ है।

इयान रॉबर्टसन (Ian Robertson, 1981 80) के अनुसार सरल शब्दो मे सामाजिक सरचना का तात्पर्य "किसी सामाजिक तत्र मे मूल अवयवो के सुसगठित

संबंधों से है।" फिर भी अवयवों के आपसी संबंध एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होते हैं। टालकट पारसन्स ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग परस्पर संबंधित संस्थाओं, संगठनों तथा सामाजिक मानदंडों की एक विशिष्ट व्यवस्था के साथ-साथ किसी समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं की विशिष्ट क्रमबद्धता के लिए किया जाता है।" किसी सामाजिक संरचना के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं प्रस्थिति, भूमिकाएं समूह तथा संस्थाएं।

सामाजिक प्रस्थिति क्या है? (What is Social Status)

रॉबर्ट बीरस्टीड का कथन है कि समाज सामाजिक प्रस्थितियों (Status) का जाल है। किसी समूह अथवा समाज की सामाजिक संरचना में प्रस्थिति एक सामाजिक रूप से परिभाषित स्थिति होती है। प्रस्थिति समूह में व्यक्ति के स्थान को बताती है। व्यक्ति को अपनी सामाजिक प्रस्थिति के कारण ही मान प्राप्त होता है।

राल्फलिंटन ने लिखा है कि किसी व्यवस्था विशेष में एक व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वही उस व्यवस्था के संदर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति होती है। एलियट व मैरिल (Elliott and Merrill) प्रस्थिति को व्यक्ति की वह स्थिति मानते हैं जो वह किसी समूह में आयु, लिंग, परिवार, व्यवसाय, विवाह अथवा अपने प्रयासों से प्राप्त करता है?

किंग्सले डेविस ने व्यक्ति की सामान्य प्रस्थिति को इंगित करने के लिए स्टेशन (Station) शब्द का प्रयोग किया है। स्टेशन अर्थात हैसियत किसी व्यक्ति की सामान्य सामाजिक प्रस्थिति की द्योतक है। यह समाज में व्यक्ति के स्तर अथवा स्थान को प्रकट करती है। स्टेशन को द स्टेटस प्रस्थिति विशेष कहा जाता है क्योंकि यह एक व्यक्ति की विशिष्ट प्रस्थिति का सूचक है। मार्शल ने व्यक्ति की सामान्य प्रस्थिति को प्रकट करने के लिए स्टेशन के स्थान पर 'स्टैंडिंग' (Standing) शब्द का उपयोग किया है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति उसके एकीकृत व्यक्तित्व (Integrated Personality) का संकेत करती है।

डेविस के अनुसार जो लोग सामान्यतः एक ही स्टेशन के सदस्य हैं वे एक स्तृत (Stratum) का निर्माण करते हैं। दूसरे शब्दों में एक समूह जिसका प्रत्येक सदस्य सापेक्षतः समान प्रस्थिति व स्तर में समान होते हैं, सामाजिक स्तृत (Social Stratum) कहलाता है। एक स्तृत के लोगों के स्वार्थ और समस्याएं एक सी होती हैं। प्रत्येक स्तृत के लोगों में 'हम की भवना' पाई जाती है। भारत में विभिन्न जातियाँ अलग-अलग स्तृतों के निर्माण का आधार रहीं हैं।

उल्लेखनीय है कि प्रस्थिति के अन्तर्गत किसी सोपान का अर्थ नहीं लगाया

जाता है लेकिन सामाजिक प्रस्थिति के अन्तर्गत स्तरीकरण व सम्मान (Esteem) निहित हैं। उदाहरण के लिए एक प्रोफेसर, पिता पति नागरिक आदि को प्रस्थितियो से मिलकर जो सम्मान समुदाय में प्राप्त होगा वही उसकी सामाजिक प्रस्थिति कहलाती है।

परिस्थिति एव पद दोनो शब्द एक दूसरे स सबधित हे तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं। प्रस्थिति समाज के सस्थागत तत्र मे व्यक्ति की स्थिति नामित करती है। दूसरे आर पद किसी विशिष्ट हेतु के लिए निर्मित सगठन म व्यक्ति की स्थिति को नामित करता है। सगठन मे स्थिति जिसे पद कहते हैं को सामान्यत प्राप्त किया जाता है, वह प्रदत नहीं होता। यह स्पष्ट है कि पद पर रहते हुए कभी-कभी व्यक्ति को प्रस्थिति प्राप्त हो जाती है।

प्रस्थिति एक ओर तो अन्य स्थितियो से नियुक्त अधिकारो एव दायित्वो से भिन्न होती है वहीं दूसरी ओर वह उनसे सबधित भी रहती है। उदाहरण के लिए एक पत्नी की प्रस्थिति उसके परिवार के अन्य सदस्यो के साथ सबध निश्चित करती हैं, एक फक्ट्री के मैनेजर की स्थिति उसके कर्मचारियो के साथ सबध निर्धारित करती है। प्रस्थिति अनेक पद एव प्रतिष्ठा अथवा पदानुक्रमित व्यक्तियों द्वारा समीकृत (Equate) होती है। फिर भी समाजशास्त्रीय रूप से प्रस्थिति का अर्थ किसी पदानुक्रम मे पद से नहीं होता। किसी व्यक्ति की एक ही समय अनेक क्षेत्रो मे कई स्थितिया हो सकती हैं किन्तु उनमे से एक स्थिति को व्यक्ति की 'स्वामी की प्रस्थिति'(Master Status) कहते हैं। एक परिवार मे यह प्रस्थिति परिवार के मुखिया की होती है मुख्य प्रस्थिति वह प्रस्थिति है जो दूसरी प्रस्थितियो की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण होती है। मुख्य प्रस्थिति (Key Status) की अवधारणा के प्रतिपादक ई टी हिलर (E T Hiller) है।

कुछ प्रस्थितिया अन्यो की तुलना मे निम्न अथवा उच्च होती हैं। उदाहरण के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की प्रस्थिति किसी निम्न न्यायालय के दण्डाधिकारी से उच्च होती है तथा उन्हे अधिक सपत्ति, अधिकार व प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। किसी विषम समाज मे लगभग समान स्थिति वाले लोग (जैसे पूजीपति अथवा उद्यमी) अपना एक वर्ग बना लेते हैं तथा इन लोगो को अन्य निम्न प्रस्थिति के लोगो की तुलना मे समाज की सपत्ति तथा अन्य ससाधनो तक अधिक पहुच होती है। *अत: यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्री प्रस्थिति से अर्थ किसी समाज मे व्यक्ति* की स्थिति से लगाते हैं, न कि उसके सामाजिक पद की स्थिति से। वर्ग ओर प्रस्थिति मे मुख्य अन्तर यह है कि वर्ग राजनीतिक शक्ति के अधिग्रहण को निर्दिष्ट करता है और प्रस्थिति सामाजिक शक्ति के अर्जित करने को।

प्रस्थिति-पुंज (Status Set)

व्यक्ति के जीवन मे अनेक प्रस्थितियाँ तथा उन प्रस्थितियो के अनुसार भूमिकाए भी होती हैं। एक व्यक्ति द्वारा धारण की गई विभिन्न तथा विशिष्ट प्रस्थितियो के सकुल को प्रस्थिति-पुज कहते हैं। किसी विशिष्ट सामाजिक स्थिति में कुछ या सिर्फ एक प्रस्थिति सार्थक होती हं, ये प्रकट प्रस्थितियाँ हैं। किसी निर्दिष्ट समय पर जो प्रस्थितियाँ पृष्ठभूमि मे रहती हं, उन्हे अप्रकट प्रस्थितियाँ कहते हैं।

प्रस्थिति-क्रम (Status Sequence)

प्रस्थिति क्रम या प्रस्थिति श्रखला एक व्यक्ति की अलग-अलग समय मे भिन्न प्रस्थितियो का प्रतीक है। विवाह के वाद पति, पिता और दादा इसका उदाहरण ह। एक व्यक्ति अपने जीवन-काल मे समय के अन्तर के साथ अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है, यह प्रक्रिया ही प्रस्थिति-क्रम की द्योतक है।

टालकट पारसन्स ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण मे निम्नलिखित छ: कारको के योगदान का उल्लेख किया है —

(i) नातेदारी समूह की सदस्यता (Membership of a Kinship Group)

(ii) व्यक्तिगत गुण (Personal Qualities)

(iii) उपलब्धिया (Achievements)

(iv) स्वामित्व (Possessions)

(v) सत्ता (Authority)

(vi) शक्ति (Power)

कोई भी सामाजिक प्रस्थिति स्वतंत्र नहीं होती, वल्कि सापेक्षिक होती है। समाज मे प्रत्येक प्रस्थिति की एक प्रतिष्ठा होती है। प्रतिष्ठा का सबंध व्यक्ति से नहीं वल्कि उसकी प्रस्थिति से है। जवकि सम्मान का सबध किसी भी प्रस्थिति को धारण करने वाले व्यक्ति की कार्यकुशलता, दक्षता, क्षमता एव कर्त्तव्यपरायणता मे होता है। एक कॉलेज मे दो प्राध्यापकों की प्रस्थिति और प्रतिष्ठा समान हो सकती हैं किन्तु नियमित एवं प्रभावी ढंग से पढाने वाले प्राध्यापक को दूसरे की अपेक्षा अधिक सम्मान मिलता है। प्रस्थिति का सम्बन्ध सत्ता एवं शक्ति से भी है। सत्ता व शक्ति में अन्तर है। सत्ता संस्थात्मक होती है और शक्ति व्यक्तिगत। न्यायालय में जज को किसी अपराधी को दण्ड देने का अधिकार सत्ता से प्राप्त होता है। किन्तु शक्ति अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव डालने की एक व्यक्तिगत विशेषता है जो उसे किसी कानून अथवा नियम के आधार पर प्राप्त नहीं होती। सामान्यत: सत्ता का संबंध प्रतिष्ठा से और शक्ति का संबंध सम्मान से लगाया जाता है। सत्ता मे शामिल है वैधता, शक्ति और नियमितता।

प्रस्थिति के प्रकार (Types of Status)

प्रस्थिति दो प्रकार से निर्धारित होती है– जन्म से तथा प्रयासो से प्राप्त। राल्फ लिंटन (Ralph Linton, 1936) ने प्रस्थितियों को दो प्रमुख भागों प्रदत्त (Ascribed) और अर्जित (Achieved) में विभाजित किया है।

प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की वशानुगत सामाजिक स्थिति होती है। यह समाज द्वारा नियत होती है तथा अक्सर जैविक अथवा सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती है। प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को लिंग, आयु नातेदारी और सामाजिक विरासत मे मिलती है। सम्पत्ति (Wealth) भी प्रदत्त प्रस्थिति का महत्वपूर्ण आधार है। समाज में सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर सकता है।

प्रस्थिति समाज द्वारा आरोपित होती है। जातिगत स्थिति भी प्रदत्त होती है। प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक मान्यताएँ होती है और उन्हीं के अनुकूल प्रस्थितियाँ निर्धारित होती हैं। आदिवासी समाजो मे प्रदत्त प्रस्थिति पर अधिक बल दिया जाता है। प्रदत्त प्रस्थिति बन्द समाज को मान्यता देती है।

अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)

वे प्रस्थितिया जो विरासत तथा जैविक लक्षणो मे निश्चित नहीं होती अथवा ऐसे कारको द्वारा जिन पर व्यक्ति का नियत्रण नही रहता वे प्राप्त की हुई प्रस्थितियाँ कहलाती हैं। प्राप्त की हुई प्रस्थिति उद्देश्यपूर्ण कार्य तथा विकल्प के परिणामस्वरूप ही उपलब्ध होती हैं।

अर्जित प्रस्थिति किसी व्यक्ति द्वारा उसकी योग्यता, कौशल, प्रयत्नो तथा प्राविण्य (मेरिट) द्वारा प्राय: स्पर्धा के माध्यम से तथा अपनी विशेष योग्यताओ ज्ञान व कौशलों के प्रयोग से प्राप्त की गई स्थिति होती है। व्यावसायिक स्थिति को प्राप्त की गई स्थिति कहते हैं। उदाहरण के लिए डॉक्टर वकील फिल्म अभिनेता आदि। इस स्थिति को प्राप्त करने की मुख्य कसौटी व्यक्तिगत योग्यताए होती है न कि जन्म के समय अतर्निहित घटक। वर्तमान समय में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उपलब्धियो के आधार पर अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करने के उत्तम अवसर प्राप्त होते हैं। अत समाज मे अर्जित प्रस्थिति का अधिक महत्व है। यद्यपि अर्जित प्रस्थिति के कारण समाज मे सघर्ष व प्रतिस्पर्द्धा मे वृद्धि होती है। आधुनिक समाजो मे सम्पत्ति और कार्यात्मक उपयोगिता अर्जित प्रस्थिति के दो महत्वपूर्ण आधार हैं।

प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति मे अन्तर (Difference between Ascribed and Achieved Status)

प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति मे निम्नलिखित अन्तर है —

(1) प्रदत्त प्रस्थिति समाज द्वारा स्वयं प्राप्त हो जाती है, अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रयत्नों से प्राप्त करता है।

(2) प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षाकृत स्थिर रहती है, अर्जित प्रस्थिति की प्रकृति में परिवर्तन होते रहते हैं।

(3) प्रदत्त प्रस्थितियों में सामूहिकता को बढ़ावा मिलता है, अर्जित प्रस्थितियों में व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) प्रदत्त प्रस्थिति और उसकी भूमिका में संघर्ष होता रहता है, अर्जित प्रस्थिति की दशा में संघर्षों की सम्भावना कम है।

(5) प्रदत्त प्रस्थिति का प्रभावपूर्ण होने के कारण बन्द समाज में, अर्जित प्रस्थिति का खुले समाज में महत्व होता है।

(6) *प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति के अस्वैच्छिक लक्षणों का पुंज है, अर्जित प्रस्थिति के* अन्तर्गत व्यक्ति उसे नियमित करने की क्षमता रखता है।

भूमिका (Role)

सामाजिक प्रस्थिति भूमिका के अर्थ में व्यक्त की जाती है। भूमिका व्यवहार के पैटर्न होते हैं जो किसी सामाजिक प्रस्थिति के अधिभोक्ता से अपेक्षित होता है। इसमें दायित्व व विशेषाधिकार भी निहित होते हैं। इस धारणा को प्रत्यक्ष रूप से थियेटर से लिया गया है। इसका अर्थ व्यक्ति द्वारा समाज में की जाने वाली भूमिका से है। राल्फ लिन्टन (Ralph Linton) जिन्होंने सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका के बीच अंतर किया है, ने उन्होंने भूमिका को सामाजिक प्रस्थिति का गतिशील पहलू कहा है। इस प्रकार सामाजिक प्रस्थिति का तात्पर्य सामाजिक संबंधों के तंत्र में किसी स्थिति से है जबकि भूमिका का तात्पर्य उस स्थिति से संबंधित व्यवहार से है। इस प्रकार सामाजिक प्रस्थिति व भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। व्यक्ति सामाजिक प्रस्थिति का अधिभोग करता है किन्तु भूमिका का निर्वहन करता है। वह भूमिका जो सामाजिक स्थितिधारक निर्वहन करता है वह सामाजिक मानदंडों द्वारा निर्धारित की जाती है तथा वे यह भी निर्धारित करते हैं कि सामाजिक स्थितिधारक को कैसा व्यवहार करना चाहिए। एक प्राध्यापक की सामाजिक प्रस्थिति समाज में निश्चित होती है किन्तु उसकी भूमिका अधिक लचीली होती है क्योंकि सामाजिक प्रस्थिति के अधिभोक्ता वास्तव में निर्वहन कैसे करते हैं इसमें भिन्नता होती है। व्यवहार में एक सामाजिक प्रस्थिति की कई भूमिकाएं हो सकती हैं। इस प्रकार एक विश्वविद्यालयीन प्राध्यापक की प्रस्थिति में एक भूमिका शिक्षक की, एक विभागाध्यक्ष की, एक अनुसंधान मार्ग दर्शक की, पुस्तकों व लेखों के लेखक की, एक अन्य प्राध्यापकों के सहयोगी की, एक अनुसंधानकर्ता की, एक विद्यार्थी परामर्शदाता, आदि

की निहित हो सकती हैं। एक सामाजिक स्थिति के साथ जुड़े हुए भूमिकाओं के गुच्छ को भूमिका पुंज कहते हैं। यद्यपि प्रस्थिति तथा भूमिकाएं आपस में सम्बंधित हैं फिर भी एक के बिना दूसरी सम्भव है। भूमिकाएं प्राय: किसी प्रस्थिति को ग्रहण करके भी निभाई जाती हैं। उदाहरण के लिए माँ एक शिक्षक की भूमिका निभाती है। शिक्षिका की विद्यालय में एक प्रस्थिति होती है। किन्तु परिवार में यह एक भूमिका हो सकती है।

भूमिका की विशेषताएं (Characteristics of Role)

डेविस के अनुसार भूमिका किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने पद की आवश्यकताओं के अनुसार की जाती है। भूमिका की विशेषताएं हैं –

(i) भूमिका बहुआयामी होती है। समस्त भूमिकाओं का महत्व समान नहीं होता। कुछ भूमिकाएं महत्वपूर्ण होती हैं और कुछ कम महत्वपूर्ण।

(ii) व्यक्ति की भूमिका का उसकी योग्यता, रुचियों और मनोवृत्तियों से विशेष सम्बन्ध होता है।

(iii) व्यक्ति की सामाजिक भूमिका समय के साथ परिवर्तित होती रहती है।

(iv) भूमिका एक क्रियात्मक पक्ष है जो किसी न किसी प्रस्थिति से जुड़ी होती है।

(v) व्यक्तियों की भूमिका इच्छा पर निर्भर न होकर एक विशेष नियमों द्वारा निर्धारित होती है।

(vi) भूमिका के अन्तर्गत मूल्य, विश्वास और व्यवहार तीनों आते हैं।

(vii) प्रस्थिति की अपेक्षाओं के अनुसार भूमिका का निर्वहन न करने पर सामाजिक संगठन बिगड़ जाता है।

भूमिका पुंज (Role Set)

रॉबर्ट के मर्टन ने एक सामाजिक स्थिति से जुड़ी अनेक भूमिकाओं को अंकित करने हेतु भूमिका पुंज शब्दों का प्रयोग किया। एक व्यक्ति की समाज में अनेक प्रस्थितियां होती हैं। अत: उसे अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करना होता है। एक सामाजिक प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाओं के संचय को भूमिका पुंज कहते हैं जो यह बताता है कि एक ही सामाजिक प्रस्थिति की अनेक भूमिकाएं हो सकती हैं। उदाहरण के लिए एक बीमार व्यक्ति के भूमिका पुंज में डॉक्टर, परिवार तथा शुभचिंतक शामिल हो सकते हैं। इस भूमिका पुंज के सदस्यों को बीमार व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करना चाहिए तथा उनकी भूमिकाओं द्वारा वांछित कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए। पत्नी जो एक मां की भूमिका निभाती है भूमिका पुंज का उदाहरण है। एक ही हैसियत में एक व्यक्ति की अनेक भूमिकाएं भूमिका पुंज या भूमिका पटल (Role

Set) को सही परिभाषित करती है। किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थितियो का विशिष्ट संयोजन उसके द्वारा की जाने वाली भूमिकाओ को प्रभावित करता है। व्यक्ति के कार्यों का निष्पादन न तो अन्य लोगो की अपेक्षाओ से और न ही उसके स्वय से संबंधित उसकी स्वय की अपेक्षाओ से मेल खाता है? भूमिकाओ का बाहुल्य व्यक्ति की कुल उपलब्धि को तथा उसके जीवन के सतोष को बढाता है।

भूमिकाओं की स्थिति
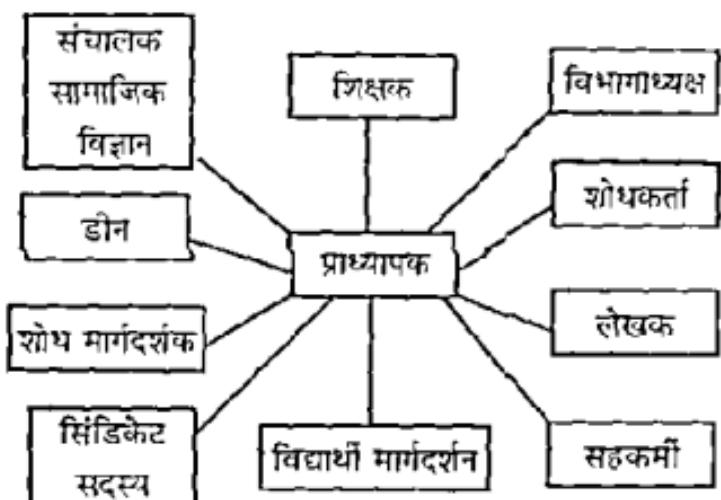
नियत तथा प्राप्त की गई सामाजिक प्रस्थिति के समान ही भूमिकाए भी नियत अथवा प्राप्त की गई हो सकती हैं। व्यक्ति को उपलब्धि के माध्यम से प्राप्त भूमिका को प्राप्त की गई भूमिका कहते हैं। यह उसके प्रयासो तथा कार्यों का परिणाम होता है। नियत भूमिकाएं वे हैं जो व्यक्ति को जन्म मे अथवा किसी निश्चित आयु को प्राप्त करने पर मिलती हैं। नियत भूमिका का सबसे अच्छा उदाहरण लिंग के अनुसार भूमिका है— पुरुष अथवा महिला।

भूमिका सीखने की क्रिया जो बचपन में जारी रहती है, उसे समाजीकरण कहते हैं। जब तक बच्चे परिपक्व होते हैं तब तक वे अनेक बुनियादी सामाजिक भूमिकाए सीख चुके होते हैं। उन्हे केवल उपयुक्त समय पर इनके निर्वहन करने की आवश्यकता होती है। भूमिकाए केवल सीखी ही नहीं जातीं, बल्कि बनाई भी जाती हैं। ब्लूमर की दृष्टि मे पुरानी भूमिकाओ का जब भी निर्वहन किया जाता है, उन्हें प्रदर्शित तथा पुनर्निर्मित भी किया जाना आवश्यक है। रैल्फ टर्नर (R Turner) ने इसे सृजनात्मक भूमिका निर्माण कहा है। इसमे कोई शका की बात नहीं कि भूमिकाए स्थिर नहीं होती हैं व उन्हें समाजीकरण के माध्यम से सीखा जाता है तथा कभी-कभी भूमिकाएं परिवर्तित भी की जा सकती हैं।

भूमिका निर्वहन के अधिकार एव दायित्व (Rights and Obligations in Role Performance)

गाल्डनर व गोल्डनर (Gouldner and Gouldner p 185) ने कहा है कि भूमिकाओ को अक्सर दो प्रमुख आयामो मे बाटा जा सकता है (i) कुछ अधिकार अथवा विशेषाधिकार (ii) कुछ कर्त्तव्य अथवा दायित्व। उदाहरण के लिए एक भारतीय परिवार म एक पत्नी के निम्नलिखित अधिकार व कर्त्तव्य होते हैं —

भारतीय पत्नी के अधिकार अथवा विशेषाधिकार

1 उसका यह अधिकार है कि सामान्य परिस्थितियो म उसका पति उसका साथ देगा इसकी अपेक्षा करना।

2 उसका पति उसे घर चलाने के लिए अपना वेतन अथवा आय प्रदान करेगा।

3 उसका पति सभी प्रकार के निर्णय लेने से पूर्व उससे परामर्श करेगा।

4 उसका पति कहा-कहा जाता है इसकी जानकारी उसे सदैव दी जाए।

5 उसका पति उसके प्रति निष्ठावान हो ऐसी अपेक्षा करने का भी उसे अधिकार है।

भारतीय पत्नी के कर्त्तव्य अथवा दायित्व

1 खाना बनाना व घर चलाना

2 वह अपने पति के प्रति एकनिष्ठ रहे

3 वह बच्चो को समाज मे ठीक से व्यवहार करना सिखाए

4 उसे अपने खर्चे परिवार की आय की सीमा मे ही रखने चाहिए।

5 परिवार के बुजुग सास ससुर की देखभाल करना आदि उसके कर्त्तव्य हैं।

नियत भूमिकाएं (Prescribed Role)

यह भूमिका सामाजिक मानदण्डो के अनुसार परिभाषित होती है। यह विशिष्ट भूमिकाओ के सभी अधिभोक्ता से अपेक्षित व्यवहार का समुच्चय होती है।

भूमिका निर्वहन (Role Performance)

यह वास्तव मे भूमिका का व्यवहार होता है। यद्यपि किसी भी स्थिति के साथ लोगो की अपेक्षाए जुडी रहती हैं किन्तु फिर भी लोग हमेशा लोगो की अपेक्षाओ के अनुरूप व्यवहार नहीं करते। जैसे कि एक कोचिंग शिविर मे एक खिलाडी अक्खडपन का व्यवहार कर सकता है तथा अभ्यास सत्रो मे अनुपस्थित रह सकता है व इस प्रकार प्रशिक्षण के नियमो का उल्लघन कर सकता है, वहीं दूसरी ओर दूसरे खिलाडी का व्यवहार अनुकरणीय हो सकता है।

भूमिका व्यवहार (Role Behaviour)

भूमिका यह व्यवहार है जो किसी व्यक्ति से किसी विशिष्ट प्रस्थिति में अपेक्षित है वहीं भूमिका व्यवहार उस व्यक्ति का वास्तविक व्यवहार है जो भूमिका का निर्वहन करता है। वास्तविक व्यवहार अपेक्षित व्यवहार से अनेक कारणों से भिन्न हो सकता है। अधिकतर भूमिका व्यवहार उस भूमिका का अनजान में निर्वहन है जिसके लिए व्यक्ति समाजीकृत है जबकि कुछ भूमिका व्यवहार अत्याधिक सज्ञान होता है। गणवेष, बिल्ले, उपाधियाँ व कर्मकाण्ड भूमिका व्यवहार में सहायक होते हैं। ये भूमिका के कर्त्ता को भूमिका के अनुसार व्यवहार करने हेतु प्रोत्साहित करते हैं। भूमिका व्यवहार, निर्धारित भूमिका से भिन्न होता है। भूमिका व्यवहार एक भूमिका में किसी एक व्यक्ति के व्यवहार को इंगित करती है। न्यूकॉम्ब ने भूमिका व्यवहार और निर्धारित भूमिका में अन्तर बताते हुए निर्धारित भूमिका को एक समाजशास्त्रीय अवधारणा तथा भूमिका व्यवहार को एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा माना है।

गोल्डनर व गोल्डनर मानते हैं कि इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि सभी व्यक्ति समान भूमिका का एक ही प्रकार से निर्वहन करेंगे। ऐसा निम्न कारणों से होता है:—

1. हम जिन लोगों से अंतःक्रिया करते हैं उनकी अपेक्षाएँ हमेशा ही सर्व सम्मत नहीं होतीं।
2. जिन चिन्हित लोगों के प्रति अपेक्षाए की जाती हैं उनके प्रति लोगों में कुछ हद तक सहनशीलता की भावना होती है। अत. ये व्यवहार में थोड़ी बहुत भिन्नता की अनुमति दे देते हैं।
3. किसी भूमिका के निर्वहन हेतु लोगों की क्षमताओं व कौशलों में भिन्नता होती है।
4. लोग किसी को या तो लगभग स्वीकार कर लेते हैं अथवा उसके साथ अपने आप को समाहित कर लेते हैं। यद्यपि अन्य लोगों की अपेक्षाए स्पष्ट व असंदिग्ध होती हैं फिर भी कोई भी व्यक्ति उन अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार तब तक नहीं करेगा जब तक वह स्वय का भूमिका में उस प्रकार का तादात्म्य स्थापित नहीं करता जैसा अन्यों ने किया है।

अनुभावित भूमिका (Perceived Role)

ये भूमिका की वे अपेक्षाए हैं जिन्हें कोई व्यक्ति यह मानता है कि अन्य लोग किसी स्थिति में उससे चाहते हैं अथवा वे उससे निर्वहन की अपेक्षा करते हैं। हो सकता है वे वास्तविक अपेक्षाओं से (अर्थात जो भूमिका की माँग है) अथवा उसकी स्वय की व्यक्तिगत भूमिका की व्याख्या से मेल न खाती हो।

पारस्परिक भूमिकाएं (Reciprocal Role)

ये भूमिकाए एक ही सामाजिक स्थिति से सबधित लोगो के बीच पूरक व्यवहार के पेटर्न होती हैं। उदाहरण के लिए डॉक्टर व मरीज, शिक्षक व विद्यार्थी, कोच व एथलीट, पति व पत्नी। अधिकाश पारस्परिक भूमिकाओ मे प्रत्येक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के व्यवहार के सबध मे स्पष्ट अपेक्षाए होती हैं। शिक्षक-विद्यार्थी सबध मे विद्यार्थी यह अपेक्षा करता है कि शिक्षक अपने व्याख्यान की पूर्व तैयारी के साथ आए उस ज्ञान प्रदान करे व उसकी समस्याओ का निदान करे। शिक्षक की भी अपने विद्यार्थी के व्यवहार के सबध मे कुछ अपेक्षाए होती हैं। वे चाहते हैं कि विद्यार्थी खुले मस्तिष्क का ज्ञान पिपासु, सम्मान करने वाला व अनुशासित हो।

भूमिका तनाव (Role Strain)

भूमिका तनाव का अर्थ भूमिका के कर्तव्यो के निर्वहन म आने वाली कठिनाई से है। किसी व्यक्ति द्वारा एक ही पद प्रस्थिति मे जुडे दायित्वो की आवश्यकताओ को पूरा करने मे दबाव की स्थिति भूमिका तनाव कहलाती है। कुछ भूमिका सक्रमण कठिन होते हैं। कुछ भूमिका सक्रमणो के लिए इतना अधिक पुन: सीखने की आवश्यकता होती है कि उसके लिए पुन. समाजीकरण शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

यह किसी भूमिका की माग व उसके दायित्व के निर्वहन सबधी तनाव की भावना है। कभी-कभी एक ही भूमिका के सबध मे परस्पर विरोधी अपेक्षाए होती हैं। उदाहरण के लिए किसी कारखाने के श्रम अधिकारी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह श्रमिको से अच्छे सबध बनाए रखे किन्तु उससे यह भी अपेक्षित होता है कि वह उन नियमो का भी पालन करवाए जिनमे श्रमिक नाराज हो सकते हैं। परिणामस्वरूप भूमिका के तनाव की स्थिति बन जाती है जिसमे वह अपनी भूमिका की अपेक्षाओ की पूर्ति नहीं कर सकता। भूमिका तनाव भूमिका हेतु अपर्याप्त तैयारी, भूमिका निर्वहन मे आने वाली कठिनाइयो, भूमिका के सघर्षो तथा भूमिका की विफलता के कारण भी हो सकता है।

भूमिका सघर्ष (Role Conflict)

भूमिका सघर्ष किसी विशिष्ट स्थिति मे जब किसी व्यक्ति से दो या दो से अधिक असगत भूमिकाओ के निर्वहन करने की अपेक्षा की जाती है, उस समय पैदा होता है। नेडल (Nadel) के अनुसार भूमिका सघर्ष विद्यमान होता है जब दो भूमिकाओ की भूमिका प्रत्याशाए असगत हो। यह स्थिति या तो कुछ समय के लिए हो सकती है तथा विपरीत मागो की बिना किसी कठिनाई के पूर्ति की जा सकती है अथवा यह किसी व्यक्ति के लिए जीवन भर की समस्या बन सकती है।

कभी-कभी व्यक्ति को दो या दो से अधिक ऐसी भूमिकाएं निभानी होती हैं जिनकी आवश्यकताओं मे सामंजस्य बिठाना कठिन होता है। उदाहरण के लिए विवाह के बाद पत्नी चाहती है कि वह पति के साथ उस स्थान पर रहे जहां वह नौकरी करता है। दूसरी ओर उसके वृद्ध ससुर जो गाँव में रहते है, चाहते हैं कि वह गाँव मे ही रहे व उनकी देखभाल करे। ऐसी परिस्थिति में एक पति व एक ससुर की अपेक्षानुसार पत्नी की भूमिकाएं एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। इस प्रकार बेचारी महिला के सामने संघर्ष की स्थिति आ जाती है। एक ही स्थिति में समान कार्य करने वाले दो व्यक्तियो के बीच भूमिका संघर्ष की स्थिति आ सकती है। उसी प्रकार दो या दो से अधिक व्यक्तियों की भूमिका मे संघर्ष की स्थिति हो सकती है क्योंकि उनके कार्य उनकी सामाजिक स्थिति के अनुरूप नहीं होते। कभी कभी किसी व्यक्ति को दो असंगत भूमिकाओं का निर्वहन करना होता है जैसे कि एक डॉक्टर जिसे अपने पारिवारिक जीवन को कुछ त्यागना होता है जिससे वह अपना डॉक्टर का दायित्व ठीक से निभा सके। लुण्डबर्ग (Lundberg, 1954 262) के अनुसार विभिन्न भूमिकाओं को एक साथ निभाना आसान नहीं। भूमिका संघर्ष की स्थिति मे जब तनाव उत्पन्न होता है, तब प्रभावी भूमिका का चयन कर एक या दो भूमिकाओं को छोड देते हैं।

यद्यपि व्यक्तियो को उनके भूमिका निर्वहन मे तनाव तथा संघर्ष का सामना करना होता है फिर भी अधिकांश समय वे यह सुनिश्चित करते हैं कि सामाजिक अंत:क्रिया निर्बाध रूप से व अपेक्षित मार्ग पर ही चले। भूमिकाएं व्यक्ति को अपने व्यवहार को सामाजिक स्वीकृति के अनुसार ही रखने योग्य बनाती हैं। व्यक्ति दूसरों के व्यवहार को अधिकांश स्थितियो मे पूर्व से ही प्रत्याशित कर तद्नुसार अपने व्यवहार को ढाल सकता है। भूमिका संघर्ष को कम करने के लिए विभक्तिकरण की रणनीति अपनाई जा सकती है। इसके अनुसार व्यक्ति किसी समय तथा स्थान पर अपनी एक सामाजिक स्थिति के अनुसार भूमिका करता है। संघर्ष कम करने का दूसरा मार्ग है भूमिकाओ को पृथक करना। इस प्रकार विपरीत भूमिकाओं के नकारात्मक प्रभाव को प्रभावी रूप से कम किया जा सकता है।

भूमिका संघर्ष के कई भिन्न रूप हैं, जैसे एक ही प्रस्थिति के साथ जुडी दो भूमिकाएं अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा दो भिन्न परिस्थितियो में जुडे हुए भिन्न दायित्व। भूमिका संघर्ष का उदय किसी एक भूमिका के अन्दर परस्पर विरोधी कर्तव्यों के कारण अथवा विभिन्न भूमिकाओं द्वारा परस्पर विरोधी मांगों को आरोपित करने से होता है। भूमिका संघर्ष को युक्तिकरण द्वारा संभाला जा सकता है। जिसमें भूमिका कर्त्ता के मस्तिष्क में स्थिति की पुन: व्याख्या की जाती है जिससे व्यक्ति को संघर्ष का पता ही न लगे। यह विभक्तिकरण द्वारा संभव हो सकता है जो एक व्यक्ति

को एक समय एक ही भूमिका निर्वहन करने योग्य बनाता है तथा सयोजन द्वारा भी जिसम कोई अन्य व्यक्ति निणय लेता है।

विरोधी भूमिका (Conflict Role)

व्यक्ति इस प्रकार की विरोधी भूमिका को अपनी भूमिका होने का दावा करता है *जो वास्तव में उसको नहीं होती। वह अपनी वास्तविक भूमिका को सामाजिक* प्रताडना मे रक्षा करने हेतु विरोधी भूमिका का दावा करता है। जैसे एक तलाकशुदा महिला स्वय को विधवा बताती है अथवा एक व्यक्ति जो मिर्गी स पीडित है स्वय को शराब के नशे म होने का बहाना करता है।

भूमिका मे अलगाव (Role Distance)

गाफमैन (Goffman) न 1961 मे भूमिका से अलगाव (दूरी) की धारणा का प्रवर्तित किया। आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलताओ के चलते लोगो को न केवल अनेक तथा क्षणिक भूमिकाओ का निर्वहन करना होता है बल्कि उन्हे प्राय इन भूमिकाओ को साथ-साथ निभाना होता है—भूमिका निवहन भी करना होता है तथा स्वय को उससे अलग भी रखना होता है। केवल एक ही भूमिका से अलगाव प्रदर्शित करना सभव होता है क्योकि हम ऐसी सामाजिक सरचना मे रहते हैं जहाँ अनेक प्रकार की भूमिकाए होती हैं।

आदर्श भूमिका (Role Model)

जब कोई व्यक्ति ऐसी भूमिका निभाता है जिसके व्यवहार को लोग एक पटर्न अथवा आदर्श मानते हैं तथा उसी भूमिका म अपना व्यवहार उसके व्यवहार के आधार पर रखते है उसे आदर्श भूमिका कहते हैं। आदर्श भूमिका किसी भूमिका के अधिभोक्ता को ऐसे मानदण्ड प्रदान करती है जिसमे अन्य लोग उपयुक्त अभिवृत्ति का निर्धारण करते हैं। आदर्श भूमिका सदर्भ (Reference) व्यक्ति से भिन्न होती है। आदर्श भूमिका निर्वहन करने वाले व्यक्ति के व्यवहार व अभिवृत्तियो का अन्तरीकरण केवल एक अथवा बहुत कम भूमिकाओ तक ही सीमित रहता है जबकि सदर्भ व्यक्ति अधिक व्यापक होता है तथा उसम अनेक भूमिकाए समाहित होती हैं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के लिए व्यावसायिक भूमिका हेतु (प्राध्यापक, डॉक्टर अथवा उनके समान अन्य व्यवसाय वाले व्यक्ति) कोई आदर्श भूमिका हो सकती है किन्तु उस भूमिका के अन्य पहलुओ के सबध मे वह अनुकरणीय नहीं भी हो सकती। एक आदर्श भूमिका निर्वहन करने वाले व्यक्ति से व्यक्तिगत परिचय आवश्यक नहीं होता। वह व्यक्ति जीवित हो यह भी आवश्यक नहीं। वह काल्पनिक भी हो सकता है। इनमे सार्वजनिक क्षेत्र का व्यक्ति, ऐतिहासिक व्यक्ति तथा दन्त कथाओ का काल्पनिक व्यक्ति भी शामिल हो सकता है।

भूमिका निर्वहन (Role-Playing)

क्लेअर शूमैन (Claire Schuman) तथा ऑस्कर टारकोव (Oscar Tarcov) ने भूमिका निर्वहन के सोपान बताये हैं। विद्यार्थियों द्वारा किसी मसले पर चर्चा का हम उदाहरण लेंगे।

1. शिक्षकों का एक समूह चर्चा के विषय की परिधि मे आने वाली समस्या को निश्चित करेगा। सुझावों को सामने बोर्ड पर लिख दिया जावेगा जिसमे विद्यार्थी जिस भूमिका को सबसे महत्वपूर्ण समझे उसे चुनने मे उन्हे सुविधा हो। जैसे किसी बालक की कक्षा मे खराब शैक्षिक उपलब्धि विषय पर विद्यार्थी एक बालक, कक्षा शिक्षक, प्राचार्य अथवा पालक की भूमिका चुन सकते हैं।
2. समस्या के चयन के उपरान्त समूह यह निश्चित करेगा कि किन किन पात्रों का समावेश हो, उसका परिवेश क्या हो तथा प्रत्येक भूमिका हेतु कितना समय दिया जाए।
3 जो विद्यार्थी भूमिका निर्वहन न कर रहे हो उन्हे प्रेक्षकों की भूमिका निर्वहन हेतु निर्देशित किया जा सकता है।
4 अब भूमिका निर्वहन प्रारंभ होगा। यह 20 मिनट तक चल सकता है। कोई एक सदस्य चर्चा को नियंत्रित कर सकता है।
5 भूमिका निर्वहन समाप्त होने के तुरंत बाद भूमिका निर्वहन करने वाले व्यक्तियों की उन्हे भूमिका निर्वहन करते समय कैसा अनुभव हुआ तथा उस स्थिति मे अन्य लोगों को उन्होंने क्या प्रतिक्रिया दिखाई— इस सबध में उनकी प्रतिक्रिया प्राप्त की जाए।
6. इस संबंध में प्रेक्षकों के विचार लिए जा सकते हैं तथा भूमिका निर्वहन करने वाले व्यक्तियो से प्रश्न करने का अवसर दिया जा सकता है।
7 भूमिका निर्वहन पर प्रेक्षकों की टिप्पणियाँ चर्चा की तकनीक के रूप मे सबसे महत्वपूर्ण होती हैं।

प्रस्थिति व भूमिका में सम्बन्ध (Relationship between Status & Role)

समाज एक क्रमबद्ध व्यवस्था है। समाज व्यवस्था के सुदृढ रहने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक सदस्य प्रस्थिति के अनुसार एक विशेष भूमिका का निर्वाह करे। यह दशा प्रस्थिति और भूमिका का सन्तुलन कहलाती है। प्रस्थिति व भूमिका एक-दूसरे से इतने सम्बन्धित हैं कि इन्हे परस्पर पृथक नहीं किया जा सकता। प्रस्थितियों को ग्रहण किया जाता है जबकि भूमिकाओं को अदा किया जाता है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय धारणा एवं एक समाजशास्त्रीय घटना है, इसके विपरीत भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान की एक धारणा व घटना है। भूमिका की धारणा

व्यक्ति के स्तर पर प्रासंगिक होती है, जब वह अंतःक्रिया करता है। क्योंकि वह व्यक्ति ही है न कि संगठन अथवा संस्था जो भूमिका निभाते हैं तथा प्रस्थिति ग्रहण करते हैं। प्रस्थिति और भूमिका में समन्वय दो स्तरों पर होता है—व्यक्तित्व के स्तर पर और समाज के स्तर पर। प्रस्थिति और भूमिका एक सिक्के के दो पहलू हैं। प्रस्थिति के बिना भूमिका की कल्पना करना ऐसा ही है जैसे ताले के बिना चाभी। राफलिन्टन ने भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष कहा है।

7

सामाजिक समूह एवं औपचारिक संगठन

(Social Groups and Formal Organisations)

समूह क्या है? (What is a Group?)

साधारण बोल चाल की भाषा में किसी एक स्थान पर एकत्रित लोगों को समूह कहते हैं। समाजशास्त्रीय भाषा में कुछ लोग जब समान मानदंडों, भूमिकाओं की अपेक्षाओं व अनुशास्तियों (Sanctions) के आधार पर एकत्रित होते है तथा वे आपस में समान विशेषताओं, विचारों व मूल्यों से बंधे होने का भाव अनुभव करते है, रिचर्ड शैफर (Richard Schaefer, 1989 145)। परिवार, कॉलेज, वृद्धजन, करोड़पति लोग, श्रम संगठन आदि समूह कहलाते हैं।

थियोडोरसन व थियोडोरसन (Theodorson and Theodorson, 1969 176) ने समूह की परिभाषा इस प्रकार की है— कुछ लोग जो अपने में समरूपता देखते हैं, उनमें कुछ सीमा तक एकता की भावना होती है तथा अनेक समान लक्ष्य व मानदंड होते हैं, उन्हें समूह कहते है। इसके सदस्य एक-दूसरे से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संप्रेषण करते हैं, उनकी अंतःक्रिया के पैटर्न निश्चित होते हैं व समेकित भूमिकाओं के तंत्र पर आधारित होते हैं तथा वे कुछ सीमा तक स्वतंत्र होते हैं। ब्रूम और सेल्जनिक (Broom and Selznick, 1960 24) के अनुसार समूह एकत्रित लोग हैं जो विशिष्ट सामाजिक संबंधों द्वारा एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। हॉर्टन तथा हण्ट ने समूह उन लोगों के एकत्रित होने को कहा है जो समान विशेषताओं से बंधे

होते हैं। उन्ही की एक और परिभाषा के अनुसार जब कुछ लोग सदस्यता के प्रति समान चेतना की भावना से एकत्र होते हे तथा आपस मे अत:क्रिया करते हैं तो उन्हे समूह कहते हे।

रॉबर्टसन (Robertson, 1981 155) ने समूह को इस प्रकार परिभाषित किया है "लोगो का एकत्रीकरण जो एक दूसरे के व्यवहार से सबधित समान आकाक्षाओ के आधार पर सुव्यवस्थित रूप से परस्पर अंत:क्रिया करते हैं उन्हे सगूह कहते हैं।"

सामाजिक सम्बन्धो के जाल को समूह कहा जाता है। समूहो का निर्माण आवश्यक हे क्योकि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। किसी सामाजिक समूह का सार अत क्रिया की सचेतना है। कोई एक घटना किसी समूहन (Aggregation) को एक समूह मे बदल देती है। मान ले कि कुछ लोग एक बस मे यात्रा कर रहे हैं तथा एकाएक एक यात्री तथा कडक्टर के बीच विवाद होने लगता है। बस का ड्राइवर व कडक्टर कहते हैं कि वे बस को अगले स्टॉप पर रोक देगे तथा उसे तब तक आगे नहीं बढाएगे जब तक विवाद करने वाला यात्री बस से उतर नही जाता। सभी यात्री फोरन एक समूह का रूप ले लेते हैं तथा बस मे विलब के प्रति अपना क्रोध तथा विरोध प्रकट करते हैं। उन्हे एक समूह मे बदलने के लिए अत.क्रिया की सचेतना आवश्यक हे।

समूह, समूहन समष्टि एव सवर्ग में अंतर

(Difference between a Group, an Aggregate Collectivity and Category)

बाजार मे, रेलवे स्टेशन पर, बस स्टैन्ड पर लोगो के एकत्रित होने पर उसे समूह नही कहेंगे। समूह की यह परिभाषा कि यह ऐसे लोगो का एकत्रीकरण समष्टि (Collectivity) है जिनमे समान विशेषताए होती हैं सही नहीं है क्योकि इस परिभाषा के अनुसार सभी तपेदिक के मरीज, जयपुर शहर के सभी निवासी, सभी चोर, सभी महिला अपराधी, सभी शराबी समूह कहलायेंगे। समूहन ऐसे एकत्रित लोग हैं जो भौगोलिक दृष्टि से साथ हैं अथवा अस्थाई तौर पर एक-दूसरे से शारीरिक रूप से पास-पास हे किन्तु वे परस्पर अत.क्रिया नहीं करते तथा सगठित नहीं होते अथवा उनमे स्थाई रूप से अत:क्रिया का पैटर्न नहीं होता। रेलगाडी की प्रतीक्षा मे खडे अनेक लोगो को हम समूहन (Aggregation) कह सकते है, एक समूह नहीं कह सकते। जब तक उनके सामने कुछ ऐसा घटित हो जैसे दुर्घटना, जो उन सबका ध्यान अपनी ओर खींचे तथा उनके हित उन्हे साथ बाँध रखे व उन्हे समूह मे परिवर्तित न कर दे। किसी होटल मे एकत्रित लोग, किसी बाजार मे पैदल चलने वाले लोग, लोगो की भीड किसी कार्यक्रम के प्रेक्षक, एक जनसमुदाय आदि सभी समूहन के उदाहरण हैं। समष्टि में ऐसे व्यक्तियो का समावेश होता है जो एक समान भावनाओ व मूल्यो मे विश्वास करते हैं किन्तु आपस मे अतक्रिया द्वारा सम्बद्ध नहीं होते।

लोगों का ऐसा एकत्रीकरण जिनमें समान विशेषताएं तथा सामाजिक स्थिति है सवर्ग या कोटि (Category) कहलाते है। जिन व्यक्तियों की समान आय होती है अथवा जो आयु, पेशा तथा शिक्षा जैसे रूपो मे एक जैसे होते हैं उन्हें समाजशास्त्रीय अर्थ मे सामाजिक कोटियो (Social Categories) के रूप में जाना जाता है। मर्टन के अनुसार जिन व्यक्तियों मे एक भी सामान्य विशेषता है - शारीरिक अथवा सामाजिक वे एक ही सामाजिक संवर्ग के सदस्य हैं। उनके मूल्य व अभिरुचि समान होती है, उनमें भाईचारे की भावना होती है तथा उनके भूमिका सबंधो का समान पैटर्न होता है जैसे एक ही प्रजाति के लोग। इस प्रकार हम देखते हैं कि सवर्ग एक वृहद् शब्द है जिसके अंतर्गत समूह तथा वे बहुसख्य (Plurality) शामिल हैं जिनमें पर्याप्त सरचना तथा अंत:क्रिया का अभाव होता है जिस कारण उन्हें समूह नहीं कहा जा सकता किन्तु वे केवल समूहन भी नहीं होते। सक्षेप मे समष्टि समूहन तथा समूह के बीच में होते है।

सामाजिक सवर्ग, सामाजिक समूह व सामाजिक समष्टि (Collectivities) दोनो से भिन्न होते हैं। सामाजिक सवर्ग, सामाजिक प्रस्थितियो (Statuses) के सकलन (Aggregates) होते है जिनके अध्यावासी (Occupants) एक दूसरे से सामाजिक अत:क्रिया नहीं करते। उनके समान सामाजिक लक्षण जैसे लिंग, आय, आयु आदि होते हैं, किन्तु वे विशिष्ट एव सामान्य मानको की ओर आवश्यक रूप से उन्मुख नहीं होते। समान प्रस्थितिया तथा फलस्वरूप समान हितो व मूल्यो के होते हुए भी सामाजिक सवर्गो को समष्टियो अथवा समूहो मे गतिशील किया जा सकता है। समूह के रूप मे परिचालन करते हुए उसी सामाजिक सवर्ग के सदस्य समवयस्क समूहो के रूप मे विचार कर सकते हैं। यद्यपि सभी समूह समष्टियाँ होते है किन्तु वे समष्टियाँ जिनमे सदस्यो का आपसी अत:क्रिया का अभाव होता है वे समूह नहीं होती। यह होते हुए भी समष्टियो में समूह निर्माण की सभावनाएं होती है। मर्टन के अनुसार सामाजिक सवर्ग सदस्यो मे अन्त:क्रिया नहीं होती जबकि गिटलर यह मानते हैं कि इनमें अन्त:क्रिया हो सकती है।

संवर्ग अथवा समूहन का रूपान्तर समूहो मे हो सकता है। मान ले कि कुछ लोग शहर में भूकम्प आने से एक मदिर में एकत्र हुए हैं। पूर्व मे इन लोगों मे कोई समानता नहीं थी। वे एक-दूसरे को जानते तक नहीं थे। अब जब सभी समान विपत्ति का सामना कर रहे हैं अत: वे परस्पर बात कर रहे हैं, अपने जीवनो पर चर्चा कर रहे हैं व यही नहीं वे आपस मे भोजन सामग्री भी मिल बाट कर खा रहे है। इस प्रकार वे एक समूह में परिवर्तित हो गए हैं। प्रवसन के बाद जब बगाली शरणार्थी भारत में आकर एक ही शहर मे साथ-साथ पडोस मे रहने लगे तब वे केवल संवर्ग मात्र थे। किन्तु जब वे एक-दूसरे को काम खोजने में मदद करने लगे, एक-दूसरे

को सुरक्षा प्रदान करने लगे तब उनमे एक प्रकार की चेतना आई व वे एक समूह मे सगठित हो गए।

सामाजिक समूहो का महत्व (Importance of Social Groups)

व्यक्ति जीवन भर किसी न किसी समाज का सदस्य अवश्य रहता है। सामाजिक समूहो का मानव जीवन मे अत्यन्त महत्व है। प्राथमिक समूह आवश्यकताओ की पूर्ति सास्कृतिक हस्तातरण समाजीकरण सामाजिक नियत्रण, सामाजिक परिवर्तन नैतिक गुणो के विकास आदि मे सहायक होते हैं। आधुनिक समाजो मे व्यक्तियो की आवश्यकताए इतनी अधिक है कि उनकी पूर्ति केवल प्राथमिक समूहो द्वारा सभव नहीं है। अत इनकी पूर्ति हेतु द्वितीयक समूहो की आवश्यकता पडती है। इसलिए आधुनिक समाजो मे सामाजिक समूहो का महत्व बढता जा रहा है।

समूहो की प्रकृति (The Nature of Groups)

समूह के महत्वपूर्ण पहलू हैं :—

(1) **छोटा आकार** घनिष्ठ सवेगात्मक सबध तभी प्रस्थापित हो सकते है जब समूह का आकार छोटा हो। इस प्रकार यदि कुछ मित्र रोज मिलते हैं तो उनके बीच प्राथमिक सबध अधिक सुगमता से स्थापित होगे बजाय बडे चेम्बर ऑफ कॉमर्स के।

(2) **आमने–सामने के प्रत्यक्ष सम्पर्क** लोगो मे प्राथमिक सबध सुगमता से स्थापित हो सकते हैं जब वे एक–दूसर से प्रत्यक्ष मिलते ह, जब वे परस्पर मूक सप्रेषण को समझते व अनुभव करते ह, वे एक-दूसरे की आवाज का स्वर व स्पर्श पहचानते ह। किन्तु लोग प्राथमिक सबध पत्र लिखकर, टेलीफोन पर बाते कर तथा इन्टरनेट के माध्यम से जारी रख सकते ह चाहे एक-दूमरे से नोकरी, व्यापार अथवा युद्ध के कारण अलग हो गए हो।

(3) **सदस्यो के बीच सतत अत:क्रिया अथवा सम्पर्क :** घनिष्टता तथा एक दूसरे के प्रति चिता की भावना थोडे समय के सम्पर्क से यदा-कदा ही विकसित होती है।

(4) समान लक्ष्य जैसे परिवार के लिए सुरक्षा।

(5) सदस्यो मे समूह के साथ पहचान तथा समूह के प्रति अपनत्व की भावना (जैसे परिवार)।

(6) प्रत्येक सदस्य हेतु व्यवहार के नियम अथवा मानदड (जैसे कॉलेज मे होते है)।

जब सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति चिंता की भावना नहीं होती तब प्राथमिक संबंधों का विकास प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए शिक्षक तथा विद्यार्थी कॉलेज में एक-दूसरे से अक्सर मिलते हैं किन्तु उनमें प्राथमिक सबंधों का विकास नहीं होता। इसी प्रकार न्यायाधीश व वकील न्यायालय में, जेलर व कैदी जेल में, परस्पर रोज मिलते हैं। उनमें भी प्राथमिक सबध विकसित नहीं होते।

सामाजिक समूहों के सामान्य लक्षण
(General Characteristics of Social Groups)

एक सामाजिक समूह अन्य मानवीय समूहों के प्रकारों से निम्न चार मूलभूत लक्षणों में भिन्न होता है:—

(1) एक सामाजिक समूह एक स्थाई संगठन होता है। इस दृष्टि से अन्य क्षणिक व अल्पकालिक समूहों जैसे भीड़भाड़, उत्तेजित भीड़ व श्रोतावृंदों से भिन्न है।

(2) यह सचरित व संरचित होता है। इस पहलू से यह असंरक्षित झुंडो जैसे जनसाधारण से भिन्न होता है।

(3) एक सामाजिक समूह में उसके सदस्यों के बीच अंतःक्रिया व संबंध निहित होते हैं। यह उन सांख्यिकीय समूहों से भिन्न है जो व्यक्तियों को लिंग, आयु, आय, शिक्षा आदि के आधार पर वर्गीकृत करते हैं।

(4) एक सामाजिक समूह में चुने हुए व सीमित सदस्य होते हैं जो उनके संगठन द्वारा प्रदत्त परिसंपत्ति में समान जिम्मेदारी रखते हैं। यह लक्षण इन समूहों को कारखानों, कार्यालय, बैंकों व अन्य निगमित संस्थाओं से पृथक करता है।

समूहों के कार्य (Functions of Groups)

मानव को मैत्री तथा शारीरिक व संवेगात्मक सहारे की आवश्यकता होती है। हम ऐसे मनुष्य की कल्पना भी नहीं कर सकते जो अपने जीवन में संवेग के अनुसार व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र हो। केवल शिशुओं व बच्चों को ही कई वर्षो तक पालन–पोषण की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि किशोरों, युवाओं, वयस्कों व वृद्ध लोग भी मानवीय सपर्क के बिना अकेले नहीं रह सकते। जंगल में पाए गए कुछ बच्चों का पोषण भेड़ियों द्वारा किए जाने के कुछ उदाहरण हमें सुनने को मिलते हैं, किन्तु इन अप्रसामान्य बच्चों की प्रतिक्रियाएं मानवीय न होकर पाशविक होती हैं। प्राथमिक समूहों के प्रमुख कार्य निम्नानुसार बताए हैं— (1) वे व्यक्तिगत तथा घनिष्ठ संबंधों के माध्यम से संवेगात्मक आधार प्रदान करते हैं। (2) वे समाजीकरण की प्रक्रिया में योगदान देते हैं। (3) वे सामाजिक नियंत्रण में योगदान देते हैं। स्मिथ एवं प्रेस्टन (Smith and Preston, 1977 95) ने समूहों के चार कार्य बताए हैं:–

सहचर्य (Companionship)
अनुभव (Experience)

मान्यता (Recognition)

सुरक्षा (Security)—शारीरिक व सवेगात्मक

एलिस व ल्पिंझ (1979 97) ने कहा है कि समूह तीन वृहद् क्षेत्रो मे प्रभावकारी हो सकते हैं— (1) वे व्यक्ति की व्यक्तिगत आवश्यकताओ की पूर्ति म मदद करते हैं जैसे सुरक्षित परिवेश, प्रेम सम्मान आदि। इस प्रकार परिवार, बैंक क्लब व्यवस्थापिकाए श्रम सघ पडोस समवयीन लोग इन आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं।

(2) वस्तुओ व सेवाओ का उत्पादन कर उनका नियमित रूप से विभाजन कर, आन्तरिक एव वाह्य खतरों से सुरक्षा प्रदान कर व समाज को बनाए रखते हैं तथा

(3) वे अपने आप को बनाए रखते हैं अथात स्वय सेवा का कार्य करते हैं।

समूहो के प्रकार (Types of Groups)

समूह निम्न प्रकार के हो सकते हैं— स्वैच्छिक/अनैच्छिक खुले/बन्द, बडे/छोटे, औपचारिक/अनौपचारिक, अत./वाह्य, प्राथमिक/द्वितीयक उदग्र/समतल आदि

स्वैच्छिक व अनैच्छिक समूह (Voluntary and Involuntary Groups)

स्वैच्छिक समूह वे समूह होते हैं जिन्हे लोग अपने स्वय के विकल्प तथा प्रयास से पाते हैं। एक राजनैतिक दल क्लब, कॉलेज पडोस, फैक्टरी के श्रमिक ऑफिस के कर्मचारी, ये सब स्वैच्छिक समूहो के उदाहरण हैं। इसके विपरीत अनैच्छिक समूह वे समूह होते हैं जिनका सदस्य लोगो को जबरन बनाया जाता है अथवा किसी विकल्प के बिना लोग इन समूहो के सदस्य स्वय ही बन जाते हैं। परिवार जाति, नृजाति समूह वृद्ध लोगो का समूह गदी बस्ती मे रह रही महिलाओ का समूह आदि अनैच्छिक समूहो के उदाहरण हैं। कम्प्यूटर आपरेटर कॉलेज मे व्याख्याता अथवा किसी शाला म प्राचार्य बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है किन्तु एक लडकी बनना स्वेच्छा पर निर्भर नहीं करता। कभी-कभी इन दोनो प्रकार के समूहो मे भेद करना अधिक जटिल हो जाता है। कोई वृद्ध व्यक्ति जिसके परिवार के सभी व्यक्ति मर चुके हैं उसे शहर के किसी वृद्धाश्रम मे जाना पडता है। इसके अतिरिक्त उसके सामने कोई विकल्प नहीं है। उसे जबरन एक ऐसा जीवन व्यतीत करने पर वाध्य होना पडता है जिसे वह पसद नहीं करता। इसी प्रकार मान ले कि एक विद्यार्थी जोधपुर के विधि विश्वविद्यालय म प्रवेश लेता है क्योकि उसे आई आई टी मे प्रवेश नहीं मिलता। बताइए उसने स्वैच्छिक समूह अपनाया है अथवा उसे अनैच्छिक समूह का सदस्य बनना पडा? वस्तुपरक दृष्टि से देखे तो यह स्वैच्छिक समूह प्रतीत होता है किन्तु जिस प्रकार उस विद्यार्थी ने वह समूह अपनाया इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

खुले व बन्द समूह (Open and Closed Groups)

खुले समूह वे समूह होते हैं जिनकी सदस्यता कोई भी व्यक्ति ले सकता है जबकि बन्द समूहों की सदस्यता लेना सरल नहीं होता। जाति एक बन्द समूह है किन्तु खेल का मैदान खुला समूह है। कुछ क्लब ऐसे होते हैं जिनकी सदस्यता सभी को नहीं मिलती। सदस्यता के लिए ऐसे नियम प्रस्थापित किए जाते हैं कि इनकी सदस्यता मिलना बहुत कठिन होता है। कॉलेज के गिने-चुने विद्यार्थियों का ऐसा गुट जिसके सदस्यों का कॉलेज की पढ़ाई लिखाई से कोई लेना-देना नहीं होता व कॉलेज में केवल मजा करने आते हैं कॉलेज के अन्य छात्रों को परेशान करते हैं आदि। यह गुट किसी भी विद्यार्थी को अपने गुट में प्रवेश नहीं देता। केवल कुछ गिने चुने छात्र ही इसके सदस्य बन सकते हैं।

बड़े व छोटे समूह (Large and Small Groups)

समूहों का आकार उसके सदस्यों के संबंधों को प्रभावित करता है। यदि समूह छोटा है तो उसके सदस्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से कर सकते हैं। यदि समूह बड़ा हुआ तो सदस्यों को प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार कुछ कॉलेज केवल थोड़े ही छात्रों को जो अच्छे व मेधावी होते हैं प्रवेश देते हैं जिससे उनके कॉलेज की गुणवत्ता बनी रहती है व प्रत्येक छात्र की ओर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता है। वहीं दूसरी ओर लक्ष्यों की प्राप्ति तभी संभव होती है जब समूह का आकार बड़ा हो। कुछ आतंकवादी गुटों का यही प्रयास रहता है कि कश्मीर, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, तालिबान तथा अन्य देशों से अधिक से अधिक युवकों को अपने संगठन में भर्ती किया जाए जिससे उन्हें शस्त्र व प्रशिक्षण देकर अशांति फैलाने हेतु भेजा जा सके। इस हेतु उन्हें समर्थन व सहायता भी मिलती है। इन्हें 'स्वतंत्रता सेनानी' कहा जाता है। इन्हें 'आतंकवादी' मानने से मना किया जाता है। छोटे समूहों में लोग एकदूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं जब कि बड़े समूहों में विशिष्ट कार्यों के संपादन हेतु कार्य का बंटवारा करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार एक बड़े व्यापारिक संगठन में एक संचालक खरीदी, दूसरा बिक्री, तीसरा, संविदाओं, चौथा पत्र व्यवहार, पांचवा संगठन की श्रम समस्याओं की ओर ध्यान देता है। हम देखते हैं कि एक बड़े संगठन में एक व्यक्ति एक विशिष्ट कार्य के प्रति उत्तरदायी होता है वहीं किसी छोटे संगठन में एक ही व्यक्ति को अनेक कार्य व जिम्मेदारियों को वहन करना होता है।

औपचारिक व अनौपचारिक समूह (Formal and Informal Groups)

औपचारिक समूह वे समूह होते हैं जिनकी संरचना व गतिविधियाँ निश्चित रूप से नियत नियमों, लक्ष्यों व नेतृत्व द्वारा तार्किक रूप से संगठित होती हैं तथा वे मानवीकृत होती हैं। श्रम संगठन इसके अच्छे उदाहरण हैं। अनौपचारिक समूह वे समूह हैं

जिनके कोई औपचारिक नियम, लक्ष्य व नेतृत्व नहीं होता। ये प्राय छोटे होते हैं तथा इन्हें अनौपचारिक रूप से व सहजभाव से गठित किया जाता है। इनके सदस्यो के बीच सबध अतरग होते हैं तथा वे समान रूचि रखते हैं जैसे बच्चों के खेले ग्रुप गुट आदि। कभी-कभी अनौपचारिक व प्राथमिक समूहो का उल्लेख साथ-साथ किया जाता है। किन्तु वे पृथक पृथक होते हैं। एक प्राथमिक समूह की सरचना दृढ होती है तथा यह अनौपचारिक समूह से अधिक स्थाई व ससजक (Cohesive) होता है। एक अनौपचारिक समूह के लक्ष्य मानवीकृत तथा विवेकपूर्ण नहीं होते। इसके मानदण्ड आमने सामने के सबधो के फलस्वरूप बनते हैं तथा इनका पालन सदस्यो के बीच घनिष्ट व आत्मिक सबधो के कारण होता है।

अन्त व बाह्य समूह (In-Group and Out-Group)

अन्त समूह की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम डब्ल्यू जी समनर (W G Sumner) ने सन् 1907 मे अपनी पुस्तक 'फोकवेज' मे किया था। अत समूह वह समूह होता है जिसके सदस्य आपस मे आत्मीयता तथा अपनेपन की भावना का अनुभव करते है। अत: समूह के सदस्य एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, घनिष्ट लगाव तथा साथ साथ काम करने की भावनाओ से ओत प्रोत होते है। वह समूह के सदस्यों को 'हम' से सबोधित करता है। महिला समानतावादी समूह रोटेरियन्स शिक्षक पुलिस, शासकीय कर्मचारी, शिव सैनिक आदि इसके उदाहरण हैं। ये समूह जिनके साथ व्यक्ति पहचान बनाता है, वे उसके अत समूह होते हैं जैसे उसका परिवार, कबीला कालेज आदि। ये समूह उसकी पसद की जागरकता अथवा उनके प्रकार की सचेतकता से बनते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की व्यक्तिनिष्ठ अभिवृत्तियाँ उसके अन्त समूह की सदस्यता प्रकट करती हैं। ये अभिवृत्तियाँ सदैव विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियो से सबधित होती है। अन्त समूह की अभिवृत्तियो मे प्राय सहानुभूति के कुछ तत्व होते है तथा समूह के अन्य सदस्यो के प्रति आसक्ति की भावना हमेशा रहती है।

बाह्य समूह के सदस्य एक प्रकार से एक-दूसरे से अपरिचित रहते है तथा वे समूह मे एकरूप नहीं होते। बाह्य समूह के सदस्यों को 'हम' से नही बल्कि 'वे' से सबोधित किया जाता है। बाह्य समूह के सदस्यो के प्रति विरोधी भावना भय, घृणा, सदेह आदि के भाव होते हैं। यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति का अत समूह दूसरे व्यक्ति के लिए बाह्य समूह हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी समूह को एक बार अन्त:समूह अथवा बाह्य समूह मानता है तो उसे ऐसा जीवन भर करना होगा। वह अपनी धारणा बदल सकता हैं। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अपने मित्रो के समूह को अन्त समूह मानता है किन्तु जब इस समूह के सदस्यो द्वारा उसे नुकसान पहुचाया जाता है तो वह उसे अब अत समूह नहीं भी मान सकता।

हॉर्टन व हण्ट (1984 : 190) कहते हैं कि आधुनिक समाज मे लोग इतने अधिक समूहों के सदस्य होते हैं कि उनके अन्त:समूह व बाह्य समूह एक दूसरे को अधिव्यापित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक व्याख्याताओ को अधिकाश समय बाह्य समूह मानते हैं किन्तु जब वे शिक्षकों की बैठक मे विश्वविद्यालय के शैक्षिक कार्यों मे शासन की दखलदाजी के विरोध मे चर्चा करते हैं तो वे दोनो अंत:समूह बन जाते हैं। इसी प्रकार एक विभाग (जसे समाजशास्त्र) के विद्यार्थी होने के नाते विद्यार्थियो मे अत:समूह के सबध हो सकते हैं किन्तु कॉलेज के चुनाव के समय वे विभिन्न राजनैतिक समूहो मे बट सकते हैं अत: वे उसी अत:समूह मे नहीं रह सकते।

अन्त:समूह से निष्कासन की प्रक्रिया असहनीय हो सकती है। उदाहरण के लिए जाति एक अत:समूह है। मान ले कि कोई परिवार जाति के मानदडो का पालन नहीं करता अत: उसे जाति की पचायत द्वारा जाति से निष्कासित कर दिया जाता है व उसे गाव छोडने के आदेश दिए जाते हैं। यह परिवार कहा जाएगा? उसके जीवनोपार्जन के नए साधन क्या होगे? उस परिवार के बच्चे किसके साथ बात करेंगे? उनका विवाह किसके साथ होगा? इसीलिए अन्त:समूह व बाह्य समूह महत्वपूर्ण हैं क्योकि वे व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अत:समूह के सदस्य मान्यता, निष्ठा तथा सहायता प्रदान करते हैं। बाह्य समूह उदासीनता, प्रतिस्पर्द्धा, शत्रुता आदि प्रदर्शित कर सकते हैं।

किसी व्यक्ति द्वारा अन्त:समूह व बाह्य समूहो से रखी जाने वाली सामाजिक दूरी समान हो यह आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी फुटबाल टीम का समर्पित सदस्य है किन्तु भारतीय जनता पार्टी का उदासीन सदस्य हो सकता है। ये दोनो उसके अन्त:समूह होते हैं किन्तु वह फुटबाल टीम से कम दूरी रखता है जबकि कॉंग्रेस पार्टी से अधिक दूरी रखता है। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति सभी बाह्य समूहों से समान अन्तर नहीं रख सकता। भारत मे सामाजिक अन्तर के मापन हेतु बोगार्डस (Bogardus) के पैमाने का उपयोग किया गया अर्थात किसी एक जाति के दूसरे जाति अथवा जातियो के साथ विवाह, पडोस, किराएदार, सहयोगियो, मित्रो आदि के सबंधों का अध्ययन करके उस जाति के पसंद-नापसद के आधार पर निकटता अथवा स्वीकार्यता को नापा गया।

प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह (Primary and Secondary Groups)

प्राथमिक समूह का सर्वप्रथम प्रयोग चार्ल्स कूले ने सन् 1909 में किया।

प्राथमिक समूह वह समूह होता है जिसके सदस्यों के आपसी संबंध निकट के, आत्मीय, वैयक्तिक व स्थाई होते हैं तथा वे एक दूसरे के प्रत्यक्ष संपर्क में रहते हैं। ये संबंध समान मूल्यों तथा व्यवहार के मूलभूत मानदंडो पर आधारित होते हैं।

स्पेसर ने उन समूहों को प्राथमिक समूह कहा है जिनके सदस्य एक दूसरे से व्यक्तिगत आत्मीय व भावनात्मक आधार पर सबध बनाए रखते हैं तथा वे 'हम' की भावना के साथ एक दूसरे से जुडे रहते हैं। इस समूह के सदस्य एक दूसरे के साथ अनेक गतिविधियों मे सलग्न रहते हे तथा उनका एक दूसरे के समाजीकरण व व्यक्तित्व विकास पर बुनियादी प्रभाव पडता है जैसे परिवार, छोटी बस्ती आदि। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि समूह के सभी सदस्यो के बीच सौहार्दपूर्ण सबध हो। कुछ सदस्य एक दूसरे से उदासीनता के साथ व्यवहार कर सकते हे अथवा एक दूसरे से घृणा भी कर सकते हैं। एक पुत्र को अपने निर्दयी व कठोर पिता से स्नेह का अभाव हो सकता है। कूले ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीन प्राथमिक समूह बताये हैं। परिवार बच्चो का क्रीडा समूह तथा पडोस। प्राथमिक समूह अपेक्षाकृत स्थाई एव आकार की दृष्टि से लघु होते हैं। प्राथमिक समूह की विशेषताए ह—सामाजिक सम्बन्धों का व्यक्तिगत स्वरूप, सामान्य उद्देश्य, सम्बन्धो मे पूर्णता, सामान्य मूल्य, सम्बन्धित व्यक्तियो से प्रगाढ भावात्मक प्रत्युत्तर की अपेक्षा। ऐसे समूह घनिष्टता, अपनत्व तथा व्यक्तिगत भावना से ओतप्रोत होते हैं।

कूले के अनुसार प्राथमिक समूह मे 'हम की भावना' होती है आर समूह के सदस्यो के बीच आमने-सामने (Face to face) के सबध होते हैं। किगस्ले डेविस ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि हम की भावना प्राथमिक समूहो के अलावा द्वितीयक समूहों मे भी होती ह तथा आमने-सामने के सबधो के बिना भी प्राथमिक समूह का निर्माण हो सकता है। डेविस की ये दो आपत्तियाँ हैं। किन्तु कूले ने हम की भावना और आमने सामने के सबधो के अलावा प्राथमिक समूह की अन्य विशेषताओ जसे वैयक्तिक सबध सबधो की अवधि आदि का भी उल्लेख किया है। प्राथमिक समूह मे सामाजिक सबधो की घनिष्टता को अधिक महत्व दिया जाता है। घने सम्बन्धों वाले कार्य-समूह जेल के सहवासी प्राथमिक समूह के उदाहरण है।

प्राथमिक समूहो का महत्व (Importance of Primary Groups)

प्राथमिक समूह व्यक्ति ओर समाज दोनो के लिए महत्वपूर्ण हैं। समाजीकरण की प्रमुख सस्था परिवार है, जो एक प्राथमिक समूह हे। पारसन्स के मतानुसार मानवीयकरण (Humanisation) की प्रक्रिया प्राथमिक समूहो मे होती है। कूले के अनुसार प्राथमिक समूह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शो के निर्माण हेतु आधार हैं और सामाजिक नियत्रण मे इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। प्राथमिक समूह व्यक्तित्व निर्माण, व्यक्तिगत सुरक्षा मे सहयोग देते हैं। त्याग, सहानुभूति, सहनशीलता आदि गुण प्राथमिक समूहो मे विकसित होते हैं।

प्राथमिक समूहो का अपकार्यात्मक पहलू (Dysfunctional Aspect) भी है। **कोजर व रोजनबर्ग (Coser and Rosenberg)** ने भाई-भतीजावाद (Nepotism),

पक्षपात, धन एकत्रीकरण का उल्लेख किया है। प्राथमिक सम्बंधों की घनिष्ठता के कारण सार्वजनिक जीवन में अपने सम्बंधियों को लाभ देने, मदद करने, प्राथमिकता दिये जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुछ विघटनकारी परिणामों के बावजूद प्राथमिक समूह समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीयक समूह (Secondary Groups)

कुछ समाजशास्त्रियों (किंग्स्ले डेविस, बीरस्टीड आदि) ने द्वितीयक समूह की परिभाषा के लिए नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। उनके अनुसार द्वितीयक समूह वे समूह हैं जो प्राथमिक नहीं हैं। आगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार जिन समूहों में घनिष्ठता का अभाव होता है, उन्हें द्वितीयक समूह कहते हैं। सामान्यतः उन विशेषताओं का भी अभाव पाया जाता है जो प्राथमिक समूहों में पायी जाती हैं। महाविद्यालय, श्रमिक संघ, राजनीतिक दल आदि द्वितीयक समूह हैं।

द्वितीयक समूहों के सदस्यों के बीच आपसी संबंध अवैयक्तिक, ऊपरी तौर के तथा क्रियात्मक होते हैं। ये संबंध आमने-सामने के अथवा परोक्ष हो सकते हैं। सदस्य एक दूसरे के साथ बिना भावुकता के व व्यावहारिक तरीके से बात करते हैं जैसे पालक—शिक्षक संघ, राजनैतिक दल, क्लब, श्रम संगठन, आदि। द्वितीयक समूह के सदस्य प्रायः अपने विशिष्ट हितों के माध्यम से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। अधिकांश द्वितीयक समूह औपचारिक होते हैं। जबकि अधिकांश प्राथमिक समूह अनौपचारिक होते हैं। द्वितीयक समूह कार्य-अभिमुख (Task Oriented) होते हैं।

हॉर्टन व हण्ट (1984 : 195) का मानना है कि 'प्राथमिक' व 'द्वितीयक' ये शब्द केवल संबंधों के प्रकार का वर्णन करते हैं तथा यह नहीं बताते कि कौन सा समूह दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण है। प्राथमिक इस बात से नहीं जाने जाते कि वे किसी कार्य को कितनी निपुणता से करते हैं बल्कि उनकी पहिचान उनके द्वारा सदस्यों को कितनी भावनात्मक संतुष्टि दी जाती है, इससे होती है। ऑफिस में कार्य करने वाले लोगों का एक समूह (प्राथमिक समूह) के सदस्य मिलकर दोपहर को भोजन करते हैं तथा उस समय सुखद व तनावमुक्त वार्तालाप करते हैं किन्तु इनकी यूनियन (द्वितीयक समूह) केवल उनके व्यावसायिक हितों का ही संरक्षण करती है। इस प्रकार प्राथमिक समूहों का आकलन सदस्यों को उनके द्वारा प्रदत्त संतोषजनक मानवीय प्रतिक्रिया के आधार पर किया जाता है जबकि द्वितीयक समूहों का आकलन उनकी किसी कार्य को करने अथवा लक्ष्य प्राप्त करने की क्षमता के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों में प्राथमिक समूह संबंधोन्मुख होते हैं जबकि द्वितीयक समूह लक्ष्योन्मुख होते हैं।

प्राथमिक व द्वितीयक समूहों में गुण, अवधि, विस्तार व संबंधों के आत्मपरक

परिप्रेक्ष्य के आधार पर अतर किया जा सकता है। सबधो के गुणात्मक दृष्टिकोण से हम देखे तो प्राथमिक समूह व्यक्ति उन्मुख होते हैं जबकि द्वितीयक समूह लक्ष्योन्मुख। सबधो की अवधि की दृष्टि से प्राथमिक समूह प्राय. दीर्घावधि समूह होते हैं जबकि द्वितीयक समूह अल्पकालिक होते हैं। सबधो के विस्तार की दृष्टि से प्राथमिक समूह विस्तृत होते हैं तथा अनेक गतिविधियो मे रत होते हैं जबकि द्वितीयक समूह लक्ष्य प्राप्ति के साधन है (मेकियन्स एव प्लमर, 1997 81)। कार्यात्मक स्तर की दृष्टि से प्राथमिक समूह मुख्यत निम्न–आय व पूर्व औद्योगिक समाजो मे विद्यमान होते हैं जबकि द्वितीयक समूह उच्च आय व औद्योगिक समाजो मे पाए जाते हैं।

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों मे अन्तर

प्राथमिक एव द्वितीयक समूहो मे अन्तर सामान्यत. अन्त:क्रिया की मात्रा के आधार पर किया जाता है। द्वितीयक समूह मे लक्ष्यों के पहचान की कमी होती है, वे औपचारिक नियमो से नियंत्रित होते हैं तथा इतने बडे होते हैं कि सदस्यो के लिए समीप का सम्पर्क बनाये रखना सभव नहीं होता।

प्राथमिक समूह	द्वितीयक समूह
(i) अपेक्षाकृत छोटे	प्राय: बडे
(ii) आमने सामने व घनिष्ट सपर्क सहयोगात्मक	कम सामाजिक घनिष्टता व आपसी समझ औपचारिक
(iii) घनिष्ट, व्यक्तिगत व औपचारिक सबध	व्यक्तिगत सबध सीमित व विशिष्टीकृत
(iv) दीर्घकालीन अत.क्रिया	अल्पकालीन व अस्थाई अत क्रिया
(v) सम्मुखी सम्पर्क	परोक्ष सम्बन्ध
(vi) वैयक्तिक (Personal) सम्बन्ध	अवैयक्तिक सम्बन्ध
(vii) सम्बन्ध स्थायी	सम्बन्ध कम स्थायी
(viii) सामाजिक नियत्रण मे अनौपचारिक (Informal) साधनो का प्रयोग	सामाजिक नियत्रण मे औपचारिक (Formal) साधनो का प्रयोग
(ix) घरेलू सम्बन्ध	कार्य सम्बन्धी सम्बन्ध

गोल्डनर एव गोल्डनर (1963, 305-307) ने प्राथमिक एव द्वितीकीय समूहो के बीच के अन्तर निम्न आधार पर समझाए है:—

विसरण की मात्रा (Degree of Diffuseness)

प्राथमिक समूहों के सदस्यों के अधिकारों व कर्तव्यों को अस्पष्ट रूप से परिभाषित तथा सीमांकित किया जाता है। द्वितीयक समूहों में ये अधिक स्पष्ट होते हैं, अधिक शुद्धता से परिभाषित तथा अधिक स्पष्टता से सीमांकित होते हैं। उदाहरण के लिए एक दुकानदार व ग्राहक के अंतःक्रिया एवं द्वितीयक संबंधों में दुकानदार अपना माल दिखाएगा, व मुद्रा का लेन देन करेगा तथा ये गतिविधियाँ स्पष्ट रूप से निर्धारित अधिकारों व कर्तव्यों के अधीन सम्पन्न की जाएगी। इसके विपरीत पति व पत्नी के बीच अथवा पालकों व बच्चों के बीच के संबंध अत्यंत विसरित (Diffuse) होते हैं। अंतःक्रिया विभिन्न स्थितियों में तथा विभिन्न उद्देश्यों के लिए होती है द्वितीयक संबंध लक्ष्य प्राप्ति के साधन होते हैं, किन्तु प्राथमिक संबंधों में ऐसा नहीं होता।

घनिष्ठता की मात्रा (Degree of Intimacy)

प्राथमिक समूहों में संबंध अत्यधिक घनिष्ठ, अनौपचारिक व सहज होते हैं। मत व्यक्त करने में कोई प्रतिबंध तथा अवरोधन नहीं रहते। सदस्यों के बीच आपस में कोई बात गुप्त नहीं रहती। दूसरी ओर द्वितीयक समूहों में कम घनिष्ठता रहती है। यहां अधिक प्रतिबंध व औपचारिकता रहती है।

विशिष्ट मुक्तिवाद की मात्रा (Degree of Particularism)

प्राथमिक समूहों में सदस्य एक दूसरे को सतत अवगत कराते हैं, आंकलन तथा मूल्यांकन करते हैं। द्वितीयक समूहों में लोग एक दूसरे का आकलन साधारण मानदंडों के आधार पर करते हैं। प्राथमिक समूहों में प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षित होता है कि वह दूसरों के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अन्य लोगों के विशिष्ट लक्षणों का ध्यान रखे। इस अर्थ में संबंधों में अत्यधिक विशिष्ट मुक्तिवाद प्रकट होता है। द्वितीयक समूहों में लोगों का आकलन व्यक्ति के रूप में न होकर लिपिक, ग्राहक, दुकानदार, सहयोगी, विद्यार्थी आदि के रूप में होता है।

भावात्मकता की मात्रा (Degree of Affectivity)

प्राथमिक समूहों में अन्य व्यक्ति की स्वीकार्यता अथवा अस्वीकार्यता हमारी उस व्यक्ति के प्रति भावनाओं पर निर्भर करती है। ये भावनाएं हमारे उस व्यक्ति के प्रति व्यवहार को प्रभावित करती हैं। द्वितीयक समूहों में आंकलन भावनारहित होता है तथा व्यक्तिगत भावनाओं का कोई स्थान नहीं रहता।

अन्य प्रकार के समूह (Other Types of Groups)

उपरोक्त उल्लिखित अनेक प्रकार के समूहों के साथ ही हमें कुछ अन्य प्रकार के समूहों को समझना भी आवश्यक है, जैसे उदग्र व क्षैतिज समूह, संदर्भ समूह, दबाव समूह,

हित सवर्धक समूह, अस्वाभाविक समूह कार्यकारी समूह उपान्त समूह अल्पसख्यक समूह, अर्ध समूह स्थिति समूह आदि।

उदग्र एवं क्षैतिज समूह (Vertical and Horizontal Groups)

उदग्र समूह मे समाज के सभी स्तरो के लोग सदस्य होते हैं जबकि क्षैतिज समूह मे मुख्यत: एक ही सामाजिक स्तर के लाग होते हैं। हमारे समाज मे क्षतिज समूह उदग्र समूहो की तुलना मे अधिक बनते हैं जेस डॉक्टरा का समूह शिक्षको का समूह शासकीय कमचारियो का समूह नाकरशाहो का समूह बक क कर्मचारिया का समूह, औद्योगिक मजदूरो का समूह कृषका का समूह आदि। इण्डो अमेरिकन ग्रुप एक उदग्र समूह है क्योंकि इसम उच्च मध्यम व निम्न वर्ग के लोग शामिल हैं। चूकि उदग्र समूह क्षैतिज समूहों का भाग है अतएव व्यक्ति इन दोनों का ही सदस्य होता है।

सदर्भ समूह (Reference Group)

सदर्भ समूह एक प्रकार का समूह ह जिसे हरवर्ट हाइमन (Hertbert Hyman) ने सन् 1942 मे प्रवर्तित किया। सदर्भ समूह वह है जिसे क्रियाओ के लिए मार्गदर्शक के रूप मे स्वीकार किया जाता है। यह वह समूह है जिसके साथ व्यक्ति उसकी आस्था, अभिवृत्ति व मूल्यो के रूप मे एकरूप होना चाहता है। यद्यपि वह इस समूह का वास्तविक सदस्य नहीं होता। यह समूह तुलना अथवा आकलन हेतु सदर्भ बिदु के रूप मे कार्य करता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति स्वय को एक गाँधीवादी एक मार्क्सवादी, एक महिला अधिकारवादी आदि मानता है किन्तु वह इन समूहो का सदस्य नहीं भी हो सकता। अधिकाश लोग हाइमन द्वारा प्रवर्तित ऐसे अनेक सदर्भ समूहों से सबध रखते हैं। एक सदर्भ समूह सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकता है। सकारात्मक सदर्भ समूह वह समूह होता है जिसके साथ व्यक्ति अपनी पहिचान बनाए रखना चाहता है जबकि नकारात्मक सदर्भ समूह वह समूह होता है जिसके मानदडों व गतिविधियो का व्यक्ति विरोध करता है उन्हे अस्वीकार करता है तथा उससे बचना चाहता है। विलियम स्कॉट ने नकारात्मक सदर्भ समूह का विशेष अध्ययन किया है। सदर्भ समूह छोटे या बडे घनिष्ठ या निर्वैयक्तिक हो सकते हैं। कभी-कभी आतरिक समूह (In-group) व सदर्भ समूह एक ही हो सकते हैं। कभी-कभी वाह्य समूह (out-group) ही सदर्भ समूह होता है।

सदर्भ समूहों के दो मूल उद्देश्य होते हैं। वे आस्थाओ व आचरणों के मानदडो का पालन करवाकर नियामक कार्य करते हैं। सदर्भ समूह एक मानदड निश्चित कर तुलनात्मक कार्य भी करते है। इन्हीं मानदडो के आधार पर लोग स्वय तथा अन्यो का आकलन कर सकते हैं।

सेम्युल स्टाउफर (Samuel Stoutfer, 1949) ने सदर्भ समूहो पर अनुसधान

किया। उन्होंने सिपाहियों का अध्ययन किया। उन्होंने सिपाहियों से पूछा कि उनकी सेवा की शाखा में एक योग्य सैनिक के पदोन्नति के अवसरों का वे किस प्रकार आकलन करते हैं। उनके अनुसंधान ने यह प्रदर्शित किया कि लोग स्वय के बारे में आकलन विलग करके नहीं करते और न ही व स्वय की तुलना दूसरा से करते हैं। इसके स्थान पर वे अपनी अभिवृतियों के विकास हेतु विशिष्ट सामाजिक समूहों का उपयोग करते हैं।

मर्टन (1968) ने भी कहा है कि विशुद्ध रूप से व्यक्तियो की कैसी भी स्थिति हो किसी विशिष्ट सदर्भ समूह के सबध मे ही वे अपने कल्याण का आकलन आत्मपरक रूप से करते हैं।

मर्टन के अनुसार सदर्भ समूह सापेक्षिकहीनता (Relative Deprivation) के कारण बनता है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। सदर्भ समूह महत्वाकाक्षा या किसी विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भी हो सकता है। सदर्भ समूह की सदस्यता प्राप्त करने के लिए तीन चरण होते है

(i) जब एक व्यक्ति सदर्भ समूह की सदस्यता प्राप्त करने की कामना करता है। यह उसकी आकाक्षा से सबधित है।

(ii) दूसरे चरण मे यह व्यक्ति सदर्भ समूह की सदस्यता प्राप्त करने की इच्छा रख कर प्रयास करता है। पूर्वाभ्यासी समाजीकरण (Anticipatory Socialisation) इसी अवस्था के अन्तर्गत होता है।

(iii) तीसरे चरण मे व्यक्ति सदर्भ समूह का सदस्य बनने की स्थिति के निकट आ जाता है और सदर्भ समूह का सदस्य बन जाता है। इस प्रकार सदर्भ समूह अब उसका सदस्य समूह (Memoership Group) बन जाता है।

सदर्भ समूह तीन प्रकार से लाभकारी है—1 उद्देश्यों की प्राप्ति मे सहायक होते हैं। 2 व्यवहार मूल्यों मे परिवर्तन के द्वारा किसी भी स्थिति से समायोजन के लिए समर्थ बनाते हैं और 3 प्रतियोगिता की भावना के द्वारा प्रेरित करते हैं। किन्तु सदर्भ समूह के कुछ अपकार्य (Dysfunction) भी होते हैं। जैसे यदि एक निम्न जाति का व्यक्ति ऊँची जाति को सदर्भ समूह बनाता है तो वह ऊँची जाति के समूह में भी सम्मिलित नहीं हो पाता और अपनी जाति मे भी सक्रिय नहीं रह पाता। अतः वह मानसिक और व्यावहारिक दृष्टि से दोनों जातियों से कट जाता है।

कार्य समूह (Task Groups)

ये समूह न तो स्पष्ट रूप मे प्राथमिक होते है और न ही द्वितीयक किन्तु ये इन दोनों के बीच के होते हैं। उनमे दोनो समूहो के लक्षण पाए जाते हैं। ये समूह छोटे होते हैं जिन्हें किसी एक कार्य अथवा अधिक कार्यो के लिए बनाया जाता है। इसके

उदाहरण है— समितियाँ टीम आदि। छोटे होने के कारण कार्य समूह प्राथमिक समूहों के समान प्रतीत होते हे क्योंकि छोटे समूह ही कुशलता से कार्य कर सकते है। कार्य समूह इसलिए भी प्राथमिक समूहो जैसे लगते हे क्योंकि इनमें अत:क्रिया आमने सामने व अनापचारिक होती है। किन्तु कार्य समूह अवैयक्तिक (Impersonal), खडीय (Segmental) व क्रियात्मक होते है। इनके सदस्य एक दूसरे मे व्यक्तिगत रूप से रूचि नहीं रखते व केवल कार्य समूह के कार्यो के सपादन से ही सबध रखते हैं जैसे जेल सुधार समिति, बोफोर्स जाँच समिति, यू टी आई जाच समिति तहलका समिति आदि।

हित सवर्धक समूह (Interest Groups)

ये समूह कुछ उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु सगठित किए जाते ह जिन्हे सदस्य अपने लिए लाभदायक समझते ह। कभी कभी इन समूहो को दबाव समूह भी कहा जाता ह जब वे किसी आर्थिक हित का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे छोटे व्यापारियो का हित सवर्धक समूह, शिक्षको का हित सवर्धक समूह, कृषको का हित सवर्धक समूह आदि। कभी कभी बडे हित सवर्धक समूहों को विशिष्ट हितो के सवर्धन हेतु छोटे छोटे समूहो मे बाट दिया जाता है। यह आवश्यक नही है कि हित सवर्धक समूहो का गठन केवल आर्थिक लाभ के लिए ही किया जाए। इनका सगठन गैर आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु भी किया जा सकता है जैसे धार्मिक समूह, जाति समूह आदि।

दबाव समूह (Pressure Group)

दबाव समूह वे समूह होते ह जो विधाई सस्थाओ अथवा शासकीय एजेंसियों पर अपने विशिष्ट हितो की पूर्ति हेतु अथवा जनता के व्यापक हित मे दबाव डालते हैं। एक दबाव समूह को आमतौर पर कहा जाता है विशिष्ट हित समूह (Special interest group)। फाइनर के अनुसार दबाव समूह एक अज्ञात सम्राट है।

अस्वाभाविक समूह (Contrived Group)

इन समूहो का गठन किसी अन्वेषक द्वारा अवलोकन अथवा प्रयोगों के उद्देश्य से किया जाता है। जैसे कि नाम से ही पता चलता है, ये अस्वाभाविक होते हे तथा स्वाभाविक समूहों से पूर्णत: भिन्न होते है।

कार्यकारी समूह (Functional Group)

इन समूहो का गठन किसी विशिष्ट हित की प्राप्ति हेतु अथवा किसी विशिष्ट साक्ष्य की प्राप्ति हेतु किया जाता हे, जैसे व्यावसायिक समूह, अथवा पेशे सबधी समूह। उदाहरण के लिए बैंको मे स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति योजना के क्रियान्वयन सबधी वार्ता करने हेतु बैंक कर्मचारियो का समूह। कार्यकारी समूह केवल एक उद्देश्य अथवा

हित में बंधे रहते हैं। कुछ समाजशास्त्री इनके लिए 'दबाव समूह' शब्द का प्रयोग करना अधिक पसंद करते हैं न कि 'कार्यात्मक समूह' का।

उपान्त समूह (Marginal Group)

ये सांस्कृतिक समूह होते हैं। ये उन लोगों द्वारा गठित किये जाते हैं जिन्होंने अपनी परंपराएं व अपना पृथक अस्तित्व छोड़ दिया है तथा उस संस्कृति के मूल्यों व जीवन पद्धति को अपनाने की प्रक्रिया में हैं जिसे वह कुछ कुछ अपना चुके हैं, जैसे दिल्ली, जयपुर आदि में बंगाल देश के प्रवासी।

अल्पसंख्यक समूह (Minority Group)

अल्पसंख्यक समूहों को उन लोगों का समूह नहीं समझना चाहिए जो संख्या में कम हैं बल्कि ये उन लोगों के समूह होते हैं जो सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से कमजोर होते हैं। ये किसी समुदाय के अन्दर धार्मिक अथवा सजाति विषयक समूह भी हो सकते हैं जिनके पास कोई सत्ता या शक्ति नहीं है तथा किसी पूर्वाग्रह या भेदभाव के कारण स्वयं को कम लाभदायक स्थिति में पाते हैं। मुस्लिम समूह अनुसूचित जाति समूह, अनुसूचित जनजाति समूह, जाट समूह, जैन समूह आदि इसके उदाहरण हैं। 'अल्प संख्यक समूह' ये शब्द प्रायः लोगों के एक वर्ग के लिए प्रयुक्त होते हैं न कि किसी समूह के लिए। एक समूह जो सुविधा प्राप्त है अथवा जिसके विरूद्ध भेदभाव नहीं किया जाता किन्तु वह संख्यात्मक रूप से अल्पसंख्यक है, उसे शायद ही कभी अल्पसंख्यक समूह कहा जाता है, जैसे पारसी समूह।

अर्द्ध-समूह (Quasi Group)

अर्द्धसमूह लोगों का संरचनाविहीन तथा असंगठित एकत्रीकरण है जैसे एक समूहन, सामाजिक वर्ग, भीड़, जनता। इस समूह के सदस्यों में समूह में संगठित होने की क्षमता होती है अथवा वे समूह बनाने के अथवा किसी समूह के सदस्य बनने हेतु तत्पर रहते हैं।

जिन्सबर्ग (Ginsberg) ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' में अर्द्ध समूह की अवधारणा व्यक्त की है। ऐसे कई मानवीय संकलन (Human Aggregates) होते हैं जिनकी निश्चित संरचना नहीं होती परन्तु सदस्यों में रुचियों, व्यवहार प्रतिमान आदि आधार पर समानता पाई जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वे संगठित समूह का निर्माण कर सकते हैं।

बॉटोमोर ने प्रस्थिति समूह (Status Group), सामाजिक वर्ग आदि को अर्द्ध समूह माना है इन समूहों के सदस्यों में कई समानताएं होती हैं परन्तु उनमें परस्पर संगठन व जागरूकता का अभाव रहता है। विशेष परिस्थिति में इन्हें संगठित होने में कठिनाई नहीं होती। अर्द्ध समूह के निर्माण का उद्देश्य लक्ष्यों या विशिष्ट हितों को प्राप्त करना होता है।

प्रस्थिति समूह (Status Group)

प्रस्थिति समूह सामाजिक वर्ग से विश्लेषण से सबध मे भिन्न स्तर का होता है। प्रस्थिति समूह एक समुदाय होता है लोगों का एक ऐसा समूह जिसकी समान जीवन शैली हो तथा वे समूह की एकरूपता की भावना से ओतप्रोत हो। प्रस्थिति समूह के लिये हम एक और पद का प्रयोग कर सकते हैं 'सचेतन समुदाय'। धार्मिक समूह प्रस्थिति समूह का एक अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार प्रस्थिति समूहो मे सामाजिक वर्गो के कोई बन्धन नही रहते। वर्ग प्रस्थिति समूहो तथा सत्ता समूहो में आपसी सबध निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है —

आर्थिक वर्ग

↓

बन सकते ह प्रस्थिति समूह

↓

बन सकते हैं सत्ता समूह (राजनैतिक दल)
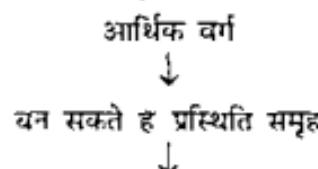
प्रस्थिति समूह ऐसे लोग हैं जिनकी समाज मे समान प्रस्थिति होती है तथा वे एक ही शली का जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु वे वास्तव मे समूह निर्माण नहीं करते। उन्हे यदि एक प्रस्थिति वर्ग कहा जाए तो अधिक सटीक होगा। वे एक-दूसरे को अपना समकक्ष समझते हैं तथा उनमें सचेतना की भावना होती है, जेसे जाति।

समुदाय भी एक समूह ही है चाहे वह पचास लोगों का एक गाँव हो अथवा पाच लाख लोगो का एक शहर। समुदाय वे एकत्रित लोग हे जिनके सामाजिक जीवन का नाटक मुख्यत. एक सीमित भूभाग पर ही मचित होता है। एक समुदाय के अदर प्राय. समूहो का समावेश होता हे, जैसे परिवार, व्यापारिक समूह आदि। कुछ समाजशास्त्री समाज को भी एक समूह ही मानते हैं। इसके सदस्यों में राष्ट्रीय पहिचान की भावना होती है, उनके कुछ मानदड होते हैं तथा वे सतत व व्यापक अत.क्रिया मे व्यग्र रहते हैं।

समूह गतिकी या समूहो का गति विज्ञान (Group Dynamics)

समूह गतिकी समूह के सदस्यो के परस्पर सबधो का अध्ययन करता है। यह छोटे समूहो का समूह के अदर की अत.क्रिया का तथा एक समूह तथा उसके वातावरण जिनमें अन्य समूह भी शामिल है, के बीच आपसी सबधो का अध्ययन है। कुछ समाजशास्त्री इसे "छोटे समूह का विश्लेपण" कहते हैं। सामान्यत: इस अवधारणा का उपयोग लघु समूहो मे होने वाले परिवर्तनो के अध्ययन के सदर्भ मे ही किया जाता है।

समूहो के गतिविज्ञान का एक महत्वपूर्ण आयाम नेतृत्व है। अपने नेतृत्व की

स्वीकार्यता के संबंध मे समूहो में भिन्नता होती है। बडे समूहो मे नेताओ हेतु औपचारिक कमान की श्रृंखला होती है जबकि छोटे समूहो मे हो सकता है कोई नेता ही न हो। एक परिवार मे पति-पत्नी मे से कोई एक नेतृत्व की भूमिका निभा सकता है यद्यपि उनमे आपस में नेतृत्व को लेकर मतभेद भी हो सकते हैं।

समूहो मे प्राय: सहायक (Instrumental) व अभिव्यजक (Expressive) नेतृत्व होता है। सहायक नेतृत्व समूह के कार्यों को पूरा करने पर अथवा कार्य करवाने पर अधिक बल देता है। अभिव्यजक नेतृत्व सार्वजनिक कल्याण तथा सदस्यो के बीच विवाद व तनाव को कम से कम करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वह समूह द्वारा लक्ष्य प्राप्ति हेतु निष्पादित कार्यो मे कम रूचि लेता है।

सहायक नेतृत्व के समूह के सदस्यों के साथ औपचारिक व द्वितीयक सबध रहते हैं। दूसरी ओर अभिव्यजक नेतृत्व अधिक वैयक्तिक (Personal) व प्राथमिक सबंधो को बढावा देता है। सफल सहायक नेतृत्व को समूह मे अधिक आदर मिलता है जबकि अभिव्यजक नेतृत्व को लोगो से अधिक स्नेह प्राप्त होता है।

इसके अन्तर्गत मुख्यत: दो प्रकार के अध्ययन किये जाते हैं। प्रथम समूह की संरचना एवं क्रियाशीलता का अध्ययन, द्वितीय एक समूह और दूसरे समूह के पारस्परिक सम्बन्धो मे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन। लघु समूहो के एकीकरण, समूह नैतिकता, नेतृत्व की भूमिका के साथ विभिन्न समूहो के बीच समायोजन, तनाव, सघर्ष जैसे विषय समूह गतिकी के अध्ययन के मुख्य क्षेत्र हैं।

समूह का आकार व अंत:क्रिया (Group Size and Interaction)

जब अधिक सख्या मे लोग एक स्थान पर मिलते हैं तो वे अत:क्रिया हेतु छोटे छोटे समूहों मे बंट जाते हैं। जब दो ही लोग उपस्थित होते हैं तो उनमे केवल एक ही प्रकार के सबंध होंगे (युग्म), तीन लोग होंगे तो तीन प्रकार के संबध होंगे (Triad), यदि चार लोग होंगे तो छ: प्रकार के संबंध होंगे। इसी प्रकार छ: लोगो को जोडने वाले पन्द्रह चैनल होंगे। इसे एक समाजलेख (Sociogram) के माध्यम से समझाया जा सकता है।

Two people
(one relationship)
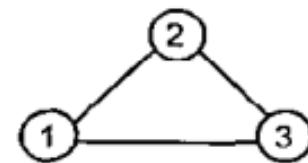
Three people
(three relationships)
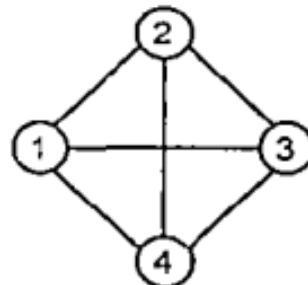
Four people
(six relationship)
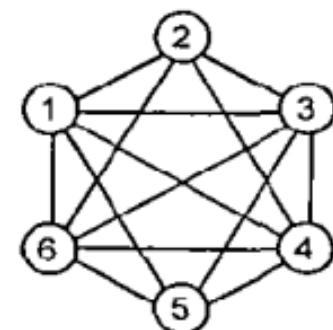
Six people
(fifteen relationship)

युग्म अत.क्रिया (दो लोगो के समूह मे) बडे समूहो की तुलना मे अधिक गहन व सार्थक होती हे फिर भी तीन लोगो के समूह के बीच के सबध (Triad) युग्म अत क्रिया से अधिक स्थाई होते हैं क्योकि यदि समूह के दो सदस्यो के बीच सबधो मे यदि तनाव आ जाता है तो तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ का कार्य कर सकता हे तथा समूह मे स्थायित्व ला सकता हे। इस बात मे यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाहित जोडे कभी कभी अपने बीच तनावो को व्यक्त करने हेतु तीसरे व्यक्ति को बीच मे लेते हैं। किन्तु तब दो लोग मिलकर गुट बनाते हैं व तीसरे सदस्य पर अपने विचार थोपते हैं। जैसे जैसे समूहो के सदस्यो की सख्या तीन से अधिक होती जाती है वे अधिक स्थाई होते जाते हैं क्योंकि यदि अनेक लोग भी समूह छोडकर जाते हैं तो इसका समूह के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पडता। लेकिन साथ ही साथ समूह के सदस्यो की सख्या बढने पर सदस्यो के बीच वैयक्तिक अत क्रिया कम हो जाती है। इसीलिए बडे समूह वैयक्तिक लगाव पर कम तथा नियमो व कानूनो पर अधिक आधारित होते हैं।

अत समूह सामाजिक अत:क्रिया की प्रक्रियाए (Inter Group Processes of Social Interaction)

समूहो मे आपस मे किस प्रकार सबध आते हैं? इस सबध मे पाच प्रक्रियाए प्रयोग

में लाई जाती हैं—सहयोग, प्रतियोगिता, संघर्ष, समीयवन (Assimilation), व समायोजन (Accommodation)।

सहयोग की प्रक्रिया में व्यक्ति या समूह समाज लक्ष्य प्राप्त करने हेतु मिलकर काम करते हैं। (थियोडोरसन, 1969 78)। सहयोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है। प्रत्यक्ष सहयोग मे समान गतिविधिया साथ-साथ मिलकर की जाती हैं क्योंकि इन गतिविधियों मे संलग्न व्यक्ति अथवा समूह इन्हें साथ साथ करना चाहते हैं यद्यपि वे उन्हें पृथक-पृथक भी कर सकते हैं। परोक्ष सहयोग असमान गतिविधिया जो एक दूसरे की पूरक होती हैं तथा उनसे समान लक्ष्यों की प्राप्ति होती है, पर आधारित होता है। इसमे श्रम विभाजन तथा विशिष्ट कार्यों का निष्पादन निहित होता है। उदाहरण के लिए व्यापार व श्रमिक दोनों एक-दूसरे के अस्तित्व के लिए आवश्यक होते हैं तथा उनके आपसी संबंध सहयोग के होते हैं यद्यपि कभी-कभी उनमे संघर्ष की स्थिति भी आ जाती है।

प्रतियोगिता (Competition)

प्रतियोगिता की प्रक्रिया में व्यक्तियों अथवा समूहों द्वारा बिना अन्य समूहों के नष्ट किए अपने लक्ष्य प्राप्ति के प्रयास किए जाते हैं। लक्ष्य की प्राप्ति अन्य समूहों (या व्यक्तियों) द्वारा उसी लक्ष्य की प्राप्ति न करने पर निर्भर करती है। (थियोडोरसन, 1969 : 66)। प्रतियोगिता द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्य सीमित होते हैं जबकि उनकी माग अधिक होती है। इस प्रकार प्रतियोगिता लक्ष्य प्राप्ति की ओर आमुख होती है न कि प्रतियोगी की ओर। इसके विपरीत संघर्ष मे विरोधी की अधिक चिंता रहती है न कि लक्ष्य प्राप्ति की। प्रतियोगिता चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, जानबूझकर हो अथवा अनजाने मे, तभी समाप्त होती है जब लक्ष्य या तो प्राप्त होता है अथवा हाथ से निकल जाता है।

आर्थिक, राजनैतिक तथा कुछ सांस्कृतिक किन्तु धार्मिक नहीं, समूहों द्वारा प्रतियोगिता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। आर्थिक समूह एक दूसरे से प्रतियोगिता करने मे अपने सामान की गुणवत्ता मे सुधार करते हैं, कीमते घटाते हैं, उसकी उपयोगिता तथा लाभों को विज्ञापित करते हैं तथा माल को आकर्षक आवरणों मे प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए मारुति, सेण्ट्रो, इण्डिका, एम्बेसेडर तथा फिएट आदि कार निर्माताओं के बीच प्रतियोगिता।

संघर्ष (Conflict)

इस प्रक्रिया में समान लक्ष्य की प्राप्ति हेतु समूहों मे (अथवा व्यक्तियों मे) प्रत्यक्ष संघर्ष होता है। प्राय: एक समूह दूसरे विरोधी समूह को रोकने, उस पर हमला करने अथवा उसे नष्ट करने तक का प्रयास करता है। लक्ष्य प्राप्ति हेतु विरोधी समूह को पराजित करना आवश्यक होता है। इस प्रकार प्रतियोगिता की प्रक्रिया के विपरीत, संघर्ष की प्रक्रिया मे

विरोधी मुख्यत एक-दूसरे की ओर उन्मुख होते हैं न कि लक्ष्य की ओर जिसे वे प्राप्त करना चाहते है। कभी कभी तो लक्ष्य को गौण समझा जाता है तथा विरोधी की पराजय को प्राधान्य दिया जाता है। सघर्ष सविराम होता है जबकि प्रतियोगिता की प्रक्रिया सतत चलती है। कुछ सघर्ष सैद्धान्तिक भी होते हैं, जैसे दो राजनैतिक दलों के बीच आर्थिक नीतियो पर शक्तिशाली ब्लॉकों अथवा पडोसी देशों के साथ सबधो पर, *अल्पसख्यक* समूहो को रियायते देने आदि पर सघर्ष।

सात्मीकरण (Assimilation)

इस प्रक्रिया म पृथक सस्कृति व पहचान के दो समूह एक समूह म विलीन हो जाते हैं जिसकी समान सस्कृति व पहचान होती है। सात्मीकरण की प्रक्रिया द्वि मार्गी (जिसम दोनो समूह एक दूसरे की सस्कृति को आत्मसात करते हैं) अथवा एक *मार्गी (जिसमें एक समूह दूसरे समूह की सस्कृति को आत्मसात करता है) हो सकती* है। सात्मीकरण म दो समूहो के बीच अतर को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाता है जबकि पर सस्कृतिग्रहण (Acculturation) की प्रक्रिया मे एक समूह द्वारा दूसरे समूह की सस्कृति को अपना कर, अपनी सस्कृति की विशेषताओं को समाप्त किए बिना उसमे आवश्यक सुधार किए जाते है।

व्यवस्थापन (Accommodation)

इस प्रक्रिया म दो सघर्षरत समूह अस्थाई अथवा स्थाई तौर पर शाति प्रस्थापित करते हैं। यह समायोजन सुलह, समझौते, मध्यस्थता अथवा सधि के माध्यम से किया जा सकता है। इस प्रकार समायोजन की प्रक्रिया में सबल समूह दूसरे समूह को अस्तित्व मे तो रहने देता है किन्तु अलाभकारी स्थिति मे। व्यवस्थापन सघर्ष व प्रतियोगिता को रोकता है।

समूह जीवन का विस्तार : औपचारिक सगठन
(Widening of Group Life : Formal Organisations)

पिछली कुछ सदियो मे समूह जीवन का बहुत अधिक विस्तार हुआ है, इस बात पर ध्यान देना *महत्वपूर्ण है। केवल सबधियों व समुदायो पर आधारित ससार अर्थात छोटे, स्थानीय* आमने-सामने, अनौपचारिक, व्यक्तिगत तथा प्राथमिक समूहो मे बढकर आज समाज बडे समूहो जैसे वृहद् व्यापार, बडे उद्योग, नौकरशाही तथा अनेक औपचारिक सगठनो की ओर बढ गया है। आज अनेक सगठन विश्व स्तर पर कार्य कर रहे हैं तथा कम्प्यूटर के माध्यम से सतत सपर्क मे रह रहे हैं। आज के समाज मे जीवन के बदलते तथा व्यापक *पैमाने ने व्यक्तियों को अत्यधिक प्रभावित किया है।*

औपचारिक व अनौपचारिक संगठन (Formal and Informal Organisations)

डेविड सिल्वरमन (David Silverman) ने औपचारिक सगठनों की तीन विशेषताए बताई हैं— (1) परिवार जैसे अनौपचारिक सगठन की तुलना मे सामाजिक सबध

नियमों में अधिक बंधे होते हैं। (2) इन सामाजिक संबंधों के नियोजन एवं विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। (3) वे निश्चित समय पर गठित होते हैं।

कारखाना, विश्वविद्यालय, बड़े ऑफिस काम्पलैक्स, सुपर मार्केट जैसे औपचारिक संगठन नियुक्त कर्मचारियों द्वारा विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रस्थापित नियमों के आधार पर चलाए जाते हैं। औपचारिक संगठन नगरीय औद्योगिक समाजों की विशेषताएँ हैं। सभी औपचारिक संगठनों के अन्दर अनौपचारिक संगठन विकसित होते हैं। ये अनौपचारिक संगठन, औपचारिक संगठनों के अंदर या बाहर सामाजिक समूह संबंध बनाने हेतु स्वतंत्र होते हैं, जैसे औपचारिक संगठन के अंदर, अनौपचारिक संगठन हो सकता है जिसकी अंतःक्रिया करने हेतु स्वयं की आचार संहिता हो सकती है। अनौपचारिक संगठन (औपचारिक संगठनों के अंदर के) प्रकार्यात्मक अथवा अप्रकार्यात्मक हो सकते हैं।

औपचारिक संगठनों को चिन्हित करने के लिए, तीन प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है : उपयोगितावादी (Utilitarian) नियामक (Normative) व अवपीड़क (Coercive), (मैकियन्स व प्लमर, 1997 : 190)।

उपयोगितावादी संगठन वे संगठन होते हैं जो अपने सदस्यों को भौतिक प्रतिफल प्रदान करते हैं जैसे व्यापारिक संगठन जो अपने मालिकों के लिए लाभ व अपने कर्मचारियों के लिए आय उत्पन्न करते हैं।

नियामक संगठन वे संगठन होते हैं जिसके सदस्य आय के लिए इसे नहीं अपनाते बल्कि उन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु वे सदस्य बनते हैं जिन्हें वे नैतिक दृष्टि से उपयुक्त समझते हैं, जैसे बालचर, एन.सी.सी., रेडक्रास, आदि।

अवपीड़क संगठन के सदस्य उनकी इच्छा के विरुद्ध बनाए जाते हैं अर्थात् लोगों को सजा के रूप में संगठन का सदस्य बनने हेतु बाध्य किया जाता है जैसे जेल, किशोर सुधार केन्द्र, प्रेक्षण गृह, बाल अपराधियों हेतु मान्य शालाएँ, जेलों में महिला सुधार, मानसिक रुग्णालय, सेवा सदन आदि। ये ऐसे परिवेश होते हैं जहाँ लोगों को "कारावासी" अथवा "मरीजों" के रूप में अन्य लोगों से अलग रखा जाता है तथा उनकी अभिवृत्तियों व व्यवहार में बदलाव लाने के प्रयास किए जाते हैं।

नौकरशाही भी औपचारिक संगठन का मॉडल है जिससे जटिल कार्यों को प्रभावी रूप में करने की अपेक्षा की जाती है। पूर्व औद्योगिक समाजों में, विशाल भौगोलिक क्षेत्र में फैले लोगों पर अपने अधिकार का प्रयोग करने हेतु शासक अपने शासन के कर्मचारियों पर निर्भर रहते थे। इन औपचारिक संगठनों की शक्तियां सीमित होती थीं। पिछली दो सदियों में ये औपचारिक संगठन, जैसा कि वेबर ने इन्हें कहा है, 'नौकरशाही' के रूप में उभरे हैं। नौकरशाही वह बड़े पैमाने का औपचारिक संगठन है जिसे औपचारिक नियमों व उच्च प्रशिक्षित विशेषज्ञों के विभागों के माध्यम

से सगठित किया जाता है तथा जिसकी गतिविधियो का समन्वय पदानुक्रमित कमान श्रृखला द्वारा किया जाता है। केन्द्रीकृत सत्ता अनुशासन बुद्धिमानी तकनीकी ज्ञान तथा अवैयक्तिक काय प्रणाली इसकी विशेषताए हैं।

सबसे पहले सन् 1922 म मक्स वेबर ने नाकरशाही की धारणा का प्रादुर्भाव किया किन्तु उन्होंने इसके सकारात्मक पहलू पर ही जार दिया। अभी हाल क वर्षो मे सामाजिक वैज्ञानिको ने नौकरशाही के नकारात्मक परिणामो (अथवा अप्रकार्यो) का वर्णन किया है जो सगठन के अदर के व्यक्तियो तथा स्वय नोकरशाही के लिए प्रासगिक है। वेबर ने एक आदर्श नोकरशाही का विकास किया किन्तु ऐसी परिपूर्ण नाकरशाही कभी साकार नहीं हा सकी। वेबर क आदर्श प्रकार की नौकरशाही से पूर्ण रूप स मेल खाता हुआ काई भी वास्तविक सगठन नहीं हो सकता।

नौकरशाही की विशेषताए (Characteristics of Bureaucracy)

वेबर ने नाकरशाही की निम्नलिखित विशेषताए बताई हैं—

श्रम विभाजन (Division of Labour)

विभिन्न पदो पर पदासीन विशेषज्ञ विशिष्ट प्रकार के कार्य करते हैं जिसमे उनके लिए उन कार्यों का सपादन अधिकाधिक कुशलता से करना सभव होता है। इसका कार्यस्थल के कर्मचारियो क बीच अतक्रिया पर भी प्रभाव पडता है। किन्तु श्रम विभाजन से प्रशिक्षित असमर्थता की स्थिति भी आ सकती है अर्थात् कर्मचारी इतने विशेषज्ञ हो जाते हैं कि उन्हे दूसरे विभागो की समस्याए भी नजर नहीं आतीं। इससे सगठन के सुचारु सचालन पर प्रभाव पडता है। यह उस व्यक्ति के लिए भी अनर्थपूर्ण हो जाता है जिसे नाकरी से निकाल दिया गया हो। वह नए काम के लिए अनुपयुक्त हो जाते हैं चाहे वह कार्य उनके पूर्व के कार्य से भले ही सबधित हो। यह किसी तकनीकी कार्य के वर्षो तक करने से हो जाता है।

प्राधिकार का पदानुक्रम (Hierarchy of Authority)

इसका अर्थ है प्रत्येक पद का एक उच्च पद के अधीन होना। कुछ पदो के अधिकार व प्रस्थिति अन्यो की अपेक्षा अधिक होते हैं। उदाहरण के लिए मालिक से जनरल मैनेजर के अधिकार भिन्न होते हैं मैनेजर से सुपरवाइजर के प्रमुख मेकेनिक के तथा श्रमिक के। कभी-कभी यह महिलाओ के लिए अप्रकार्यात्मक हो जाता है क्योंकि यद्यपि वे अधिक अधिकार व प्रतिष्ठा पाने की आकाक्षा रखती हैं किन्तु महिलाओ के पारपरिक मूल्य उन्हे नौकरशाही की सरचना मे निम्न स्तर के पदो पर रहने को बाध्य करते हैं।

लिखित नियम व कानून (Written Rules and Regulations)

नियम नौकरशाही की महत्वपूर्ण विशेषता है क्योंकि वे कर्मचारियो से ऐसा कार्य का निष्पादन सुनिश्चित करते हैं जिसे उपयुक्त निष्पादन समझा जाता है। व्यक्ति बदलते

रहते हैं किन्तु अभिलेख सगठन को एक स्वय का जीवन प्रदान करते हैं। नये व्यक्ति को शून्य मे प्रारभ नही करना होता। लिखित नियमो मे हानि यह है कि ये कर्मचारियो की विशिष्टता का या तो दमन करते हैं अथवा उसे नष्ट कर देते हैं।

अवैयक्तिक (Impersonal)

नौकरशाही मे कर्मचारी लोगो का व्यक्ति के रूप मे विचार किए बिना अपने कर्त्तव्यो का निष्पादन करते हैं। इससे प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान व्यवहार सुनिश्चित होता है। किन्तु इससे सगठन के अन्य लोगो के प्रति उदासीनता की भावना पैदा हो जाती है।

सुरक्षा (Security)

बडे सगठनो मे लोगो को काम पर उनकी तकनीकी योग्यता के आधार पर रखा जाता है न कि पक्षपात के आधार पर। उनके कार्य निष्पादन का मापन विशिष्ट मानदडो के आधार पर किया जाता है। इससे कर्मचारी की मनमाने ढग से निष्कासन से रक्षा होती है। कर्मचारियो की पदोन्नति भी निश्चित नीतियो के अनुसार ही होती है तथा उन्हे अपील करने का अवसर भी दिया जाता है। इससे कर्मचारियो मे सुरक्षा की भावना आती है तथा उन्हे सगठन के प्रति निष्ठा रखने हेतु प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु व्यवहार मे यह हमेशा ही सभव नहीं होता। अनेक बार अयोग्य व्यक्तियो को भी पदोन्नत कर दिया जाता है तथा योग्य व्यक्तियो की सेवाए कोई न कोई आरोप लगाकर समाप्त कर दी जाती है।

विशिष्टीकरण (Specialisation)

नौकरशाही मे व्यक्तियों को अत्यधिक विशिष्ट कार्य सौंपे जाते हैं।

अभिलेख (Records)

संगठन की व्यवस्था फाइलो व अभिलेख के आधार पर होती है। ऑफिस के कर्मचारियो की सहायता से उनका उपयोग किया जाता है।

कर्मचारी (Officials)

पदों पर कार्य करने हेतु प्रशिक्षित लोगो को नियुक्त किया जाता है।

नौकरशाही की अप्रकार्यात्मकता (Dysfunctions of Bureaucracy)

नौकरशाही बडे सगठनो के व्यवस्थापन मे भले ही कितनी भी उपयोगी क्यो न हो, वह अनेक समस्याए भी पैदा करती है तथा कभी-कभी अप्रकार्यात्मक सिद्ध होती है। वह निम्न महत्वपूर्ण समस्याए उत्पन्न करती है (मेकिन्यस व प्लमर, p 193–194) —

(1) **विमुखीकरण (Alienation)**—नौकरशाही को जिन व्यक्तियों की सेवा करनी है, उन्हीं को वह अवमानवीकृत करती है। यह कर्मचारियो तथा सेवार्थियो को एक-दूसरे की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य करने से रोकती है। प्रत्येक

सेवार्थी को एक मानदड प्रकरण समझकर उससे अवयक्तिक व्यवहार किया जाता है। इससे वे सगठन से विमुख हो जाते हैं।

(2) अकुशलता एव कर्मकाण्डपरता (Inefficiency and Ritualism)—नौकरशाही से अकुशलता, लालफीताशाही तथा कर्मकाण्डपरता को बढ़ावा मिलता ह। ये सब सृजनात्मकता व कल्पना (Imagination) को बढ़ाने में बाधक होते हैं। कुशलता से कार्य करने से कर्मचारियो को आर्थिक लाभ नहीं होता।

(3) अकर्मण्यता (Inertia)—कार्य कुशल बनने हेतु प्रेरणा का अभाव तथा अपनी नौकरी बचाए रखने की इच्छा के कारण कर्मचारी अपने सगठनो को स्थाई तौर पर बनाए रखना चाहते ह यद्यपि वह उद्देश्य प्राप्त हो चुका है जिसके लिए उन्हे बनाया गया था।

(4) अल्पतत्र (Oligarchy)—अल्पतत्र का अर्थ अनेक लोगो पर कुछ लोगो का राज। नौकरशाही की सरचना पिरामिड के आकार की होती है। इसमे कुछ गिने चुने नेताओ को वृहद व शक्तिशाली शासकीय सगठनो का भार सौंप दिया जाता है।

ऑल्विन टॉफ्लर ने भविष्य के लिए एड होक्रेसी (Ad hocracy) की कल्पना की है। यह व्यवस्था है जिसके द्वारा अस्थायी परियोजना दल (टीम) टास्क-फोर्स ओर तदर्थ समितियो से युक्त एक प्रशासकीय प्रणाली बनेगी जो गतिशीलता लायेगी और नौकरशाही को बदल देगी।

8

समाजीकरण

(Socialisation)

समाजीकरण का अर्थ (Meaning of Socialisation)

जन्म के बाद जब व्यक्ति अपना जीवन प्रारंभ करता है, उसके पास न तो भाषा होती है और न ही संस्कृति व उसके मानदंड तथा वह दूसरों के साथ पारस्परिक क्रिया करने की स्थिति में भी नहीं रहता। वह उस समय असमाजीकृत प्राणी के रूप में रहता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है वह संस्कृति (मानदंड, मूल्य, आस्थाएं, अभिवृत्तिया, परम्पराए, सामाजिक प्रथाएं आदि) को आत्मसात करता जाता है तथा समाज का सक्रिय सहभागी बन जाता है। इस प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं। सीखने की यह प्रक्रिया जन्म से प्रारंभ होकर मृत्यु तक चालू रहती है।

व्यक्ति के शारीरिक लक्षण—वह बलवान, ऊंचा तथा मेधावी व सक्षम है—उसे अन्यों से अलग करते हैं। यद्यपि ये शारीरिक (जैविक) लक्षण व्यक्ति को मूलभूत भौतिक लक्षण प्रदान करते हैं जो वह क्या बनेगा इसे प्रभावित करते हैं, फिर भी *यह संस्कृति ही है जो उसके शारीरिक लक्षणों को दिशा तथा अर्थ प्रदान करती है।* किन्तु 'सांस्कृतिक नियतिवाद' (Cultural Determinism) अर्थात यह विचार कि व्यक्ति का व्यवहार उसकी संस्कृति को परिलक्षित करता है, मामले को अत्यधिक सरलीकृत करना होगा। यद्यपि संस्कृति व्यवहार को प्रभावित करती है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अनेक दृष्टि से अपने आप में अनूठा होता है।

स्मिथ एव प्रेस्टन (Smith and Preston 1977 44) ने इसे निम्नलिखित आधार पर समझाया है—

पहला प्रत्येक व्यक्ति का सबध अनेक समूहो तथा उप समूहो से होता है जिनकी सस्कृति व उपसस्कृति भिन्न होती है। दूसरा प्रत्येक व्यक्ति सस्कृति अन्यो से सीखता है जो जीवन का अर्थ अपने अपने तरीके से लगाते हैं। तीसरा सस्कृति व्यक्ति को अनेक विरोधाभासी मार्गदर्शन प्रदान करती है। उदाहरण के लिए मध्य युग मे तथा ब्रिटिश शासन काल के प्रारभ मे जब भारत मे जाति प्रथा बहुत कठोर थी सस्कृति व्यक्ति के जातिवादी होने का समर्थन करती थी जबकि हिन्दू सस्कृति व्यक्ति से अपेक्षा करती थी कि वह समतावादी मानवतावादी व प्रजातात्रिक बने। चौथा चूकि शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं अत कुछ व्यक्ति अन्यो से अधिक प्रभावी व सक्षम होते हैं। कुछ बलवान तो कुछ कमजोर कुछ ऊचे कद के तो कुछ नाटे होते हैं आदि। इसीलिए यह महत्वपूर्ण है कि यद्यपि व्यक्ति शारीरिक बनावट तथा सामाजिक-सास्कृतिक प्रभावो से प्रभावित होता है, फिर भी केवल सस्कृति ही उसके शारीरिक लक्षणो को अर्थ प्रदान करती है। अत. हम समाजीकरण की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं— समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने समूह की सस्कृति तथा समाज मे उसकी भूमिका को जानकर एक सामाजिक समूह मे एकीकृत होता है।"

जॉनसन (Johnson) के शब्दो मे "वह शिक्षण जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिका सम्पन्न करने के लिए समर्थ बनाता है समाजीकरण कहलाता है।" सामाजिक मानदडो, मूल्यो और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है।

समाजीकरण की विशेषताए (Characteristics of Socialisation)

समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताए हैं —

(i) समाजीकरण एक आजीवन प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया मनुष्य के जीवन काल मे कभी समाप्त नहीं होती। जन्म से मृत्यु तक अनेक नई परिस्थितियाँ आती हैं, उनके अनुसार व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहार को निरन्तर सीखते रहते हैं।

(ii) समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। सस्कृति प्रत्येक समाज मे भिन्न होती है। जो व्यवहार एक समाज मे पुरस्कार योग्य है, वही व्यवहार दूसरे समाज मे दण्डनीय हो सकता है। प्राचीन समय मे स्त्रियो को घूघट व पर्दा करना सिखाया जाता था, किन्तु अब यह व्यवहार अपेक्षित नहीं है। समाजीकरण की प्रक्रिया मे सीखे गए मूल्य व व्यवहार भी भिन्न होते है।

(iii) समाजीकरण संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक मूल्य, मानदंड व स्वीकृत व्यवहार सीखे जाते हैं। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति भौतिक व अभौतिक दोनों संस्कृतियों को आत्मसात करता है। शनैः शनैः यही संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

(iv) समाजीकरण मनुष्य को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति समाज की क्रियाओं में भाग लेने के लिए समर्थ बनता है जिससे समाज की गतिविधियों में अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार कर सके। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य व्यवहार करने के लिए सक्षम बनाती है।

बोगार्डस ने कहा है कि साथ काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने एवं दूसरों के कल्याण संबंधी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं।

समाजीकरण की अवस्थाएं (Stages of Socialisation)

बाल्यावस्था (Childhood)

बाल्यावस्था में समाजीकरण मूलभूत चीजें सीखने की समस्याओं के आसपास ही केन्द्रित रहता है जैसे खाने की आदतें, शौच आदि का प्रशिक्षण, साफ-सफाई संबंधी आदतें तथा विनम्रता, सहयोग, ईमानदारी आदि संबंधी मूल्य। स्मिथ और प्रेस्टन (1977 : 46) के अनुसार जीवन की इस प्रारंभिक व आवश्यक तैयारी को प्रारंभिक समाजीकरण कहते हैं। इन मूलभूत मानदंडों तथा व्यवहार के पैटर्न को सिखाने में परिवार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है।

किशोरावस्था (Adolescence)

जैसे बाल्यावस्था जीवन की एक सुस्पष्ट व्यवस्था होती है, उसी प्रकार किशोरावस्था, बाल्यावस्था व प्रौढ़ावस्था दोनों के बीच की मध्यवर्ती अवस्था होती है। यह अवस्था तेरह से उन्नीस वर्ष की आयु के बीच होती है। इस अवस्था में व्यक्ति अपनी स्वयं की कुछ सीमा तक स्वतंत्रता प्रस्थापित करता है तथा वयस्क जीवन के लिए आवश्यक विशिष्ट कौशलों को सीखता है। चूंकि तेजी से बदलते समाज में यह अवस्था जीवन चक्र की अपेक्षाकृत नई अवस्था है इसलिये यह काल अस्पष्ट व प्रायः भ्रम पैदा करने वाला होता है। इस अवस्था के अधिकार व दायित्व भी स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं।

किशोरावस्था का प्रारंभ प्रायः यौवनारंभ से होता है। इस अवस्था की अशांति को हम मानसिक परिवर्तनों का परिणाम मानते हैं। तुलनात्मक अनुसंधान इस बात का संकेत देता है कि बाल्यावस्था के समान ही किशोरावस्था भी संस्कृति का परिवर्तनीय परिणाम है। यह अवस्था ऐसी होती है जब समाजीकरण की अनेक असफलताएं हमारे सामने आती हैं।

वयस्कता (Adulthood)

जसे जसे व्यक्ति आयु मे बढता जाता है वैसे–वैसे वह अमूर्त ज्ञान अधिक सीखता है। इस ज्ञान के रूपान्तरण म परिवार के अतिरिक्त अन्य स्रोत जैसे शिक्षक समवयस्क रेडियो पुस्तके समाचार पत्र सिनेमा आदि प्रमुख भूमिका निभाते हें।

वृद्धावस्था (Old Age)

वृद्धावस्था मे वयस्कता के बाद के वर्ष तथा जीवन की अतिम अवस्था का समावेश होता हे। इसका प्रारभ 60 65 वर्ष की आयु से होता हे। वृद्ध लागो का ज्ञान अप्रचलित व अधिकार नाम मात्र का होता ह तथा अपनी ही सतानो के लिए वे प्राय अनचाहे बन जाते हें। इस अवस्था मे व्यक्ति अधिक से अधिक यह प्रयास कर सकता ह कि वह दूसरो पर भार न बने। वास्तव म समाज मे वृद्ध व्यक्तियो हेतु कोई उपयोगी भूमिका नहीं ह। वे प्राय 65 वष की आयु म निवृत्त हो जाते हें तथा उनकी सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन म कोई भूमिका नही रहती।

पूर्व औद्योगिक समाजो मे वृद्ध लोगो को वास्तव मे इतना आदर प्राप्त होता था कि कभी कभी युवा लोग वृद्ध होने की प्रतीक्षा करते थे। वृद्ध समुदाय मे जनवार्ता, ज्ञान अनुभव व बुद्धिमानी के सग्रह माने जाते थ तथा समाज के अन्य लोग उनसे मार्गदर्शन लिया करते थे। पूर्व ओद्योगिक समाजो मे जीवन चक्र के प्रत्येक सोपान मे मृत्यु नियमित रूप से होती रहती थी। किन्तु आज मृत्यु मुख्यत वृद्धावस्था मे ही होती है।

समाजीकरण के प्रकार (Types of Socialisation)

समाजशास्त्री प्राय यह बताते हैं कि समाजीकरण दो विस्तृत अवस्थाओं में होता है तथा उसमे विभिन्न अभिकरणों का हाथ होता है। समाजीकरण के अभिकरण वे समूह व सामाजिक सदर्भ होते हें जिनमे समाजीकरण की प्रक्रिया घटित होती है। समाजीकरण के दो प्रकार हैं—प्राथमिक तथा द्वितीयक। प्राथमिक समूह छोटे होते हें इनमे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत सबध होते हैं तथा वे व्यक्ति को अपनी भावनाओं व बुद्धि की अभिव्यक्ति का अनुमान देते हैं।

प्राथमिक समाजीकरण शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था मे होता हे और यह सस्कृति सीखने का सबसे अच्छा समय होता है। इस अवधि मे बच्चे भाषा तथा व्यवहार के पैटर्न सीखने हैं जो उनके बाद में सीखने के आधार बनते हे। इस अवधि मे परिवार समाजीकरण का मुख्य अभिकरण होता है। द्वितीयक समाजीकरण बाल्यावस्था के दूसरे भाग मे होता है तथा वयस्क होने पर भी चलता रहता हे। इस अवस्था मे समाजीकरण के अन्य अभिकरण परिवार से कुछ जिम्मेदारिया ले लेते हें। शालाए समवयस्क समूह, अन्य सगठन जन प्रचार माध्यम व अतत: कार्यस्थल व्यक्ति के लिए समाजीकरण के स्रोत बन जाते हें।

द्वितीयक समूह बड़े, अधिक अवैयक्तिक, अधिक औपचारिक रूप से संगठित तथा किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिये अस्तित्व में होते हैं। द्वितीयक समाजीकरण में व्यक्ति औपचारिक परिस्थितियों में स्वयं को किस प्रकार संयमित रखना व व्यवहार करना सीखता है। वह यह भी सीखता है कि स्वयं से भिन्न संस्थिति तथ भिन्न अधिकार रखने वाले व्यक्तियों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। द्वितीयक समाजीकरण के अभिकरण के रूप में शाला एक महत्वपूर्ण उदाहरण हो सकती है किन्तु सभी औपचारिक संगठन अपने सदस्यों को कुछ हद तक प्रभावित करते ही हैं अतः कुछ सीमा तक उन्हें भी इस वर्ग में शामिल किया जा सकता है।

समाजीकरण के साधक (Agents of Socialisation)

(i) परिवार (Family) —परिवार में उन सदस्यों का समावेश होता है जिनका रक्त अथवा विवाह अथवा दत्तक विधान द्वारा संबंध स्थापित होता है। परिवार के सदस्य नैतिक, सामाजिक, कानूनी तथा आर्थिक अधिकारों व दायित्वों द्वारा एक सूत्र में बंधे रहते हैं। बच्चों में संस्कृति संप्रेषण करने में परिवार एक महत्वपूर्ण साधक होता है। परिवार के बुजुर्ग सदस्य बच्चों को क्या वांछनीय है, क्या अवांछनीय, क्या उपयुक्त है, क्या अनुपयुक्त, क्या सही है और क्या गलत आदि सिखाते हैं। परिवार बच्चों को तथा बाद में वयस्कों को अपना लक्ष्य परिभाषित करने में मदद करता है। परिवार एक प्रमुख अभिकरण है जिसके माध्यम से समाजीकरण होता है। पारसन्स दलील देते हैं कि परिवार वे कारखाने हैं जो मानव व्यक्तित्व निर्माण करते हैं। वे मानते हैं कि इस प्रयोजन के लिए परिवार आवश्यक हैं, क्योंकि प्रारम्भिक समाजीकरण के लिए एक संदर्भ की आवश्यकता होती है जो स्नेह, सुरक्षा तथा आपसी सहयोग प्रदान करे। उनके विचार से परिवार ही एक ऐसी संस्था है जो यह सब प्रदान कर सकती है।

(ii) मित्रों का समूह (Peer Group)—बच्चों का क्रीड़ा-समूह एक महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है। यह सहयोग और पारस्परिक सद्भावना पर आधारित होता है। बच्चों का व्यवहार, आचरण, अनुकूलन इस समूह पर भी काफी निर्भर करता है। क्रीडा-समूह में वह अनेक आदतें खेल के नियमों का पालन करना, अनुशासन व पारस्परिक सहयोग सीखता है। ब्रूम और सेल्जनिक के अनुसार मित्रों के समूह का महत्व निम्नानुसार है:—

- ✿ शहरों में परिवार छोटे हैं, बाहरी समाज से इनका सम्पर्क कम होता है, अतः मित्रों का समूह मिलने-जुलने के लिए आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।
- ✿ ज्ञान का विस्तार होता जा रहा है। नवीन ज्ञान परिवार की अपेक्षा मित्र समूह से प्राप्त होता है।

- आधुनिक समाजों में गतिशीलता अधिक है। मित्रों के समूह में वह नयीन मूल्य, मान्यताएं ग्रहण कर नई परिस्थितियों में समायोजन से समाज में उच्च स्तर में जाने की इच्छा रखता है।

ग्रामीण समाज में तो मित्रों का समूह ही समाजीकरण का प्रमुख साधन है। अनेक बातें जो परिवार में नहीं बताया जाता है उसे मित्र समूहों में जाने को मिल जाती है। अपने समवयस्क बच्चों के समूह में एक बच्चा अन्यों के साथ अन्तःक्रिया तथा खेल खेलकर नियमों पर आधारित सामाजिक जीवन के तौर तरीकों को स्वीकार करना तथा अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

(iii) पड़ौस (Neighbourhood) ग्रामीण जीवन में पड़ोस का महत्व समाजीकरण की प्रक्रिया में अधिक है। शहरी क्षेत्र पड़ोस सीमित भी हो सकता है। कई व्यवहार प्रतिमान बच्चा पड़ोस से सीखता है। किशोरों के समाजीकरण में भी पड़ोस का योगदान होता है।

(iv) विवाह (Marriage) विवाह व्यक्ति के जीवन में एक नया मोड़ ला देता है। पति पत्नी दोनों ही भिन्न समूहों से आते हैं। नये दायित्वों के निर्वहन हेतु उन्हें परिवार के हित में त्याग करना पड़ता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समायोजन अधिक होता है। पति पत्नी कालान्तर में माता पिता, दादा दादी की नई भूमिकाएं निभाते हैं। वे नई परिस्थिति, नये कार्यों का अन्तरीकरण करते जाते हैं। पारिवारिक कल्याण की भावना व्यक्तिवादी भावना का स्थान लेती है।

(v) नातेदारी समूह (Kin Group) नातेदारी समूह में जन्म अथवा विवाह से सम्बंधित लोग आते हैं। सभी से एक समान व्यवहार नहीं किया जा सकता। सबके अलग अलग सम्बन्ध प्रतिमान हैं। इन्हें सीखना पड़ता है। नातेदारी समूह में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से परिस्थिति के आधार पर कार्य व्यवहार का आत्मसात किया जाता है।

उपर्युक्त प्राथमिक संस्थाओं के अलावा द्वितीयक संस्थाएं भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रत्येक द्वितीय समूह किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित होता है। कुछ उल्लेखनीय अभिकरण व संस्थाएं निम्नलिखित हैं

शिक्षण संस्थाएं (Educational Institutions) –शिक्षा का समाजीकरण में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षकों, पुस्तकों एवं सहपाठियों से अनेक बातें सीखी जाती है। विचारों एवं दृष्टिकोण से प्रभावित होकर आचरण व रहन सहन सीखने में मदद मिलती है। पुस्तकों से ज्ञान अर्जित होता है। शिक्षण संस्थाएं व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती है। यही

समाजीकरण है। विद्यालय द्वितीयक समाजीकरण के अभिकरण का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

आर्थिक संस्थाएं (Economic Institutions)—आर्थिक संस्थान जीविकोपार्जन से सम्बद्ध होती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति सहयोग, प्रतिस्पर्धा, समायोजन, व्यवस्थापन आदि सीखता है। आर्थिक जीवन मे सफलता समाजीकरण मे सहायक है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढांचे को निर्धारित करती हैं।

राजनीतिक संस्थाएं (Political Institutions)—ये संस्थाएं व्यक्ति को राजनीतिक ढांचे, कानून, अनुशासन आदि को समझाने मे सहायक होती हैं। ये कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति सचेत करती हैं। प्रजातंत्रीय व्यवस्था मे सरकार अनेक कल्याणकारी कार्य करती है जिसमें व्यक्ति को विकास के अवसर प्राप्त होते हैं। अन्य समूहों से अनुकूलन, सामयिक गतिविधियों की जानकारी और समाज को दिशा बताने में इनका स्थान महत्वपूर्ण है।

धार्मिक संस्थाएं (Religious Institutions)—धार्मिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति नैतिकता तथा अन्य गुण ग्रहण करता है। कर्त्तव्य पालन, ईमानदारी, पवित्रता, ईश्वर का भय, प्राचीन धार्मिक शास्त्रों का बोध और आचरण धार्मिक संस्थाओं से सीखा जाता है। जीवन की दिशा को निर्धारित कर विचारों को प्रभावित करने में इन संस्थाओं का योगदान उल्लेखनीय है।

वर्तमान मे इनके अतिरिक्त निम्नांकित दो अन्य उल्लेखनीय साधन हैं जो समाजीकरण मे महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाते हैं:—

जन माध्यम (Mass Media)—जन माध्यमों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द Media लैटिन भाषा के शब्द Middle से बना है, जिसका अर्थ बताता है कि यह लोगों को जोड़ने का कार्य करता है। सम्प्रेषण तकनीक के रूप मे जन प्रसार माध्यमों का विकास होने से बड़े पैमानों पर लोगों में ज्ञान का प्रसार होता है। जन प्रसार माध्यमों का हमारे जीवन मे बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से वे समाजीकरण की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग हैं। संचार प्रौद्योगिकी सभी आधुनिक समाजों का एक अभिन्न अंग हो गई है। प्राद्योगिकी के नए उत्पाद टी वी , कम्प्यूटर आदि समाजीकरण के महत्वपूर्ण कारक बन गए है। विशेषकर टी वी समाजीकरण का एक महत्वपूर्ण साधन है। यह अनुकरण व भूमिका निर्वहन को बढ़ावा देता है। फिर भी टेलीविजन की इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि यह अंत.क्रिया के स्थान पर निष्क्रिय होकर कार्यक्रम देखने के लिए प्रोत्साहित करता है। जन माध्यम समाजीकरण का सशक्तकारक है। इसके माध्यम से ऐसी जीवन शैलियों से अवगत कराया जाता है,

जिनके बारे में बच्चे या बुजुर्ग जानते तक नहीं हैं। सृजनशील कार्यक्रम कौशल विकसित करने में भी सहायता करते हैं।

कार्यस्थल (Work Place)—मानवीय समाजीकरण का एक मूल पहलू है कि यह व्यक्तियों को अपने व्यवसाय में उपयुक्त व्यवहार करना सिखाता है। व्यावसायिक समाजीकरण को बाल्यकाल तथा किशोरावस्था में घटित समाजीकरण के अनुभवों से पृथक नहीं किया जा सकता। विलबर्ट मूर (1968 871 880) ने व्यावसायिक समाजीकरण को चार अवस्थाओं में बाटा है व्यवसाय का चयन (Career Choice), प्रत्याशी समाजीकरण (Anticipatory Socialisation), अनुकूलन व प्रतिबद्धता (Conditioning and Commitment) तथा सतत प्रतिबद्धता (Continuous Commitment)। व्यावसायिक समाजीकरण व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्यकारी अवधि में कार्यस्थल पर होता रहता है। व्यक्ति को किसी श्रमिक संघ अथवा व्यावसायिक संघ की सदस्यता इस मान्यता पर दी जाती है कि वह उस संगठन के लक्ष्यों व नियमों का पालन करेगा। उस संगठन को इस प्रकार अपने व्यवहार को प्रभावित करने की अनुमति देकर व्यक्ति अपने व्यवहार में समाजीकरण के प्रभाव को स्वीकार करता है।

कुछ संस्थाओं व साधनों का प्रभाव अधिक होता है जबकि कुछ आंशिक रूप से प्रभावित करती हैं। समस्त अभिकरणों के माध्यम से समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को समाज का कार्यकारी सदस्य बनाती हैं। समय की माँग है कि अभिकरणों को प्रभावशाली बनाया जाए।

समाजीकरण के सिद्धान्त (Theories of Socialisation)

समाजीकरण के तीन प्रमुख स्पष्टीकरण प्रस्तुत किए गए हैं। वे हैं—प्रबलन सिद्धान्त, संज्ञानात्मक सिद्धान्त और प्रतीकात्मक अंत.क्रियावाद। प्रत्येक सिद्धान्त यह मानता है कि व्यवहार अन्यों से सीखा जाता है न कि वह शारीरिक रूप से निर्धारित होता है। यदि हम एक समानता को छोड़ें तो ये तीनों सिद्धान्त व्यक्ति क्या व कैसे सीखता है, इस पर एकमत नहीं हैं।

प्रबलन सिद्धान्त (Reinforcement Theory)

इस सिद्धान्त के प्रस्तुतकर्त्ता थॉर्नडाइक, स्किनर आदि मानव संबंधी तीन परिकल्पनाओं पर एक मत हैं — (1) व्यक्ति अपने क्रियाओं में सुखवाद द्वारा मार्गदर्शित होते हैं जैसे वे अपनी रोज की क्रियाओं में सुख, संताप तथा प्रतिफल चाहते हैं व पीड़ा व दण्ड से कभी कतराते हैं। थार्नडाइक की प्रसिद्ध उक्ति है "जब सुख अन्दर आता है तो पीड़ा बाहर हो जाती है।" (Pleasure stamps in, pain stamps out)। इस प्रकार प्रबलन सिद्धान्त के अनुसार लोग ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे उन्हें आनंद

की प्राप्ति हो। (2) सामाजिक वैज्ञानिक मानव के व्यवहार का अवलोकन कर उन्हें समझ सकते हैं न कि उनके मन की स्थिति जैसे अवबोधन, अभिवृत्तियां आस्थाएं व स्वधारणाओं को समझकर। प्रबलन सिद्धान्तवादी दावा करते हैं कि मानसिक परिभास (Phenomena) को प्रत्यक्ष अथवा निष्पक्ष रूप से अवलोकित नहीं किया जा सकता। (3) लोगों में अपने व्यवहार को किसी विशिष्ट प्रतिफल अथवा दण्ड से सम्बद्ध करने की क्षमता होती है। (जिसे साहचर्यवाद सिद्धान्त कहते हैं)। उदाहरण के लिए एक बच्चा प्रारंभ में असंगत रूप में बुदबुदाता है किन्तु एक दिन वह स्पष्ट बोलता है 'यह कुत्ता है'। उसके पालक मुस्कराते हैं व उसे इसी प्रकार के वाक्य बोलने हेतु प्रोत्साहित करते हैं। बच्चा तब सगतपूर्ण वाक्यों की संरचना को बाद में उसे माता पिता द्वारा मिलने वाले प्रतिफल से संबद्ध करता है।

इस प्रकार प्रबलन सिद्धान्त के अनुसार अधिगम (Learning) सकारात्मक प्रबलन का परिणाम होता है—सकारात्मक प्रबलन अथवा प्रतिफल जो बाद में विशिष्ट व्यवहार निर्माण करते हैं तथा नकारात्मक प्रबलन—दण्ड—जो बाद में कुछ विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को समाप्त कर सकता है। व्यक्ति को एक सजीव वस्तु के रूप में देखा जाता है जिसे किसी भी प्रकार से अनुकूलित किया जा सकता है यदि उपयुक्त प्रतिफल तथा दण्ड का प्रयोग बार बार किया जाए। व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं व उसकी कल्पना करने की तथा अपने व्यवहार में परिवर्तन करने की क्षमता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। व्यक्ति को केवल 'प्रतिक्रिया' माना जाता है जो प्रेरक से प्रतिक्रिया करता है न कि क्रियाशील माना जाता है जो सृजन करता है।

संज्ञानात्मक सिद्धान्त (Cognitive Theory)

यह सिद्धान्त प्रबलन सिद्धान्त से पूर्णतः विपरीत है। यह व्यक्ति की आंतरिक स्थिति से संबंधित है तथा व्यक्ति कैसे समझता है, सोचता है तथा चुनाव करता है इस पर ध्यान केन्द्रित करता है। पियाजे (Piaget) ने बच्चों के नियमों, दण्ड तथा व्यवहार के कारणों संबंधी अवबोधन का अध्ययन किया तथा पाया कि विभिन्न आयु के बच्चे समस्याओं पर भिन्न प्रकार से सोचते हैं तथा भिन्न हल निकालते हैं। उदाहरण के लिए छोटे बच्चे सहयोग करने से प्राप्त होने वाले लाभों को नहीं देखते। इसीलिए वे अन्यों के साथ सहयोग करने के इच्छुक नहीं रहते। किन्तु बड़े बच्चे सहयोग के लाभों को सोचते हैं। अतः वे अन्यों के साथ सहयोग करने के लिए तत्पर रहते हैं। बड़े बच्चे अमूर्त विचारों को समझने हेतु अधिक सक्षम होते हैं। इस प्रकार संज्ञानात्मक सिद्धान्त के अनुसार समाजीकरण व्यक्ति को उसके स्वकेन्द्रित विचारों से मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है। व्यक्ति दूसरों के विचारों को ध्यान में रखते हैं तथा विवेचन करने की क्षमता विकसित करते हैं। वे समाज की गतिविधियों में सहभागी होना तथा दूसरों के साथ सहयोग करने के कारणों को सीखते हैं।

प्रतीकात्मक अंत.क्रियावाद सिद्धान्त (Symbolic Interactionism)

समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की ओर अन्य दो सिद्धान्तों से अधिक ध्यान दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार व उसकी आतंरिक स्थितिया दोनो ही अध्ययन हेतु आवश्यक हैं तथा व्यक्ति जीवन की समस्याओं के हल स्वय निकालने में सक्षम होता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, प्रचलन सिद्धान्त व्यक्ति की आतंरिक अवस्था को कोई महत्व नहीं देता किन्तु संज्ञानात्मक व प्रतीकात्मक अत क्रिया सिद्धान्त व्यक्ति की आतंरिक स्थिति के महत्व को मानते हैं। फिर भी प्रतीकात्मक अत क्रिया सिद्धान्त व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया मे भाषा की भूमिका पर अधिक बल देता है। यह व्यक्ति की स्व भावनाओं पर भी ध्यान केन्द्रित करता है जो उसके अन्य व्यक्तियों के साथ अत.क्रिया करने से उत्पन्न होती है।

प्रतीकात्मक अत क्रिया सिद्धान्त यह मानता ह कि प्रतीक मानव सप्रेषण का आधार होता है। प्रतीक वह वस्तु होती ह जो किसी अन्य वस्तु को प्रदर्शित करती है। सामाजिक अत क्रिया मे व्यक्ति एक प्रतीक को अर्थ तथा महत्व देना सीखते ह। उदाहरण के लिए यदि वे किसी खम्भे को जिस पर भोपू का प्रतीक बना हो, देखते हैं तो व उसका अर्थ समझ जाते हैं। यह अर्थ व वाहनो को चलाते समय सीखते हैं। दूसरा उदाहरण हिलते हुए पजे का ल। इस प्रतीक का भी निश्चित अर्थ होता है। यद्यपि सभी व्यक्ति प्रतीकों का समान अर्थ नहीं निकालते फिर भी वे प्राय उनका अर्थ निकाल ही लेते हैं। इस प्रकार प्रतीकात्मक अत क्रियावादी भाषा व सप्रेषण के प्रति इतने चिंतित इसलिए रहते हैं क्योंकि वे मानते ह कि व्यक्ति केवल भाषा व सप्रेषण के माध्यम से ही सस्कृति सीख सकता है तथा जीवन मे समाजीकृत सहभागी बन सकता ह। इसके अतिरिक्त सप्रेषण व्यक्ति को स्व धारणा विकसित करने योग्य बनाता है। दो विद्वानों कूले व मीड ने समाजीकरण की विस्तृत व्याख्या की है जिसमे स्व धारणाए कसे विकसित होती हैं इस पर बल दिया है। हम उनके द्वारा दी गई सैद्धान्तिक व्याख्याओं का अध्ययन पृथक मे करगे।

चार्ल्स होर्टन कूले (Charles Horton Cooley)

कूले के अनुसार 'स्व' साधारण बोलचाल की भाषा मे प्रयुक्त 'मैं' नहीं होता किन्तु इसका अर्थ आनुभाविक सामाजिक अस्तित्व होता है, जिसका बोध किया जा सकता है तथा जिसे साधारण अवलोकन द्वारा सत्यापित किया जा सकता है। इस प्रकार कूले सामाजिक पहलू पर जोर देते हैं। साधारण भाषा मे अथवा बोलचाल व विचारों में 'स्व' के सवेग अथवा भावना को मूल प्रावृत्तिक माना जाता है जबकि सामाजिक 'स्व' को सप्रेषक जीवन मे निकाला जाता है। कूले का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति 'स्व' अर्थात दूसरों के साथ अत.क्रिया के माध्यम से स्वय का परिचय करने की

भावना का विकास करता है। वह जान सकता है कि वह बुद्धिमान है अथवा उबाऊ, स्वतंत्र है अथवा परतंत्र आदि। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को मानसिक, शारीरिक व सामाजिक विशेषताओं के साथ एक स्वतंत्र अस्तित्व मानता है। कूले ने इस बिन्दु पर अपने 'Looking–glass self' के विचार के माध्यम से जोर दिया है। आत्मस्व, का व्यक्तिगत भाव दूसरों के द्वारा जिस प्रकार प्रतिबिम्बित और परावर्तित होता है, उसे ही कूले ने आत्मदर्पण कहा है। इस विचार के अनुसार व्यक्ति जिन लोगों के सम्पर्क में आता है उनके माध्यम से स्वयं के प्रतिबिंब को देखता है। हम कूले के आत्मदर्पण (Looking-glass self) के तीन प्रमुख घटकों को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं (1) दूसरे व्यक्ति के माध्यम से स्वयं के आभास की कल्पना (2) उस आभास के आकलन की कल्पना (अर्थात काल्पनिक आकलन) तथा (3) स्वयं के बारे में किसी प्रकार की भावना जैसे गर्व अथवा शर्मिन्दगी। इस प्रकार कूले के अनुसार *(1) 'स्व' समाज द्वारा निर्मित होता है, (2) यह दूसरे लोगों द्वारा अवबोधित* प्रतिपुष्टि (Feedback) का परिणाम होता है, (3) व्यक्ति को स्वयं के अनुमोदन की तलाश रहती है अर्थात वह अपने विचारों व व्यवहार का अन्य लोगों से अनुमोदन चाहता है। वह अपने पड़ोसियों व जनता के अनुमोदन को शांति व अमन से अधिक चाहता है तथा उसे पीड़ा से उतना भय नहीं लगता जितना दूसरों के अनुमोदन से लगता है। इस प्रकार एक व्यक्ति जो स्वयं को मोहक व हाजिर जवाब समझता है जब उसे यह पता चलता है कि उसके मित्र उसे मंदबुद्धि तथा उबाऊ मानते हैं वह स्वयं को मानसिक रूप से मृत पाता है। उसके स्वयं के बारे में संजोए विचारों की हवा निकल जाती है, जब वह अपने मित्रों को आइने के समान प्रयोग करता है।

बच्चों में आइने समान स्वयं के बारे में भावनाओं के विकास की प्रक्रिया को कूले ने 'स्वांग' शब्द का प्रयोग कर समझाया है। इसका अर्थ है लोग स्वयं के बारे *में क्या सोचते हैं इसी में व्यस्त रहना। उदाहरण के लिए एक छह माह की बच्ची* अपने मां का पल्लू खींचकर, मुस्कराकर, गडगडाने की आवाज कर, अपने हाथ फैला आदि अपनी मां का ध्यान अपनी ओर खींचने का प्रयास करती है। यह सब करते समय वह उससे होने वाले प्रभाव का सूक्ष्म अवलोकन करती है। इसे ही 'स्वांग' कहते हैं *अर्थात् दूसरे मेरे विषय में क्या सोचते हैं यही सोचना।* *वह छोटी बच्ची शीघ्र* ही विभिन्न लोगों के साथ विभिन्न स्वांग रचना सीख जाती है। इस अर्द्ध विकसित सामाजिक अस्तित्व (स्वयं) को कैसा व्यवहार मिलता है इस पर उसकी खुशी अथवा गम निर्भर करता है।

सामाजिक स्व-भावनाओं के विकास की कुछ अवस्थाएं होती हैं इसमें कूले का विश्वास नहीं है। किन्तु वे कहते हैं कि सामाजिक 'स्व' के विकास में लिंग

भेद स्पष्टत· नजर आता हे। लडकियो मे सामाजिक सवेदनशक्ति प्राय. अधिक देखने को मिलती हे। वे सामाजिक प्रतिभा की स्पष्टतः अधिक चिन्ता करती हैं। लडके व्यक्तियो के बारे मे कम ही कल्पना करते हैं। इस प्रकार साधारणत लडको मे लडकियो की अपेक्षा सामाजिक 'स्व' कम सवेदनशील होता हे।

कूले यह भी मानते हैं कि 'स्व' समूह के सदर्भ मे अत क्रिया के परिणाम स्वरूप अस्तित्व मे आता है। इस बात पर बल देने के लिए कि कुछ समूहो द्वारा प्रारभ व बाद म 'स्व' के अनुरक्षण हेतु आइना के सामने सहभागी होना अन्य समूहो के सहभागी होने से अधिक महत्वपूर्ण है। कूले ने प्राथमिक समूह की धारणा विकसित की। छोटे समूहो जहाँ वैयक्तिक व घनिष्ठ सबध विद्यमान होते हैं, लोगो की स्व-भावनाओ व अभिवृत्तियो को आकार देने मे सबसे महत्वपूर्ण होते हैं।

जार्ज हर्बर्ट मीड (George Herbert Mead)

मीड भी मानते हैं कि 'स्व सामाजिक होता है। यह सामाजिक अनुभव तथा गतिविधियो की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। उन्होने 'स्व' को दो भागो मे विभाजित किया हे मैं और मुझे'। मैं स्व' का क्रियाशील भाग है जबकि 'मुझे' निष्क्रिय। इसलिए 'मुझे' वह भाग है जिस पर लोग क्रियाए करते हैं। 'मैं' व्यक्तियो के आवेगो, प्रवृत्तियो (Impulsive Tendencies), सहज प्रेरणाओ व इच्छाओ की ओर इशारा करता है। 'मुझे' 'स्व' के वास्तविक सामाजिक पहलुओ की ओर इशारा करता है। मुझे' 'स्वय' के वास्तविक सामाजिक पहलु प्रदर्शित करता है। वह दूसरो की आकाक्षाओ व मागो पर विचार करता हे। 'मैं' शैशव से ही व्यक्ति के साथ रहता है जबकि 'मुझे' को प्रकट होने मे अधिक समय लगता हे क्योकि हम दूसरो से अत क्रिया के माध्यम से सीखते हैं। मीड जोर देकर कहते हैं कि "मैं" अथवा आवेगी व्यवहार की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती क्योकि व्यक्ति केवल अनुभव से ही जान सकता है (मुझे) कि क्या घटित हुआ है तथा अतःक्रिया हेतु "मैं' के क्या परिणाम होने वाले हैं।

मीड के अनुसार "मैं" और 'मुझे' आपस मे सतत वार्तालाप करते रहते हैं। 'मैं' तुरत व आवेगात्मक क्रिया हेतु वकालत करता हे वहीं 'मुझे' सतत वे (नातेदार, मित्र, समुदाय) 'स्व' को कैसा होना चाहिए तथा उसे क्या करना चाहिए इस पर विचार करने हेतु प्रेरित करता है।

मीड ने स्व' के विकास की तीन अवस्थाए बताई हैं— 'अभिनय' खेल व 'सामान्यीकृत प्रश्न' (Generalised Other)। प्रत्येक अवस्था मे 'स्व' की धारणा मे परिवर्तन स्पष्ट नजर आता है। प्रथम अवस्था मे आने से पूर्व छोटा बच्चा कवल दूसरो की नकल करता है। इसीलिए इसे नकल की अवस्था भी कहते हैं। जैसे

यदि मां बच्चे को देखकर मुस्कराती है तो बच्चा भी प्रत्युत्तर में मुस्कराता है। इस अवस्था में अभी 'स्व' प्रकट नहीं होता है तथा बच्चा अभी स्वयं को एक सामाजिक वस्तु की इकाई के रूप में नहीं देखता। 'स्व' का विकास प्रथम अभिनय अवस्था में प्रारंभ होता है। इस अवस्था में शिशु का शरीर केवल सीमित संख्या में ही दूसरों के परिप्रेक्ष्य को ग्रहण करने की क्षमता रखता है। पहले केवल एक या दो लोगों के। बाद में शारीरिक परिपक्वता तथा भूमिका ग्रहण के अभ्यास के कारण उसका शरीर संगठित गतिविधियों में रत अनेक व्यक्तियों की भूमिका ग्रहण करने के योग्य बन जाता है। मीड ने इस अवस्था को 'खेल' कहा है क्योंकि इसमें व्यक्तियों की अनेक स्व धारणाओं की इच्छा करने की तथा कुछ समन्वित गतिविधियों में व्यस्त लोगों के समूह के साथ सहयोग की क्षमता का विकास हो जाता है। इस अवस्था में बच्चा स्वयं के प्रति दूसरों की अभिवृत्तियों को पहचानता है तथा उसके 'स्व' का "मैं" भाग विकसित होना प्रारंभ हो जाता है। (मीड इसे बेसबॉल के खेल का उदाहरण देकर समझाते हैं जिसमें सभी खिलाड़ियों को टीम के अन्य सभी खिलाड़ियों की भूमिकाएं ग्रहण करनी होती हैं। ऐसा उन्हें प्रभावी सहभागिता हेतु करना होता है।) मान लें कि बच्चा डॉक्टर का खेल खेल रहा है। वह यह सीखता है कि उससे केवल एक डॉक्टर की भूमिका की ही अपेक्षा नहीं है बल्कि उससे संबंधित सभी भूमिकाओं को जैसे नर्स, कम्पाउण्डर, मरीज, देखभाल करने वाले संबंधी, मिलने के लिए आने वाले लोग आदि। डॉक्टर के खेल में बच्चा अन्य सभी की अभिवृत्तियों को सीखता है अथवा अपने व्यवहार को समायोजित करता है।

अन्तिम अवस्था में व्यक्ति अन्य लोगों की सामान्यीकृत भूमिका अथवा समाज में व्याप्त अभिवृत्तियों को लेता है। मीड का मानना है कि इस अवस्था में व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों की संपूर्ण अभिवृत्तियों तथा अपेक्षाओं अथवा अंत:क्रिया के विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों के मूल्य व मानदंडों को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति (1) अपनी अंत:क्रिया करने की उपयुक्तता को बढ़ा सकते हैं तथा (2) वे अपनी मूल्यांकन योग्य 'स्व' धारणाओं का अन्य विशिष्ट लोगों की अपेक्षाओं से वृहद् समुदाय की अपेक्षाओं तक विस्तार कर सकते हैं। कई अन्य लोगों की भूमिकाओं को ग्रहण करने की सतत बढ़ती हुई क्षमता इस अवस्था की विशेषता है जो इस अवस्था में 'स्व' को विकसित करती है।

व्यक्ति के समाजीकरण में मीड ने समाज की भूमिका के संबंध में लिखा है कि बालक को अपने बारे में सामाजिक अन्तर्क्रिया द्वारा ही बोध होता है। 'स्व' की उत्पत्ति होती है। 'स्व' का ज्ञान उसे दूसरे व्यक्तियों की भूमिकाओं को ग्रहण करने से होता है। मीड ने इन दूसरे व्यक्तियों को 'सामान्यीकृत अन्य' कहा है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं की पहचान तथा स्वयं धारणाएं परिवर्तित हो सकती हैं। व्यक्ति यह सोचता है कि वह यह जानता है कि वह कौन

और क्या है किन्तु अप्रत्याशित घटनाएं उसके मन मे इस सबध मे शका उत्पन्न कर देती हैं। वह अन्यो के साथ अत क्रिया के माध्यम से यह जानने के लिए कि वह कौन व क्या है अनुसमर्थन मागता ह।

जब कोई व्यक्ति अपने 'स्व' को समझने के लिए दूसरो की भूमिका को ग्रहण नहीं कर पाता तो उसके व्यक्तित्व के विकास म बाधा उत्पन्न होती है। समाजीकरण की प्रक्रिया मे भूमिका ग्रहण करना एक आवश्यक प्रक्रिया है।

हण्ट के अनुसार अभिज्ञान (Identity) और आत्म सम्मान (Self Respect) व्यक्ति के 'स्व' को समझने म सहायक होते हैं। अभिज्ञान स यह बोध होता ह कि आप दूसरो से भिन्न है तथा आपका अपना पृथक अस्तित्व ह। व्यक्ति अपना आत्म सम्मान इस आधार पर निर्धारित करता है कि अन्य लोग उसे कितना सम्मान देते हैं।

समाजीकरण की विधियों मे विविधताए (Variations in Methods of Socialisation)

यूरी ब्रोनफेनब्रेनर (Uri Bronfenbrenner) ने समाजीकरण का सबध वर्ग भिन्नताओ से जोडा है। इस सदर्भ मे वे दो प्रकार के समाजीकरण की बात करते हैं। दमनकारी व सहभागात्मक। दमनकारी समाजीकरण निम्न मजदूर वर्ग के पालको म पाया जाता है। ऐसे पालक अपने बच्चो को वाछित व्यवहार मे ढालने तथा बिना कोई प्रश्न किए नियमो का पालन कराना चाहते हैं तो वे दण्ड का प्रयोग करते है। जब कोई बच्चा आज्ञा का उल्लघन करता है तो वे थप्पड मारने अथवा खिल्ली उडाने जैसे दण्ड का प्रयोग करते है। जहा एक ओर दमनकारी समाजीकरण गलत आचरण को दण्डित करता है, वही सहभागात्मक समाजीकरण अच्छे व्यवहार के लिए इनाम देता है। मध्यम तथा उच्च वर्ग के पालक सहभागात्मक समाजीकरण का प्रयोग करते हैं। यहा बच्चे के साथ विवेचन तथा उपयुक्त व्यवहार पर प्रशसा करने पर अधिक जोर दिया जाता है। पालक बच्चो को स्वय ही नए विचारो की खोज करने हेतु प्रेरित करते हैं न कि उनके आदेशो का पूर्णतः पालन हेतु।

व्यावसायिक समूहो के साथ भी दमनकारी तथा सहभागात्मक समाजीकरण की विधियाँ भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए सेना के लोगो का समाजीकरण दमनकारी विधि मे ही किया जाता है। सेना मे भर्ती नये रगरूटो व निम्न स्तर के सैनिक ऊपर से आए हुए सभी आदेशो का पालन करते हैं। जब वे ऐसा नहीं करते तो उनकी खिल्ली उडाई जाती है तथा उन्हे अवाछनीय कार्य सौंपे जाते है। दूसरी ओर प्राध्यापको, वैज्ञानिको, वकीलो डॉक्टरो आदि को उनके व्यवसाय के साथ जुडी समाजीकरण की प्रक्रिया मे पर्याप्त स्वतत्रता प्रदान की जाती है।

प्रो. ब्रॉनफेनब्रेनर ने दो जटिल संस्कृतियों–संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ—में समाजीकरण की विधियों की तुलना भी की है। उनके द्वारा अमेरिकी व रूसी अपनी संस्कृति को अपने बच्चों तक जिस विधि द्वारा पहुंचाते हैं उसमें भी अंतर पाया गया। यद्यपि अमेरिकन अपने बच्चों का बचपन में समाजीकरण करते हैं किन्तु बाद के वर्षों में अपने इस उत्तरदायित्व से मुँह मोड लेते हैं तथा समाजीकरण का दायित्व बच्चों के मित्रों व मास मीडिया के भरोसे छोड देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चों का अपने व्यवहार संबंधी मार्गदर्शन हेतु पारिवारिक बंधनों व वयस्क आदर्श की कमी अनुभव होती है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अमेरिकन युवा वर्ग के व्यवहार में विरोध, विमुखीकरण तथा दिशाहीनता पाई जाती है। उसके विपरीत सोवियत संघ में समाजीकरण पालकों, संबंधियों, शिक्षक तथा यहाँ तक कि अपरिचित व्यक्तियों का भी संयुक्त दायित्व माना जाता है। इस प्रकार के समाजीकरण का यह परिणाम होता है कि सोवियत बच्चे अमेरिकी बच्चों से कम आक्रामक व विद्रोही होते हैं।

यदि वर्ग व व्यवसाय समाजीकरण को प्रभावित करते हैं तो क्या हम कह सकते हैं कि जाति, धर्म आदि भी समाजीकरण को प्रभावित करते हैं? भारत में हम सवर्ण व दलित बच्चों तथा हिन्दू व मुस्लिम बच्चों के समाजीकरण की विधियों में अन्तर पाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनेक चर (Variable) हैं जो समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

पूर्वाभ्यासी समाजीकरण (Anticipatory Socialisation)

स्वयं को सामाजिक व्यक्ति के रूप में विकसित करना एक आजीवन परिवर्तन है। सम्पूर्ण जीवन चक्र में दो प्रकार के समाजीकरण घटित होते हैं—प्रत्याशी समाजीकरण व पुनः समाजीकरण। प्रत्याशी समाजीकरण समाजीकरण की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति भविष्य के पदों, व्यवसायों तथा सामाजिक सम्बन्धों के लिए पूर्वाभ्यास करता है। असदस्य समूह की सदस्यता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को दिए जाने वाला प्रशिक्षण पूर्वभासी समाजीकरण कहलाता है। उदाहरणार्थ—विवाहोपरान्त पति के परिवार में यथावत अनुकूलन के लिए माता-पिता द्वारा पुत्रियों का समाजीकरण।

भविष्य में आदेश देने वाला बनने की प्रत्याशा में व्यक्ति आदेश देने वालों के वर्ग की संस्कृति से स्वयं की पहचान बनाने की ओर प्रवृत्त होते हैं। भले ही वर्तमान में आज्ञा के पालन करने वालों में शामिल हो। इसके विपरीत भविष्य में आगे बढ़ने की प्रत्याशा न हो तो व्यक्ति स्वयं की आज्ञा देने वालों की संस्कृति के विरुद्ध पहिचान बनाते हैं। यह सिद्धान्त आगे बढ़ने की प्रवृति पर ही लागू होता है, क्योंकि लोग आज्ञा देने वालों की अभिवृत्तियों को आत्मसात कर लेते हैं तथा आगे बढ़ने से पूर्व ही वे स्वयं की आधिकारिक मूल्यों के साथ पहचान बना लेते हैं, किन्तु वे अवनति की कभी प्रत्याशा नहीं करते।

पूर्वाभ्यासी समाजीकरण को प्रत्याशी समाजीकरण भी कहा जाता है। इसका सबंध सदर्भ समूह (Reference Group) की अवधारणा मे है। प्रत्याशी समाजीकरण सदर्भ समूह मे अपने आपको ढालने के लिए होता है। प्रत्याशात्मक समाजीकरण की अवधारणा आर के मर्टन द्वारा प्रयुक्त की गई ह।

पुनर्समाजीकरण (Resocialisation)

शीघ्र परिवर्तनीय समाज में समाजशास्त्री अब पुनर्समाजीकरण की भी बात करने लगे है। उदाहरण के लिए अपराधिया धर्म परिवर्तन करने वाला मानसिक रोग से पीडित व्यक्तिया, सिपाहियो पुलिस वालो आदि के पुनर्समाजीकरण की आवश्यकता। पुराने व्यवहार के तरीका को बदलने तथा वास्तविकता की नई विधि मे व्याख्या करने को जो नई परिस्थितियो हेतु अधिक उपयुक्त समझी जाती हो को पुनर्समाजीकरण कहते हैं। पुनर्समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जब व्यक्ति अपने पूर्व के व्यवहार के पेटर्न को हटाकर नए जीवन मे परिवर्तन के एक भाग के रूप मे व्यवहार के नए पेटर्न अपनाता है। *इस प्रकार का समाजीकरण सम्पूर्ण मानव जीवन चक्र मे* घटित हाता रहता है। पुनर्समाजीकरण लोगो को नई स्व धारणाए, मूल्य व मानदड प्रदान करता है। रोज व ग्लेजर *(Sociology*, 1985 . 172) मानते ह कि पुन समाजीकरण 'नियत्रित वातावरणो मे घटित होता ह जस कारागार, मानसिक रुग्णालय मठ, सैनिक शिविर आदि। कदियो का पुनर्समाजीकरण किया जाता ह जिससे उनकी समाज में पुन. वापसी हो सके। सैना शिविरो मे नये भर्ती किए गए सनिको तथा मठो मे साधुओ व भिक्षुणिया को विशिष्ट उपसस्कृतियो मे उनकी नई भूमिकाओं हेतु तैयार करने के लिए पुनर्समाजीकृत किया जाता है। इन सस्थाओ मे 'नियत्रित वातावरण' लघुरूप सामाजिक तत्रो को प्रदर्शित करता हे जहा उनकी स्वय की आचार सहिताए, सत्ता के पदानुक्रम तथा समाजीकरण के पैटर्न होते है।

बूम व सैल्जनिक के अनुसार पुनर्समाजीकरण के लिए निम्न तत्व आवश्यक हैं —

(i) व्यक्ति पर पूरा नियत्रण।

(ii) जिसका पुनर्समाजीकरण करना ह उसकी पूर्व प्रस्थिति का अध्ययन।

(iii) उस व्यक्ति के पुराने 'स्व' को अनैतिक घोषित करना।

(iv) जिस व्यक्ति का पुनर्समाजीकरण होना है, उसका स्वय इस क्रिया मे भाग लेना।

(v) पुनर्समाजीकरण करने वाले को समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं।

(vi) जिसका पुनर्समाजीकरण होना है उसके ऊपर उसी के मित्र समूह (Peer Group) का प्रभाव डाला जाता है।

पुनर्समाजीकरण की प्रक्रिया मे 'नियंत्रित वातावरण' के क्या महत्वपूर्ण पहलू होते हैं? रोज व ग्लेजर (1982 174) तथा इरविंग गॉफमैन (1961) ने निम्नलिखित पहलू बताए हैं:—

1 लोग नई संस्थाओ मे स्वेच्छा से नहीं बल्कि जबरदस्ती लाए जाते हैं। उन पर इस हेतु की गई जबरदस्ती पुनर्समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए सवेगात्मक समस्याओ से ग्रसित उन व्यक्तियों की मदद करना सरल है जो सहायता स्वय चाहते हैं अपेक्षाकृत उन व्यक्तियो के जो अधिक ग्रसित हैं व अनिच्छुक हैं तथा अन्यो के द्वारा प्रतिबद्ध हैं।

2 जीवन के सभी पहलुओ का सचालन एक ही स्थान पर तथा एक ही अधिकार के नियंत्रण मे किया जाता है। इस प्रकार दूसरो की मांगो द्वारा कोई चुनौती प्रस्तुत नहीं की जाती। चूंकि नियत्रित संस्था में कुछ थोड़े से स्टाफ द्वारा अधिक सख्या में लोगों को संभाला जाता है। अत: विभिन्न पदो पर भूमिका निर्वहन करने वाले लोगो के बीच की अत:क्रिया को सावधानीपूर्वक नियत्रित किया जाता है।

3 नियत्रित वातावरण मे जीवन के सभी पहलुओं का संचालन अन्य सहवासियो के साथ किया जाता है, अत: लोगों को एकान्त का लाभ नहीं मिलता। बाहर की दुनिया से सपर्क केवल सस्था के अधिकारियों द्वारा नियत विशिष्ट शर्तों के अधीन ही हो पाता है।

4. सहवासियो से विचार-विमर्श किए बिना ही विभिन्न गतिविधियों का समय चक्र बनाया जाता है। सभी गतिविधियों का समय जैसे कब उठना, कब खाना, कब कार्य करना, कब सोना, क्या पहनना आदि भी लोगों पर थोपा जाता है।

5 सभी गतिविधियों को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नियोजित किया जाता है। अधिकार प्राप्त लोगों द्वारा सहवासियों को तग किया जाता है, नियमो का कड़ाई से पालन कराया जाता है तथा बाहरी दुनिया से सीमित संपर्क ही कराया जाता है।

समग्र सस्थाओ मे पुनर्समाजीकरण (Resocialisation in Total Institutions)

कुछ स्थितियो मे लोगो का स्वेच्छा से अथवा कभी-कभी अनिच्छा से भी समाजीकरण किया जाता है। यह क्रिया अत्यन्त नियत्रित सामाजिक वातावरण में होती है। पुन समाजीकरण विशेष रूप से तभी प्रभावी होता है, जब यह समग्र सस्थाओ मे घटित होता है। इरविंग गॉफमैन ने सर्वप्रथम 'समग्र सस्था' शब्द का प्रयोग उन सस्थाओ के लिए किया जहा एक अधिकारी के अधीन व्यक्तियो के जीवन के सभी पहलुओ को नियत्रित किया जाता है, जैसे कारागृह, मनोचिकित्सालय आदि।

इरविंग गॉफमैन ने सम्पूर्ण सस्थाओ की चार विशेषताए चिन्हित की हें—

1 जीवन के सभी पहलू एक ही स्थान पर सम्पन्न होते हैं तथा एक ही प्राधिकरण द्वारा नियत्रित हाते हैं।

2 सस्था के भीतर की जाने वाली कोई भी गतिविधि समान परिस्थितियो मे अन्य लोगो के साथ ही सम्पन्न होती है।

3 प्राधिकरण बिना सहभागियों की राय लिए गतिविधियो के लिए नियम तथा उनके लिए कार्यक्रम बनाते हैं।

4 किसी सम्पूर्ण सस्था के अन्दर जीवन के सभी पहलू सगठन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही डिजाइन किये जाते हैं।

सीखे हुए सामाजिक व्यवहारो को व्यवहार प्रतिमान एव मूल्यो की नवीन व्यवस्था से प्रशिक्षित करके बदल देना पुनर्समाजीकरण है।

विपरीत समाजीकरण (Reverse Socialisation)

परिवार मे बच्चे स्वय ही समाजीकरण के कारको का कार्य करते हैं। विपरीत समाजीकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमे लोग स्वय समाजीकृत तो होते हैं साथ ही वे अपने समाजीकरण के कर्ताओं को भी समाजीकृत करते हैं। मीड (1970, 65-91) ने कहा है कि विपरीत समाजीकरण उन समाजो मे सबसे अधिक होता है जिनमे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। इन समाजों मे युवा पीढी नई रीतियो व मूल्यों से पुरानी पीढी को समाजीकृत करती है।

सोद्देश्य एव अचेत समाजीकरण (Deliberate and Unconscious Socialisation)

परिवार तथा विद्यालय मे बच्चो का अधिकाश समाजीकरण सोद्देश्य होता है। वयस्क लोग कुछ मूल्यो का पालन सुव्यक्त रूप से करते है तथा वे अपने बच्चो का उन

मूल्यों को मौखिक रूप से व्यक्त करते हैं। स्वच्छता आज्ञापालन आदि इसके उदाहरण हैं। समाजीकरण स्वाभाविक मानवीय अंत:क्रिया के परिणामस्वरूप भी हो सकता है तथा उद्देश्य के बिना भी हो सकता है। अव्यक्त मूल्य तथा नि:शब्द अभिवृतियां भी समाजीकरण के सबसे महत्त्वपूर्ण घटक हो सकते हैं।

विसमाजीकरण (De-socialisation)

सीखे हुए व्यवहारों, मूल्यों, मनोभावों और आदर्शों को भुला देने की प्रक्रिया विसमाजीकरण कहलाती है। एक अपराधी का एक अच्छा नागरिक बनाने के लिए विसमाजीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति का नए सिरे से समाजीकरण कर, पूर्व समाजीकरण के प्रभाव को नष्ट किया जाता है।

नकारात्मक समाजीकरण (Negative Socialisation)

जब कोई व्यक्ति समाज द्वारा अनुमोदित मूल्यों अथवा मानदंडों के स्थान पर व्याज्य और निषेधित व्यवहार प्रतिमान को ग्रहण करता है तो यह नकारात्मक समाजीकरण कहलाता है। अपराध अथवा विपथगामी व्यवहार नकारात्मक समाजीकरण की अभिव्यक्तियाँ हैं।
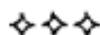
9

सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक गतिशीलता

(Social Stratification and Social Mobility)

सामाजिक स्तरीकरण क्या है? (What is Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण समाज का अधिश्रेणिक विभाजन (Hierarchical Division) है जो लोगो की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। सामाजिक स्तरीकरण का आशय उस तंत्र से है जिसके द्वारा समाज लोगों का एक पदानुक्रम (Hierarchy) मे वर्गीकृत करता है। थियोडोरसन और थियोडोरसन ने इसे समाज मे सामाजिक स्तरीकरण के पदानुक्रमित व्यवस्था के रूप मे परिभाषित किया है। इस अर्थ मे स्तरीकरण का आशय विशेष रूप से समाज को विभिन्न स्तरो मे विभाजित करने की प्रक्रिया से है। वर्गीकरण अधिकार प्रतिष्ठा, प्रभाव तथा सत्ता के आधार पर होता है। सामाजिक स्तरीकरण मे सामाजिक असमानता निहित रहती है जो या तो व्यक्तियों द्वारा निष्पादित कार्यों के कारण अथवा कुछ विशिष्ट व्यक्तियो या समूहो, या दोनो के द्वारा संसाधनो पर नियंत्रण करने से उत्पन्न होती है। सत्ता व अधिकारो (जो अनुवांशिक होते हैं) के कारण समूह सदस्यता (जाति, वर्ग आदि) पर आधारित स्तरीकरण का तंत्र विकसित होने मे सहायता मिलती है, न कि ऐसे समाज के निर्माण मे जो व्यक्ति के समाज के लिए वास्तविक या संभावित कार्यात्मक योगदान पर आधारित हो। सामाजिक स्तरीकरण शब्द सामाजिक विभेदीकरण तथा श्रेणीकरण के एक प्रकार को संदर्भित करता है। सामाजिक स्तरीकरण (i) उतार-चढाव का एक

प्रकार है। (ii) यह व्यक्ति की श्रेणी (Rank) और प्रस्थिति (Status) का सूचक है और (ii) यह समाज का समूहों में विभाजन पर आधारित है। इस प्रकार

- एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति नहीं परन्तु पूरा समाज मूल्यों को स्वीकार करता है जैसे अमीर की उच्च स्थिति या गरीब की निम्न स्थिति।
- यह प्रक्रिया (विभाजन की) प्रस्थिति के आधार पर बहुत पुरानी है।
- यह प्रक्रिया प्रत्येक समाज में और हर काल में पायी जाती है।
- स्तरीकरण के स्वरूप में भिन्नताएं मिलती हैं जैसे भारत में जाति के आधार पर (जन्म से) और पश्चिमी समाज में वर्ग के आधार पर (अर्जित)।
- इसके परिणाम सामाजिक होते हैं जसे जीवन स्तर, बहुमूल्य वस्तुए (बड़ी कार प्लाज्मा टी वी)।

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Social Stratification)

मैकियन्स और प्लमर (1997 240) के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की चार विशेषताएँ हैं:—

1 यह व्यक्तिगत भिन्नताओं के कारण उत्पन्न नहीं होता बल्कि यह समाज की विशेषता होता है। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य व सम्पन्नता में सबंध/सम्पन्न परिवारों में जन्मे बच्चे गरीब परिवारों में जन्मे बच्चों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होते है, अधिक शैक्षिक योग्यता प्राप्त करते हैं, अपने जीवन में अधिक सफल होते हैं तथा दीर्घायु होते हैं। यहाँ सम्पन्नता व निर्धनता सामाजिक स्तरीकरण के निर्माण हेतु जिम्मेदार नहीं है किन्तु फिर भी यह गरीब व सम्पन्न दोनों प्रकार के लोगों के जीवन को आकृति प्रदान करती है।

2 सामाजिक स्तरीकरण कई पीढियों तक विद्यमान रहता है। इसी प्रकार असमानता भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। यह इसलिए होता है क्योंकि पालक अपनी सामाजिक स्थिति अपने बच्चों को प्रदान करते हैं। फिर भी औद्योगीकृत समाजों मे कुछ व्यक्ति समाज में अपने स्तर को बदलने में सफल होते है। सामाजिक स्तर मे बदलाव ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी दोनों प्रकार का हो सकता है। हमारे समाज द्वारा ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा भी की जाती है जो साधारण परिवारों से हैं परन्तु जिन्होंने सम्पन्नता प्राप्त की। किन्तु हम यह भी स्वीकार करते हैं कि लोग व्यापार में छोंटे, बेरोजगारी अथवा बीमारी के कारण सामाजिक स्तर में नीचे भी आते हैं। अधिकांशतः जब व्यक्ति अपना व्यवसाय परिवर्तित करते हैं तो वे समस्तरीय दिशा मे ही बढते हैं। किन्तु कुछ लोगों के लिए उनकी सामाजिक स्थिति जीवनपर्यन्त समान ही रहती है।

3 सामाजिक स्तरीकरण सर्वव्यापक (Universal) होता है किन्तु इसमे भिन्नता होती है। सामाजिक स्तरीकरण (सामाजिक असमानता तथा सामाजिक भिन्नता) सभी समाजो मे व्याप्त है किन्तु यह प्रत्येक समाज मे भिन्न है। तकनीकी दृष्टि से विकसित समाजो मे सामाजिक असमानताए कम से कम होती हैं और यदि होती भी हैं तो वे आयु व लिंग के आधार पर होती हैं।

4 सामाजिक स्तरीकरण मे असमानता ही नहीं बल्कि आस्थाए भी निहित होती हैं। असमानता का तंत्र न केवल कुछ लोगो को दूसरो की अपेक्षा अधिक ससाधन प्रदान करता है बल्कि इस प्रकार की व्यवस्थाओ को उचित व न्यायपूर्ण मानता है। कुछ लोगो द्वारा जो असमानता के कारण खोजने मे लगे हैं इसे समझाया गया है। भारत मे इस असमानता को पिछले जन्म के कर्मों का फल बताकर समझाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के कार्य (Functions of Social Stratification)

समाजो मे स्तरीकरण होता ही क्या है? प्रकार्यात्मक प्रतिमान के अनुरूप एक ही उत्तर है और यह है कि समाज की सक्रिया मे सामाजिक विषमता एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह प्रभावी व विवादित तर्क किंग्सले डेविस तथा विल्बर्ट मूर ने प्रस्तुत किया।

डेविस-मूर की धारणा इस बात का अभिकथन है कि समाज की सक्रिया हेतु सामाजिक स्तरीकरण लाभदायक परिणाम देता है। साधारणत, डेविस-मूर मानते हैं कि सामाजिक स्थिति का जितना अधिक प्रकार्यात्मक महत्व होगा समाज मे उसे उतना ही अधिक प्रतिफल मिलेगा। यह रणनीति कारगर होती है क्योकि महत्वपूर्ण कार्य के लिए अच्छी आय, प्रतिष्ठा व सत्ता मिलने से लोग ऐसे कार्य करने को प्रवृत्त होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ससाधनो का असमानतापूर्वक वितरण करने से समाज प्रत्येक व्यक्ति को सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने की महत्वाकाक्षा करने हेतु तथा अधिक बेहतर, कठिन व दीर्घकाल तक कार्य करने हेतु प्रोत्साहित करता है। असमान प्रतिफल देने के सामाजिक तंत्र— जिसका अर्थ सामाजिक स्तरीकरण होता है— के परिणामस्वरूप समाज उत्पादक बनता है।

डेविस-मूर धारणा के अनुसार एक उत्पादक समाज गुणो को महत्त्व देने वाला समाज होता है। उसमे सामाजिक स्तरीकरण गुणो पर आधारित होता है। गुणो को महत्व देने वाला समाज बनने हेतु अवसरो की समानता को बढावा दिया जाता है साथ ही प्रतिफल की असमानता अनिवार्य होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे समाज मे अत्यधिक गतिशीलता होगी, सामाजिक वर्ग धूमिल हो जायेगे क्योकि सामाजिक तंत्र मे व्यक्ति की स्थिति उसके कार्य के अनुसार ऊची या नीचे होगी।

आलोचक डेनिस मूर धारणा में अनेक दोष बताते हैं। मैलविन ट्यूमिन को शंका है कि क्या वास्तव में प्रकार्यात्मक महत्व के आधार पर कुछ लोगों को दिए जाने वाले अत्यधिक प्रतिफल वांछित है? लोगों की जान बचाने में सर्जनों की बहुमूल्य सेवाएं हो सकती है किन्तु उन्हीं में सर्वाधत नर्सिंग के व्यवसाय का उनकी तुलना में बहुत कम प्रतिफल दिया जाता है। एक लोकप्रिय अभिनेता कुछ ही वर्षों में इतना अधिक कमा लेता है जितना कि एक शिक्षक अपने जीवन पर्यन्त नहीं कमा पाता यद्यपि वह अगली पीढ़ी के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य करता है। ट्यूमिन मानते हैं कि डेविस मूर धारणा में व्यक्तिगत गुणों के विकास में सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका को अत्यधिक बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। हमारा समाज व्यक्तिगत उपलब्धि हेतु प्रतिफल देता है किन्तु हम जाति के समान ही परिवारों का अपनी संपत्ति व सत्ता को अगली पीढ़ी को स्थानान्तरित करने की अनुमति देते हैं। यह निश्चयपूर्वक कहकर कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों के लिए लाभदायक है, यह धारणा इस बात की उपेक्षा करती है सामाजिक असमानता किस प्रकार संघर्ष को बढ़ावा देती है। अंत में ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण कुछ लोगों की क्षमताओं को पूर्ण रूप से विकसित करने में कार्य करता है, जबकि वह दूसरों को अपनी पूर्ण क्षमता तक पहुंचने से रोकता है।

सामाजिक स्तरीकरण का आधार (Bases of Social Stratification)

कई समाजशास्त्रियों ने अपना ध्यान उस स्तरीकरण पर केन्द्रित किया है जो सामाजिक व आर्थिक स्थिति पर आधारित होता है। उन्होंने लोगों को उनकी आर्थिक स्थिति, उनकी शक्तियां तथा उनकी प्रतिष्ठा के आधार पर वर्गीकृत किया है। वेबर के अनुसार स्तरीकरण के तीन आधार हैं— वर्ग, प्रस्थिति तथा सत्ता। किन्तु हाल ही समाजशास्त्रियों ने माना है कि समाज लिंग, आयु व प्रजातिकता (Ethnicity) के आधार पर भी स्तरीकृत हो सकता है। अतः आज हम चार प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण की चर्चा करते हैं:— (i) सामाजिक व आर्थिक स्तरीकरण (ii) लिंग आधारित स्तरीकरण (iii) आयु आधारित स्तरीकरण व (iv) शैक्षिक स्तरीकरण। सर्वप्रथम हम सामाजिक आर्थिक स्तरीकरण के कुछ मुख्य लक्षणों का विश्लेषण करेंगे।

सामाजिक, आर्थिक स्तरीकरण : दास, जाति, जागीर व वर्ग
(Social Economic Stratification : Slavery, Caste, Estate and Class)

स्तरीकरण का वर्णन करते समय ट्यूमिन (1985) व अन्य समाजशास्त्रियों ने प्रायः दो विरोधी मानदंडों का प्रयोग किया है— (i) बन्द तंत्र, जो सामाजिक स्थिति में कोई बदलाव की अनुमति नहीं देता। (ii) खुला तंत्र, जो पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता की अनुमति देता है।

दास प्रथा (Slavery System)

यह इस प्रकार का स्तरीकरण है जिसमे लोग अन्य लोगो पर सपत्ति के समान स्वामित्व रखते हैं। आदमियो को वस्तुओ के समान खरीदा व बेचा जाता है। पन्द्रहवी तथा उन्नीसवीं सदियो के बीच कई प्राचीन समाज जैसे मिश्र, फारस, यूनानी, रोमन आदि गुलाम श्रमिको पर बहुत अधिक निर्भर रहते थे। दासो के कानूनी अधिकार विभिन्न समाजो मे भिन्न भिन्न होते थे। उदाहरण के लिए एथेन्स मे दास अत्यधिक जिम्मेदारी के पद सभालते थे यद्यपि वे अपने मालिको के गुलाम रहते थे। किन्तु अनेक दासो के साथ जो खदानो मे, अथवा खेतो म अथवा निर्माण कार्यों के कार्य करते थे, अमानवीय व्यवहार किया जाता था। इग्लैड मे सन् 1833 मे तथा अमेरिका मे सन् 1865 मे दास प्रथा समाप्त की गई। आज यद्यपि दास प्रथा किसी भी रूप मे विद्यमान नहीं है फिर भी बलात श्रमिको के रूप मे यह अभी भी मौजूद है। भारत के कई राज्यो मे पाए गए बधुआ श्रमिक इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं।

जाति प्रथा (Caste System)

बूगल (Bougle, 1958 9) ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जाति वशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित समूह है। क्रोवर (Kroeber, 1939 254) के अनुसार जातियाँ सामाजिक वर्ग के विशेष स्वरूप ह जो कम से कम प्रवृत्ति मे प्रत्येक समाज मे मिलती हैं। क्रोवर की जाति की धारणा वर्तमान समाज मे प्रचलित स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त से सम्बद्ध है। जाति एक वन्द सामाजिक स्तृत (Stratum) है जिससे उसके सदस्यो के सामाजिक सम्बन्ध निश्चित होते हे। प्रत्येक जाति मे दूसरी जाति के सदस्यो के साथ सम्बन्ध सीमित होते हैं और निश्चित प्रकार से बने होते हैं। भारत मे जाति व्यवस्था स्तरीकरण की एक ठोस आधारशिला रही है। सामाजिक स्तरीकरण की यह व्यवस्था शताब्दियो तक व्यक्तियो को एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान करती रही, जिससे उनके कर्तव्यो और अधिकारो का निर्धारण सभव रहा।

यह एक प्रकार का स्तरीकरण है जिसमे सामाजिक स्थिति आरोपण पर आधारित रहती है। सास्कृतिक धारणा के रूप मे जातिया केवल भारत मे ही पाई जाती ह किन्तु ढाचागत धारणा के रूप मे यह दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान, श्रीलका सहित अनेक देशो मे पाई जाती ह। एक इकाई के रूप मे जाति का वर्णन हम एक सामाजिक समूह के रूप मे कर सकते हे जिसकी विशेषताए वशानुगत सदस्यता, पदानुक्रम, सजातीय विवाह, निश्चित व्यवसाय आदि होती हैं। एक तत्र के रूप मे इसमे अनेक सामूहिक बधन होते हे जैसे सदस्यता, व्यवसाय, विवाह, निर्धारित सामाजिक स्थिति, निर्धारित व्यवसाय तथा वाणिज्यिक व सामाजिक सबध के बधन। इस प्रकार यह

एक बंद तंत्र है क्योंकि व्यक्ति की नियति जन्म द्वारा निर्धारित होती है जिसमें व्यक्तिगत प्रयासों के अनुसार सामाजिक गतिशीलता हेतु कोई अवसर नहीं रहता।

योगेन्द्र सिंह (1974 316) ने सैद्धान्तिक रचना के दो स्तरों के बीच अन्तर करते हुए जाति के प्रति चार दृष्टिकोणों का सन्दर्भ दिया है : सांस्कृतिक व सरचनात्मक तथा सार्वभौमिक व विशिष्टीकरण। ये चार दृष्टिकोण हैं: सांस्कृतिक-सार्वभौमिक, सांस्कृतिक–विशिष्टीकरण सरचनात्मक सार्वभौमिक और सरचनात्मक विशिष्टीकरण। लीच (1960) ने जाति के सरचनात्मक विशिष्टीकृत दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए माना है कि जाति प्रथा भारतीय समाज तक ही सीमित है अन्य लोग जो जाति को सरचनात्मक सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखते हैं वे मानते है कि भारत मे जाति सामाजिक स्तरीकरण के बन्द स्वरूप की एक सामान्य घटना है। घुर्ये (G S Ghurye, 1935, 1961) जैसे समाजशास्त्रियों का तीसरा दृष्टिकोण भी है जो जाति को सांस्कृतिक, सार्वभौमिक घटना मानते हुए, (विशेष रूप से उस श्रेणीक्रम में जो व्यक्तियों या समूहों के क्रम को निश्चित करने का आधार बनाता है) कहते हैं कि जाति जैसा स्तरीकरण का आधार अधिकतर परम्परागत समाजों के रूप मे भारत मे जाति प्रस्थिति आधारित सामाजिक स्तरीकरण की सामान्य व्यवस्था का एक विशेष स्वरूप है। पूर्व में मैक्स वेबर द्वारा बनाया गया यह दृष्टिकोण समकालीन समाजशास्त्र मे भी प्रचलित है। जाति पर चौथा विचार सांस्कृतिक-विशिष्टीकरण विचार है। डयूमा (Louis Dumont, 1986, 1961) मानता है कि जाति केवल भारत में ही पाई जाती है।

योगेन्द्रसिंह (1974 : 317) ने जाति के सरचनात्मक विशिष्टीकृत विचार को मानते हुए कहा है कि सस्थात्मक असमानता और इसके सांस्कृतिक व आर्थिक अवयव (Coordinates) वास्तव मे वे कारक हैं जो भारत मे सामाजिक स्तरीकरण की अनोखी व्यवस्था के रुप मे बनाए हुए हैं। सरचनात्मक दृष्टि से जाति व्यवस्था मे चार मुद्दे (Issues) विशेष महत्त्व के हैं— (i) जाति क्रम (Ranking) निर्धारण मे इकाई अवयवों (Unit components) से सम्बद्ध (जैसे, वर्ण, जाति, उपजाति), (ii) जाति विलय (Fusion) और विखण्डन (Fission) के तरीके, जाति संघ निर्माण, जाति महासंघ या सस्कृतीकरण द्वारा नयी उपजाति बनाने से सम्बद्ध, (iii) सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में जाति प्रभुत्व व सघर्ष से सम्बद्ध, और (iv) जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता के विस्तार से सम्बद्ध। इन सन्दर्भों मे जाति केवल भारत में ही पाई जाती हैं।

जातियाँ वंशानुक्रम पर आधारित अन्तर्विवाही समूह हैं तथा अन्तःक्रिया पर सामाजिक प्रतिबन्धों को मानते हैं। भारत में लगभग 3000 जातियाँ हैं। जातियाँ चार वर्णों से जोड़ी गई हैं जिससे सांस्कृतिक संस्तरण में उनकी स्थिति का निर्णय होता है।

जागीर तंत्र (The Fstate System)

जागीर प्रथा का प्रचलन मध्ययुगीन यूरोप में रहा। जागीर प्रथा मे तीन वर्ग प्रमुख थे–पादरी, सरदार और साधारण जन। बॉटोमॉर (Bottomore) ने जागीर प्रथा की तीन विशेषताए बताई है— 1 प्रत्येक जागीर के अधिकार कर्तव्य और दायित्वो के आधार पर एक निश्चित प्रस्थिति होती थी। 2 जागीरो मे स्पष्ट श्रम विभाजन पाया जाता था। 3 जागीरो के पास राजनीतिक शक्ति होती थी। इस प्रकार जागीर प्रथा ने समाज मे स्तरीकरण पैदा किया।

रूस एक ऐसा देश था जहाँ सामतवादी भू सपत्ति तंत्र, जो आनुवशिक गतिशीलता द्वारा शासित था। सन् 1917 के बाद आनुवशिक गतिशीलता का एकाएक अत हो गया जब उत्पादक सपत्ति निजी हाथो से निकल कर राज्य के स्वामित्व व नियत्रण मे चली गई। फिर भी रूस मे वर्गहीन समाज की स्थापना सभव नहीं हो सकी। लोगो के व्यवसाय चारस्तरीय पदानुक्रम मे इकट्ठे हो गए —

1 शिखर पर उच्च स्तरीय शासकीय अधिकारी थे।
2 अगले क्रम मे रूसी बुद्धिजीवी आते थे जिनमे निम्नस्तरीय शासकीय अधिकारी, विश्वविद्यालयीन प्राध्यापक, वैज्ञानिक, भौतिकशास्त्री इजीनियर शामिल थे।
3 इनके नीचे श्रमिक वर्ग आता था।
4 सबसे निम्न स्तर पर ग्रामीण कृषक वर्ग का समावेश होता था।

चूंकि इन वर्गों के लोगों के जीवन स्तर भिन्न-भिन्न थे, अत: रूस को वर्गहीन नहीं कहा जा सकता।

वर्ग तंत्र (The Class System)

सामाजिक वर्ग ऐसे लोगो की श्रेणी होती है जिनकी अपनी सम्प्रदाय या समाज के अन्य खण्डो (Segments) के साथ सम्बन्धो के अर्थ मे समान सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति (Status) होती है। एक सामाजिक वर्ग सगठित नहीं होता। व्यक्ति और परिवार एक सामाजिक वर्ग बनाते हैं जो शैक्षिक, आर्थिक और प्रतिष्ठा प्रस्थिति मे सापेक्ष रूप मे समान होते हैं। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक वर्गों की प्रकृति प्रमुख रूप से आर्थिक मानते हैं, जबकि कुछ अन्य कारको जैसे प्रतिष्ठा, जीवन शैली, अभिवृत्तियाँ आदि पर चल देते हैं। मैक्स वेबर ने सामाजिक वर्ग की विवेचना सामाजिक सस्तरण के एक प्रमुख आयाम के रूप मे की है। मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार सामाजिक वर्गों की रचना उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व के अनुसार होती है। इसी आधार पर वे पूँजीवाद समाज को दो वर्गों मे बटा पाते हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाला बुर्जुआ तथा स्वामित्व से वचित वर्ग को सर्वहारा

कहा जाता है। बुर्जुआ वर्ग शासक होता है और शोषक भी। सर्वहारा वर्ग श्रम करता है, शोषित और निर्धन भी।

वर्ग व्यवस्था में निम्न वर्ग उच्च वर्ग का संरक्षण प्राप्त करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं (लीच, 1960 : 5 6)। वर्ग व्यवस्था में कर्मकांडी प्रतिमानों (Ritual Norms) का कोई महत्व नहीं होता बल्कि शक्ति और धन ही व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं।

यह सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों की उपलब्धियों के आधार पर होता है। अत: समान कार्य, लक्षण, विशेषताओं, योग्यताओं को रखने वाले व्यक्तियों का समूह वर्ग कहलाता है। व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण उसकी सामाजिक प्रस्थिति द्वारा निर्धारित होता है। वर्ग तंत्र अधिक खुला होता है जिसमें शिक्षा व कौशल प्राप्त व्यक्ति अपने पालकों व भाई-बहनों के संबंध में कुछ सामाजिक, गतिशीलता का अनुभव कर सकें। जापान एक ऐसे देश का उदाहरण है जो पांचवीं सदी तक कृषक समाज था जहाँ कठोर जाति प्रथा थी जिसमें कुलीन वर्ग (शोगन), साधारण वर्ग तथा जातिच्युत वर्ग शामिल थे तथा जिन पर शाही परिवार (राजशाही) शासन करता था।

उन्नीसवीं सदी में जापान में इतना अधिक औद्योगीकरण व शहरीकरण हुआ कि सामाजिक गतिशीलता संभव हो सकी। कुलीन वर्ग व जाति-च्युत वर्ग की विधिक स्थिति समाप्त हो गई। अब लोगों में यह आस्था नहीं रही कि सम्राट को उन पर राज्य करने का दैवी अधिकार है। अब जापान को वर्गों द्वारा जाना जाता है : उच्च, उच्च-मध्य, निम्न-मध्य तथा निम्न वर्ग।

आधुनिक समाज में वर्ग स्तरीकरण का विशिष्ट स्वरूप और प्रमुख आधार है। कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर आदि विद्वानों ने जहाँ आर्थिक कारणों को ही वर्ग निर्धारण का आधार स्वीकार किया है, वहीं ऑगबर्न व निमकॉफ, मैकाइवर, पेज तथा बॉटोमोर आदि ने वर्ग निर्धारण में सामाजिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। रॉबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) ने वर्गों के विभिन्न आधारों का उल्लेख किया है जिनमें प्रमुख हैं— (1) निवास की स्थिति (2) निवास की अवधि (3) व्यवसाय की प्रकृति (4) शिक्षा (5) सम्पत्ति, धन और आय (6) परिवार और नातेदारी

आधुनिक भारतीय समाज में जाति के अलावा वर्ग को भी अधिक महत्व दिया जाने लगा है। धन और सम्पत्ति के आधार पर तीन वर्ग—उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग प्रमुख हैं। उच्च वर्ग के सदस्यों को समाज में उच्च स्थिति प्राप्त होती है। निम्न वर्ग के सदस्य निर्धन होते हैं और वे सामान्यत: अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते।

वर्ग विलुप्त होने के कगार पर? (The Death of Class?)

यह दावा किया जाता है कि वर्ग का महत्व घटता जा रहा है तथा वर्ग विश्लेषण समाजशास्त्री के लिए अब उपयोगी नहीं रहा है। अब यहां तक कहा जा रहा है कि सामाजिक वर्ग विलुप्त होने के कगार पर है। वर्ग विलुप्त हो रहा है इसका सबसे प्रबल दावा कुछ उत्तर-आधुनिक सिद्धान्तवादियों द्वारा किया जा रहा है।

लोगों को अब ऐसा नहीं लगता कि वे किसी वर्ग समूह में शामिल हैं तथा कुछ तथाकथित वर्गों के सदस्यों में अब विभिन्न प्रकार के लोगों का समावेश हो रहा है।

वर्तमान में श्रम-विभाजन अत्यधिक जटिल हो गया है तथा नौकरियों के अवसरों को रूप देने में अब वर्ग की पृष्ठभूमि के स्थान पर शैक्षिक योग्यता तथा व्यावसायिक कौशलों का महत्व बढ़ गया है।

(ii) लिंग के आधार पर स्तरीकरण (Gender Stratification)

सन् 1970 से पूर्व तक पुरुष महिला स्तरीकरण के अस्तित्व को वस्तुतः नजर अंदाज कर दिया जाता था। ऐसा मान लिया जाता था कि महिलाओं की भी वही सस्थिति है जो उनके पतियों व पिताओं की है क्योंकि उनकी भूमिका घरेलू होती थी तथा वह पुरुषों के तंत्र के स्तरीकरण का एक भाग थी। महिला अधिकारवादी आंदोलन के उदय के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि लिंग के आधार पर असमानता स्पष्ट रूप से अस्तित्व में है। यौन (Sex) पुरुषों व महिलाओं के बीच जैविक विभिन्नताओं की ओर संकेत करता है जबकि लिंग (Gender) का प्रयोग महिला व पुरुष क्या हैं इनकी सांस्कृतिक व सामाजिक रूप से की गई व्याख्या बताने हेतु किया जाता है। महिला व पुरुष व्यवसायों, सपत्ति राजनीतिक सत्ता व्यक्तिगत प्रस्थिति तथा व्यवहार की स्वतंत्रता के मामले में काफी भिन्न होते हैं।

लैंगिक स्तरीकरण विशेषतः बहुत जटिल है क्योंकि इसमें वस्तुतः स्तरीकरण के सभी आयामों के साथ ही स्वयं के भी कुछ आयाम निहित हैं। यह महिला व पुरुषों में सत्ता सपत्ति तथा प्रतिष्ठा संबंधी असमान वितरण से संबंध रखता है।

लैंगिक स्तरीकरण को आर्थिक ढांचा निर्धारित करता है। गृहिणियों को श्रम शक्ति से बाहर रखना सही नहीं है। वास्तव में वे अदृश्य तथा बिना प्रतिफल के घरेलू कार्य करती हैं जैसे पतियों की देखभाल करना, अगली पीढ़ी का पालन-पोषण करना आदि। जब महिलाओं के पास कम आर्थिक शक्ति होती है वे अपनी आजीविका के लिए अपने पतियों अथवा पिताओं पर निर्भर रहती हैं। महिलाओं के पास जितनी अधिक आर्थिक शक्ति होगी उतनी ही वे अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वतंत्र होंगी। ब्लूमबर्ग (1978) ने महिलाओं की कम अथवा अधिक आर्थिक शक्ति

के कुछ कारको का वर्णन किया है। उस नातेदारी तत्र मे जहाँ महिलाए विरासत मे संपत्ति पाने की हकदार होती हैं, वहाँ उनकी आर्थिक शक्ति उन नातेदारी तत्र की महिलाओ से अधिक होती है, जहाँ विरासत केवल पुरुषों का ही अधिकार है। ब्लूमबर्ग कहते हैं कि आर्थिक दशाओं की मात्र राजनीतिक शक्ति मे अवहलना की जा सकती है।

रेन्डाल कोलिन्स (1986, 267 322) ने लगिक स्तरीकरण के एक तुलनात्मक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है जिसमें राजनीतिक कारक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जिन समाजो मे सघर्षो का अधिक महत्व है तथा जहाँ राजनीति नातेदारी प्रथा के इर्द-गिर्द घूमती है, वहाँ विवाहो के माध्यम से राजनीतिक मत्री सबध प्रस्थापित करने पर अधिक बल दिया जाता है। इसके कारण पुरुष महिलाओं के लैंगिक सपत्ति के रूप मे विनियोजन करने लगे। परिणामस्वरूप महिलाओं व पुरुषो की सस्कृति भिन्न हो गई। साथ ही उनके कार्यो की भूमिकाए व लैंगिक मापदण्ड भी पृथक हो गये। पूर्व मे राजनीतिक परिवर्तन विवाह की राजनीति को प्रभावित कर लैंगिक स्तरीकरण का निर्धारण करते थे किन्तु उन समाजो मे जहाँ विवाह का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था, वहाँ लैंगिक स्तरीकरण के आर्थिक पहलुओ मे अधिक भिन्नताए थीं।

(iii) आयु के आधार पर स्तरीकरण (Age Stratification)

एक और प्रकार का स्तरीकरण जो सर्वत्र विद्यमान है, वह है, आयु स्तरीकरण। जोनाथन एच टर्नर (2001 : 450) ने आयु स्तरीकरण मे कॉलिन्स की कई महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओ (Proposition) को सूचीबद्ध किया है:—

1 व्यक्तियो मे आयु स्तरीकरण की मात्रा एक आयु समूह के व्यक्तियों द्वारा उत्पीड़न के साधनो, भौतिक ससाधनो, प्रतीकात्मक ससाधनो व मित्र भाव पर नियत्रण की मात्रा के सकारात्मक व सयोज्य (Additive) कार्य है।

2 किसी एक आयु वर्ग के व्यक्तियों द्वारा दूसरे आयु वर्ग के लोगो पर किये जाने वाले नियन्त्रण का प्रकार, प्रभावशाली समूहो द्वारा नियन्त्रित संसाधनो के प्रकारों का प्रत्यक्ष कार्य होगा।

3. आयु स्तरीकरण की मात्रा जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक भिन्न आयु वर्ग के लोगो के बीच औपचारिक अंत:क्रियाओ का स्तर होगा। इसके विपरीत विभिन्न आयु समूहो के बीच ससाधनो का जितना अधिक सतुलन होगा उतनी ही कम व्यक्तियो के विभिन्न वर्गों के बीच औपचारिक अत:क्रियाएं होंगी।

4 अधीनस्थ आयु समूह के व्यक्ति के लिए उपलब्ध संसाधनो का स्तर जितना ऊंचा होगा, उतना ही अधिक विभिन्न आयु वर्ग के व्यक्तियों के बीच सघर्ष होगा।

डेविस तथा विल्बर्ट मूर (Kingsley Davis and Wilbert Moore) द्वारा प्रस्तावित प्रकार्यवादी सिद्धान्त, (1945) तथा मार्क्स के वर्ग संघर्ष सम्बन्धित विचारों पर आधारित संघर्ष सिद्धान्त। यद्यपि इसमें मैक्स वेबर का अतिरिक्त योगदान भी रहा है। हम इन दो सिद्धान्तों का पृथक से विश्लेषण करेंगे।

प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functionalist Theory)

डेविस और मूर मानते थे कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों के लिए प्रकार्यात्मक दृष्टि से आवश्यक है। वे इसे सभी सामाजिक तंत्रों द्वारा सामाजिक संरचना में व्यक्तियों के 'संस्थापन एवं अभिप्रेरणा' से सम्बन्धित समस्याओं के निदान के रूप में देखते हैं। वे इस समस्या के निदान का कोई अन्य साधन नहीं देते तथा ऐसा संकेत देते हैं कि सामाजिक विषमता मानव समाज का अपरिहार्य लक्षण है। वे ऐसा समझते हैं कि विभेदीय प्रतिफल समाज के लिए प्रकार्यात्मक है क्योंकि वे सामाजिक तंत्र को बनाए रखने तथा उसके कल्याण में योगदान देते हैं।

यह सिद्धान्त बताता है कि किसी समाज के संचालन हेतु सामाजिक असमानता एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है तथा उसके लाभकारी परिणाम होते हैं। अभिष्टों *(Desirables) का विभाजन इस बात को सुनिश्चित करता है कि सबसे महत्वपूर्ण* पद सबसे योग्य व्यक्तियों द्वारा ही भरे जाएं तथा इन पदों पर आसीन व्यक्ति अपना कार्य योग्यता के साथ करें। सभी समाजों में अनेक ऐसे व्यावसायिक पद होते हैं जिनका महत्व भिन्न-भिन्न होता है। कुछ कार्य बहुत सरल होते हैं तथा इनका संपादन कोई भी व्यक्ति कर सकता है। किन्तु कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिनमें कौशल की आवश्यकता होती है, वे कठिन होते हैं तथा उनके संपादन हेतु दुर्लभ प्रतिभा की आवश्यकता होती है जो उन्हीं लोगों के पास होती है जिन्होंने दीर्घकाल तक खर्चीली शिक्षा प्राप्त की होती है। उदाहरण के लिए शालाओं में बच्चों को पढ़ाने का कार्य जिसमें अधिक कौशल की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु किसी नदी के ऊपर पुल का निर्माण करना अथवा किसी मरीज में गुर्दे का प्रत्यारोपण करना अथवा ऐसे घरेलू ईंधन का आविष्कार करना जो सरल हो व उपयोग करने में हानिकारक न हो, ऐसे कार्य हैं जो ज़िम्मेदारीपूर्ण हैं, प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है तथा उनके संपादन में विशेष योग्यताओं की आवश्कता होती है। डेविस व मूर बताते हैं कि किसी कार्य का जितना *अधिक प्रकार्यात्मक महत्व होता है, समाज उनके लिए उतना ही अधिक* प्रतिफल देने को तैयार रहता है। इन विशेष पदों को भरने हेतु लोगों को अधिक त्याग करने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से विशेष *आर्थिक प्रतिफल तथा प्रतिष्ठा* दी जाती है। परिणामस्वरूप अनावश्यक रूप से संसाधनों का विभाजन कर समाज प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरित करता है कि वह सबसे महत्वपूर्ण पद पाने की *महत्वाकांक्षा* रखे तथा इस हेतु अधिक कठोर, अच्छा व दीर्घकाल तक कार्य करे। इसमें कोई

आश्चर्य नहीं कि डॉक्टर अधिक धन कमाते है क्योंकि चिकित्सा व्यवसाय मे उच्च स्तर के कौशल की आवश्यकता होती है। प्राध्यापको को पुरस्कारस्वरूप समाज मे अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। प्रकार्यात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि उत्पादक समाज गुणवालो को प्रोत्साहन देने वाला समाज होता है जिसमे व्यक्तिगत गुणवत्ता पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का एक तत्र होता है। ऐसे समाज उन सभी व्यक्तियों को अवसर प्रदान करते हैं जो सामाजिक पदक्रम मे ऊचे पदो पर आसीन होने की क्षमता रखते है।

सबसे महत्वपूर्ण पदा पर सबसे योग्य व्यक्तियो को नियुक्त करना स्तरीकरण सरचना मे लोगो को प्रेरित करने हेतु पुरस्कारो के उपयोग का केवल पहलू है। एक *बार लाग उच्च पदो पर आसीन होने की तैयारी करते हैं तो उन्हे अपने कार्य को* योग्यतापूर्वक सम्पन्न करने हेतु प्रेरित करना आवश्यक होता है। इसलिए अधिक पुरस्कार या प्रतिफल उन्ही लोगो को प्राप्त होते हैं जो अपना कार्य अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक कुशलता से करते है। इस प्रकार अधिक योग्य इजीनियर वैज्ञानिक, नौकरशाह, पुलिस अधिकारियो को उन लोगों से अधिक अभीष्ट (Desirables) प्राप्त होने चाहिए जो अपना कार्य कम अच्छा करते है। किन्तु यह भी सत्य है कि अनेक अक्षम डॉक्टर, इन्जीनियर आदि उच्च स्तरीय सक्षम डॉक्टरो व इजीनियरो से अधिक अभीष्ट प्राप्त करते हैं। स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार समाज के लिए सामाजिक असमानता आवश्यक अथवा प्रकार्यात्मक है।

एक लबे समय तक यह सिद्धात प्रबल रहा किन्तु इसे अनुभव के आधार पर सिद्ध करना सरल नहीं है। ट्यूमिन द्वारा दर्शाए अनुसार इसकी अनेक कमिया है।

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का विवेचनात्मक मूल्याकन (Critical Evaluation of Functional Theory)

1 समाज मे ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनके पास सत्ता, प्रतिष्ठा व सपत्ति होती है किन्तु उनका समाज मे योगदान बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिए फिल्मी सितारे, क्रिकेटर, स्टॉक ब्रोकर और सगीतज्ञ लाखो करोडो रुपये कमाते है जबकि वे वैज्ञानिक जो नए आविष्कार कर समाज के लिए बडा योगदान करते हैं उन्हे मुश्किल से कुछ हजार रुपये प्रतिमाह ही प्राप्त होता है।

2 समाज के कुछ सदस्यों जैसे गरीब लोग, महिलाए, पिछडे वर्ग के लोगो आदि को प्रतिस्पर्धा मे कुछ बाधाओ का सामना करना पडता है जिसे प्रकार्यात्मक सिद्धान्त नजरअदाज करता है। इस वर्ग के लोगो मे भी बहुत अधिक प्रतिभावान लोग होते हैं किन्तु उन्हे प्रतिस्पर्धा मे भाग लेने का अवसर न मिलने से उनकी प्रतिभा का समुचित उपयोग नही होता।

3 प्रकार्यात्मक सिद्धान्त सामाजिक वर्ग के वंशानुक्रम की अनदेखी करता है। भारत जैसे समाज में जाति एवं वर्ग का निर्धारण जन्म से होता है। आधुनिक समाजों में भी जहाँ सामाजिक गतिशीलता की दर ऊँची मानी जाती है बच्चे का सामाजिक वर्ग उनके पालकों का ही होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि निम्न वर्ग के प्रतिभावान बच्चे मध्यम व उच्च वर्ग के बच्चों से साथ समानता के आधार पर स्पर्धा नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप अनेक लोग जिन्हें सर्जन प्रबंधक न्यायाधीश बनना चाहिए था केवल शिक्षक लिपिक कम्प्यूटर आपरेटर आदि बनकर ही रह गए।

मैलविन ट्यूमिन (1953) ने निष्कर्ष निकाला कि स्तरीकरण विद्यमान इसलिए नहीं है कि यह समाज के लाभ के लिए आवश्यक है बल्कि इसलिए है कि यह उन लोगों को जो सत्ता व आर्थिक संसाधनों पर अधिकार रखते हैं, यथास्थिति बनाए रखने में मदद करता है।

संघर्ष सिद्धान्त (Conflict Theory)

कार्ल मार्क्स के अनुसार औद्योगिक पूँजीवादी उत्पादन तंत्र के कारण उत्पन्न संपत्ति व सत्ता की विषमताओं ने वर्ग संघर्ष को अपरिहार्य बना दिया है। इस प्रकार संघर्ष सिद्धान्त का मानना है असमानता कुछ लोगों से संबंधित है जिसके पास सत्ता है तथा वे दूसरे लोगों का शोषण करने के इच्छुक हैं। स्तरीकरण संरचना के उच्च वर्ग के वे लोग जिनका समुदाय अथवा समाज के अभीष्टों (Desirables) पर एकाधिकार है, वे उसका उपयोग दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने में करते हैं। संघर्ष सिद्धान्तवादी समाज को सहमति के स्थान पर बल द्वारा सन्चालित रूप में देखते है। वे लोग जिनके पास संपत्ति, सत्ता व प्रतिष्ठा है, वे समाज की अभीष्ट वस्तुओं का अपना हिस्सा बनाए रखने अथवा उसे और बढ़ाने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार संघर्ष सिद्धान्त सत्ताधारी व सत्ताहीन, शोषणकर्ता व शोषित वर्ग के संघर्ष पर आधारित है। हम पूंजीवादियों का उदाहरण दे सकते हैं। ये लोग एक आस्थाओं के तंत्र का निर्माण कर श्रमिकों पर नियंत्रण रखते हैं, जिससे यथास्थिति को न्यायिक मान्यता मिलती है व इससे उन्हें ही लाभ मिलता है। चूंकि पूँजीवादी समाज के सभी पहलू आर्थिक संरचना पर आधारित होते हैं, इसलिए वे लोग जो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखते हैं (पूंजीपति) सारे देश में शिक्षा संस्थानों, मीडिया, चर्च, सरकार आदि के माध्यम से अपने सिद्धान्त को फैलाते हैं व श्रमिक वर्ग में झूठी चेतना का निर्माण करते है। इस प्रकार शासक वर्ग के प्रभावशाली विचार शासित वर्ग के प्रभावशाली विचार बन जाते ह। जब तक श्रमिक वर्ग इस प्रभावशाली विचारधारा को स्वीकार करते है व इस प्रकार अपनी स्वयं की ताकत से तथा किस सीमा तक वे शोषित हो रहे है, इस बात से अनभिज्ञ रहते है तब तक पूँजीवादी सुरक्षित रहते हैं।

मार्क्स के अनुसार पूजीवादी सभ्रात वर्ग को अर्थव्यवस्था के सपादन से अधिक बल प्राप्त होता है। उन्होंने कहा कि परिवार के माध्यम से सपत्ति व अवसर एक पीढी से दूसरी पीढी को मिलते हैं। उत्तराधिकार कानून के माध्यम से न्यायिक तत्र इस चलन का बचाव करता है। इसी प्रकार विशिष्ट अभिजात स्कूल सभ्रात वर्ग के बच्चो को प्रवेश देते हैं जिससे अनौपचारिक समाजो को बनने में प्रोत्साहन मिलता है व उन्हे जीवन पर्यन्त लाभ मिलता है। अत· मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी समाज प्रत्येक नई पीढी मे वर्ग सरचना उत्पन्न करते हैं।

फिर भी मार्क्स का मानना है कि अत मे सर्वहारा वर्ग मे वर्ग चेतना जागेगी तथा वे प्रभावकारी आस्था तत्र को नकार देंगे। पूजीपतियो को सत्ता को उखाड फेकने के उपरान्त सर्वहारा वर्ग एक ऐसे समाजवादी समाज की रचना करेगा, जिसमे उत्पादन के साधन व सपत्ति पर सभी लोगो का समान स्वामित्व होगा। यह 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' होगी जो पूँजीवादी समाज व साम्यवादी वर्गहीन समाज के बीच अस्थाई व्यवस्था होगी। अन्त में मानव गरीबी का अन्त करने हेतु साम्यवाद का स्थान समाजवाद लेगा। मार्क्स की सामाजिक असमानता सबधी विचारधारा स्वीकार नहीं की गई। क्योकि

1 मार्क्स ने कार्य निष्पादन व प्रतिफल को अलग कर दिया तथा प्रत्येक को उसकी योग्यता से उसकी आवश्यकतानुसार के सिद्धान्त पर आधारित समतावादी सामाजिक तत्र का समर्थन किया। इस प्रकार मार्क्स ने डेविस–मूर की धारणा कि लोगो को विभिन्न सामाजिक भूमिकाओ को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करने हेतु असमान प्रतिफल के तत्र की आवश्यकता होती है, को नकार दिया। आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रतिफलो को कार्य निष्पादन से पृथक करना एक बडी कमी थी जिसके कारण उत्पादन मे कमी आई जो पूर्व सोवियत सघ (वर्तमान रूस) तथा विश्व की अन्य समाजवादी अर्थ व्यवस्थाओ मे स्पष्ट रूप से उनकी विशेषता रही है।

2 शोषण, क्राति, वर्गविहीन समाज, साम्यवाद सबधी विचार उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं हैं जो पूँजीवाद की उपलब्धियो पर तथा ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता पर जोर देते हैं।

3 मार्क्स की निम्न भविष्यवाणिया इस अर्थ मे गलत सिद्ध हुई कि (।) समाजवादी क्रातिया पूँजीवादी समाजो मे न होकर गैर पूँजीवादी समाजो में हुई। (।।) पूँजीपतियों का स्थान बडे–बडे निगमो ने लिया, न कि सर्वहारा अथवा मजदूर वर्ग ने। (।।।) मजदूर वर्ग ने नहीं बल्कि मध्यम वर्ग ने पूँजीवादी समाजों का विस्तार किया।

निम्न तालिका सामाजिक स्तरीकरण के दोनों सिद्धान्तों की तुलना प्रस्तुत करती है —

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त (Functional Theory)	संघर्ष सिद्धान्त (Conflict Theory)
सामाजिक स्तरीकरण समाज को कार्यात्मक बनाए रखता है।	सामाजिक स्तरीकरण वर्गों के बीच संघर्ष का परिणाम है।
अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक पदों हेतु प्रतिफल संपूर्ण समाज हेतु लाभकारी है। स्तरीकरण प्रतिभा एवं योग्यता को प्रोत्साहन देता है।	असमानता से कुछ लोगों का लाभ व अन्यों को नुकसान पहुँचता है। स्तरीकरण यह सुनिश्चित करता है कि समाज में प्रतिभा व योग्यता का उपयोग बिलकुल न हो।
स्तरीकरण उपयोगी तथा अपरिहार्य है।	स्तरीकरण केवल कुछ लोगों के लिए उपयोगी है। यह अपरिहार्य नहीं है।
वे मूल्य व आस्थाएं जो सामाजिक असमानता को वैध ठहराते हैं, समाज में व्यापक रूप से प्रचलित है।	मूल्य व आस्थाएं व्यापक रूप से प्रचलित नहीं हैं। बल्कि ये समाज के अधिक बलशाली सदस्यों के विचार परिलक्षित करते हैं।
स्तरीकरण लम्बे समय से स्थाई है।	चूंकि स्तरीकरण समाज के केवल कुछ लोगों को परिलक्षित करता है अतः इसके अधिक समय बने रहने की संभावना नहीं है।

इन दोनों सिद्धान्तों की आलोचना इस अर्थ में प्रासंगिक है कि प्रकार्यात्मक सिद्धान्तवादी इस बात को समझाने में असफल रहे हैं कि स्कूल शिक्षक तथा महत्वपूर्ण कार्यों में बड़ी संख्या में लगी महिलाएं जिन्हें उच्च प्रकार्यात्मक महत्व दिया गया है, को उच्च आर्थिक प्रतिफल क्यों नहीं दिया जाता? अनेक बलशाली अपराधी अथवा प्रभावशाली लोग व्यापक प्रतिष्ठा पाने में कठिनाई क्यों महसूस नहीं करते हैं तथा कुछ वैज्ञानिकों को अत्यधिक प्रतिष्ठा क्यों मिलती है? ये प्रकार बताते हैं कि इन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त अपने आप में स्तरीकरण संरचना के अस्तित्व को समझाने में असफल है। दोनों सिद्धान्त असमानता के विकास के विभिन्न पहलू प्रस्तुत करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण : एक नया दक्षिणपथी परिप्रेक्ष्य (Social Stratification : A New Rightist Perspective)

नये दक्षिणपथी समाजशास्त्री मानते हैं कि अर्थव्यवस्था म राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप को टालना चाहिये। राज्य को ससाधनो के पुन वितरण का कार्य नही करना चाहिये तथा मुक्त बाजार व्यवस्था के कामकाज म हस्तक्षेप नही करना चाहिये। यदि राज्य ऐसा करने का प्रयास करता ह तो इससे आर्थिक कुशलता म कमी आएगी। राज्य के हस्तक्षेप से लोगो की कठिन परिश्रम करने की अभिप्रेरणा समाप्त हो जाएगी। जैसे जैसे राज्य की शक्ति बढ़ेगी वैसे वैसे व्यक्तियो की स्वतत्रता का दमन होता जाएगा।

सामाजिक स्तरीकरण पर मैक्स वेबर की धारणा (Max Weber's Thesis on Social Stratification)

यद्यपि वेबर मार्क्स से इस बात पर सहमत थे कि सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक सघर्ष को जन्म देता है व उनमे अनेक महत्वपूर्ण पहलुओ पर अलग विचार रखते हैं। वेबर मार्क्स के दो सामाजिक वर्गो के आदर्श को एकागी मानते हैं। उन्होने स्तरीकरण को तीन आयामो का परिणाम माना है। वर्ग सामाजिक स्थिति व सत्ता। वेबर ने वर्ग को आर्थिक वर्ग के रूप म वर्णित न कर उसे एक अवस्थिति कहा है जिसमे किसी भी व्यक्ति को उच्च स निम्न तक वर्गीकृत किया जा सकता है। उनके अनुसार सामाजिक स्थिति सामाजिक प्रतिष्ठा का माप ह। सत्ता का भी स्तरीकरण मे अपना महत्व ह जबकि मार्क्स का विश्वास था कि प्रतिष्ठा व सत्ता आर्थिक स्थिति के कारण आते हैं। वेबर ऐसा नहीं मानते थ। उन्होंने बताया कि कोई व्यक्ति असमानता के एक आयाम म उच्च स्थिति मे हो सकता है किन्तु दूसरे म निम्न स्थिति मे। इस प्रकार मार्क्स असमानता को दो वर्गो के सदर्भ मे देखते हैं जबकि वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण का बहुआयामी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने उसे सामाजिक आर्थिक स्थिति के रूप मे समझाया है अर्थात् सामाजिक असमानता के विभिन्न आयामो पर आधारित किसी व्यक्ति की सयुक्त श्रेणी।

वेबर सपत्ति सत्ता व प्रतिष्ठा को तीन भिन्न किन्तु परस्पर सबधित पदानुक्रम मानते थे। सपत्ति की विषमताएँ वर्गो को जन्म देती है, प्रतिष्ठा की विषमताएँ प्रतिष्ठित समूहो अथवा स्तरो को जन्म देती हैं व सत्ता की विषमताएँ दलो को जन्म देती है। (इन्हे दलो की अपेक्षा गुट अथवा राजनैतिक खण्ड कहना अधिक सटीक होगा

वेबर मानते थे कि वर्गों, प्रतिष्ठा समूहो व दलो के बीच घनिष्ठ सबध हो हैं। उनके अनुसार दलो का गठन समान वर्ग हितो अथवा समान प्रतिष्ठा हितो अथवा दोनो के आधार पर होता है।

समूहो की रचना सामूहिक कार्यवाई तथा राजनीतिक सत्ता पाने हेतु वर्गो का

रचना एक आधार हो सकती है किन्तु वेबर मानते हैं कि इन क्रियाओं के अन्य आधार भी हो सकते हैं। विशेषत: समूहो का निर्माण इसलिये होता है कि उनके सदस्यो की प्रस्थिति समान होती है। जबकि वर्ग का अर्थ आर्थिक प्रतिफलो के असमान वितरण के रूप मे लिया जाता है। इसी प्रकार प्रस्थिति का अर्थ सामाजिक सम्मान के असमान वितरण के रूप मे लिया जाता है। एक प्रस्थिति समूह (Status Group) की रचना उन व्यक्तियों से मिलकर होती है जिन्हे समान रूप से सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है तथा वे समान प्रस्थिति रखते हैं। वर्गों के विपरीत प्रस्थिति समूहों के सदस्यो को सदैव ही अपनी समान प्रस्थिति का ज्ञान होता रहता है। इनकी जीवन शैली समान होती है तथा वे अपनी पहचान को प्रस्थिति समूह मे विलीन कर देते हैं। अनेक समाजो मे वर्ग व प्रस्थिति एक-दूसरे से घनिष्ठता से जुडे रहते हैं।

मार्क्स का मानना था कि किसी भी आर्थिक वर्ग के सदस्य वर्ग चेतना विकसित कर सकते हैं व *किसी समान उद्देश्य को लेकर एक समुदाय के रूप मे एकत्रित* हो सकते हैं। वेबर का मानना था कि ऐसा सदैव नहीं होता। वर्ग चेतना तभी विकसित हो सकती है, जब यह सभी को स्पष्ट हो जाए कि दो समूहो के हित एक-दूसरे के अनुकूल नहीं है। वास्तव मे वेबर ने यह स्पष्ट रूप मे कहा है कि आर्थिक वर्ग साधारणत: समुदायों मे गठित नहीं होते, जबकि प्रतिष्ठा समूह होते हैं। प्रतिष्ठा समूह आत्मपरकता से समान सामाजिक प्रतिष्ठा या सम्मान के आधार पर बनते हैं तथा केवल आर्थिक घटक ही प्रतिष्ठा का निर्धारण नहीं करते।

वेबर के अनुसार संपत्ति संबंधी विषमताओ के जीवन के अवसरो हेतु महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं किन्तु प्रतिष्ठा संबंधी विषमताओं के कारण जीवन शैली में महत्वपूर्ण विसंगतियाँ पैदा हो जाती हैं।

समानता का प्रकरण (Issues of Equality)

सामाजिक असमानता का मुद्दा भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या है। किसी समाज के सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन, भले ही वह जाति या वर्ग पर आधारित हो, अधिकतर असमानता को समझने से ही सम्बद्ध है। स्तरीकरण और असमानता में भिन्नता है। *स्तरीकरण मे सम्पदा और संसाधनों का वितरण असमान किन्तु* व्यवस्थित होता है। कुछ सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर व्यक्ति को जाति, वर्ग प्रजाति, और लिंग जैसी श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। एक समाज मे *बिना स्तरीकरण के भी असमानता हो सकती है।*

लुई डयूमा (Louis Dumont) एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री ने एक भिन्न आधार पर जाति व्यवस्था मे असमानता की व्याख्या की है। उसकी मान्यता है कि श्रेणीक्रम, न कि असमानता, समानता का विलोम है। उन्होंने जाति प्रथा में श्रेणीक्रम को शुद्धता

और अशुद्धता के अर्थों मे समझाया है जो उनके अनुसार जाति व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है। उसके अनुसार 'श्रेणीक्रम' में अशुद्धता पर शुद्धता की श्रेष्ठता, अशुद्धता से शुद्धता की पृथकता, तथा श्रम विभाजन मे शुद्ध व्यवसायो की अशुद्ध व्यवसायो से पृथकता निहित है। इस प्रकार वह—

(a) दो विरोधियो (Opposites) की 'श्रेणीक्रमता' मे सहअस्तित्व (Co-existence) की,

(b) श्रेणीक्रम के प्राकृतिक असमानताओ से या शक्ति वितरण से बिल्कुल स्वतत्र होने की,

(c) जातियो के क्रम (Ranking) का धार्मिक प्रकृति का होना और

(d) श्रेणीक्रम घेरने वालो (Encompasser) और घिरने वालो (Encompassed) के बीच का सम्बन्ध होने पर बल देते है। डयूमॉ की जाति की विचारधारा और जाति व्यवस्था मे श्रेणी क्रम की धारणा पश्चिमी विद्वानो (रिजले, मेयर, मेरियट, आदि) के विचारो से बिल्कुल भिन्न है, जिन्होने इसकी व्याख्या पश्चिमी अवधारणाओं के प्रकाश म की है, जैसे, व्यक्तिवाद, समतावाद, आदि। वह श्रेणीक्रम को वर्ण सिद्धान्त से जोडता है, जिसमे क्रमीकरण (Gradation) सम्मिलित है, लेकिन शक्ति और सत्ता दोनो से भिन्न है। हिन्दू समाज मे राजा का पुजारी के अधीन होना धार्मिक सस्कार से क्रम है। डयूमॉ मानता है कि श्रेणीक्रम के घेरे मे वर्ण विभाजन और जाति व्यवस्था दोनो ही हैं। इस प्रकार वह जाति के भीतर व जातियो के बीच व्यवहार और अन्तर्क्रिया मे वैचारिक उन्मुखता को महत्व देता है। वह यह भी मानता है कि श्रम का परम्परागत विभाजन (यजमानी प्रथा), विवाह का नियमित होना, और सामाजिक सम्पर्क आर्थिक व सामाजिक तर्क की अपेक्षा श्रेणीक्रम या धार्मिक मूल्यो पर आधारित होते हैं।

डयूमॉ ने प्रस्थिति और शक्ति के बीच असम्बद्धता (Disjunction) के विचार के विपरीत प्रश्न उठाया है। वह कहता है कि प्रस्थिति (ब्राह्मण) के आगे शक्ति (राजा) की अधीनता समझदारी मे कठिनाई पैदा करती है। यह दृष्टिकोण चतुराईपूर्ण है लेकिन समझ मे सन्तोषप्रद नहीं है।

असमानता के विश्लेषण मे हमारी मान्यता यह है कि उस असमानता का जो सदियो के आर्थिक ठहराव (Stagnation) के कारण पैदा हुई जिसमे वर्गों के बीच जीवन अवसरो मे अन्तर पैदा हुआ और उस असमानता का जो परम्परागत मूल्यो, सामाजिक पथाओ, और जाति प्रथा द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धो के कारण उत्पन्न हुई, दोनो के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय विश्लेषण की आवश्यकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से असमानता के समाजशास्त्रीय बोध (Understanding) की ओर पहला कदम तब उठा, जब लोगो की

अस्तित्व की दशाओं में असमानताओं की ओर ध्यान जाने लगा। जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण इस असमानता को भिन्न भिन्न जातियों में व्यक्ति के विभिन्न क्रमों में जन्म लेने से सम्बद्ध है जिसके कारण व्यक्ति की अयोग्यताओं, अभिरुचियों और आकांक्षाओं में अन्तर होता है। रूसो (Rousseau) ने राजनीतिक असमानताओं की बात कही है, जैसे धन सम्मान और शक्ति जो कि परिपाटी पर आधारित होती हैं और व्यक्तियों की सहमति से अधिकृत होती है। यद्यपि लोग इन परिपाटियों (Conventions) का त्यागने और नयी परिपाटियां स्थापित करने के लिए स्वतंत्र होते हैं फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि असमानताएं, जिनसे मनुष्य पीड़ित है किस प्रकार इतने लम्बे समय से चली आ रही हैं। जब हमने अपने समाज में मनुष्यों के बीच असमानताओं की तुलना अन्य समाजों से करनी शुरू की तब से स्तरीकरण के स्वरूप और गतिशीलता की दर की तुलना करने के लिए पहले औद्योगिक समाजों में फिर कृषक समाजों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया।

परम्परागत भारतीय समाज में श्रेणीक्रम और सामाजिक असमानताओं का आधार शुद्धता और अशुद्धता का विचार ही था। आधुनिक औद्योगिक समाज में असमानताओं का आधार 'उपलब्धि' है जो खुली और स्वच्छ प्रतिस्पर्धा' का परिणाम है। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थ बताते हैं कि हमारा समाज चार वर्णों और एक प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों में व्यवस्थिति अनेक जातियों में विभक्त था। जब तक जातियों का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा जाता रहा, तब तक लोगों ने प्रस्थिति श्रेणीक्रम स्वीकार किया। यह जुड़ाव बीसवीं शताब्दी के 1920 और 1930 की दशकों तक जारी रहा। पश्चिमी संस्कृति से सम्पर्क, शिक्षा का प्रसार, औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने लोगों के विचार बदल दिए।

जाति, वर्ग और समुदाय के आधार पर सामाजिक असमानताओं को समाप्त करने के प्रयासों ने कुछ जातियों और समुदायों में कुण्ठा उत्पन्न कर दी है जिनकी परिणति अनेक आन्दोलनों और हिंसात्मक कार्यवाहियों के रूप में हुई है। इस प्रकार शिक्षित व्यक्तियों और स्वार्थी राजनीतिज्ञों के विचारों की अतिवादी प्रतिक्रियाएं कुछ अधिक चिन्ताजनक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन ने विकास के मार्ग में काफी परिवर्तन कर दिए हैं। इन बुराइयों को दूर करने के लिए कई सुझाव भी दिए गए हैं। सामाजिक क्रमीकरण को कम करने पर विचारों और मूल्यों का केवल एक सामान्य स्वरूप ही सामाजिक असमानताओं को कम कर सकता है और लोगों को विभिन्न श्रेणियों का न्याय प्रदान कर सकता है।

आन्द्रे बेतेइ (Andre Beteille, *Inequality Among Men*, 1977 . 49) ने शक्ति (Power) और असमानता के बीच सम्बन्धों की चर्चा की है। शक्ति असमानता बनाए रखती है तथा यह असमानता का रूप भी बदल देती है। जाति

व्यवस्था मे मनुष्यो के बीच असमानता केवल इसलिए ही स्वीकार नही की गई थी क्योंकि यह विश्वास था कि लोगों को विविध गुण प्रदत्त हैं, बल्कि इसलिए भी क्योंकि जातियो को शक्ति के साधन के रूप मे देखा जाता था। जसे ही ब्रिटिश लोगों द्वारा सचालित शक्ति के नवीन साधनों ने श्रेणीक्रम और जाति की शक्ति (न्यायालय द्वारा जाति पचायतों की शक्ति छीन लेने के बाद) से अपना समर्थन वापस लिया श्रेणीक्रम स्वय ही टूटने लगा। वर्ग व्यवस्था मे जिनके पास भूमि या सम्पत्ति होती है वही व्यक्ति भूमिहीनों और सम्पत्तिहीनों पर हावी रहते है। शक्ति असमानताओ के समाजशास्त्रीय विश्लेषण मे दो बातों पर ध्यान दिया जाता है . एक, दूसरों पर कुछ लोगो का शक्ति वर्चस्व और दो, उनके पास नियमो की व्याख्या करने, परिवर्तन करने और बनाने की शक्ति जिनसे उनके सहित, सभी बध जाते हैं। साथ ही इस विश्लेषण मे शक्ति का विस्तार भी महत्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति या समूह समाज के हर क्षेत्र म समान रूप से शक्ति नही रखता। हम यह भी पूछते हैं कि कहा तक वे विभिन्न व्यक्ति जो एक या अनेक क्षेत्रो मे शक्ति रखते ह और उसका प्रयोग करते हैं एक सम्बद्ध (Cohesive) समूह के रूप म रहते हैं जो शेष समाज मे स्पष्ट रूप मे चिन्हित होता है।

प्रस्थिति और शक्ति मे असमानताओ की चर्चा के बाद सामाजिक अस्तित्व (Existence) की सामान्य दशाओं (General Conditions) मे असमानताओं का सन्दर्भ भी आवश्यक है। बहुत बडी सख्या मे लोग असमानता को वर्गो मे समाज के विभाजन और धन के असमान वितरण के सन्दर्भ मे देखते ह। औद्योगिक समाज का दो श्रेणियो — पूँजीवादी और समाजवादी — मे विभाजन का जन्म सामाजिक वर्ग से ही हुआ है। पूँजीवादी समाज सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के माध्यम मे सगठित होते हैं और इन समाजों मे वर्ग की उपस्थिति को मुक्त रूप से स्वीकारा जाता है जबकि समाजवादी समाजो मे इसे सशर्त स्वीकारा जाता है। क्या समाजवादी समाजों मे निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से वर्ग अदृश्य हो गए है? आन्द्रे बेतेइ (वही 75) का मत है कि क्योंकि रूस और ओर अन्य समाजवादी देशों मे अभी भी असमानाताए विद्यमान है तो यह निश्चित है कि असमानता वर्ग से कहीं अधिक विस्तृत धारणा है।

यद्यपि हमारे सभी आधुनिक समाज समानता के वायदे पर बने है, फिर भी समतावादी समाज की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। बेतेइ ने (वही 153) यह भी कहा है कि जब तक मूल्याकन और सगठन सामाजिक जीवन के *अभिन्न अग* बने रहेंगे असमानता की समस्या का अस्तित्व भी जारी रहेगा। हम समतावादी समाज को दो स्तरो पर सोच सकते है . पहला, जिसमे विभिन्न स्थितियो मे एक ही शक्ति और प्रतिष्ठा हो, और दूसरा, जिसमे सभी सदस्य शक्ति की और प्रतिष्ठा की सभी

स्थितियो का लाभ लेते हो। लगभग सभी लोगो द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि भविष्य मे ऐसे समाजो के होने की कल्पना मात्र भी भ्रमात्मक है।

सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)

बच्चा जन्म लेते ही अपने माता-पिता की जाति अथवा उनके सामाजिक वर्ग का सदस्य बन जाता है और साधारणत: अपने जीवन पर्यन्त उसका सदस्य बना रहता है। फिर भी सभी समाज अपने सदस्यो को उनके सामाजिक स्तर को बदलने अथवा उसमें सुधार करने के कुछ अवसर प्रदान करते है। सामाजिक स्तर मे बदलाव ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी हो सकते हैं। कुछ समाजो मे सदस्यो का सामाजिक सीढ़ी पर ऊपर की ओर बढ़ना अथवा नीचे की ओर आना आम बात हो गई है। क्योंकि उन समाजो मे सामाजिक गतिशीलता की राह मे आने वाली कठिनाइयाँ कम होती हैं। जिन समाजो मे गतिशीलता अधिक होती है उन्हे 'खुले समाज' कहते हैं। इसके विपरीत जिन समाजो मे सामाजिक गतिशीलता कम होती है अथवा जहा व्यक्ति अपने जीवनकाल मे एक ही जाति अथवा सामाजिक वर्ग का सदस्य बना रहता है ऐसे समाजो को 'बद समाज' कहते हैं।

सामाजिक गतिशीलता से तात्पर्य व्यक्ति अथवा समूहों का सामाजिक स्तरीकरण के तंत्र में एक स्तर से दूसरे स्तर मे संचलन से होता है। समाजशास्त्री सामाजिक गतिशीलता के सदर्भ मे दो आदर्श वर्ग तंत्र के प्रकारो मे अतर को स्पष्ट करने हेतु 'खुला वर्ग तत्र' तथा 'बंद वर्ग तत्र' शब्दो का प्रयोग करते हैं। खुले वर्ग तत्र मे प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके द्वारा परिश्रम से प्राप्त किए गए स्तर द्वारा प्रभावित होती है। बद वर्ग तत्र मे व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता की गुजाइश बहुत कम अथवा नहीं भी होती। सामाजिक स्तरीकरण की जाति प्रथा बद वर्ग तंत्र का एक उदाहरण है। व्यक्ति का आरोपित स्तर समाज द्वारा उसे बिना उसकी विशिष्ट योग्यताओ का विचार किए प्रदत्त किया जाता है। जहां व्यक्ति का आरोपित पद अधिक प्रबल होता है, वहाँ व्यक्ति के अस्तित्व का भविष्य जन्म के समय ही निश्चित हो जाता है। उसका व्यवसाय, आय, धर्म आदि जन्म के समय ही निश्चित हो जाते हैं। खुले और बंद समाजों के तीव्र रूप वास्तव मे अस्तित्व मे नहीं रहते। उदाहरण के लिए जातिवादी समाजो मे सामाजिक गतिशीलता कभी-कभी किसी महिला के उच्च जाति में विवाह के कारण संभव होती है। सामाजिक गतिशीलता के साधनो में विवाह, शिक्षा, संपत्ति तथा विशिष्ट स्तर शामिल हैं। सामाजिक गतिशीलता खुले तंत्र में पाए जाने की सम्भावना अधिक होती है क्योंकि इनमे उपलब्ध प्रस्थिति पर बद तंत्र की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है। बंद तंत्र मे आरोपित विशेषताओ पर ही ध्यान केन्द्रित होता है।

सामाजिक गतिशीलता का महत्व (Importance of Social Mobility)

समाजशास्त्रियो को निम्न कारणो मे सामाजिक गतिशीलता मे रुचि है —

1. सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन समाज के सदस्यों को जीवन के अवसरों के सबध मे सकेत उपलब्ध करा सकता है।
2. सामाजिक गतिशीलता की दर का वर्ग निर्माण पर महत्वपूर्ण प्रभाव हो सकता है।
3. यह जानना महत्वपूर्ण है कि लोग सामाजिक गतिशीलता के अनुभव के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया दिखाते हैं।

ट्यूमिन (Tumin) ने गतिशीलता को समझने के लिए निम्न कारको का उल्लेख किया है :—

1. गतिशीलता समय के परिप्रेक्ष्य मे परिवर्तन — एक पीढी या दूसरी पीढी की प्रस्थितियो मे देखा जा सकता है।
2. गतिशीलता मे समय की कितनी मात्रा लगी।
3. गतिशीलता किस सस्था मे अथवा किस सदर्भ मे आई। (शिक्षा मे गतिशीलता, व्यवसाय मे गतिशीलता सत्ता व भौतिक साधनो मे परिवर्तन आदि)
4. प्रस्थिति को ग्रहण करने का तरीका (जन्म के आधार पर, अर्जित गुणों के आधार पर)
5. गतिशीलता की इकाई (व्यक्ति, परिवार समूह, समाज)
6. गतिशीलता मापने का मापदण्ड (व्यक्तिपरक और वस्तुपरक दोनों का सहयोग आवश्यक)

सामाजिक गतिशीलता के प्रकार (Types of Social Mobility)

क्षैतिजीय गतिशीलता (Horizontal Mobility) का तात्पर्य किसी व्यक्ति अथवा समूह का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी समान पदांकित स्थिति मे सचलन से होता है। उदाहरण के लिए एक इलेक्ट्रिशियन का मैकेनिक बनना। इसमें गतिशीलता तो हुई किन्तु समाज इसे उसके सामाजिक स्तर मे सुधार नहीं मानता।

लम्ववत् गतिशीलता (Vertical Mobility) मे एक व्यक्ति अपनी वर्तमान सामाजिक स्थिति से अधिक ऊंची सामाजिक स्थिति मे सचलन करता है। यह गतिशीलता जीवन मे सतुष्टि के साथ-साथ चिन्ताएं व त्याग भी लाती है। आधुनिक समाजो में धन तथा सपत्ति प्राप्त करना उच्च स्तर प्राप्त करने का प्रमुख साधन है।

बद समाज मे बहुत कम लम्बवत गतिशीलता सभव है। शहरीकरण के कारण लम्बवत गतिशीलता को बढावा मिलता है क्योंकि शहरों मे आरोपित कसौटी का कोई महत्व नहीं होता। भारत जैसे बद समाज मे बहुत ही कम लम्बवत गतिशीलता सभव है। इसके विपरीत खुले समाजों मे लम्बवत् गतिशीलता को अधिक बढावा मिलता है।

खुले समाजो मे भी लोग एक सामाजिक स्तर से दूसरे ऊंचे स्तर पर बिना किसी अवरोध के सचलन नहीं कर सकते। प्रत्येक समाज मे कुछ कसौटियां निर्धारित की गई हैं— जैसे वश परम्परा अथवा जातीय सबध जिन्हें सतुष्ट किए बगैर लोग उच्चतर सामाजिक स्तर पर नहीं पहुच सकते।

अतर-पीढ़ी गतिशीलता (Intergenerational Mobility) मे बच्चो की अपने पालको की तुलना मे सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन होता है। चूंकि व्यवसायो का सीधा सबध सपत्ति एव प्रतिष्ठा से होता है, अतः पीढियो द्वारा व्यवसाय के एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव सामाजिक गतिशीलता पर भी पड़ता है। इस प्रकार भिन्न पीढियो द्वारा एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर पर किए जाने वाले सचलन को अतर-पीढी गतिशीलता कहते हैं।

अतर पीढी गतिशीलता (Intergenerational Mobility) का अभिप्राय पीढ़ियों के मध्य पाई जाने वाली गतिशीलता से है। यदि पुत्र की प्रस्थिति (Status) पिता की प्रस्थिति की तुलना मे उच्च है तो पुत्र उन्नतस्तरीय गतिशीलता अभिव्यक्त करता है। यदि पुत्र की प्रस्थिति पिता की प्रस्थिति से निम्न है तो यह पतोन्मुखी गतिशीलता का द्योतक है।

अतरा-पीढी गतिशीलता (Intragenerational Mobility) एक ही पीढ़ी की गतिशीलता को व्यक्त करती है। जैसे एक व्यक्ति ने एक दफ्तर में सहायक के रूप मे कार्य शुरू किया और उसी कम्पनी के मुख्यालय मे जनरल मैनेजर के पद पर पदोन्नत होकर कार्य किया। किसी व्यक्ति द्वारा अपने वयस्क जीवन मे किया गया एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति मे संचलन अंतरा-पीढ़ी गतिशीलता मे शामिल होता है। इस प्रकार व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल में सामाजिक सीढ़ी पर किया गया उर्ध्वस्थ सचलन भी इसमे शामिल होगा। दूसरे शब्दो मे ये सुधार व्यवसाय मे परिवर्तन, पदोन्नति, वरीयता, अतिरिक्त अनुभव तथा प्रशिक्षण के कारण हो सकते हैं।

परम्परागत रूप से सिद्धान्तवादी केवल अतर-पीढी गतिशीलता से संबध रखते थे। वे सामाजिक स्थिति को पालको से बालको की ओर गतिशीलता का ही पता लगाते थे। किन्तु अब आधुनिक युग में जीवनकाल की गतिशीलता पर अधिक ध्यान

केन्द्रित किया जा रहा है व्यक्ति की प्रथम नौकरी से उसके उत्तरवर्ती पेशे तक। इन व्यक्ति स्तर के आदर्शों को प्राय प्रस्थिति उपलब्धि कहा जाता है।

सामाजिक वैज्ञानिक जो स्तरीकरण का अध्ययन करते हैं वे अन्तर पीढी की गतिशीलता को प्राय व्यवसायो से व अतरा पीढी की गतिशीलता को आय से नापते हैं।

सरचनात्मक गतिशीलता (Structural Mobility) से तात्पर्य सामाजिक स्तरीकरण के तत्र मे किसी विशिष्ट समूह वर्ग अथवा व्यवसाय द्वारा अन्यो की तुलना मे उर्ध्वस्थ सचलन (Upward Movement) से होता है।

प्रस्थिति प्राप्त करना ऊर्ध्वगामी (Upward) गतिशीलता कहलाती है। प्रस्थिति का खोना अधोगामी (Downward) बिना प्रस्थिति को प्राप्त किए अथवा गवाए व्यवसाय की भूमिका मे किया गया परिवर्तन क्षैतिजीय (Horizontal) कहलाता है।

भारत में सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility in India)

भारत मे व्यक्ति सामाजिक पदावली मे अपनी सामाजिक स्थिति अपने पालको द्वारा प्राप्त करता है। व्यक्ति जातियो मे ही जन्म लेते हैं तथा अपने जीवनपर्यन्त उसी जाति मे बने रहते हैं। य जातिया भी विभिन्न उप जातियो वशानुगत व्यावसायिक समूहो मे बटी हुई हैं। एक व्यक्ति की जाति ही जीवन मे उसकी भूमिका निश्चित रूप से निर्धारित करती है। यह केवल उसके द्वारा किए जाने कार्य वह समूह जिसमे वह विवाह करे यही निर्धारित नहीं करती बल्कि यह उसके द्वारा दैनदिन जीवन मे किए जाने वाले व्यवहार को भी निर्धारित करती है। जाति के सदस्यो के बीच के सबध पूर्णत नियत्रित रहते हैं। इस स्थिति मे कोई परिवर्तन नही हुआ है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। इस धीमी गति के कारण हैं— शिक्षा का निम्न स्तर तथा सप्रेषण। फिर भी वर्तमान मे शारीरिक गतिशीलता मे वृद्धि सासारिक संस्कृति मे परिवर्तन व शहरो के विकास के कारण अब किसी समूह के सदस्यो को निर्धारित सामाजिक स्तर आरोपित करना तथा सामाजिक स्तरीकरण को बनाए रखना कठिन हो गया है। वर्तमान मे आए परिवर्तनो के प्रभाव से भारत मे क्या हो रहा है इसे जानना शिक्षाप्रद होगा—

(i) व्यावसायिक एव आर्थिक सरचना मे परिवर्तन अर्थात नई स्थितियो का उदय व पुरानी स्थितियो का लोप।

(ii) छोटे परिवार की धारणा।

(iii) शिक्षा मे वृद्धि के माध्यम से लम्बवत गतिशीलता (Vertical Mobility) के नए मार्गो का खुलना।

(iv) व्यक्तियों की गतिशीलता की आकांक्षाएं।

(v) तकनीकी विकास के कारण परिवर्तन।

(vi) टी वी , प्रेस तथा अन्य मीडिया साधनों का प्रभाव।

(vii) जीवन–स्तर मे साधारण वृद्धि।

(viii) महिला सशक्तीकरण।

(ix) कमजोर वर्ग तथा सुविधा वंचित समूहो को प्रोत्साहन देने के शासकीय प्रयास।

गतिशीलता की दर मे वृद्धि मे जीवन के अवसरो व जीवन शैली के बीच अंतर को कुछ सीमा तक समाप्त कर दिया है। इस संदर्भ मे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मे तनावो व प्रतिकारी घटको दोनों का ही विश्लेषण करना आवश्यक हो गया है।

तनावों को निम्न प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है:—

1 कीमती वस्तुओं के विज्ञापन तथा सम्पन्न व्यक्तियो को दिया गया प्रचार संपत्ति, अवसरों व विशेषाधिकारो की असमानता पर बल देते हैं।

2 परिश्रम द्वारा प्राप्त की गई स्थिति को भी ईमानदारी से किये गए प्रयत्नों तथा योग्यता का निश्चित प्रमाण नहीं माना जाता। ऐसा माना जाता है कि सफलता भाग्य से अथवा अनुचित साधनो द्वारा प्राप्त की गई है।

3 लम्बवत् गतिशीलता हेतु दबाव व प्रोत्साहन तो अस्तित्व मे हैं किन्तु उच्च स्तर के केवल कुछ ही स्थान उपलब्ध होते हैं।

प्रतिकारी घटकों (Compensatory Factors) में निम्न शामिल हैं:—

1 कीमतो की परवाह किए बिना बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं की उपलब्धता संपत्ति व आधिपत्य के बीच अंतर को कम करती हैं। निम्न स्तरों के लोग भी उन वस्तुओं को रखते हैं तथा उनका उपभोग करते हैं जो कुछ अधिक भिन्न नहीं होतीं।

2. जिस सुगमता से कोई व्यक्ति उस परिस्थिति में प्रवेश करता है जहाँ उसकी स्थिति को मान्यता नहीं होती अथवा जहां उसका महत्व ही नहीं होता तब उसकी निम्न स्थिति का प्रभाव ही कम हो जाता हैं।

3. निम्न सामाजिक स्तर के लोग उच्च वर्ग के लोगों के व्यवहार को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण नहीं करते।

सामाजिक गतिशीलता के परिणाम (Consequences of Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता महत्वपूर्ण है क्योंकि लोग इसकी अपेक्षा करते हैं तथा इसे एक ऐसा अवसर मानते हैं जिसके वे हकदार हैं। लम्बवत सामाजिक गतिशीलता

मे क्षैतिजिक सामाजिक आदर्शों की उपलब्धि समाहित है तथा इसके कारण यह समाज मे स्थिरता प्रस्थापित करने मे योगदान देती है। यह लम्बवत सामाजिक गतिशीलता के परिणामो मे से एक है। सामाजिक गतिशीलता मे लागत तथा लाभ दोनो आवश्यक हो सकते हैं। इसके कारण समाज तथा व्यक्तियो मे विच्छेदन (Disruptions) तथा विघटन (Disorganisation) हो सकता है। सामाजिक गतिशीलता के राजनीतिक तथा सगठनात्मक व्यवहार पर भी परिणाम हो सकते हैं। समाजशास्त्रियो के समक्ष आज एक समस्या है सामाजिक परिवर्तन की — एक सबसे बडी प्रक्रिया के रूप मे — सामाजिक गतिशीलता का विश्लेषण।

10

सामाजिक नियंत्रण

(Social Control)

सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा (Concept of Social Control)

प्रत्येक संस्कृति, उपसंस्कृति तथा समूहों के कुछ विशिष्ट मानक या मानदंड (Norms) होते हैं जो व्यवहार को जिसे वे उचित समझते हैं, को नियमित करते है। किसी भी संगठन के नियम, उपनियम सामाजिक मानदंडों को अभिव्यक्त करते है। किसी भी समूह अथवा समाज के अस्तित्व में रहने के लिए लोगों को इन मानदंडों को मानना होता है। यदि अनेकानेक लोग उचित व्यवहार के मानदंडो का उल्लंघन करेंगे तो समाजो का कार्य करना असंभव हो जाएगा। परिवारों में बच्चे अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। समवयस्क समूहों में भी सदस्यों के व्यवहार के अनौपचारिक मानदंड होते है। प्रायः लोग मूलभूत सामाजिक मानकों का आदर करते हैं तथा यह मानते हैं कि अन्य लोग भी ऐसा ही करते होंगे। किसी समाज में लोगों के व्यवहार को नियमित करने हेतु प्रयुक्त तकनीकों व रणनीति को सामाजिक नियंत्रण कहते हैं। सामाजिक नियंत्रण समाज के सभी स्तरों पर होता है। समाज मूलभूत सामाजिक मानकों को स्वीकार कराने हेतु सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग करते हैं। सामाजिक नियंत्रण एक सामूहिक शब्द है। यह उन प्रक्रियाओं — चाहे व नियोजित हों अथवा अनियोजित — के लिए प्रयुक्त होता है जो व्यक्ति को किसी समूह की रीतियों तथा जीवन मूल्यों को सिखाती है तथा उन्हें मानने हेतु बाध्य करती हैं। सामाजिक नियंत्रण तब लागू होता है, जब एक समूह, दूसरे समूह के व्यवहार को

निश्चित करता है जब समूह अपने ही सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है अथवा जब व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक नियंत्रण तीन स्तर पर कार्य करता है— एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर, समूह द्वारा अपने सदस्यों पर तथा व्यक्तियों का अन्य व्यक्तियों पर। दूसरे शब्दों में सामाजिक नियंत्रण तभी होता है जब कोई व्यक्ति दूसरों की इच्छाओं के अनुरूप कार्य करने को और प्रवृत्त होता है अथवा बाध्य होता है चाहे यह उसके हित में हो अथवा न हो। प्लेटो तथा अरस्तु ने सामाजिक नियंत्रण को सामाजिक प्रगति के लिए अनिवार्य बताया है।

गुरविच और मूर का कथन है सामाजिक नियंत्रण का सम्बन्ध उन सभी प्रक्रियाओं और प्रयत्नों से है जिनसे समूह अपने आन्तरिक तनावों और संघर्षों पर नियंत्रण रखते हैं और इस प्रकार रचनात्मक कार्यों की ओर बढ़ता है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार समाज का निर्माण ही सामाजिक सम्बन्धों और नियंत्रण की व्यवस्था द्वारा होता है क्योंकि एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व किसी भी प्रकार सुरक्षित नहीं है। लुंडबर्ग (Lundberg) ने सामाजिक नियंत्रण को ऐसा सामाजिक आचरण कहा है जो व्यक्तियों अथवा समूहों को स्थापित अथवा वांछित व्यवहार करने के लिए प्रभावित करता है।

सामाजिक नियंत्रण का संबंध मूल्य तथा मान्यताओं से होता है जिनके पालन से समाज में सन्तुलन बना रहता है। सामाजिक नियंत्रण एक समूह विशेष के सदस्यों को एक विशेष ढंग से कार्य करने की सीख देता है, आग्रह करता है और कभी कभी इसके लिए बाध्य करता है। सामाजिक नियंत्रण का लक्ष्य सदैव सामूहिक कल्याण होता है।

सामाजिक नियंत्रण और समाजीकरण (Social Control and Socialisation)

सामाजिक संगठन के माध्यम से ही एक सुव्यवस्थित समाज की रचना की जा सकती है तथा उसे पुरानी पीढ़ी से नई पीढ़ी तक सीखने की प्रक्रिया द्वारा ही पहुंचाया जा सकता है। इस सीखने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। उन लोगों को सुधारने के लिए जो समाजीकरण में विफल रहे हैं तथा उन व्यक्तियों को बल प्रदान करने के लिए जिन्होंने समाजीकरण के पाठ ठीक से सीख लिए हैं सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। समाजीकरण द्वारा प्रथाएं, रूढ़ियां, लोकरीतियाँ, व्यवहार आदि सीखे जाते हैं। समाजीकरण समाज के मानदंडों और अपेक्षित व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया है। जब समाजीकरण ढंग से नहीं हो पाता तो व्यक्ति के व्यवहार और अपेक्षित व्यवहार में अन्तर होता है। पारसन्स के शब्दों में सामाजिक नियंत्रण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार व वास्तविक व्यवहार के अन्तर को कम से कम किया जाता है।

फिशर (Fischer) के अनुसार सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही विस्तार है। सामाजिक नियंत्रण और समाजीकरण एक-दूसरे से सबंधित हैं। ये दोनों ही तनावों व संघर्ष से समायोजन के लिए हैं। सामाजिक नियंत्रण का संबंध व्यक्ति समूह तथा समाज से होता है।

ऐसे व्यवहार जो समाज द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत हैं के लिए समाजीकरण तथा सामाजिक नियंत्रण की मूलभूत प्रक्रिया एक ही है जैसे स्तुति एवं निंदा, पुरस्कार एवं दण्ड। किन्तु दोनों स्थितियों के लिए प्रक्रिया, महत्व तथा मात्रा भिन्न हो जाती है। सामाजिक नियंत्रण में मृत्यु दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु समाजीकरण में नहीं। आगबर्न तथा निमकॉफ ने मत व्यक्त करते हुए कहा है कि सामाजिक नियंत्रण, समाजीकरण की असफलता को रोकता है।

सामाजिक नियंत्रण और समाजीकरण में अन्तर
(Difference between Social Control and Socialisation)

सामाजिक नियंत्रण	समाजीकरण
➢ सामाजिक नियंत्रण में द्वैतीयक समूहों (राज्य, कोर्ट) की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है।	समाजीकरण में प्राथमिक समूहों (परिवार, पड़ौस) की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।
➢ सामाजिक नियंत्रण का संबंध व्यक्ति, समूह तथा समाज के वाह्य पक्ष से है।	समाजीकरण का संबंध व्यक्ति के आंतरिक पक्ष से है।
➢ सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया औपचारिक प्रयासों (कानून बनाकर, दण्ड देकर) से भी क्रियान्वित की जाती है।	समाजीकरण की प्रक्रिया अनौपचारिक होती है।

सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता (Need of Social Control)

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्ति की समाज विरोधी प्रवृति को दबाया जाता है। सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता के निम्न आधार हैं —

1. संस्कृति की रक्षा — सामाजिक नियंत्रण के द्वारा प्रथाओं के पालन से संस्कृति की रक्षा होती है। प्रथाओं के अनुकूल व्यवहार करना समाज के हित में होता है। सामाजिक नियंत्रण के साधनों से संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है।

2. सामाजिक सुरक्षा — सामाजिक नियंत्रण व्यक्तियों को वाह्य एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्ति की समाज विरोधी प्रवृति को दबाया जाता है जिससे वह समाज से अनुकूलन करना सीखता है। सुरक्षा के बिना समाज का संगठित रहना अत्यन्त कठिन है।

3 सामाजिक एकता — सामाजिक नियत्रण द्वारा नियम उल्लघन की स्थिति मे सदस्यो को दण्डित भी किया जाता है। समान नियमो से समाज मे एकरूपता बनी रहती है।

4 पारस्परिक सहयोग — समाज के सदस्यो मे परस्पर सहयोग होना अति आवश्यक है। सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक नियत्रण द्वारा ही सभव है। सहयोग के अभाव मे सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होगी और यह सामाजिक विघटन को जन्म देगी।

5 सामाजिक अनुशास्ति (Social Sanction) — समाज मे अनेक लोकाचार, लोकरीतियाँ और प्रथाए होती हैं, जिनका पालन करना पडता है। सामाजिक नियत्रण द्वारा इनका पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है। सामाजिक नियत्रण सामाजिक आदर्श नियमो को अनुशासित प्रदान करता है।

सामाजिक नियंत्रण के उददेश्य (Objectives of Social Control)

सामाजिक नियत्रण का उद्देश्य समाज के सदस्यो को प्रगति की ओर अग्रसर करना है।

किम्बाल यग (Kimball Young) के अनुसार सामाजिक नियत्रण के उद्देश्य हैं–किसी विशिष्ट समूह अथवा समाज मे अनुरूपता (Confirmality), एकात्मकता (Solidarity) तथा निरतरता (Continuity) लाना। सामाजिक नियत्रण के कारको के सामान्य उद्देश्यो को मोटे तौर पर निम्नानुसार नामाकित किया जा सकता है:—

(i) अनुपूरक (Exploitative) किसी रूप मे स्वहित मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेरित। (ii) नियामक (Regulative) परपरा हेतु आदतो तथा इच्छाओ पर आधारित एव (iii) रचनात्मक (Constructive) सामाजिक परिवर्तन की ओर निर्देशित, लाभदायक माना जाता है।

टालकट पार्सन्स के अनुसार सामाजिक नियत्रण का उद्देश्य व्यक्ति और समूह के समाज विरोधी व्यवहारो पर रोक लगाना है जिससे समाज के सगठन और अखण्डता को बचाया जा सके।

सामाजिक नियत्रण के कार्य (Functions of Social Control)

सामाजिक नियत्रण का सबध कुछ मूल्यो व मान्यताओ से है जिनके पालन से ही समाज मे सन्तुलन बना रहता है। सामाजिक नियत्रण द्वारा समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था का नियमन (Regulation) किया जाता है। एच सी ब्रियरली (H C Brearly) के विचार से सामाजिक नियत्रण द्वारा व्यक्तियो को सिखा कर, उनसे आग्रह कर अथवा उन्हे बाध्य किया जाता है कि वे अपने समूह की रीतियो व सामाजिक मूल्यो के अनुसार कार्य करे। सामाजिक नियत्रण के मुख्य कार्य हैं —

- ➢ व्यक्ति, समूह और समाज पर नियंत्रण रखकर सामाजिक व्यवस्था में एकता बनाए रखना।
- ➢ समाज में संघर्ष और तनाव को घटाना।
- ➢ सामाजिक मानदंडों का पालन करने की प्रेरणा देना।
- ➢ व्यक्तियों को सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करने की दशा में दण्ड देकर नियंत्रित करना।
- ➢ समूह के सदस्यों में सहयोग की भावना उत्पन्न करना।
- ➢ सांस्कृतिक कुसमायोजन को रोकना।

इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण का कार्य व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के अलावा एक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें सामाजिक व्यवहार की एकरूपता बनी रहे। टाल्कट पारसन्स ने कहा है कि 'सामाजिक नियंत्रण विपथगामी प्रवृत्तियों (Deviant Behaviour) की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देता है।'

सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप (Forms of Social Control)

सामाजिक नियंत्रण का कार्य जटिल है। समाज में सभी व्यक्तियों में जैवकीय और मनोवैज्ञानिक रूप में भिन्नता होती है। उनके व्यवहार एवं स्वभाव में भी अन्तर होता है। विभिन्न समूहों की परम्पराएं और कार्यप्रणालियां समान नहीं होतीं। अतः प्रत्येक समाज में नियंत्रण के स्वरूप भी अलग-अलग होते हैं। समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है —

(i) चेतन और अचेतन नियंत्रण (Sensational and Unsensational Control): कूले (*C H Cooley*) ने सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है चेतन और अचेतन। जब कोई विचार, आदर्श, व्यवस्था व्यक्ति आत्मसात कर लेता है, तब वह उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए कुछ प्रथाओं, रीति रिवाजों और परम्पराओं आदि के पालन के लिए सोचने-समझने की आवश्यकता नहीं होती। सड़क पर बाएं चलने के प्रति व्यक्ति सदैव जागरूक रहता है। इस प्रकार जो नियंत्रण होता है वह चेतन सामाजिक नियंत्रण है। इसके विपरीत जब व्यक्ति को नयी परिस्थिति या भूमिका अथवा सामान्य अनुभवों से परे होने के कारण उचित या अनुचित का निर्णय लेना होता है तो यह चेतन सामाजिक नियंत्रण होता है। परिस्थितियों के कारण उत्पन्न भूमिका संकट के कारण भी अचेतन नियंत्रण होता है। वर्तमान में अचेतन नियंत्रण की तुलना में चेतन नियंत्रण का अधिक प्रभावी होने के कारण महत्त्व बढ़ रहा है।

नियम इस स्वरूप के उदाहरण हैं। असंगठित नियंत्रण के अंतर्गत समाज के सांस्कृतिक नियम और प्रतीक आते हैं, जैसे संस्कार, परम्पराएं, जन्मजात रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ, सामाजिक मानदंड आदि। दैनिक जीवन में इसका प्रभाव अधिक होता है। सहज सामाजिक नियंत्रण का आधार व्यक्तियों के विचार आदर्श अनुभव और उनकी आवश्यकताएं हैं। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नियंत्रित व्यवहार करता है। इस प्रकार का नियंत्रण अधिक प्रभावपूर्ण होता है। धार्मिक नियम इसका उदाहरण है।

(v) सत्तावादी और लोकतांत्रिक नियंत्रण (Autocratic and Democratic Control): लेपियर (Lapiere) ने 'थ्योरी ऑफ सोशल कन्ट्रोल' में सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों का वर्णन किया है— सत्तावादी और लोकतांत्रिक। सत्तावादी नियंत्रण तानाशाह, निरकुश शासकों द्वारा सामान्य जन की इच्छाओं के विरुद्ध लगाया जाता है। लोकतांत्रिक नियंत्रण में जनता का बहुमत और विश्वास होता है। प्रजातांत्रिक देशों में नियंत्रण का यही स्वरूप सामाजिक चेतना, वार्तालाप, आदि द्वारा अपनाया जाता है।

(vi) औपचारिक व अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal and Informal Social Control): औपचारिक सामाजिक नियंत्रण आधिकारिक कारकों जैसे न्यायाधीशों, प्रशासकों, प्रबंधकों तथा पुलिस के अधिकारियों द्वारा लागू किया जाता है। आधुनिक समाजों में औपचारिक प्रतिबंधों के मुख्य प्रकार न्यायालय तथा बंदीगृहों द्वारा प्रतिनिधिक होते हैं। कानून एक औपचारिक प्रतिबंध होता है जिसकी व्याख्या शासन द्वारा नियमों व सिद्धान्तों के रूप में की जाती है, जिनका पालन नागरिकों को करना आवश्यक होता है तथा जो लोग इसके अनुरूप नहीं व्यवहार करते उनके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है। औपचारिक सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग आखिरी उपाय के रूप में तब किया जाता है, जब समाजीकरण तथा अनौपचारिक प्रतिबंध वांछित व्यवहार लाने में असफल होते हैं। औपचारिक सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग हमेशा बदलना शासकीय अधिकारियों द्वारा कानून के उल्लंघन की प्रतिक्रिया के रूप में ही नहीं किया जाता। समाज के अन्दर ही कुछ उप संस्कृतियाँ विद्यमान होती हैं जो उनके विशिष्ट सामाजिक मानदंडों का कड़ाई से पालन कराने हेतु औपचारिक सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग करती हैं। औपचारिक नियंत्रण के साधन हैं— संविधान, राज्य, सरकार, कानून एवं अधिनियम तथा सत्ता की व्यवस्था आदि। औपचारिक नियंत्रण में वे सभी साधन सम्मिलित होते हैं जिनका व्यक्ति सचेतन रूप से प्रयोग करता है।

अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण, जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट होता है, लोगों द्वारा आकस्मिक (Casually) रूप से प्रयुक्त होता है। मानदंडों का पालन अनौपचारिक प्रतिबंधों द्वारा कराया जाता है। अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन हैं—जनमत, लोकरीतियाँ, प्रथाएँ, सामाजिक मानदंड, नैतिकता, धर्म आदि। अनौपचारिक सामाजिक

नियत्रणा का प्रयोग प्राथमिक समूहो जैसे परिवारो में किया जाता है। चूकि अनौपचारिक सामाजिक नियत्रण की तकनीके औपचारिक नहीं होतीं अत इनके उपयोग म एक ही समाज के अन्दर अत्यधिक विभिन्नता हो सकती है। अनोपचारिक नियन्त्रण का सम्बन्ध राज्य मे न होकर समाज और उस समूह से है जिसम व्यक्ति रहता है। इस प्रकार के नियत्रण के पालन करने पर व्यक्ति की प्रशसा तथा उल्लघन करने पर उसे हास्य या व्यग्य का सामना करना पड सकता है।

उपर्युक्त स्वरूपो के अतिरिक्त गिडिग्स ने 'पुरस्कार और दण्ड', फिचर ने 'समूह नियत्रण और सस्थात्मक नियत्रण' एफ ई लुम्ले (F E Lumley) ने 'बल तथा प्रतीको पर आधारित नियत्रण', ई सी हेज (E C Hayes) ने 'अनुशास्तियो (Sanctions) तथा सुझाव एव अनुकरण द्वारा नियत्रण मे विभेद किया है।

सामाजिक नियत्रण के घटको के रूप मे सस्थाए (Institutions as Elements of Social Control)

सामाजिक नियत्रण की सबमे स्पष्ट व एक समान अभिव्यक्ति सामाजिक सस्थाओ मे पाई जाती है जो समाज को स्थायित्व तथा अनुकूलन व परिवर्तन के क्रमबद्ध व सतत साधन उपलब्ध कराने हेतु अस्तित्व म रहती है। अभी हाल ही क कुछ वर्षों मे राजनीतिक सस्थाए सामाजिक नियत्रण की महत्वपूर्ण साधन बन गई हैं। पूर्व मे राजनीतिक सस्थाए सामाजिक नियत्रण को बनाए रखने की मुख्य आधार नहीं थीं। उनके स्थान पर परिवार, धर्म व रूढिया इस सबध मे अधिक सशक्त भूमिकाए निभाती थीं। परिवार सामाजिक नियत्रण का अत्याधिक प्रभावशाली साधन है। फिर भी बदलते परिदृश्य मे निम्न सामाजिक सस्थाए सामाजिक मानदडो के अनुसार व्यवहार बनाए रखने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

1 राज्य (State):— राज्य की धारणा के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का सबध समाज तथा अन्य सामाजिक सस्थाओ की धारणा मे है। राज्य समाज का एक कारक है जो सामाजिक गतिविधियो के राजनीतिक पहलू से सबधित सामाजिक कल्याण को बढावा देता है। सिद्धान्तवादियो ने राज्य को सभी राजनीतिक गतिविधियों की समग्रता कहा है, जो किसी समाज मे व्यक्तियो द्वारा की जाती है। ये गतिविधिया इस सघर्ष से सबधित होती हैं जो राजनीतिक सस्थाओ पर नियत्रण हेतु किया जाता है तथा उसका प्रभाव साधारण रूप मे समाज पर पडता है।

2. कानून (Law):— कानून एक प्रकार के सामाजिक नियम हैं जो राजनीतिक अभिकरणो द्वारा बनाए जाते हैं। कानूनो सहित सभी सामाजिक नियमो का प्रारभ सर्वप्रथम दीर्घकाल मे चली आ रही प्रथाओ अथवा लोकाचारो से हुआ तथा य समाज मे विद्यमान न्याय तथा अधिकारो की धारणाओ पर आधारित थ। कानून सरकार द्वारा समाज के लिए बनाए गए नियमो का सग्रह होते हैं जिनकी न्यायालयों द्वारा व्याख्या

की जाती है तथा जिन्हें राज्य की मान्यता होती है। कानून की व्याख्या उस वस्तु के रूप में की गई है जो सत्ता को संगठित तथा सम्प्रेषित करती है तथा उसे संस्कृति के अभिरक्षण व विकास हेतु प्रभावी बनाती हैं। कानून मूल्यों का प्रामाणिक धर्म सूत्र है जो राजनीतिक दृष्टि से संगठित समाज द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। कानून को पुस्तकों में समावेश करने का कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि उन्हें लागू न किया जाए। कानून को लागू करने के लिए न्यायालयीन कार्यवाही की आवश्यकता हो सकती है। इस कार्य की अभिव्यक्ति के रूप में कानून से अपेक्षा की जाती है कि वह लोगों व समूहों के व्यवहार को नियंत्रित करे तथा संपत्ति व व्यक्तिगत अधिकारों को प्रदान कर उन्हें बनाए रखे जिससे उनका मूलभूत उद्देश्य प्राप्त किया जा सके। कानून को लोगों का अनुमोदन प्राप्त होना आवश्यक होता है।

समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रिया के रूप में कानूनों के सृजन में अधिकाधिक रुचि लेने लगे हैं। सामाजिक नियंत्रण की अवबोधित आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कानून बनाए जाते हैं। समाजशास्त्री यह समझाते हैं कि ऐसे अवबोधन कैसे व क्यों व्यक्त होते हैं। उनके अनुसार कानून कोई पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे नियमों के स्थाई संग्रह नहीं हैं। ये, क्या सही है तथा क्या गलत है, इसके बदलते मानदंडों को, इनके उल्लंघन को कैसे निश्चित किया जाए तथा किस प्रकार के प्रतिबंध लागू किए जाएं, इसे परिलक्षित करते हैं। कानून दो प्रकार से सामाजिक नियंत्रण करता है— प्रथम अनुशासित नियमों द्वारा एवं द्वितीय निषेधात्मक नियमों द्वारा। कानून आधुनिक समाज में नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। कानून सभी पर समान रूप से लागू होता है।

3. शिक्षा (Education):— शिक्षा एक व्यापक शब्द है। यह एक ऐसी प्रक्रिया को बताता है जो मानव इतिहास जितनी पुरानी तथा अनुभव जितनी विस्तृत है। एक व्यक्ति के लिए शिक्षा की प्रक्रिया मां की कोख से प्रारंभ होती है तथा मृत्युपर्यन्त चलती है। ब्राउन के अनुसार "यह उन अनुभवों का सार है जो अभिवृत्तियों को ढालते हैं तथा बच्चे तथा वयस्क दोनों के व्यवहार को निश्चित करते हैं।" शिक्षा के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण की संभावनाओं ने कुछ शिक्षाशास्त्रियों को समाज की एक तर्कसंगत धारणा बनाने हेतु प्रेरित किया। उन्हें शिक्षा के माध्यम से व्यक्तियों को इस समाज की ओर प्रभावित करने की संभावनाएं नजर आईं। यदि किसी दी हुई सामाजिक स्थिति से निपटना है तो उसे अपने में एक ऐसा सामाजिक दर्शन आत्मसात करना होगा जो उस स्थिति हेतु उपयुक्त हो। बिना किसी प्रकार के सामाजिक नियंत्रण के शिक्षा जिसे केवल विधियाँ ही माना जाए तो वह हमें किसी भी दिशा में नहीं ले जा सकती और न ही उसका कोई अर्थ होगा। सामाजिक नियंत्रण के कारक के रूप में शिक्षा एक एकीकृत सैद्धान्तिक मोर्चा प्रस्तुत करती है। शालाएं सामाजिक नियंत्रण का वह कार्य सम्पन्न करती हैं जो अन्य कोई भी सामाजिक संस्था

नहीं कर सकती। शालाओं द्वारा किए गए ये कार्य अधिक विस्तीर्ण तथा प्रभावी होते हैं। फिर भी सामाजिक नियत्रण के अनेक शैक्षिक कारक सार्वजनिक शालाओ व कालेजो के बाहर कार्य करते हैं। यह लगभग सभी सोच से परे है कि शैक्षिक सस्थाओं को आज के किसी भी समुदाय मे सामाजिक नियत्रण के मामले मे किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त रखा जाए। वर्तमान मे शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावी साधन के रूप मे कार्य करने मे विफल रही है।

4 धर्म (Religion) :— धर्म के नियमो का पालन व्यक्ति पाप--पुण्य अथवा ईश्वरीय शक्ति के भय के कारण करता है। अनेक धार्मिक एव पौराणिक कथाओ के आधार पर व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि धर्म के अनुसार कार्य करना पुण्य है तथा धर्म के आदेशो व निषेधो का पालन न करना पाप है। सामाजिक नियत्रण मे धर्म और धार्मिक आचरण का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

धर्म का सर्वतोमुखी कार्य हे मनुष्य के उसके भौतिक परिवेश की शक्तियो से तथा सामाजिक परिवेश से सबधो की व्याख्या करना तथा उन्हें नियत्रित करना। शक्तियो के माध्यम से व्यक्तियो व सामाजिक व्यवहार पर नियत्रण रखना आदतो, अभिवृत्तियो व जानकारियो पर निर्भर करता है, जो व्यक्तियो के मस्तिष्क को समान व्यवहार, जो कि सामाजिक नियत्रण का उद्देश्य होता है, के लिए प्रशिक्षित करती हैं।

जब व्यावहारिक रूप से औपचारिक शिक्षा धार्मिक सस्थाओ के नियत्रण मे थीं तब सामाजिक नियत्रण की धार्मिक तथा अन्य गतिविधियो पर धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव था। वैज्ञानिक युग के प्रारभ से पूर्व धर्म उन व्याख्याओ व विधियो का सहारा लेता था जिन्हें आज हम अधविश्वास मानते हैं। विज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान की प्रगति के कारण उन धार्मिक सस्थाओ को जो लबे समय से सामाजिक नियत्रण रखी हुई थीं, तथ्यात्मक ज्ञान को स्वीकार करना पडा तथा अपनी शिक्षाओ को उनके अनुसार ढालना पडा। समय परिवर्तन के साथ ही अब धार्मिक संस्थाओ का राजनैतिक तथा आर्थिक गतिविधियो पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं रहा है।

भौतिक एव सामाजिक वातावरण को शक्तियो पर नियत्रण के लिए वैज्ञानिक ज्ञान तथा तकनीको के विकास के साथ ही अब ऐसा लगने लगा है कि धार्मिक सस्थाए व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहार के नियत्रण पर से अपना प्रभाव छोडती जा रही हैं।

धर्म का एक महत्वपूर्ण कार्य है सामाजिक नियत्रण रखना जो लोगों को समाज के मानदडो को मानने मे मदद करता है। सामाजिक नियत्रण न केवल व्यक्ति को बाहरी नियत्रण मे रखता है, बल्कि वह उसकी स्वय की चेतना में आतरीकृत (Internalised) होता है तथा वह वहा उसकी 'अतरात्मा' के रूप मे कार्य करता

है। बाहरी सामाजिक नियत्रण तब तक प्रभावी नहीं हो सकता, जब तक उसके मानदडों का अत्यधिक आतरीकरण नहीं हो जाता। व्यक्ति की अतरात्मा को इस प्रकार रूपातरित करना जिससे लोगो को ऐसे कार्य करने से रोका जा सके जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, यह धर्म का ऐसा कार्य है जो सबसे अधिक स्पष्ट है जिसे साधारणत: धर्म के वाछित एव उद्घोषित सामाजिक प्रभाव कहा जाता है। दुर्खीम मैक्समूलर व टायलर ने सामाजिक नियत्रण के लिए धर्म के महत्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है।

सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन (Informal Means of Social Control)

सामाजिक नियत्रण के अनौपचारिक साधन समाज मे स्वय विकसित होते हैं। प्रथाए लोकाचार एव जनरीतियाँ, जनमत प्रमुख अनौपचारिक साधन हैं। ये सभी साधन मिलकर समाज में व्यवस्था बनाये रखते हैं। सामाजिक नियत्रण के अनौपचारिक साधन विशेषकर प्राथमिक समूहो मे अधिक शक्तिशाली होते हैं। इनके योगदान का उल्लेख निम्नानुसार है–

1. प्रथाएं (Customs):— प्रथाएं सामाजिक नियत्रण का महत्वपूर्ण साधन हैं। बचपन से ही अनेक प्रथाओ का पालन करने से एक आदत बन जाती है और बिना सोचे समझे ही इन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। प्रथा वह आदत है जो सामाजिक भी है और आदर्शात्मक भी। प्रथाओ का सबंध व्यक्तियो के मूल्यों से होता है, इसलिए वे जीवन का आवश्यक अग मान ली जाती हैं। प्रथाए अलिखित व अनौपचारिक होती हैं। प्रथाओं को कानून द्वारा बदलना बहुत कठिन है। बेकन ने प्रथाओं को मनुष्य के जीवन का दण्डाधिकारी माना है। प्रथा का पालन अनेक पीढियों मे होने के कारण यह एक अन्यायी राजा की तरह समाज पर नियत्रण रखती है। प्रथाओं की अवहेलना को एक सामाजिक अपराध माना जाता है।

2. लोकाचार (Mores):—लोकाचार, रुढ़िया भी कहलाती हैं। लोकाचार सामान्य रूप से दो प्रकार के होते हैं – आदेशात्मक और निषेधात्मक। आदेशात्मक लोकाचार वे होते हैं जो कुछ कार्यों को करने का आदेश देते हैं जैसे अपने से बडो का आदर करना चाहिए, सदा सत्य बोलना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए आदि। निषेधात्मक लोकाचार कुछ व्यवहारो पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जैसे चोरी करना पाप है। लोकाचार नैतिक आधार पर उचित माने जाते हैं और इनके उल्लंघन को अनैतिक माना जाता है। सामान्यत: कोई भी इनकी अवहेलना करने का साहस नहीं करता। किंग्सले डेविस ने सामाजिक नियंत्रण में लोकाचार के प्रभाव के संबंध में लिखा है सामान्य व्यक्तियों के मन में लोकाचार से बड़ी कोई अदालत नहीं है। लोकाचार व्यवहार को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण साधन है। लोकाचार किसी समूह अथवा समुदाय के जीवंत चरित्र का प्रतिनिधत्व करते हैं जो अपने सदस्यों पर सचेत अथवा

अचेत अवस्था में नियंत्रण रखते है। लोकाचारो को उस समूह द्वारा जो उन्हे मानते हैं सदैव सही माना जाता है। मैकाइवर ने सामाजिक जीवन मे लोकाचारा के निम्न कार्यों का उल्लेख किया है-

1 लोकाचार हमारे अधिकतर व्यक्तिगत व्यवहार को निश्चित करते हैं।

2 लोकाचार व्यक्ति को समूह मे पहचान दिलाते हैं।

3 लोकाचार एकात्मकता के रक्षक होते हैं।

3. जनरीतियाँ (Folkways):— लाकरीतियाँ या जनरीतियाँ समाज में व्यवहार करने की मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं। समाज द्वारा मान्य होने के कारण ये प्रत्यक्ष और प्राथमिक रूप से व्यक्ति के व्यवहारा को नियंत्रित करती हैं। जनरीतिया से ही लोकाचार का जन्म होता है। समनर के अनुसार जब जनरीतियाँ अपने साथ उचित रहन सहन का दर्शन आर जनकल्याण की भावना से जुड जाती है तो लोकाचार बन जाते हैं। व्यक्ति द्वारा इनका पालन सामाजिकता आर नम्रता का परिचायक होता ह। इनकी अवहेलना करने पर आलोचना और निन्दा के रूप में दण्ड मिलता है। जनरीतियाँ प्राकृतिक शक्तियो के समान होती हैं जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता है। जनरीतियो को समनर ने सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन माना है।

4. जनमत (Public Opinion):—जनमत जटिल समाजो की अपेक्षा ग्रामीण समाज मे व्यक्ति के व्यवहारो को विशेष प्रभावित करता है। व्यक्ति चाहकर भी जनमत की शक्ति की अवहेलना नहीं कर सकता। जिन्सबर्ग के अनुसार जनमत का अर्थ समुदाय मे प्रचलित उन विचारो और निर्णयो स है, जिनका निर्माण कुछ निश्चित ढग से किया जाता है, जिनमे कुछ स्थायित्व होता है तथा यह सामूहिक निर्णयो का परिणाम हैं। जनरीतियाँ, लोकाचार प्रथाए ही जनमत की कसाटी ह। जनमत निर्माण में समाचार पत्र, टी वी प्रचार आदि की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। जिन्सबर्ग के अनुसार जनमत का महत्व किसी नयी बात को पदा करने मे नहीं अपितु उसके नियंत्रण मे है। सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के रूप मे जनमत व्यवहारो पर नियंत्रण रखने मे महत्वपूर्ण है।

सामाजिक नियंत्रण के लिए विचारधाराये (Ideologies)—विश्वास (Believe), सामाजिक सुझाव (Social Suggestion), कला और साहित्य (Art and Literature) हास्य और उपहास (Humour and Satire), फैशन (Fashion), नेतृत्व (Leadership), जनसचार (Mass Communication), प्रचार (Propaganda), आदि का भी महत्व है।

एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने, सामाजिक मूल्यो और प्रतिमानो के अनुसार व्यक्ति को व्यवहार करने के लिए सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न विधियो, अभिकरणो, साधनो का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक जटिल समाजो मे सामाजिक

नियंत्रण के परम्परागत साधनों की अपर्याप्त और पारस्परिक संघर्ष ने उन्हें शिथिल कर दिया है। आधुनिक समय में सामाजिक नियंत्रण की जटिल प्रक्रिया में अनेक कारक एक साथ कार्य करते हैं और इनके द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों को सन्तुलित रखा जाता है। स्पेंसर के अनुसार धर्म और नैतिकता, प्रथा, संस्कार सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख साधन हैं। सामाजिक नियंत्रण की अत्यधिक प्रभावशाली पद्धति है सामाजिक संहिता (Social Codes)।

भविष्य में सामाजिक नियंत्रण (Social Control in Future)

जैसे-जैसे लोग अपने पर्यावरण का सामना करने में स्वयं को अक्षम पाएंगे वैसे-वैसे कुछ समूह तथा व्यक्ति सामाजिक नियंत्रण की अधिक परिष्कृत विधियां अपनाएंगे। किन्तु ये नियंत्रण क्या रूप लेंगे व हमें कहाँ ले जाएंगे? क्या हम कल्पनातीत (Utopia) समाज की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें किसी प्रकार का आदर्श तंत्र प्रस्थापित है अथवा हम ऐसे तंत्र डिस्टोपिया (Dystopia) की ओर बढ़ रहे हैं जो इसके विपरीत होगा? कई विचारक मानते हैं कि भविष्य में आदर्श समाज होगा जबकि अन्य सुझाते हैं कि भविष्य में इसके विपरीत समाज आएगा। यदि समाज आज जिस दिशा में बढ़ रहा है, उसी दिशा में बढ़ता रहा तो हम ऐसा तंत्र विकसित करेंगे जो बुराई से ओत-प्रोत तथा प्रतिष्ठाहीन होगा। यद्यपि अभी से निश्चित रूप से यह कहना असंभव होगा कि आज से सौ साल बाद सामाजिक तंत्र कैसा होगा, फिर भी वर्तमान प्रवाह तथा तकनीकी विकास यह प्रकट करते हैं कि हम और अधिक सामाजिक नियंत्रण की ओर बढ़ रहे हैं।

सामाजिक नियंत्रण की प्रभाविता (Effectiveness of Social Control)

किसी विशेष स्थिति में सामाजिक नियंत्रण की विशिष्ट विधियां कितनी प्रभावी हैं? यदि नियंत्रण का उद्देश्य उल्लंघनकर्ता को दण्ड देना है, तब कोई भी विधि प्रभावी हो सकती है यदि उल्लंघनकर्ता उसे दण्ड मानता है। यदि नियंत्रण का उद्देश्य व्यक्ति को उल्लंघन से रोकना होता है जिससे वह आगे उल्लंघन न करे व समूह को हानि न पहुंचाए, तब स्पष्टतः वह विधि कारगर होगी जो उसे अन्य लोगों से पृथक कर दे।

बुरे कृत्यों के लिए दण्ड देने के मामले में समाज मुख्यतः व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों की राय के प्रति संवेदनशीलता पर निर्भर करता है। लगभग सभी दण्ड चाहे वे प्रतीकात्मक हों जैसे उपहास या खिल्ली उड़ाना हो अथवा अप्रतीकात्मक हों जैसे आर्थिक दण्ड, दोनों में समूह के अन्य सदस्यों की निगाहों में प्रतिष्ठा की क्षति होती है जो व्यक्ति को शर्मिंदा करती है। अन्य दण्ड जैसे देश निकाला, बहिष्कार, निर्वासन तथा कारावास में भी समूह के अन्य सदस्यों से संपर्क तथा संप्रेषण में कमी निहित रहती है।

नियंत्रित किए जाने वाले व्यक्ति का स्वभाव सामाजिक नियंत्रण की प्रभाविता का एक घटक होता है किन्तु उस समूह का स्वभाव भी जो नियंत्रण हेतु दबाव डालता है भी उसका घटक होता है। समूह जितना अधिक स्वतंत्र होगा, उसके सामाजिक नियंत्रण का प्रभाव उतना ही अधिक होगा और उतना ही कम उस समूह में मानदंडों का उल्लंघन होगा।

इस प्रकार किसी दिए गए उदाहरण में सामाजिक नियंत्रण की प्रभाविता नियंत्रित किया जाने वाला व्यक्ति समूह को कितना महत्व देता है, इस पर तथा समूह की स्वायत्तता पर निर्भर करती है। साधारणत सामाजिक नियंत्रण ऐसा रहता है कि उसकी प्रभाविकता (Effectiveness) नियंत्रित किए जाने वाले व्यक्तियों की इस अनभिज्ञता से उन्हें नियंत्रित किया जा रहा है, के सीधे अनुपात में होती है।

सामाजिक नियंत्रण के सामाजिक परिणाम (Social Consequences of Social Control)

व्यक्तियों को बदलने का एक प्रभावशाली माध्यम है समूह। व्यक्तिगत व्यवहार में परिवर्तन लाने हेतु समूह एक प्रभावशाली माध्यम है। व्यक्ति समूह के दबाव के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील होते हैं। समूह अपने सदस्यों के लिए कार्य के स्तर निर्धारित करता है। व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन की मात्रा समूह के मानदंडों द्वारा ही प्रभावित नहीं होती बल्कि व्यक्ति स्वयं को समूह के साथ कितनी मात्रा में तादात्म्य स्थापित करता है तथा समूह द्वारा उस पर कितना दबाव डाला जा रहा है इससे प्रभावित होती है। समूह के दबाव के कारण व्यक्ति कभी भी समूह के स्तर से अधिक ऊपर नहीं उठ पाता न ही उसका समूह के स्तर से बहुत अधिक पतन हो पाता है। साधारणत: समूह का एक परंपरावादी प्रभाव होता है जो यथास्थिति बनाए रखता है। किन्तु यदि परिवर्तन की आवश्यकता हो तो सदस्यों के साथ व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने से नहीं बल्कि समूह के माध्यम से कार्य कर समूह के दबाव से परिवर्तन को बढ़ावा दिया जा सकता है।

सामाजिक नियंत्रण का सामाजिक सामंजस्य के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। सामाजिक नियंत्रण का सरोकार व्यक्ति में अथवा उसकी स्थिति में अथवा दोनों में बदलाव लाकर सामंजस्य को सुधारना होता है।

◇◇◇

11

सामाजिक परिवर्तन और विकास

(Social Change and Development)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा (Concept of Social Change)

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, सामाजिक मूल्यों, सरचनाओं या उप-व्यवस्थाओं मे परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन समग्र अथवा आंशिक हो सकता है, यद्यपि अधिकतर यह आंशिक ही होता है। जिस प्रकार परीक्षा प्रणाली मे परिवर्तन शिक्षा प्रणाली मे आंशिक परिवर्तन माना जाता है, उसी प्रकार मन्दिरों में अस्पृश्यों के प्रवेश को वर्जित करने वालों को दण्ड के विधान का क्रियान्वयन, विवाह विच्छेद की वैधानिक अनुमति, अल्पायु विवाह पर रोक सम्बन्धी विधान, आदि को समाज मे आंशिक सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण, आदि समाज की आर्थिक प्रणाली में आंशिक परिवर्तन के उदाहरण हैं, क्योंकि यह परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति के स्वामित्व की व्यवस्था के साथ-साथ विद्यमान रहता है। कठिनाई तो समाज के समग्र परिवर्तन या सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन को पहचानने मे आती है। यदि हम कहें कि समाज के न केवल कुछ पक्षों मे बल्कि प्रत्येक पक्ष मे परिवर्तन हो गया है तो इसे समग्र परिवर्तन कहा जायेगा, लेकिन ऐसा कभी होता नहीं है। इसी प्रकार परिवार व्यवस्था, बैंकिंग व्यवस्था, जाति व्यवस्था या फैक्ट्री व्यवस्था के कुछ पक्षों में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन इनमे से किसी भी व्यवस्था में समग्र परिवर्तन

कभी नही होता। कोई भी सामाजिक व्यवस्था समग्र रूप मे कभी परिवर्तित नहीं होती। सामाजिक परिवर्तन सदव अथवा अधिकाशत आशिक ही होता है।

पर्सी कोहने (1979 176) ने कहा है कि समाज में लघु अथवा वृहद या मौलिक (Fundamental) परिवर्तनों म अन्तर किया जा सकता है। समाज या *सामाजिक व्यवस्था के मूल अथवा महत्वपूर्ण लक्षणो में परिवर्तन को 'वृहद' परिवर्तन* कहा जाता है। यदि जेल को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप मे ले तो इसकी महत्वपूर्ण व्यवस्थाए ह वन्दियो को प्रशिक्षण देना बन्दियो के लिए भोजन, मनोरजन एव स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करना जेल नियमो का तोडने वाले अपराधियो को दण्ड देना *अपराधियो का मित्रो व परिवारजनो से सम्पर्क कराना, तथा जेल से भागने को* राकने के लिए प्रवन्ध करना, आदि। अब मान लिया जाये कि समस्त सुरक्षा वल हटा लिए जाते ह ओर कैदियो को दिन के समय बाहर जाने की स्वतत्रता दे दी जाए लेकिन रात को जेल में रहना आवश्यक हा तो जेल व्यस्वथा मे यह परिवर्तन *जेल के अन्य पक्षा को भी प्रभावित करेगा। ऐसा होने पर इसको जेल व्यवस्था मे* मूलभूत ओर वृहद परिवर्तन कहा जायेगा। इसी प्रकार अन्तर्जातीय सम्बन्धी प्रनिबन्धो को हटा लिया जाये तो इसे जाति व्यवस्था मे प्रमुख' परिवर्तन कहा जायेगा। सामाजिक व्यवस्था में मूल लक्षणो को पृथक करना कठिन नहीं होता है। उदाहरणार्थ, *लोकतात्रिक राजनीतिक व्यवस्था म चुनाव व्यवस्था एक महत्वपूर्ण लक्षण है। यदि* चुनाव परिणाम चुनाव व्यवस्था को परिवर्तित नही करते किन्तु चुनाव व्यवस्था में परिवर्तन चुनाव परिणामो को प्रभावित करते हा तो यह कहा जायेगा कि चुनाव व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था का 'मूल' लक्षण है।

भारत मे सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य (Goals of Social Change in India)

भारत की राजनैतिक स्वतत्रता के समय अनेक बुद्धिजीवियो ने अनुभव किया कि भारत आधुनिकीकरण के क्षेत्र मे असफल रह गया है, क्योंकि यह पूँजीवादी साम्राज्यवाद का शिकार रहा है जहा विकास की सम्भावनाए कम होती है। सामाजिक सास्कृतिक परिवर्तन, जिमको भविष्य के लिए हमने अपना उद्देश्य बनाया है, सरचनात्मक परिवर्तन के उद्देश्य से किया है। इससे जन आकाक्षाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहयोग मिलेगा। गणतत्र की स्थापना के प्रारभिक दस वर्षों मे जिन सामूहिक उद्देश्यो की योजना हमने बनाई थी वे थे : सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व साम्कृतिक।

❖ सामाजिक उद्देश्य थे *समानता, न्याय, स्वतत्रता, युक्तिकरण और* व्यक्तिवाद। आर्थिक उद्देश्यो मे वितरण सम्बन्धी न्याय तथा आर्थिक धर्म दर्शन (Theology) के स्थान पर आर्थिक युक्तिकरण (Rationalism) सम्मिलित थे। राजनीतिक उद्देश्य थे. ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना जहा शासक

वर्ग जनता के प्रति उत्तरदायी हो राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, तथा अधिकाधिक लोगों को निर्णय की प्रक्रिया में सम्मिलित किया जा सके। हमारा सांस्कृतिक उद्देश्य था 'पवित्रता' के स्थान पर 'धर्म निरपेक्षता' की नीति। हमारे सत्ताधारी अभिजनों (Power Elite) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्देश्य बनाए—

✧ शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना – यह इसलिए आवश्यक था क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में राजनैतिक सत्ता का विखण्डन हो चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात यह भय था कि धार्मिक, भाषायी जातीय जनजातीय, वर्गवादी शक्तियां सत्ता का और भी विखण्डन कर सकती हैं। केन्द्र में शक्तिशाली तथा राज्यों को आदेश देने वाली सरकार ही ऐसे प्रयत्नों को रोक सकेगी।

✧ अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाना— यह प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने, देश को आत्मनिर्भर बनाने तथा स्वदेशी पूंजी क्षेत्र बनाने के लिए आवश्यक था।

✧ समाजवादी समाज की रचना— यह निजी पूंजीपतियों की भूमिका को प्रतिबन्धित करने के लिए आवश्यक था, न कि उनको समाप्त करने तथा प्रमुख उद्योगों के जन स्वामित्व पर बल देना था। फिर भी पिछले एक दशक से आर्थिक उदारीकरण हमारा ध्येय रहा है।

✧ जातियों, क्षेत्रों तथा वर्गों में असमानताएँ कम करना।

✧ मूलभूत मानव अधिकारों का संरक्षण करना, जैसे, स्वतंत्र भाषण का अधिकार, स्वतंत्र धार्मिक अभिव्यक्ति का अधिकार, राजनैतिक भागीदारी का अधिकार, आदि।

सामाजिक परिवर्तनों के कारण (Reasons for Social Change)

समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन क्यों होते हैं, उनके कारणों को खोजने का प्रयास करते हैं। सामाजिक परिवर्तनों के अनेक कारण प्रस्तुत किए गए हैं। सामाजिक परिवर्तनों के कुछ महत्वपूर्ण कारणों का नीचे वर्णन किया गया है —

(i) परिवर्तनों का कोई कारण नहीं होता। वे स्वयं ही घटित होते हैं।

(ii) ईश्वर ही परिवर्तनों का स्रोत है। वह सभी वस्तुओं की ऊर्जा का स्रोत है तथा उन्हें आकार देने वाला भी वही है।

(iii) जैसे-जैसे प्राकृतिक पर्यावरण में परिवर्तन होता है, तदनुसार ही नई स्थितियों में सामंजस्य बिठाने हेतु समाज में परिवर्तन होता है।

(iv) सामाजिक संस्कृति के सामारिक पहलुओं में परिवर्तन आने से समाज में परिवर्तन होते हैं।

(v) मानव के जैविक विकास के साथ ही सामाजिक परिवर्तन होते है।

(vi) अभौतिक संस्कृति (मानदंड) में परिवर्तन भौतिक संस्कृति में परिवर्तन की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तनो के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते है।

समाजशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि सामाजिक परिवर्तन का कोई एक कारण नहीं होता। कई घटक आपस में अंत क्रिया करते हैं जिसके कारण व्यक्तियों तथा समूहों दोनों का विघटन होता है, परिवर्तन होता है, नष्ट होते हैं, पुरस्कार मिलता है तथा अवमानना भी होती है।

सामाजिक परिवर्तन के जनक (Generators of Change)

परिवर्तन शायद ही कभी अकेले होते हैं। तीव्र गति से होने वाली वैज्ञानिक एवं तकनीकी खोजो, अन्वेषणा तथा प्रसार के कारण सामाजिक तंत्र के अनेक पहलू प्रभावित होते है। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के निम्न स्रोतो का परीक्षण किया है जो समाज के व्यवहार, संस्कृति व अन्य पहलुओं में परिवर्तन करने में प्रमुख योगदान देते हैं —

(i) पर्यावरण (Environment)— मानव समाज अपने प्राकृतिक पर्यावरण से निकटता से जुड़े रहते है। यदि इनमें से एक में भी परिवर्तन होता है तो उससे दूसरा भी प्रभावित होता है। प्राकृतिक संसाधन तथा अन्य पारिस्थितिक लक्षणों का मानव व्यवहार पर दूरगामी परिणाम होता है। मानव के सामाजिक संगठन के विकास में भौतिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। उग्र पर्यावरणीय स्थितियों में मानव अपने जीवन के तरीको को भौतिक स्थितियों के अनुसार संगठित करते हैं। फिर भी सामाजिक परिवर्तन पर पर्यावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव अधिक नहीं होता।

(ii) जनसंख्या (Population)— जनसंख्या के आकार, घनत्व व संयोजन में परिवर्तन का सामाजिक परिवर्तन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या में भारी वृद्धि या कमी सामाजिक परिवर्तन का कारण बनती है। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि समाज की आर्थिक संस्थाओं पर सीधा दबाव डालती है। जनसंख्या में परिवर्तन समाज की अनेक नीतिगत समस्याओं पर प्रभाव डालता है। कई एशियाई व अफ्रीकी देश अधिक जनसंख्या के कारण चिंतित हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ देश जनसंख्या वृद्धि की घटती दर से परेशान हैं। घटती मृत्यु दर तथा जीवनकाल में वृद्धि के कारण विभिन्न सामाजिक कार्यक्रमों की आवश्यकता महसूस होती है। बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जीवन के तरीकों में भी परिवर्तन आ रहा हैं।

(iii) विज्ञान एवं तकनीकी (Science and Technology)— विज्ञान एवं तकनीकी की प्रगति ने सामाजिक परिवर्तन के पहियों को गति दे दी है। विज्ञान तथा उसके तकनीकी (Technology) में व्यावहारिक उपयोग के कारण बड़े पैमाने

पर उत्पादन, परिवहन व संचार मे परिवर्तन ला दिया है तथा इन सभी का लोगो के जीवन पर, चाहे वे कहीं भी रह रहे हो, गहरा प्रभाव पड़ा है। तकनीकी मे परिवर्तन के दोनों प्रकार के—सकारात्मक तथा नकारात्मक परिणाम होते हैं। चिकित्सकीय तकनीकी ने मृत्यु दर, मृत्यु संख्या को प्रभावी रूप से घटा दिया है तथा पोलियो चेचक तथा तत्सम बीमारियों का प्राय उन्मूलन कर दिया है। किन्तु प्रदूषण के कारण कैन्सर (Cancer) तथा रक्तवाहिनी तत्र की बीमारियो मे वृद्धि हो रही है। कृषि तथा सूचना तकनीकी ने समाज की सरचना मे बदलाव ला दिया है। तकनीकी के विकास का समाज के आर्थिक पहलू पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है व परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। यद्यपि तकनीकी अपने जड़त्व के कारण स्वय प्रगति नहीं करती, फिर भी इसमे मानवीय प्रयास महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(iv) प्रवसन (Migration)— लोगों का बड़ी संख्या मे एक समाज से दूसरे समाज मे अथवा अपने ही समाज मे प्रवसन, सामाजिक परिवर्तन को जन्म देता है। आप्रवासन (Immigration) तथा गाँवों से शहरो मे, शहरों से उपनगरों में आदि आतरिक प्रवसन का भी सामाजिक परिवर्तन पर गहरा प्रभाव होता है।

(v) सांस्कृतिक प्रसार (Cultural Diffusion)-- आधुनिक तकनीकी ने विश्व को छोटा कर दिया है। मोटर साइकल, मोबाइल, कम्प्यूटर, टेलीविजन आदि ने सांस्कृतिक प्रसार हेतु नए अवसर प्रदान कर दिए हैं। समाजशास्त्रियों के अनुसार सांस्कृतिक प्रसार का अर्थ एक संस्कृति के सदस्यों द्वारा दूसरी सस्कृति के घटकों को अपनाना है। सांस्कृतिक परिवर्तन के तीन मुख्य स्रोत हैं खोज, अन्वेषण तथा प्रसार। अधिकांश सांस्कृतिक प्रसार स्वेच्छा से होता है। संस्कृति एक गतिमान तंत्र है जिसमें नए घटक आते जाते हैं तथा पुराने छूटते जाते है।

(vi) संघर्ष (Conflict)— किसी समाज में तनाव व संघर्ष भी परिवर्तन लाते हैं। औद्योगिक पूंजीवादी समाजों में श्रमिकों व पूँजीपतियों के बीच संघर्ष ने समाज को उत्पादन के समाजवादी तंत्र को अपनाने हेतु बाध्य किया। वर्ग संघर्ष इतिहास का डायनामो (Dynamo) है। वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होते हैं। मार्क्स ने सही पूर्वानुमान किया था कि असमानता के कारण उत्पन्न सामाजिक संघर्ष प्रत्येक समाज मे परिवर्तन लाएगा।

(vii) विचार (Ideas)— मैक्स वेबर ने भौतिक उत्पादन पर आधारित संघर्ष के महत्व को स्वीकार किया था। वे सामाजिक परिवर्तनों के मूल मे विचार की दुनिया को देखते थे। विचार भी सामाजिक आन्दोलनों को प्रोत्साहित करते हैं। विचार ऐतिहासिक परिवर्तनों को लाने मे योगदान देते हैं तथा वे उसके भाग भी होते हैं।

सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया (Process of Social Change)

सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के चार महत्वपूर्ण लक्षण होते हैं —

(1) सामाजिक परिवर्तन सभी स्थानों पर होते हैं यद्यपि परिवर्तन की गति स्थान

स्थान पर भिन्न होती है। कुछ समाज अन्यो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से परिवर्तित होते हैं। किसी समाज मे कुछ सास्कृतिक घटक अन्यो की अपेक्षा अधिक तेजी से बदलते हैं। विलियम ऑगबर्न (1961) का सास्कृतिक परिवर्तन का सिद्धान्त यह मानता है कि भौतिक सस्कृति प्राय अभौतिक सस्कृति से अधिक तीव्र गति से परिवर्तित होती है।

(2) कभी कभी सामाजिक परिवर्तन साभिप्राय होते हैं किन्तु अक्सर ये अनियोजित होते हैं। औद्योगिक समाज अनेक प्रकार के परिवर्तनो को सक्रिय रूप से बढावा देते हैं।

(3) सामाजिक परिवर्तन अक्सर विवादो को जन्म देते हैं। अधिकाश सामाजिक परिवर्तनो के परिणाम सकारात्मक व नकारात्मक दोनो प्रकार के होते हैं।

(4) कुछ सामाजिक परिवर्तनो का महत्त्व केवल कुछ समय के लिए ही होता है जबकि अन्य कई पीढियो तक महत्त्व रखते हैं।

डब्ल्यू एफ ऑगबर्न पहले विद्वान थे जिन्होने सामाजिक परिवर्तन की वास्तविक प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन किया।

(i) खोज (Discovery) खोज किसी पूर्व मे ही विद्यमान वास्तविकता का समान मानवीय अवबोधन होता है। सामाजिक परिवर्तन मे खोज तब एक कारक बनती है जब इसका उपयोग किया जाता है। जब नए ज्ञान का प्रयोग नई तकनीक विकसित करने मे किया जाता है तब व्यापक परिवर्तन घटित होते हैं। खोज का जब उपयोग किया जाता है तभी यह सामाजिक परिवर्तन का स्रोत बनती है।

(ii) आविष्कार (Invention) – आविष्कार को प्रायः विद्यमान ज्ञान के नये सयोजन अथवा नये उपयोग के रूप मे परिभाषित किया जाता है। प्रत्येक आविष्कार रूप मे कार्यों मे तथा अर्थ मे नया हो सकता है। किसी विशिष्ट समाज मे आविष्कारो का स्वभाव व उनका अनुपात वहाँ उपलब्ध ज्ञान के भण्डार पर निर्भर करता है। उन समाजो मे जो केवल दूसरो के आविष्कारो को अपनाते हैं, वहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे देरी होती है।

(iii) प्रसरण (Diffusion) -- समाजो मे सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः प्रसरण के माध्यम से ही विकसित होते हैं। प्रसरण सामाजिक तथा सास्कृतिक परिवर्तन का स्रोत होता है। प्रसरण दोनो से होता है — समाज के अन्दर तथा विभिन्न समाजो मे परस्पर। *प्रसरण सदैव दुतरफा प्रक्रिया होती है। सर्वश्रेष्ठ समकालीन सामाजिक परिवर्तन* आधुनिकीकरण विकसित समाजो से कम विकसित समाजो के प्रसरण को बताता है।

आधुनिक विश्व मे सामाजिक परिवर्तनो की क्रियाए इतनी तीव्र गति से व घटित होती हैं कि वे कई सामाजिक कठिनाइयो को जन्म देती हैं। उनका पारस्परिक जोखा

शैली नैतिकताओं, सामाजिक आस्थाओं आदि पर विघटनकारी प्रभाव पड़ता है। ये इन्हें नष्ट तो करते हैं किन्तु इनके स्थान पर नए मूल्य उपलब्ध नहीं कराते।

सामाजिक परिवर्तनों के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

कई विषयों के सिद्धान्तवादियों ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन मानकों की एक अनुक्रमिक श्रेणी होती है। सामाजिक सिद्धान्तवादियों ने चार्ल्स डार्विन के जैविक विकास के अनुरूप ही सामाजिक परिवर्तन के विकासवादी सिद्धान्त को जन्म दिया। सामाजिक परिवर्तन के विकासवादी सिद्धान्त को मानने वालों में ऑगस्ट काम्टे भी थे। उनके अनुसार मानव समाज वैचारिक दृष्टि से सदैव आगे बढ़ता है। यह मिथक शास्त्र से वैज्ञानिक विधियों तक पहुंच चुका है। दुर्खीम मानते हैं कि समाज ने तुलनात्मक दृष्टि में सरल सामाजिक संगठनों से अधिक जटिल संगठनों तक प्रगति की है। काम्टे व दुर्खीम के विचार एकल-रेखीय विकासवादी सिद्धान्त के उदाहरण हैं। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति, ज्ञान की प्रत्येक शाखा, प्रत्येक समाज को एक रेखीय विकास के माध्यम से ही आगे बढ़ना होता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार मानव समाज सदैव प्रगति की ओर बढ़ता है। समाज के सम्पूर्ण एकत्रीकरण को देखते हुए उद्विकास अपरिहार्य है। विकास के क्रम में स्पेन्सर ने प्रवाह की दिशा समरूपता (Homogeneity) से विषमता (Hetrogenity) की ओर मानी है। हॉबहाउस (Hobhouse) ने समाज के उद्विकास का चित्रण कुछ प्रगतिशील संदर्भ में किया है। उनकी मान्यता है कि समाज कुछ वांछित उद्देश्यों की ओर बढ़ता है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार उद्विकास प्राकृतिक विकास परिवर्तन की एक दिशा है जिसमें बदलते हुए पदार्थ की अनेक दशाएं प्रकट होती हैं और जिससे उस पदार्थ की वास्तविकता का पता चलता है। प्रत्येक वस्तु जिसका उद्विकास होता है में पूर्व से ही उद्विकास की सम्भावनायें रहती हैं, ये आगे जाकर अभिव्यक्त होती हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने परिवार, विवाह, धर्म, संस्कृति आदि के उद्विकासवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं।

सामाजिक उद्विकास निश्चित दिशा में निरन्तर परिवर्तन है। यह परिवर्तन उत्थान अथवा पतन दोनों ही दृष्टि से संभव है। सामाजिक उद्विकास मूल्यों पर आधारित नहीं होता। उद्विकास की धीमी प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। किन्तु परिवर्तन एक निश्चित चरण के अनुसार होता है। इन चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती। उद्विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

वान बेयर (Von Baer) के अनुसार उद्विकास विभेदीकरण (Differentiation) और समेकन (Integration) की निरन्तर प्रक्रिया है। विभेदीकरण अनेक रूप धारण कर सकता है। सामाजिक उद्विकास मे विभेदीकरण अनिवार्य नही है। उद्विकास केवल परिवर्तन को सूचित करता है। यह परिवर्तन अच्छा भी हो सकता और बुरा भी।

अनेक समाजशास्त्रियो ने सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त की आलोचना की है। मेकाइवर व पेज ने मत प्रकट किया है कि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक परिवर्तन प्राकृतिक शक्तियो से ही होता है किन्तु मनुष्य प्राकृतिक शक्तियो को नियन्त्रित कर कुछ नए परिवर्तन भी करता है। उद्विकास का सिद्धान्त जितना शास्त्रीय निष्कर्षो पर लागू होता है उतना सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश पर लागू नहीं होता। समाज और संस्कृति की प्रकृति जटिल होती हैं इसमे स्वत परिवर्तन की अपेक्षा नियोजित परिवर्तन की संभावनाये अधिक हैं।

फिर भी समकालीन विकासवादी सैद्धान्ती सामाजिक परिवर्तन को बहुरेखीय *मानते है। बहुरेखीय विकासवादी सिद्धान्त यह मानता है कि परिवर्तन अनेक प्रकार* से होते है तथा वे अपरिहार्य रूप से एक ही दिशा म नही बढते। जैसे जैसे समाज विकसित होते ह उनके सामाजिक सबध परिवर्तित होते है—व्यक्तिगत तौर पर वैयक्तिक सबधो पर आधारित होने के स्थान पर वे दूरस्थ औपचारिक सबधो पर आधारित हो जाते है।

रेखिक सिद्धान्त (Linear Theory)

रेखिक सिद्धान्त के प्रतिपादन मे काम्टे व कार्ल मार्क्स का प्रमुख योगदान रहा है। काम्टे ने सामाजिक परिवर्तन को मनुष्य के बौद्धिक विकास का परिणाम माना है। काम्टे ने सामाजिक परिवर्तन की तीन अवस्थाओ की कल्पना की है — धार्मिक, तात्विक और वैज्ञानिक। मनुष्य ने इनमे से दो अवस्थाए पार कर ली है तथा तीसरी की ओर बढ रहा है। रेखिक सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन की गति कुछ निश्चित स्तरो से होती हुई गुजरती है। हॉबहाउस (Hobhouse) ने अपने सिद्धान्त मे सहसम्बन्ध और समन्वय की प्रक्रियाओ को रेखांकित किया है और मनोवैज्ञानिक कारको को अधिक महत्व दिया है। इस प्रकार के परिवर्तन एक ही दिशा या रेखा म होते हैं। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे हो रहे परिवर्तन इसी प्रकार के हैं।

चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical Theory)

चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन एक दिशा मे नही होते। *यह सिद्धान्त मानता* है कि समाज विकास तथा विनाश के अथक चक्र के बीच विचरण करते है। इतिहास भी इसका गवाह है कि समाज उदित होते हैं तथा उनका पतन होता है। टॉयनबी (Arnold Toynbee) ने अपनी पुस्तक 'इतिहास का अध्ययन' मे सामाजिक परिवर्तन

के चक्रीय उपगमन को स्वीकार किया है। परिवर्तन कब अपेक्षित होते हैं यह जानने मे यह सिद्धान्त मददगार नहीं होता। यह सिद्धान्त अनुदर्शन को छोड़कर सकारात्मक व नकारात्मक परिवर्तनो मे अन्तर करने में उपयोगी होता है।

ओस्वाल्ड स्पेंगलर (Oswald Spengler) ने अपनी पुस्तक 'दि डिक्लाइन आफ द वेस्ट' मे चक्रीय सिद्धान्त का वर्णन किया है। स्पेंगलर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन सदैव चक्रीय रूप में होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन बाल्यकाल युवावस्था वृद्धावस्था के चक्र से गुजरता है उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति मे परिवर्तनो का क्रम चलता रहता है। स्पेंगलर ने एक समाज के बढ़ते हुए चरण को संस्कृति कहा है और पतन को स्थिति को सभ्यता। समाज का भी पूर्व निर्धारित चक्र है। विभिन्न चरणो के बाद हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम फिर कर पुन: वहीं पहुँच जाते हैं। विकास के बाद पतन होता है और फिर चक्र प्रारम्भ होकर पुन: प्रगति की ओर बढ़ता है। सामाजिक परिवर्तन चक्रीय गति से सदैव क्रियाशील बने रहते हैं।

1 सोरोकिन का सास्कृतिक सिद्धान्त — सोरोकिन (P A Sorokin) के अनुसार सामाजिक परिवर्तन केवल उतार-चढाव की एक प्रक्रिया है। सोरोकिन ने निम्नांकित तीन प्रकार की संस्कृति की चर्चा की है —

(अ) इन्द्रियपरक सस्कृति (Sensate Culture)— यह संस्कृति 'खाओ–पीओ और मौज करो' के दर्शन के अनुसार है। वे वस्तुएं जो इन्द्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करतीं, उनका इस सस्कृति मे कोई स्थान नहीं। इन्द्रियपरक संस्कृति में जीवन का सम्पूर्ण ढंग भौतिकवादी मनोवृत्ति से प्रभावित होता है। इसमे धर्म, प्रथा का महत्व कम और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का महत्व अधिक होता है।

(ब) विचारणात्मक संस्कृति (Ideational Culture)— इस संस्कृति का उद्देश्य धर्म, दर्शन तथा अन्तिम सत्य की खोज करना है। यह संस्कृति भौतिक सुख के विपरीत त्याग व सन्यास के पक्ष मे है। इस संस्कृति में समस्त घटनाओं का एकमात्र कारण भगवान को समझा जाता है।

(स) आदर्शात्मक संस्कृति (Idealistic Culture)— इसमे इन्द्रियपरक और विचारात्मक सस्कृति दोनो का समन्वय होता है। आदर्शात्मक सस्कृति में न तो भौतिक सुखो और न ही आध्यात्मिक चिन्तन को ही सब कुछ मान लिया जाता है।

सोरोकिन (Sorokin, PA) का मत है कि परिवर्तन उतार-चढाव प्रक्रिया इन्द्रियपरक और विचारात्मक सस्कृतियो के बीच चलती रहती है। प्रत्येक संस्कृति के विकास की एक सीमा होती है। परिवर्तन इन्द्रियपरक संस्कृति की सीमा तक पहुँचने के बाद पुन: विचारात्मक सस्कृति की ओर लौट जाता है, किन्तु बीच मे उसे आदर्शात्मक संस्कृति से मिलना होता है। सोरोकिन के विचार से समाज इन संस्कृतियो के माध्यम से चक्रीय रूप में घूमता है।

परेटो (Vilfredo Pareto) का सिद्धान्त — परेटो ने अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। समाज मे दो वर्ग होते हैं—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। अभिजात वर्ग अपने गुणो को खोकर निम्न वर्ग की ओर अग्रसर होते हैं। उनके द्वारा किए गए रिक्त स्थानो को भरने के लिए निम्न वर्ग के वे सदस्य जो बुद्धिमान कुशल व साहसी होते हैं, ऊपर आ जाते हैं। *विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति* मे परिवर्तन होते रहने के कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है।

टायनबी (Arnold Toynbee) का सिद्धान्त— बॉटोमॉर ने टायनबी के सिद्धान्त को रैखिक (Linear) माना है। किन्तु अन्य विद्वान इसे चक्रीय सिद्धान्त मानते हैं। टायनबी ने अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' मे सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। टॉयनबी के सिद्धान्त को चुनौती एव प्रत्युत्तर का सिद्धान्त (Challenge and Response Theory of Social Change) कहा जाता है। *टायनबी ने तीन अवस्थाए बताई हैं—1 चुनौती को प्रत्युत्तर (Response to* Challenge), यह युवावस्था का काल है। 2 सकट का समय (Time to *Troubles), यह वृद्धावस्था का समय है और 3 अन्तिम रूप से पतन (Final* Downfall), यह मृत्यु का समय है। टॉयनबी के अनुसार सभ्यता तीन अवस्थाओं, वृद्धावस्था और पतन से गुजरती हैं। जिस प्रकार हमारे शरीर रचना का प्रारम्भ मे तेजी से विकास होता है व शक्ति बढ़ती जाती है, उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन भी व्यापक रूप से देखने को मिलते हैं। समाज के सामने जब विनाशकारी चुनौती जसे युद्ध, महामारी या अन्य विपत्ति आती है तो समाज को अनेक प्रयत्न करने पडते हैं। यदि समाज इन चुनौतियो के प्रत्युत्तर मे प्रयत्न करता है तो उसमे पुनः शक्ति का सचार होता है और समाज का पुनर्जन्म होता है।

सघर्षवादी सिद्धान्त (Conflict Theory)

यद्यपि सभी सघर्ष सिद्धान्तवादी वर्ग सघर्ष के महत्त्व के बारे मे एक मत हैं किन्तु कुछ सिद्धान्तवादी मानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन अन्य प्रकार के सघर्ष के कारण घटित होते हैं। सघर्ष सिद्धान्तवादियो मे से एक रॉल्फ डेरेनडार्फ (Dahrendorf) सघर्षवादी सिद्धान्त की मूलभूत कल्पनाए दोहराते हैं कि सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक सघर्ष सर्वव्यापी होते हैं। समाज का प्रत्येक घटक उसके विघटन व परिवर्तन मे योगदान देता है, तथा प्रत्यक समाज कुछ सदस्यो द्वारा अन्य सदस्यो के उत्पीडन पर आधारित होता है। उन्होंने पाया कि व्यवस्थित व सगठित समाज म सामाजिक समस्याओ का निदान तकनीकी होता है न कि विचारधारा पर आधारित। मार्क्सवादी समाज मे चल रहे सघर्ष की वर्ग सघर्ष क रूप म व्याख्या करते हैं जबकि *अन्य सघर्ष सिद्धान्तवादी* जोर देकर कहते हैं कि लिग, प्रजाति, आय, धर्म सघर्ष के स्त्रोत हैं। सघर्ष सिद्धान्तवादी मानते हैं कि सामाजिक सस्थाए एव रिवाज जारी

रहते हैं क्योंकि शक्तिशाली समूहों में यथास्थिति बनाए रखने की क्षमता होती है। परिवर्तन इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उनको सामाजिक अन्याय व असमानताओं को दूर करने हेतु आवश्यकता होती है। मार्क्स भी परिवर्तन की आवश्यकता को इसलिए मानते थे कि इसमें समाज अधिक न्यायोचित रूप में ढल सके।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक उत्पादन करता है। सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों से जुड़े होते हैं। जब उत्पादन की प्रविधियों में परिवर्तन होता है तो आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाता है। मार्क्स के शब्दों में "सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। नयी उत्पादक शक्तियों के प्राप्त होने पर मनुष्य अपनी उत्पादन प्रणाली तथा अपनी जीवकोपार्जन की प्रणाली बदलने में अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों को परिवर्तित करते हैं। जब हाथ की चक्की थी तब सामान्तवादी समाज था, भाप से चक्की का परिणाम औद्योगिक पूंजीवाद है।" *मार्क्स के अनुसार पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत ही* नवीन व्यवस्था का उदय होता है। समाज में उत्पादन प्रणाली में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं और यह विकास की दिशा में उन्मुख होती है। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन से एक नवीन वर्ग का जन्म होता है। इस प्रकार पुराने और नये वर्ग में संघर्ष होता है।

मार्क्स और हीगल (Hegel) ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) का सिद्धान्त हीगल की प्रेरणा से प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी व्यवस्था में वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) व संवाद (Synthesis) तीन कारक कार्य करते हैं। प्रथम चरण में वाद के रूप में एक स्थापित व्यवस्था होती है। यह प्रारम्भिक विचार अपूर्ण होता है। प्रतिवाद के रूप में उसका विरोध होता है जिसे एन्टीथीसिस कहा गया है। तीसरे चरण में वाद और प्रतिवाद मिल जाते हैं और यह सिनथिसिस कहलाता है। इस धारणा के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया इन तीन अवस्थाओं से गुजरती हैं। प्रत्येक अवस्था में आन्तरिक संघर्ष होता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन परस्पर विरोधी तत्वों या विचारों के आपसी संघर्ष का परिणाम है।

मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के स्रोत के रूप में आर्थिक तकनीकों के महत्व पर जोर देते थे। वे तर्क देते थे कि सामाजिक परिवर्तन के भाग के रूप में संघर्ष सामान्य तथा वांछित है। यद्यपि समाज को समझने में संघर्षवादी परिवर्तनों की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में यह सिद्धान्त असफल रहा है।

प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functionalist Theory)

प्रकार्यवादी समाजशास्त्री मानते हैं कि समाज ने एक ऐसा यन्त्र–प्रबंधन विकसित किया

है जो समाज मे नियामक सर्वसम्मति के माध्यम से व्यवस्था बनाए रखता है। प्रकार्यवादी परिवर्तन को विकासात्मक (शनै: शनै:) मानते है न कि क्रांतिकारी। विकासात्मक उपगमन पर अपने विचार प्रकट करते हुए पारसन्स (1966 21-24) कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाए अपरिहार्य हैं। पारसन्स का विकासात्मक उपगमन सतत हो रही प्रगति के विकासवादी विचार को स्पष्ट रूप से अपने मे समाहित करता है। फिर भी उनके मॉडल की मुख्य व प्रबल विषय-वस्तु सतुलन एव स्थिरता ही है। प्रकार्यवादी सामाजिक पैटर्न के परिणामों को खोजते हैं न कि उनके स्रोतों को। फिर भी कुछ समाज अन्यों की अपेक्षा अपनी प्रकार्यात्मक आवश्यकताओ की पूर्ति बेहतर करते हैं। प्रकार्यवादी यह मानते ह कि सामाजिक सस्थाए तभी तक अस्तित्व मे रह सकती हैं, जब तक वे सपूर्ण समाज को अपना योगदान देती हैं प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रियो का सबध सपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बचाए रखने म सास्कृतिक घटको की भूमिका से है। वे इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करते है कि व्यवस्था क्या बनाए रखता हे न कि क्या इसमे परिवर्तन करता है। दुर्खीम के विचार से प्रकार्यवादी व सघर्षवादी उपगमन अत मे एक-दूसरे के सगत हैं भले ही वे अपने क्षेत्रो मे एक दूसरे से असहमत हो।

सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध (Resistance to Social Change)

यह सत्य है कि भारतीय समाज परिवर्तित हो रहा है और विकास की कुछ दिशाए स्पष्ट होती जा रही हैं, फिर भी सत्य यह हे कि हम सभी लक्ष्यो की प्राप्ति मे सफल नहीं हो पाए हैं जो हम चाहते थे। हमारे लक्ष्यो की प्राप्ति मे क्या बाधाए रही हैं? गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) जैसे कुछ पश्चिमी विद्वानो न सुझाया है कि भारत की आर्थिक कमजोरी का कारण लोगो मे तकनीकी कुशलता की कमी नही है बल्कि साहस, स्थिति सुधारने की इच्छा, श्रम का सम्मान करने म कमी है। इस प्रकार के विचार तर्कहीन व पक्षपातपूर्ण है। कुछ पश्चिमी व भारतीय विद्वानो द्वारा इनको चुनौती भी दी गयी है। इन विद्वानो मे मौरिस (Morris, 1967), मिल्टन सिगर (1969), टी एन मदान (1968), योगेन्द्र सिह (1973) और एम सी दुबे, आदि ह। ग्रामीण भारत के क्षेत्रो मे किए गए विविध अध्ययनो से पता लगा हे कि ग्रामीण लोगो मे सुधार के लिए तीव्र इच्छा है। वे लोग कठिन परिश्रम करने के लिए अपनी व्यर्थ की तथा हानिपूर्ण प्रथाओं को बदलने और प्रलोभन तथा मानव कमजोरियों से ऊपर उठने के लिए तैयार हैं। विकास सबधी प्रयासो मे बाधक मानवीयकारक नहीं हैं, बल्कि राजनीतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक सरचनाए, तथा आर्थिक कठिनाइयाँ हैं। अज्ञानता, जडता, परम्परा के प्रति भक्ति, निहित स्वार्थ, आर्थिक लागत और सन्देहात्मक दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन के अवरोधक (Resistance) कारक हैं। इस सम्बन्ध मे निम्न कारको का विश्लेषण आवश्यक है।

पारंपरिक शक्तियाँ (Forces of Tradition)

समाज में परिवर्तन तभी सम्भव है जबकि नए कार्यों को करने की विधियों को स्वीकार करने के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की जाए। परम्पराओं से लगाव तथा नवीन विचारों की अस्वीकृति सामाजिक परिवर्तन में बाधा उत्पन्न करते हैं। सांस्कृतिक एकत्रीकरण (Accumulation) की मात्रा तथा अन्य समाजों से सम्पर्क की मात्रा किसी भी समाज में सामाजिक परिवर्तन की सीमा निर्धारित करते हैं। सांस्कृतिक एकत्रीकरण की मात्रा के कारण आविष्कारों की सम्भावना तथा अन्य संस्कृतियों की नवीन विशेषताओं को आत्मसात करना सीमित हो जाता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि परम्परा को त्यागने की तत्परता कितनी है। दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से जो कुछ ज्ञात होता है वह विस्मारित हो जाता है यही सामाजिक परिवर्तन का स्रोत है। पृथक (Isolated) समाज परिवर्तन का अनुभव कम करते हैं लेकिन जो समाज मिलते जुलते रहते हैं वे तेज परिवर्तन का अनुभव करते हैं लेकिन जो समाज बिल्कुल परिवर्तित नहीं हो तो उसमें लोग स्वतंत्रतापूर्वक मेलजोल से इनकार करते हैं तथा दूसरों के रीति रिवाज ज्ञान, तकनीकी एवं विचारधाराओं में भागीदारी करने में उत्साह नहीं दिखाते। यह इनकार इसलिए होता है कि वे अपनी परम्पराओं को पवित्र मानते हैं। उनकी मान्यता है कि परम्पराओं के गुण पवित्रता के संचरण (Transmission) से आते हैं।

परम्परा से प्रेषित मानदंड इसलिए स्वीकार नहीं किए जाते कि वे विद्यमान होते हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि वे किसी स्थिति में नियमों की आवश्यकता पूर्ण करते हैं। वे समाज में स्थायित्व का काम करते हैं। अत: यह भूमिका जो परम्परागत मानक (Norms), आर्थिक तथा तकनीकी रूप से परिवर्तित होते हुए समाज में निभा सकते हैं, कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि समाज में परम्परा से प्रभावित व्यवहार क्या स्थान रखता है। यहाँ परम्परा और आधुनिकता के अटूट क्रम (Continuum) के बीच विभाजन रेखा खींची जा सकती है। परम्परागत समाज में परम्परागत मूल्यों को महत्व दिया जाता है क्योंकि वे अतीत से अर्जित किए जाते हैं, लेकिन आधुनिक समाज में परिवर्तन की दशाओं का स्वागत होता है क्योंकि वे वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

जाति व्यवस्था (Caste System)

जाति प्रथा न्याय व समृद्धि दोनों की ही प्राप्ति में बाधक रही है। किंग्सले डेविस (1951 : 216) का यह कथन सत्य था कि आनुवंशिक व्यवसाय का विचार, मुक्त अवसरों के विचार, मुक्त प्रतिस्पर्द्धा, बढती हुई विशेषज्ञता, तथा व्यक्ति की गतिशीलता जो गतिशील औद्योगिक अर्थव्यवस्था से संबधित है, के बिल्कुल विपरीत है।

विकास योजनाओ के विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रो मे असफल होने का कारण गुटबाजी भी होता है। गुटो की रचना का आधार जाति या उपजाति की सदस्यता होता है। कई क्षेत्रो मे जहाँ कृषक एक जाति के होते हैं दूसरी जाति के लोग उनके साथ कोई सहयोग नही करते क्योकि उन्हे किसी लाभ की आशा नही रहती है। उन क्षेत्रो मे जहाँ कृषक सत्ताधारी हैं वहाँ भी विकास कार्यक्रम विस्तृत स्वीकृति प्राप्त करने म असफल रहते हैं। कोई भी कार्यक्रम जो एक जाति की सहायता के लिए होता है दूसरी जातिया द्वारा उसका विरोध किया जाता है जो समाज मे उनकी स्थिति से ईर्ष्या करते हैं या दूसरो की कीमत पर अपनी स्थिति के हित के लिए उत्सुक होते रहते हैं। जाति की तरह ही अन्त जाति गुटबाजी भी सामाजिक परिवर्तन म बाधक होती है।

प्रारम्भ मे अन्य जातियो के लोगो के साथ अन्तक्रिया मे जाति प्रथा के बन्धन गतिशीलता तथा औद्योगीकरण की अनुमति प्रदान नहीं करते थे और आज राजनीति मे इसके प्रयोग से शासक रचनात्मक दिशा मे कार्य नहीं करते हैं। विलियम कैप (Kapp 1963 61) ने भी सकेत दिया है कि हिन्दू सस्कृति तथा हिन्दू सामाजिक सगठन भारत मे विकास की कम दर के निर्णायक कारक हैं। मिल्टन सिगर (1966 505) इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता है कि ऐसा कोई पर्याप्त साक्ष्य नही है जो यह दर्शाता हो कि हिन्दू सस्कृति तथा जाति व्यवस्था ने भारत के विकास मे कोई बाधा उत्पन्न की है। उन्होने कैप के निष्कर्षों को अनुमान पर आधारित (Speculative) मूल्याकन माना है जो उन्होने धार्मिक ग्रन्थो मे निहित विचारो को गलत समझकर लिए हैं।

निरक्षरता, अज्ञानता तथा भय (Illiteracy, Ignorance and Fear)

निरक्षरता के कारण अज्ञानता भय उत्पन्न करती है जो सामाजिक परिवर्तन मे बाधा डालती है। प्रथा के अनुसार कार्य करना सुरक्षित होता है क्योकि उनका परीक्षण हो चुका होता है। एक और बात यह है कि 'नया' अनजान होता है, अत. उससे बचना ही ठीक होता है। वे आविष्कार जो वर्तमान भौतिक सस्कृति से सम्बद्ध हैं यदि उनकी अधिक आवृत्ति होती है तो लोग उनके आदी हो जाते हैं और परिवर्तन के प्रति उनका वैमनस्य भाव कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि भौतिक सस्कृति से सम्बद्ध आविष्कार अधिक व जल्दी न हो तो परिवर्तन कम होता है और भय का कारण भी। जब निरक्षरता पदानुक्रम (Hierarchy) को प्रोत्साहन देती है, तब शिक्षा समानता के विचार पर बल देती है। यह विवेक को भी प्रोत्साहन देती है। शिक्षित लोग सभी प्रकार की इच्छाओ को जन्म देते हैं तथा उनकी प्राप्ति के साधन भी विकसित करते हैं।

मूल्य (The Values)

सामाजिक परिवर्तन में मूल्यों की भूमिका विवाद का विषय है। उदाहरणार्थ, हीगल (Hegel) का विचार था कि सामाजिक परिवर्तन विचारों की अभिव्यक्ति का परिणाम है। मार्क्स का विचार था कि लम्बी अवधि के सामाजिक परिवर्तन पर मूल्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। उन्होंने सोचा कि सामाजिक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों की अन्तर्क्रिया का प्रतिफल होता है, जो कि वर्ग संघर्ष में प्रकट होता है। अधिकतर भारतीय समाजशास्त्री इस विचार से सहमत है कि मूल्य, व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार दोनों को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करते है। अनेक लोग मानते हैं कि मूल्य परिवर्तन का परिणाम होते है, अतः मूल्यों को सामाजिक परिवर्तन में प्राथमिक कारक नहीं मानना चाहिए। जाति प्रथा के मूल्य (संस्तरण, अपवित्रता अन्तर्विवाह) भारतीय समाज के परिवर्तन में बहुत बाधक थे। जब लोगों ने तकनीकी तथा औद्योगीकरण को स्वीकार कर लिया, तभी भौगोलिक गतिशीलता के बाद सामाजिक गतिशीलता सम्भव हुई। भाग्यवाद ने भी कठिन परिश्रम तथा सामाजिक परिवर्तन में बाधा उत्पन्न की। अकाल, बाढ़, भूकम्प, निर्धनता, बेरोजगारी सभी ईश्वरीय प्रकोप के परिणाम समझे जाते थे। औद्योगिक समाजों में लोगों ने सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति पर नियन्त्रण सम्भव है तथा अवाछनीय स्थिति निराशाजनक बाधा नहीं है, बल्कि मनुष्य की शक्ति को चुनौती है।

स्वजातिवाद (Ethnocentrism) भी लोगों को दूसरी संस्कृतियों अथवा नवीन विचारों को स्वीकार करने से रोकता है। भारतीयों के मस्तिष्क में जातिवाद इतनी गहरी जड़े जमा चुका है कि यद्यपि वे सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural Relativism) के दर्शन के प्रति सचेत होते हैं फिर भी वे दूसरों के विचारों को अपने विचारों के प्रकाश में मूल्यांकन करने के शिकार हो ही जाते हैं। स्वाभिमान व सम्मान का विचार लोगों को दूसरों के विचारों को स्वीकार करने से रोकते हैं। वे समझते हैं कि वे इतने विद्वान व विचारवान हैं कि दूसरों के विचार उनके लिए कोई महत्व नहीं रखते, इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिए।

सत्ताधारी अभिजन (The Power Elite)

हमारे देश के लगभग सभी विद्वानों ने माना है कि सरकार भारतीय समाज में परिवर्तन लाने वाली प्रमुख एजेन्सी रही है और सामाजिक परिवर्तन का एक अच्छा खासा भाग सरकारी एजेन्सियों द्वारा ही प्रेरित और निर्देशित हुआ है। सरकार में सुधारवादी कार्य सत्ता में अभिजनों पर निर्भर होता है। परेटो (Pareto) ने इन्हें शासकीय अभिजन (Governing Elite) कहा है। सभी अभिजन समुदाय के कल्याण या समाज के विकास के लिए प्रतिबद्ध नहीं होते। अनेक अभिजनों के कार्य स्वार्थों पर आधारित होते हैं। राम आहूजा ने (1975 ; 65 – 66) 'स्व' (Self) तथा 'जन' (Public)

के हितो मे कार्य कर रहे अभिजनो को चार समूहा म वर्गीकृत किया ह उदासीन (Indifferent) (S– ,P), छलयुक्त (Manipulative) (S +, P+) प्रगतिशील (Progressive) (S–, P+) तथा विवेकी (Rationalist) (S +, P+)। समाज म प्रगति सत्ता–प्राप्त राजनैतिक अभिजना पर ही निर्भर करती है। ऐसा माना जाता है कि राजनीतिक अभिजन की तरह ही हमारे अधिकतर अफसरशाह नवीनतावादी (Innovative) की अपेक्षा साम्कारिक (Ritualistic) अधिक हैं हमारी न्यायपालिका उदार होने की अपेक्षा अधिक परम्परावादी ह हमारी पुलिस कानून की अपेक्षा सत्ता के नेताओ के प्रति अधिक प्रतिबद्ध है। इसके अतिरिक्त चूंकि हमारे नीति निर्माता तथा कानूनो का क्रियान्वयन कराने वाले कल्याणकारी विकास की आवश्यकता नही समझते, इसलिए विकास उपेक्षित रहा है।

जनसख्या विस्फोट (Population Explosion)

जनसख्या विस्फोट के कारण निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति की सभावनाए अवरुद्ध हो जाती हैं। वृद्धि के लिए अतिरिक्त समाधनो का प्रावधान करना हागा। इस प्रकार अधिक जनसख्या, गरीबी रोकने क प्रयासो और तीव्र विकास की राह मे रुकावट डालती है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि जहाँ तक भारत में सामाजिक परिवर्तन की दिशा का प्रश्न है सास्कृतिक निरन्तरता प्रचुर मात्रा में रही है। साथ ही आधुनिक मूल्यों, प्रथाओं तथा सस्थाओ म परिवर्तन भी आया ह। पारपरिक पैटर्न स्थिर नही रहा ह तथा आधुनिक व्यवहार सामान्यत. लम्बी अवधि तक चलत रहने के कारण कार्य प्रणाली मे ही समाविष्ट हो गया है।

भारत मे सामाजिक समस्याए और सामाजिक परिवर्तन (Social Problems and Social Change in India)

सामाजिक और सास्कृतिक परिवर्तना के कारण समाजो मे समस्याए उत्पन्न होती हैं। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है प्रतिमानित भूमिकाओं (Patterned Roles) मे परिवर्तन या सामाजिक सबधो के जाल मे परिवर्तन, या समाज की सरचनाओं आर सगठन म परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन कभी सपूर्ण नहीं होता वह सदैव अपूर्ण होता है। वह छोटा अथवा मूलभूत हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह स्वत. स्फूर्त या नियोजित हो सकता है। नियोजित परिवर्तन कुछ सामूहिक ध्येय प्राप्त करने के लिये किया जाता है। स्वाधीन होने के बाद भारत ने भी कुछ सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का निश्चय किया था।

हमारे समाज मे पिछले छ: दशको में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है वे इस प्रकार हैं: कुछ निश्चित मूल्यों आर सस्थाओं में परम्परा के स्थान पर आधुनिकता, प्रदत्त (Ascribed) प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित (Achieved) प्रस्थिति का महत्व, प्राथमिक

समूहों की प्रमुखता के स्थान पर द्वितीयक समूहों की प्रमुखता, नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों के स्थान पर औपचारिक साधन, समूहवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद, धार्मिक मूल्यों के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मूल्य, लोककथाओं के स्थान पर विज्ञान और युक्तिकरण, एकरूपता के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मूल्य, लोककथाओं के स्थान पर विज्ञान और युक्तिकरण, एकरूपता के स्थान पर विषमता, और औद्योगीकरण और नगरीकरण की बढ़ती हुई प्रक्रियाएं, समाज के विभिन्न खण्डों में शिक्षा के विस्तार से हुई अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता, जाति व्यवस्था में शिथिलता, सुरक्षा के पारम्परिक स्रोतों में शिथिलता, अल्पसंख्यक समूहों में बढ़ती हुई आकांक्षाएं, व्यावसायिक गतिशीलता, कई सामाजिक कानूनों का निर्माण, और धर्म को राजनीति से जोड़ना।

इस प्रकार यद्यपि हमने निश्चित सामूहिक लक्ष्यों में से कई लक्ष्य प्राप्त कर लिये हैं फिर भी हमारी व्यवस्था में कई अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गये हैं। उदाहरण के लिये व्यक्तियों की आकांक्षाएं तो ऊंची हो गई हैं परन्तु इनको पूरा करने के लिये न्यायसंगत साधन या तो उपलब्ध नहीं हैं या उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। हम राष्ट्रीयता का उपदेश तो देते हैं परन्तु जातिवाद, भाषावाद और संकीर्णता को अपनाते हैं, कई कानून बनाये गये हैं परन्तु इन कानूनों में या तो बचाव के कई रास्ते हैं या फिर इन्हें ठीक से लागू नहीं किया जाता, हम समानतावाद की बात करते हैं परन्तु पक्षपात का प्रयोग करते हैं, हम आदर्शात्मक संस्कृति की अभिलाषा करते हैं परन्तु वास्तव में जिसका उद्‌भव हो रहा है वह है इन्द्रियात्मक (Sensate) संस्कृति। इन सब अन्तर्विरोधों से व्यक्तियों में असन्तोष और निराशा की भावनाएं बढ़ी हैं और इनके कारण कई सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। युवा अशान्ति, जनजाति अशान्ति, कृषकों में अशान्ति, औद्योगिक अशान्ति, विद्यार्थियों में अशान्ति, स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा, इन सब ने आंदोलनों, दंगों, विद्रोहों और आतंकवाद को पनपाया है।

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन सम्बन्धी उपागम
(Approaches to the Study of Social Change)

योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक परिवर्तन पर अपने प्रारम्भिक लेखों में (*1969 : 11*) भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की प्रकृति और प्रक्रिया पर तीन उपागमों की चर्चा की थी, दार्शनिक-ऐतिहासिक और तात्विकि उपागम, राजनैतिक-ऐतिहासिक उपागम, सामाजिक मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय उपागम।

दार्शनिक-ऐतिहासिक उपागम के स्रोत भारतीय एवं पश्चिमी दोनों ही बताए गए हैं। भारतीय दर्शन और धर्म ने परिवर्तन के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसकी विशेषता थी समाज में काल चक्रीय गति (विलय-प्रलय, सतयुग-कलियुग) जो समय-समय पर अवतारों के द्वारा खण्डित किया गया तथा पुनः सक्रिय किया गया। इस सिद्धान्त का आधार कर्म, धर्म और मोक्ष में विश्वास है। एक समय था जब इस सिद्धान्त

पर दृढ विश्वास किया जाता था लेकिन अब यह विलुप्त होता जा रहा है क्योंकि इसका व्यवस्थित विश्लेषण सम्भव नहीं है। ऐतिहासिक उपागम में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन भारतीय इतिहास के आलेखो द्वारा होता है, उदाहरणार्थ जाति प्रथा में परिवर्तन या स्त्रियो की स्थिति मे परिवर्तन का अध्ययन विविध युगो के ऐतिहासिक आलेखो के आधार पर किया जाता है जैसे मौर्य काल गुप्त काल ब्राह्मणिक काल मुगल काल ब्रिटिश काल तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल। इस उपागम की सीमा यह है कि ऐतिहासिक *आलेख उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, या फिर साक्ष्य विश्वसनीयता नहीं होते हैं। अतः इस* उपागम पर निर्भर रहने से समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण भ्रामक हो सकता है। सामाजिक मानवशास्त्रीय उपागम अन्य दोनो उपागमो की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित समझा जा सकता है। इस उपागम में गहन क्षेत्रीय कार्य या सहभागी अवलोकन विधि का प्रयोग होता है। इस प्रकार के उपागम मे सैद्धान्तिक प्रस्थापनाए मानव जातीय आकडो (Ethnographic data) की व्याख्या करते हैं जो या तो अध्ययनकर्ता के स्वयं के या दूसरो के क्षेत्रीय कार्य के परिणाम होते हैं। इस मानवशास्त्री उपागम की सीमा यह है कि यह सूक्ष्म स्तर (Microcosm) के आधार पर स्थूल स्तर (Macrocosm) के विषय में सामान्यीकरण का प्रयत्न करता है। यह निर्विवाद कल्पना सार्वभौमिकता एवं समरूपता पर *आधारित है। लेकिन भारत में विषमता और विविधता अधिक है। इस प्रकार एक गाँव* की किसी संस्था (जैसे परिवार, जाति, आदि) के परिवर्तन का दो समयावधि के बीच अध्ययन कर के हम इस सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुच सकते कि दूसरे गाँवो में या समूचे भारत में इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। सामाजिक मानवशास्त्रीय उपागम की त्रुटिया समाजशास्त्रीय उपागम द्वारा कम हो गई हैं। सामाजिक उपागम में आनुभविक जाँच पडताल वृहद् स्तर पर की जाती हैं और सामान्य निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं।

सामाजिक परिवर्तन पर अपने बाद के लेखो मे योगेन्द्र सिंह (1977) ने भारत *मे सामाजिक परिवर्तन के विषय मे पाँच उपागमो की चर्चा की है। ये हैं —* विकासवादी उपागम, संघर्ष उपागम, सांस्कृतिक उपागम (संस्कृतीकरण पश्चिमीकरण लघु व महत् परम्पराए, संकीर्णता और सार्वभौमीकरण) *संरचनात्मक उपागम (प्रकार्यात्मक* तथा द्वन्द्वात्मक मॉडल पर आधारित) तथा एकीकरण उपागम।

विकासवादी उपागम (Evolutionary Approach)

इस उपागम मे एक लम्बी श्रृंखला मे छोटे-छोटे परिवर्तनो के द्वारा सरल से जटिल, धीरे-धीरे से होने वाले विकास का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक परिवर्तन व्यवस्था को थोडा सा बदलता है, लेकिन लम्बे समय बाद परिवर्तन का संचयी प्रभाव नवीन जटिल स्वरूपों को जन्म देता है। उद्‌विकासीय उपागम मे विविध विद्वानो ने चार उप पद्धतियों का प्रयोग किया है : एक रेखीय (Unilinear), सार्वभौमिक (*Universal*) चक्रीय (Cyclical) एवं बहुरेखीय (Multilinear)।

संघर्ष उपागम (Conflict Approach)

इस उपागम के अनुसार आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक समूहों तथा समाज व्यवस्था के विविध अंगों के बीच गहन संघर्षों के माध्यम से अन्य परिवर्तनों को जन्म देता है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि समाज में मतैक्य हो और विविध खण्डों में एकीकरण हो तो परिवर्तन के लिए बहुत कम दबाव रह जायेगा।

सांस्कृतिक उपागम (Cultural Approach)

इस उपागम में समाज के बदलते हुए सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण कर के परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। इसी उपागम के अन्तर्गत एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से तथा मैकिम मैरियट ने सकुचितीकरण व सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से परिवर्तन का अध्ययन किया।

संरचनात्मक उपागम (Structural Approach)

यह उपागम सामाजिक सम्बन्धों के नेटवर्क (जाल) तथा सामाजिक संरचना में परिवर्तन का विश्लेषण करता है (जैसे जाति, नातेदारी, फैक्ट्री प्रशासनिक संरचना, आदि)। इन सामाजिक संरचनाओं और सम्बन्धों की तुलना अन्तःसांस्कृतिक दृष्टि (Intra-culturally) में तथा पर सांस्कृतिक दृष्टि (Cross-culturally) के परे भी की जाती है।

योगेन्द्र सिंह (1977 : 17) के अनुसार परिवर्तन के संरचनात्मक विश्लेषण में सम्बन्धों के संरूपण ((Patterned Relationship) में नये सामंजस्य के गुणात्मक प्रकृति का अध्ययन निहित है। उदाहरणार्थ, जब जीवन साथी का चयन बच्चे स्वयं करते हैं, न कि उनके माता-पिता, तब वैवाहिक सम्बन्धों की गुण संबंधी प्रकृति निश्चय ही भिन्न होगी।

एकीकृत उपागम (Integrated Approach)

योगेन्द्र सिंह (1973 : 22 : 27) मानते हैं कि उपरोक्त कोई भी उपागम भारत में सामाजिक परिवर्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। अत: उन्होंने सामाजिक परिवर्तन में सम्बद्ध विभिन्न विचारों को मिलाकर एक नए उपागम का विकास किया जिसको उन्होंने 'एकीकृत' उपागम कहा है। इस उपागम में उन्होंने (अ) परिवर्तन की दिशा (एक रेखीय या चक्रीय), (ब) परिवर्तन का सन्दर्भ (लघु या वृहद् संरचनात्मक स्तर के द्वारा (स) परिवर्तन का स्रोत (आन्तरिक अथवा वाह्य सम्पर्क द्वारा), (द) परिवर्तन होने वाली घटना का सारभूत क्षेत्र (अर्थात् सांस्कृतिक या सामाजिक संरचना) आदि को मिला दिया है।

स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं है कि परम्परावाद को पूर्णरूपेण अस्वीकार कर दिया जाये। इसका अर्थ है कि परम्परावाद के केवल उन तत्वों को रखा जाये जिनको समाज द्वारा प्रकार्यात्मक माना जाये। इस दृष्टिकोण के आधार पर हमें यह पता लगाना है कि किस सीमा तक भारतीय समाज परम्परागत और किसी सीमा तक यह आधुनिक हो गया है।

यह कहना गलत न होगा कि भारत मे सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमे आधुनिक व परम्परा का स्पष्ट समन्वय दिखाई देता है। एक ओर तो हमने उन विश्वासो, प्रथाओ और संस्थाओ को हटा दिया है, जिनको आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, तो दूसरी ओर हमने उन मूल्यो को अपनाया है जिनको हमने अपने मौलिक उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक माना है जैसे लोगो के जीवन की गुणवत्ता बढ़ाना।

ब्रिटिश काल की तुलना मे आज स्वतंत्रता अधिक है। सामाजिक स्तर मे उन्नति के अधिक अवसर प्राप्त हैं। हम परम्परागत सामाजिक प्रथाओं को छोड़ने तथा नई संस्थात्मक सरचनाओ के निर्माण मे अधिक विवेकी हो गए हैं। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगो की सख्या में कमी हुई है। प्रति व्यक्ति आय मे कई गुणा वृद्धि हुई है तथा पिछडे तथा निम्न जाति के लोगों के लिए उच्च सामाजिक स्थिति की उपलब्धि अब कोई मिथ्या धारणा नहीं रह गई है।

क्या हमने साम्प्रदायिक सौहार्द (Harmony) प्राप्त कर लिया है? क्या हम स्त्रियो को पुरुषो की समानता पर ले आए हैं? क्या हम विभिन्न वर्गों में से उपेक्षा भाव निकालने में समर्थ हुए हैं, जैसे कृषक, औद्योगिक श्रमिक, दैनिक वेतनभोगी, आदि? क्या हम समाजवादी समाज होने का दावा कर सकते हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है कि हमारे समाज में आन्दोलन बढ़ गये हैं और सामाजिक असन्तोष फैल गया है।

विद्यमान वृहद् असन्तोष हमारे समाज मे अनेक बढ़ते हुए विरोधाभासों का परिणाम है। कुछ विरोधाभास (Contradictions) इस प्रकार हैं.— हमारी भूमिकाएं तो आधुनिक हो गई हैं किन्तु हमारे मूल्य अभी भी परम्परागत हैं, हम समतावाद दर्शाते हैं किन्तु भेदभाव का व्यवहार करते हैं, हमारी आकांक्षाएं बहुत ऊंची तो हो गई हैं किन्तु उनकी प्राप्ति के साधन या तो उपलब्ध नहीं हैं या पहुँच से बाहर हैं, हम राष्ट्रवाद की बात तो करते हैं लेकिन क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन देते हैं, हम दावा करते हैं कि हमारा गणतत्र समानता लाने के लिए समर्पित है किन्तु यह जाति व्यवस्था के शिकंजे में जकडा हुआ है, हम तर्कशील होने का दावा करते हैं किन्तु अन्याय व पक्षपात को भी भाग्यवादी भावना से स्वीकार करते हैं, हम उदारीकरण की नीति

की घोषणा करते हैं, फिर भी अनेक नियत्रण लागू करते हैं, हम व्यक्तिवाद का समर्थन करते हैं लेकिन समूहवाद को लागू करते हैं, हम आदर्शवादी सस्कृति का उद्देश्य बनाते हैं लेकिन भौतिक सस्कृति के पक्षधर हैं, अनेक नये कानून लागू किए जाते रहे हैं लेकिन ये कानून पूरी तरह सबको तुरन्त लाभ नहीं पहुँचाते। कार्यक्रम व सरकारी कर्मचारी अनेक हैं किन्तु जन सेवा कम अनेक योजनाएं हैं किन्तु कल्याण कम सरकारी क्षेत्र कम, सरकारी तत्र अधिक हैं।

इन सभी विरोधाभासो का परिणाम यह है कि हमारे समाज मे असन्तोष बढता जा रहा है।

नियोजन तथा सामाजिक परिवर्तन (Planning and Social Change)

किसी निश्चित क्रिया के प्रति प्रतिबद्धता नियोजन कहलाती है। यह सामाजिक सस्थाओ का नवीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियो मे समायोजन है। यह आवश्यक नहीं है कि नियोजन तर्क सगत हो हों क्योंकि यह सदैव विश्वसनीयता वैज्ञानिक सूचनाओ पर आधारित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत मे निर्धनता उन्मूलन के लिए केवल उत्पादन की वृद्धि पर ही बल दिया जाए और जनसख्या विस्फोट के नियत्रण के पक्ष की अपेक्षा की जाती है तब ऐसे नियोजन को तर्कसगत कैसे कहा जा सकता है? सामाजिक नियोजन के निम्न उद्देश्य होते हैं — (i) सामाजिक सगठन मे परिवर्तन एव (ii) सामुदायिक कल्याण, जैसे शिक्षा सुविधाओं मे सुधार करना, नौकरी के अवसरो मे वृद्धि करना, सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना, आदि।

रीमर (Riemer) के अनुसार नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं — (अ) उद्देश्यों का पूर्व निर्धारण और मूल्यों की घोषणा, (ब) मूर्तरूपता (Concreteness) अथवा विषय सामग्री की निश्चितता निधारित करना, (स) विविध कुशलताओं मे समन्वय तथा विविध पेशेवर की ट्रेनिग। योजना की सफलता के लिए कुछ बाते ध्यान रखना आवश्यक है — (i) योजना को प्रारम्भ करने के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ताओ को आगे आना चाहिए, न कि योजना बनाने वालों को, (ii) प्राथमिकताएं पूर्व निश्चित करनी चाहिए, और (iii) निर्णय करने मे मध्यस्थता उस व्यक्ति के द्वारा की जानी चाहिए जो तकनीकी ज्ञान रखता हो और जो दक्षता प्राप्त पेशेवर व्यक्ति हो क्योंकि उसमे विकल्प ढूँढने की क्षमता होती है।

भारत की स्वतत्रता प्राप्ति तक प्रेरित सामाजिक परिवर्तन सम्भव न था क्योंकि— (i) पर्याप्त नियोजन द्वारा विकास की प्राथमिकताओ को पूर्व निश्चित नहीं किया गया था, (ii) उत्पादन की आवश्यकता तथा राष्ट्रीय आय से सम्बधित पर्याप्त आकडे तैयार नहीं किए गए थे, (iii) विकास उद्देश्यों के लिए केवल सीमित विदेशी विनिमय

ही उपलब्ध था, (iv) निजी उद्यमी औद्योगिक विकास में बड़ी पूंजी निवेश करने में कम उत्साही थे क्योंकि सरकारी नीतियाँ उनके लिए सहायक नहीं थीं, (v) विदेशों से कच्चा माल, मशीनें और प्रमुख वस्तुएं आयात करने की सुविधा नहीं थी (vi) जनसंख्या वृद्धि को रोकने के गंभीर प्रयत्न नहीं किए गए थे (vii) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय समितियों के बीच नियोजन प्रक्रिया में तालमेल नहीं था (viii) विश्व युद्धों के कारण मुद्रास्फीति में वृद्धि होती जा रही थी, और (ix) प्रशासनिक प्रक्रिया का विकास *मुख्यत: राज्य के पुलिस कार्यों के उद्देश्य से किया गया था। नौकरशाही को विकास* योजनाओं में रुचि लेने की ट्रेनिंग नहीं दी जाती थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने सन् 1950 में सभी राज्यों और केन्द्रीय योजनाओं में तालमेल बैठाने के उद्देश्य से योजना आयोग का गठन किया। यह आयोग (i) प्राथमिकताओं को निश्चित करने, (ii) देश के *संसाधनों के संतुलित* नियोजन के लिए, (iii) देश की भौतिक पूँजी एवं मानव संसाधनों का मूल्यांकन करने, (iv) *समय-समय पर प्रगति का मूल्यांकन तथा पुन: समायोजन की सिफारिश* करने, और (v) उन कारकों का पता लगाने के लिए जो आर्थिक प्रगति में बाधा डालते हैं, आदि कार्य करने के लिए था।

अप्रैल,1951 में जब प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई तो इसका प्रमुख केन्द्र *बिन्दु कृषि विकास था। द्वितीय योजना में भारी उद्योगों पर बल दिया गया,* जबकि शेष योजनाएं कृषि व औद्योगिक विकास दोनों पर केन्द्रित थीं। प्रेरित परिवर्तन के लिए अन्य प्राथमिकताएँ थीं : परिवार नियोजन, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, 5 से 7 प्रतिशत वार्षिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि, मूल उद्योगों का विकास (लोहा, इस्पात, शक्ति, रसायन), मानव संसाधनों का अधिकतम प्रयोग, आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण, आय वितरण की असमानताएं कम करना, सामाजिक न्याय तथा समानता प्राप्त करना, आदि। यह कहा जा सकता है कि भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना तथा उनके लिए समृद्ध जीवन के अवसर प्रदान करना रहा है।

किन्तु क्या भारत में नियोजन से नियोजित परिवर्तन का उद्देश्य प्राप्त हो सका है? नियोजन की अवधि में आर्थिक विकास की दर विश्व के विकासशील देशों की 7 प्रतिशत से 10 प्रतिशत की वृद्धि की अपेक्षा अच्छी नहीं है।

रोनाल्ड लिप्पिट (Ronald Lippet, 1958 96-99) के अनुसार कहा जा सकता है कि यदि विकास कार्यक्रम को सफल बनाना है तो कुछ सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना होगा। इसके कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं — (i) विकास प्रस्ताव व प्रक्रिया में परस्पर मेल होना चाहिए, (ii) विकास के लक्ष्य समुदाय के लिए सार्थक मूल्य वाले होने चाहिए, (iii) नियोजकों को सामुदायिक, सांस्कृतिक मूल्यों तथा विश्वासों का समुचित ज्ञान होना चाहिए, (iv) विकास प्रक्रिया में समुदाय को भी

सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए, (v) विकास समूचे समुदाय के संदर्भ में होना चाहिए, और (vi) विकास की विविध एजेन्सियों के बीच सम्प्रेषण एवं सहयोग आवश्यक है। जापान, जर्मनी सहित कई देश जिन्होंने प्रगति की है, वे देश है जहाँ न तो कोई योजना आयोग है और न ही कोई योजना। क्या भारत को भी वही रास्ता अपनाना चाहिए?

सामाजिक विकास की अवधारणा एवं सूचक
(The Concept and Indicators of Social Development)

सामाजिक विकास एक ओर मानव आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के बीच तथा दूसरी ओर सामाजिक नीतियों और कार्यक्रमों के बीच अच्छा सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक नियोजित संस्थात्मक प्रक्रिया है। यह समाज में व्यक्तियों के लिए आर्थिक प्रगति को अच्छी जीवन स्थितियों में परिवर्तित करता है। यह गरीबी, निरक्षरता, अज्ञानता, असमानता, विवेकहीनता, तथा समाज में प्रचलित दमन आदि के विरुद्ध एक युद्ध की घोषणा है। इसका उद्देश्य न केवल निर्बलों तथा विशेषाधिकार वंचितों का उत्थान करना है बल्कि सभी नागरिकों के जीवन की गुणवत्ता को सुधारना है। यदि सामाजिक विकास की पूर्वावश्यकता सभी नागरिकों को अपने समाज निर्माण में भागीदार है, तो लोगों का यह भी विशेषाधिकार है कि सामान्य प्रयत्नों में भागीदारी का भी वे लाभ उठाए।

सामाजिक विकास का अभिकल्प (Design) निर्धारित करने में चार बातें निहित हैं — (i) समाज में लोगों की आवश्यक्ताओं का आकलन, (ii) समाज में कुछ रचनात्मक परिवर्तनों को प्रारम्भ करना, जिसमें कुछ पुरानी प्रथाओं का उन्मूलन, कुछ नयी परम्पराओं की स्थापना व कुछ विद्यमान संस्थाओं को बदलना सम्मिलित है, (iii) संस्थाओं को व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी बनाना जिसमें वे कुछ चुने हुए व्यक्तियों व समूहों के लिए ही नहीं, अपितु समाज के सभी खण्डों के हित के लिए कार्य कर सके, और (iv) निर्णय लेने की प्रक्रिया में लोगों को सम्मिलित करना, अर्थात् नियोजन को जमीनी स्तर (Grassroots Level) तक ले जाना।

सामाजिक विकास के अभिकल्प (Design) तैयार करने की विधि में पाँच सोपान हैं — (i) नीति नियोजन (Policy Planning), अर्थात् उद्देश्य निश्चित करना तथा वरीयताएं एवं रणनीतियां तैयार करना, (ii) कार्यक्रम बनाना (Programming), अर्थात् संसाधनों का आवंटन, (iii) क्रियान्वयन (Administering), अर्थात् निर्णय लेने की प्रक्रिया में जनता की भागीदारी, (iv) संगठन (Organising), अर्थात् लोगों को सेवाओं तथा संसाधनों से लाभ उठाने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्था को बदलने के लिए तैयार करना और, (v) मूल्यांकन (Evaluation) अर्थात् उद्देश्यों और क्रियान्वयन के बीच की दूरी को मापना तथा भविष्य की योजनाओं के लिए प्रतिपुष्टि (Feedback) देना।

सामाजिक विकास के महत्वपूर्ण सूचक (Indicators) हैं — (i) जीवन स्तर में परिवर्तन, (ii) गरीबी उन्मूलन, (iii) शिक्षा मे विस्तार, (iv) रोजगार स्तर मे वृद्धि, (v) सामाजिक न्याय, अर्थात् अवसरो का समान वितरण (vi) कमजोर समूहो का उत्थान, (vii) जीवन की विविध अनिवार्य आवश्यकताओं हेतु सुरक्षा प्रदान करना (viii) समाज कल्याण सुविधाओं मे सुधार (ix) असमानताओं— क्षेत्रीय प्रखण्डीय तथा सामाजिकता मे कमी लाना (x) स्वास्थ्य रक्षण एव विकास, (xi) पर्यावरण सरक्षण, और (xii) विस्तार कार्यक्रमो मे सभी की भागीदारी जिसमे गुण तथा संरचनात्मक दोनो प्रकार के परिवर्तन सम्मिलित हो।

✧✧✧

12

संस्कृति

(Culture)

सस्कृति की धारणा (Concept of Culture)

किसी समाज या समूह के जीवन का तरीका ही सस्कृति है जिसमें उस समूह के सभी भौतिक व अभौतिक उत्पाद शामिल हैं जो एक पीढी से दूसरी पीढी को प्रेषित होते हैं। टायलर (Edward Tylor) ने इसे जटिल सम्पूर्णता जिसमे ज्ञान, विश्वास कला नैतिकता, कानून, प्रथा तथा अन्य वे सभी क्षमताए और आदते जो मानव द्वारा समाज के एक सदस्य के रूप मे अर्जित की जाती हैं, सम्मिलित हैं, के रूप मे परिभाषित किया है। (*Primitive Culture*, Vol I 1871) क्रोबर एव क्लक्होन (Krober and Kluckhohn) ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है "व्यवहार के व्यक्त अथवा अव्यक्त पैटर्न जो प्रतीक के रूप मे उपार्जित व सप्रेषित किए जाते हैं"। सस्कृति का आवश्यक सार परपरागत धारणाओ व मूल्यो मे निहित रहता है। हॉर्टन एव हण्ट ने सस्कृति को "वह सब जो समाज मे रहकर सीखा जाता है तथा समाज के सदस्यो द्वारा जिसका अनुसरण किया जाता है" के रूप मे परिभाषित किया है। ब्रूम एव सेल्जनिक (Broom and Selznick) के अनुसार सस्कृति का अभिप्राय सामाजिक विरासत से है। मलिनोस्की (Malinowski) ने वर्णन किया है कि शरीर पोषण, सन्तानोत्पत्ति, शारीरिक आराम, सुरक्षा, गति वृद्धि और स्वास्थ्य, मनुष्य की सात आधारभूत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि प्रत्येक सस्कृति करती है।

किसी संस्कृति के व्यक्त पहलू वे होते हैं जिनका समाज के सदस्यों को सम्पूर्ण ज्ञान होता है तथा जिन्हें प्रत्यक्ष में अवलोकित किया जा सकता है। इनमें सही या गलत के मान्यता प्राप्त मानदंड, व्यवहार के विशिष्ट पैटर्न तथा तकनीकी शामिल हैं। इसे कभी-कभी प्रकट संस्कृति भी कहते हैं।

संस्कृति के अव्यक्त पहलू वे होते हैं जिनका समाज के सदस्यों को या तो आंशिक ज्ञान होता है अथवा बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। इसमें व्यवहार व विचारों के पीछे अंतर्निहित कल्पनाएं व आधार शामिल होते हैं जिन्हें प्राय: शब्दबद्ध अथवा मान्य नहीं किया जाता। अव्यक्त संस्कृति को कभी कभी अप्रकट संस्कृति कहते हैं।

भौतिक संस्कृति में सभी मानव निर्मित भौतिक व नैसर्गिक वस्तुएं शामिल हैं जैसे संचार के साधन, मशीनें, औषधियाँ, कलात्मक वस्तुएं जो लोगों द्वारा अपनी सुख-सुविधा प्रकृति से आत्मरक्षा करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं यद्यपि वे उनके द्वारा निर्मित भले ही न हो। अभौतिक संस्कृति में सभी मानव निर्मित मानदंड, विचार, रूढ़ियाँ, तकनीकी कौशल, ज्ञान, आस्थाएं, अभिवृत्तियां तथा भाषा शामिल हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाई जाती हैं। इस प्रकार क्रिकेट में बल्ले, गेंद, स्टम्प, दस्ताने, आदि भौतिक संस्कृति के अंग हैं जबकि अभौतिक संस्कृति में शामिल होंगे खेल के नियम, खिलाड़ियों के कौशल, खिलाड़ियों व दर्शकों का पारंपरिक व्यवहार। भौतिक संस्कृति सदैव अभौतिक संस्कृति का परिणाम होती है तथा उसके बिना निरर्थक होती है। हम संस्कृति के अवयवों अथवा अंगों के रूप में अभौतिक संस्कृति की विशेषताओं की चर्चा आगे करेंगे।

संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं : यह सार्वत्रिक है किन्तु प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है अर्थात लोगों के रहने का एक निश्चित तरीका, तथा उनके जीवन का पूर्ण डिजाइन। समाज 'संस्कृत' अथवा 'असंस्कृत' नहीं होते। संस्कृति में भिन्नता हो सकती है किन्तु संस्कृति विहीन समाज नहीं हो सकता। संस्कृति मानव निर्मित होती है, इसे सीखा जाता है, इसे पीढ़ी दर पीढ़ी संप्रेषित किया जाता है, इसमें अनुकूलन एवं एकीकृत करने का गुण होता है, यह स्थाई होती है फिर भी गतिशील होती है, यह मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि करती है, इसमें विशेष गुण होता है तथा यह समूह के लिए आदर्श होती है, यह अति-व्यक्तिगत होती है।

संस्कृति समाज को क्रियाशील बनाने हेतु आवश्यक कौशल प्रदान करती है। उदाहरण के लिए भारत में अधिकांश जनजातियों में तकनीकी अल्पविकसित है किन्तु उन्होंने रिश्तेदारी का तंत्र विकसित किया है। दूसरी ओर अमेरिकियों में तकनीकी सबसे अधिक विकसित है किन्तु उनका रिश्तेदारी का तंत्र बहुत सरल है।

संस्कृति ज्ञान के किसी विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित नहीं होती। इसमे मानवीय गतिविधियो के सपूर्ण क्षेत्र से निकाले हुए व्यवहार के तरीके शामिल हैं। भारतीय जनजातियो जैसे सथाल, मुण्डा आदि के रहने के प्रत्यक्ष डिजाइन उनकी सस्कृति के उसी प्रकार से भाग हैं जैसे विकसित भारतीयो अथवा अमेरिकन अथवा यूरोपियन के। सस्कृति मे केवल कला, सगीत व साहित्य की तकनीकी व विधिया ही शामिल नहीं होतीं बल्कि वे तकनीकी व विधियाँ शामिल होती हैं जो भवन बनाने, कार बनाने अथवा कपडे सीने मे उपयोग मे लाई जाती हैं।

संस्कृति के आयाम (Dimensions of Culture)

सस्कृति के तीन प्रमुख आयाम हैं — (i) सज्ञानात्मक आयाम (ii) भौतिक आयाम और (iii) नियामक आयाम

सभ्यता और सस्कृति (Civilisation and Culture)

सभ्यता का आशय उस सम्पूर्ण यत्र पद्धति तथा सगठन से है जिसकी मानव ने अपने जीवन की परिस्थितियो पर नियत्रण प्राप्त करने के प्रयास मे रचना की है। सभ्यता, सास्कृतिक विकास के स्तर को प्रकट करती है। सस्कृति हमारे रहन-सहन तथा सोचने समझने की शैली मे, हमारे प्रतिदिन की बातचीत मे कला, साहित्य, धर्म, मनोरजन आदि मे हमारे स्वभाव की अभिव्यक्ति है। आगबर्न एव निमकॉफ के अनुसार सभ्यता अति जैविक (Super-organic) सस्कृति का उत्तरीय पक्ष है। गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने सभ्यता को सस्कृति का समानार्थक माना है। ए डब्ल्यू ग्रीन (A W Green) का विचार है "सस्कृति उसी समय सभ्यता बनती है जब यह लिखित भाषा, विज्ञान, दर्शन विशिष्ट श्रम विभाजन तथा एक जटिल प्रौद्योगिकी एवं राजनीतिक प्रणाली को ग्रहण कर लेती है।" सभ्यता और सस्कृति मे अन्तर—

(i) सभ्यता के मापन का एक परिशुद्ध मापक होता है, सस्कृति का नहीं।

(ii) सभ्यता निरतर आगे बढती रहती है, सस्कृति सदैव आगे नहीं बढती।

(iii) सभ्यता एक पीढी से दूसरी पीढी को बिना किसी प्रयास के हस्तान्तरित हो जाती है, सस्कृति के साथ ऐसा नहीं होता।

(iv) सभ्यता बिना किसी परिवर्तन या हानि के उद्धृत की जाती है, सस्कृति नहीं।

(v) सभ्यता वाह्य एव यात्रिक है, सस्कृति आतरिक व जैविक है।

सभ्यता और सस्कृति एक दूसरे से पृथक हैं, किन्तु वे एक दूसरे से विलग होकर जीवित नहीं रह सकतीं।

संज्ञानात्मक आयाम (Cognitive Dimension)

सज्ञान व्यक्ति को विचार करने, कल्पना करने, पहचानने व स्मरण रखने योग्य बनाता है। संस्कृति के सज्ञानात्मक आयाम का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है — सत्य किसे समझा जाता

है इस संबंध मे आस्थाए एव विचार। आस्था किसी वास्तविकता का कथन है जिसे व्यक्ति द्वारा सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है। आस्था तथा मूल्य मे अंतर होता है। मूल्य का सबध व्यक्ति जिसे अच्छा तथा वाछनीय समझता है उससे होता है जबकि आस्था व्यक्ति जिसे सत्य तथा वास्तविकता समझता है उसको व्यक्त करने वाला कथन होता है। आस्था इद्रियानुभाविक प्रेक्षण तर्क, परम्परा विश्वास पर अथवा अन्य लोगो के द्वारा स्वीकृति के आधार पर हो सकती है। अत: हम वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक आस्थाओ के बारे मे कह सकते हैं। आस्थाए व्यक्ति की विश्व से सबधित धारणाओ की मूल सरचना होती है तथा वे रूपरेखाए होती हैं जिनसे उसे अवबोधन होता है। आस्था सत्य अथवा असत्य हो सकती है। उदाहरण के लिए हिन्दुओ की आस्था है कि आत्मा अमर होती है तथा मृत्यु के बाद प्रत्येक व्यक्ति पुनर्जन्म लेता है। अनेक जनजातिया इस बात मे आस्था रखती हैं कि यदि दूर कोइ कुत्ता रोता है तो वह उनके परिवार के किसी व्यक्ति की मृत्यु का द्योतक होता है।

आस्थाओ का अपना महत्व होता है क्योकि लोग उन्हे सत्य के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा अपनी क्रियाए उन्हीं आस्थाओ पर आधारित करते हैं।

भौतिक आयाम (The Material Dimension)

भौतिक आयाम किसी सस्कृति के अन्दर आने वाली मूर्तरूप एव ठोस वस्तुओ की ओर सकेत करती है— कुर्सी, टेबल, स्वचालित वाहन, पंखे, चित्र आदि।

नियामक आयाम (The Normative Dimension)

संस्कृति के नियामक आयाम में एक साधारण व्यवहार के सबंध में विचारों का समावेश होता है। नियामक आयाम के सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं— मानदंड, लोकरीति, लोकाचार, मूल्य, दण्ड विधान, सकेत, सस्थाए एव विधि।

संस्कृति के घटक (Components of Culture)

सकेत, भाषा, मानदड, मूल्य, आस्थाए, लोकरीति (Folkways), लोकाचार (Mores), दण्ड विधान, सस्थाएं एव विधि या अथवा कानून संस्कृति के घटक होते हैं।

समाजिक मानदंड (Social Norms)

मानक लोगो के समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार के बारे मे उनकी आकांक्षाओं से परिभाषित नियम अथवा मानदंड होते हैं। किन्हीं विशिष्ट सामाजिक स्थितियों में उचित एवं उपयुक्त व्यवहार हेतु मानदंड मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में किसी विशिष्ट समाज में किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियो मे लोगों को कैसा व्यवहार करना चाहिए इसे मानदड परिभाषित करते हैं। किसी सामाजिक समूह में व्यक्ति की भूमिका के दायित्वों की व्याख्या उस समूह के सामाजिक मानदंडों द्वारा की जाती

है। लोगो के प्रकट व्यवहार का अवलोकन कर तथा लोग उनके बारे मे क्या कहते हैं यह जानकर मानदडो का अध्ययन किया जाता है। नवविवाहित वधू द्वारा अपने सास–ससुर के पैर छूना, एक अमेरिकन व्यक्ति द्वारा काँटे व चम्मच से भोजन करना मुसलमानों द्वारा रमजान के महीने मे नमाज अदा करना, सामाजिक मानदडो के कुछ उदाहरण हैं। मानदड प्रत्येक समाज मे भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए भारत मे जब दो लोग पहली बार मिलते हैं तो वे हाथ जोड़कर व नमस्ते कहकर एक–दूसरे *का अभिवादन करते हैं, पाश्चात्य समाज मे हाथ मिलाकर, जापान मे झुककर,* अमेरिका मे दोनो गालो को चूमकर अभिवादन किया जाता है। समाज के प्रत्येक सदस्य का उत्तरदायित्व है *कि वह सामाजिक मानदडो के* अनुसार व्यवहार करे, जैसे एक से अधिक व्यक्ति से विवाह न करना। किन्तु कुछ मानदड कुछ व्यक्तियो पर ही लागू होते हैं, शेष पर नहीं, जैसे रुढिवादी हिन्दू परिवारो मे विधवाओ द्वारा तापसी जीवन व्यतीत करना किन्तु जनजातीय समाजो मे अथवा कुछ ग्रामीण समाजो मे ऐसा नहीं है। किन्हीं क्षेत्रो मे विधवा का उसके देवर से विवाह करना एक सामाजिक *मानदड है तो किन्हीं अन्य क्षेत्रों में ऐसा करना सख्त मना है। कक्षाओ मे छात्रो का* व्यवहार फैक्ट्री मे श्रमिको का व्यवहार, दुकानो मे विक्रेताओ का व्यवहार आदि विशिष्ट नियत मानदडो पर आधारित होता है। इस प्रकार मानदड यह सुनिश्चित करते हैं कि सामाजिक जीवन निर्बाध रूप से चलता रहे क्योंकि मानदड न केवल व्यक्तियो को उनके व्यवहार हेतु मार्गदर्शन देते हैं बल्कि वे दूसरो के व्यवहार के बारे मे विश्वसनीयता व अपेक्षाए भी निर्धारित करते हैं। मानदड (Norms) जब सस्थागत (Institutionalised) हो जाते हैं तो प्रत्येक अवसर पर उनका पालन किया जाता है। 'अपराधी को दण्ड *अवश्य मिलना चाहिए' कथन मानक की ओर निर्देशित (refer)* करता है।

यद्यपि अधिकाश लोग अधिकाश मानदडो के अनुसार सदैव व्यवहार करते हैं, फिर भी कुछ लोग कभी-कभी उनका उल्लघन भी करते है। कुछ मानदडो (लोकरीतियो) का उल्लघन सहन किया जा सकता है किन्तु अन्य मानदडो (लोकाचारों) का नहीं। इस प्रकार मानदड व्यवहार की रूपरेखा होते हैं। वे व्यक्तियो के लिए सीमाए निर्धारित करते हैं जिनके अंदर ही उन्हे अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतु वैकल्पिक तरीके खोजने होते हैं। मानदड सास्कृतिक मूल्यों पर आधारित होते हैं जिनका नैतिक मानदण्डो, विवेक अथवा निर्णयो द्वारा औचित्य सिद्ध होता है।

अधिकाश लोग अनजाने मे ही इस प्रकार मानदडो का पालन करते हैं कि वे मानदडो द्वारा किए जाने वाले कार्यों को स्पष्ट रूप से देख नहीं पाते। मानदडो के अभाव मे व्यवहार अप्रत्याशित हो जाएगा। मानदडो की अनुपस्थिति मे समाज ही नहीं होगा।

मानदडो के साथ जुडी हुई भावनाओ की तीव्रता के अनुसार ही मानदडो को लोकरीतियो व लोकाचारो मे वर्गीकृत किया जाता है तथा उसी के अनुसार उनके पालन की अपेक्षाओ की मात्रा निर्धारित होती है। हम इन दोनो की पृथक से चर्चा करेंगे।

अधिकांश मानदडो का महत्व समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। भारत मे बीसवीं सदी की प्रथम चौथाई मे तलाक को कभी भी सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। किन्तु कुछ राज्यों ने सन् 1930 के बाद कानून बनाकर कुछ परिस्थितियो मे तलाक की अनुमति दे दी। सन् 1950 के बाद से तलाको की सख्या मे निरतर वृद्धि हो रही है। यहाँ तक कि जो महिलाए तलाक हेतु स्वय कानूनी पहल करती हैं उन्हे घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। इसी प्रकार हमारे समाज के कुछ तबको मे आज महिलाओ द्वारा धूम्रपान व मदिरापान को भी सहन किया जाने लगा है।

नैतिक मूल्य सदैव मानदडो से सम्बद्ध होते हैं। मूल्य और मानदडो मे अन्तर-

(i) *क्या अच्छा ह, सही है, विवेकपूर्ण या हितकारी है के बारे मे विचार को* मूल्य कहते हैं। सामाजिक रूप से मान्य व्यवहार मानदड हैं।

(ii) मानदड सास्कृतिक विशेषताए हैं, जबकि मूल्य एसे नहीं है।

(iii) मानदड सदैव अनुज्ञाओ से अनुमोदित होते हैं, जबकि मूल्य मे यह बात नहीं।

(iv) मानदड विशिष्ट और मूल्य सामान्य होते हैं।

लोकरीतियाँ (Folkways)

जनरीतियाँ एवं लोकरीतियाँ समानार्थी हैं। 'लोकरीतियाँ' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम ग्राहम समनर (William Graham Sumner) ने सन् 1906 मे अपनी पुस्तक *Folkways* में किया। लोकरीतियां नित्य जीवन के व्यवहार तथा परिपाटियों के वे मानदड होते हैं जिन्हे समाज की स्वीकृति तो प्राप्त होती है किन्तु *नैतिक महत्व का नहीं माना जाता। ये किसी समाज अथवा सामाजिक समूह के अन्दर सदस्यों* के उचित व्यवहार की अपेक्षाएं हैं। लोकरीतियों का पालन मुख्यत: पीढ़ी दर पीढी बच्चों के समाजीकरण के माध्यम से ही सुनिश्चित होता है। उदाहरण के लिए अपने घर के बाहर कचरा न फेंकना, कर्मीज से नाक साफ न करना, ऑफिस में *समय पर पहुंचना, मुलाकातों में समय का पालन करना आदि लोकरीतियां हैं।*

लोकरीतियों का पालन कानून द्वारा न कराकर अनौपचारिक रूप से सामाजिक नियंत्रण द्वारा कराया जाता है। इन्हें उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना लोकाचारों (Mores) व नैतिक मानदंडों को दिया जाता है और न ही इनका पालन बाध्यकर होता है। साथ ही इनका उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड भी नहीं दिया जाता। लोकरीतियों की धारणा का प्रयोग आज समाजशास्त्रियों द्वारा कभी-कभी ही किया जाता है।

लोकाचार (Mores)

इस शब्द का प्रयोग भी समनर (Sumner) ने ही किया। समनर का कथन है कि जब लोकरीतियाँ (Folkways) मनुष्य के व्यवहार को नियमित करने लग जाती हें तो आचरण की नियत्रक बन जाती है, उन्हे लोकाचार या रढिया (Mores) कहते हैं। लोकाचार किसी समाज अथवा समूह के नैतिक व्यवहार के मानदण्ड होते हैं। इनका पालन करना स्वैच्छिक नहीं होता। इनके उल्लघन को गभीरता से लिया जाता हैं तथा इसके लिए दण्ड भी होता है। बाजार मे नग्नावस्था में घूमना, किसी का पैसा चुराना, नशीली वस्तुओ का सेवन करना, राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करना, धार्मिक प्रतीको का तिरस्कारपूर्ण प्रयोग करना, ये सभी लोकाचारो के उल्लघन के उदाहरण है। इनके उल्लघनकर्ताओ की भर्त्मना की जाती ह, उनकी आलोचना की जाती है, उन्हे मनोचिकित्सालयो मे भेज दिया जाता है और यहा तक कि कारावास का दण्ड भी हो सकता है। इस प्रकार शालीन समाज के लिए लोकचारो को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। लोकाचारो के प्रति समूह के सदस्यो का भावनात्मक लगाव होता है तथा इन्हे सुरक्षित बनाए रखना समाज के हित मे समझा जाता है। लोकाचारो का पालन अनौपचारिक रूप से कराया जाता है जिन्हे कानून के रूप मे पारित करना आवश्यक नहीं माना जाता, यद्यपि कुछ लोकाचारो को कानूनी जामा पहनाया जा चुका है।

लोकाचारो के कुछ उल्लघनो को निषिद्ध माना जाता है जैसे अपने निकट सबधी से विवाह करना, हिन्दुओ मे गो मास तथा मुसलमानो मे सूअर का मांस खाना आदि।

रॉबर्ट (Robert) ने कहा है कि सभी सामाजिक मानदडो को विशेषत: लोकरीतियो अथवा लोकाचारो मे वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। कुछ मानदडो को दिया जाने वाला महत्व भी बदलता रहता है। उदाहरण के लिए एक समय ऐसा था, जब विधवाओ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे सादा व कठोर जीवन व्यतीत करे व अपने सिर के बाल कटा ले। किन्तु अब इस मानदड का पालन कोई नहीं करता। इसके विपरीत कई समुदायो द्वारा विधवा विवाहो को प्रोत्साहित किया जाता है।

हॉर्टन एव हण्ट के अनुसार लोकाचारो को जान-बूझकर इसलिए नहीं बनाया जाता कि कोई यह निश्चित करता है कि इन्हे बनाना अच्छा विचार है। बल्कि वे परपरागत रीतियो को व्यक्तियो द्वारा अनजाने मे बिना किसी इरादे अथवा विकल्प के उनके पालन से धीरे-धीरे विकसित होते हैं। लोकाचारो का उदय समूह के इस विश्वास के साथ होता है कि एक विशेष कार्य हानिकारक है व इसे निषिद्ध करना चाहिए अथवा इसके विपरीत कोई कार्य आवश्यक है तो इसे अपनाना चाहिए। इस प्रकार लोकाचार मे सामूहिक आस्थाए होती हैं जो समूह के लिए लाभकारी होती है। जब अधिक से अधिक लोग इनको स्वीकार करते हैं तो वे स्व-मान्य, स्थाई व पवित्र हो जाते हैं। उनके बारे मे संदेह करना अच्छा नहीं समझा जाता तथा उनका

उल्लंघन अक्षम्य होता है अत: यह दडनीय होता है। जब ये लोकाचार संपूर्ण रूप से आत्मसात हो जाते हैं तो ये लोगो के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। उनका उल्लघन लोग निषिद्ध मानते हैं तथा उनका उल्लघन करने हेतु मानसिक रूप से तैयार नहीं रहते।

कानून (Law)

समनर के शब्दों में "लोकरीतियाँ (जनरीतियाँ) और रूढियाँ (लोकाचार) जन्म लेती हैं और बढती हैं (Cresive) जबकि कानून हमेशा बनाये जाते है (Enacted)।" कानून वे नियम होते हैं जिन्हे राजनैतिक सत्ता जैसे ससद, विधान सभा, महानगर पालिका आदि के द्वारा औपचारिक रूप मे पारित किया जाता है तथा उन्हे राज्य की स्वीकृति प्राप्त होती है। इन्हे सामाजिक नियत्रण हेतु विशेष रूप से स्थापित किया जाता है। कानूनो को औपचारिक जन/राजनैतिक सत्ता द्वारा पारित किया जाता है, उनका पालन करवाया जाता है तथा उनकी व्याख्या की जाती है। यह परपराओं के माध्यम से नहीं होता। कानून नागरिकों से सबंधित, अपराध संबधी, ग्राहक संबंधी तथा नियत्रण सबंधी हो सकते हैं जैसे यह नियम (कानून) कि एक सजा प्राप्त व्यक्ति चुनाव नहीं लड सकता। कानून पारित कर नए मानदंडों को लागू करने के प्रयास विफल भी होते हैं जैसे भारत मे आंध्र प्रदेश, हरियाणा व गुजरात मे मद्य निषेध कानून। अंतत: इन कानूनों को वापस लेना पड़ा।

मानदंड (जैसे एक विवाह प्रथा, व्यभिचार निषेध)

संस्थागत
↓
कानून जैसे व्यक्तिगत सपत्ति की रक्षा चोरी आदि व्यक्तियों में सवेगात्मक क्रोध व घृणा उत्पन करते हैं कारावास की सजा दी जाती है।
↓
कठोर दण्ड निर्धारित
↓
राज्य अथवा सामाजिक अथवा राजनैतिक सत्ता द्वारा पालन करवाया जाता है।

असस्थागत
↓
लोकाचार (Mores)
(तीव्र सवेगात्मक प्रतिक्रिया व नियत्रण)
↓
जैसे एक विवाह प्रथा का उल्लघन करने वाला व्यभिचारी व अनैतिक माना जाता है।
↓
तीव्र सवेग को जन्म
↓
कठोर दण्ड, भर्त्सना व सामाजिक बहिष्कार
↓
लोक-भावनाओं द्वारा प्रवर्तित

लोकरीतियाँ (Folkways)
(क्षीण सवेग एव नियत्रण)
↓
जैसे औपचारिक अवसरों पर सही पोशाक वृद्ध लोगों से बोलते समय उपयुक्त भाषा व नियत्रित आवाज व स्वर आदि।
↓
कम सवेगों को जन्म
↓
सौम्य दण्ड
↓
मित्रों, सबधियो, जनता, पडोसियों द्वारा प्रवर्तित

मूल्य (Values)

क्या अच्छा योग्य व वाछनीय है इस सबध मे समाज मे व्याप्त विचारो को मूल्य कहते हैं। मूल्य व्यवहार के सामान्यीकृत मापदड होते हैं जिनके प्रति किसी समूह के सदस्यो मे तीव्र सवेगात्मक व सकारात्मक प्रतिबद्धता होती है तथा जो विशिष्ट कार्यों व लक्ष्यो का मूल्याकन करने हेतु मापदड प्रदाय करते हैं। मेकियन्स एव प्लमर (*Sociology* 1997 107) के अनुसार मूल्य सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे परिभाषित मानदड होते हैं जिनके द्वारा लोग वाछनीयता तथा अच्छाई का मूल्याकन करते हैं तथा जो सामाजिक जीवन हेतु वृहद मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। सरल भाषा मे मूल्य क्या होना चाहिए इस सबध के कथन होते हैं। मूल्य समूह की सदस्यता तथा प्रत्येक सदस्य की व्यक्तिगत प्रतिबद्धता के कारण स्वीकार्य होते हैं। न्याय, स्वतत्रता, देशभक्ति आदि मूल्यो के उदाहरण है। नैतिक मूल्य सदैव मानदडो से सम्बद्ध होते हैं। मानदड मूल्य तटस्थ (Value Neutral) होते हैं।

राबर्टसन (Robertson) के अनुसार मूल्यो व मानदडो मे यह अतर है कि मूल्य अमूर्त व सामान्य धारणाए हैं जबकि मानदड विशिष्ट परिस्थितियों मे लोगो के व्यवहार के नियम होते हैं। हॉर्टन एव हण्ट (1984 63) के अनुसार मूल्य व लोकाचारो मे यह अतर है कि लोकाचार कोई कार्य सही है अथवा गलत इस सबध के विचार होते हैं जबकि मूल्य अनुभव महत्वपूर्ण है अथवा नहीं इस सबध मे विचार होते हैं। उदाहरण के लिए शास्त्रीय सगीत सही है अथवा गलत, इस सबध मे लोगो के मत मे कोई अन्तर नहीं है। किन्तु कुछ लोग इस सगीत को सुनना जीवन का महान अनुभव मानते हैं जबकि कुछ अन्य लोग इसे नीरस समझते हैं। प्रत्येक समाज मे कुछ मूल्यो को अन्यो की तुलना मे अधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए अमेरिका समाज मे भौतिक प्रगति, व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा आदि को प्रमुख मूल्य समझा जाता है जबकि भारतीय समाज मे साझा करना, सहयोग, अहिंसा आदि को महत्वपूर्ण मूल्य माना जाता है।

आस्थाओ व मूल्यो के बीच अतर यह है कि आस्थाए वे विशिष्ट कथन होते हैं जिन्हे लोग सत्य मानते हैं जबकि मूल्य अच्छाई के अमूर्त मानदड होते हैं।

मूल्य हमे केवल हमारे परिवेश को हम किस प्रकार देखते हैं यही नहीं बताते बल्कि वे हमारे व्यक्तित्व का सार होते हैं। हम परिवारो, शैक्षिक सस्थाओ तथा धार्मिक सगठनो से सीखते हैं कि स्वीकृत धारणाओ के अनुसार किस प्रकार कार्य किया जाए, हमारे लक्ष्यो को प्राप्त करने हेतु कैसे प्रयास किए जाए तथा अनेक सास्कृतिक तथ्य भी सीखते हैं। साथ ही हम यह भी सीखते हैं कि तथ्यों के विकल्पो को किस प्रकार अस्वीकार किया जाए। यदि कोई समाज महिला-पुरुष समानता के मूल्य को मानता है तो

उसके मानदंडो में महिला व पुरुषो को समान मजदूरी अपने जीवन साथी को तलाक देने के समान अधिकार महिलाओं को अपने पिता तथा पति की सपत्ति मे हिस्सा आदि का प्रावधान (हो सकता है कानून बनाकर भी) कर सकते हैं।

यदि कोई समाज परिवार नियोजन हेतु साक्षरता के उच्च स्तर को आवश्यक मानता है तो वह अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करेगा। यदि कोई समाज उत्तर किशोरावस्था विवाह प्रथा को मानता है तो उस समाज के कानून लोगो को 18 वर्ष से कम आयु मे विवाह करने की अनुमति नहीं देंगे। यदि समाज एकल विवाह पद्धति को स्वीकार करता है तो उसके कानून किसी भी व्यक्ति को एक समय पर एक से अधिक विवाह करने की अनुमति नहीं देंगे। इस प्रकार मानदंडो का उदय मूलभूत सामाजिक मूल्यो से ही होता है।

भारतीय समाज मे किसी समय कुछ विशिष्ट मूल्यो पर जोर दिया जाता था किन्तु आज के समाज मे ये मूल्य पूर्णत बदल गए हैं। उदाहरण के लिए (अस्पृश्य) जातियों पर पाबंदियां बारह वर्ष से पूर्व ही कन्याओं का विवाह मुस्लिम महिलाओं का सार्वजनिक स्थानो पर पर्दा करना आदि। कुछ मूल्यो को इतना मानवीय माना जाता है कि उन्हे सभी समाजो की मान्यता प्राप्त है जैसे समानता स्वतंत्रता, न्याय राष्ट्रीयता आदि। जटिल समाजो मे मूल्यों संबंधी असहमतियो का कोई अन्त नहीं होता तथा मूल्य समय-समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। मूल्यो मे परिवर्तन का प्रभाव लोकरीतियो व लोकाचारो पर भी पडता है। उदाहरण के लिए वैवाहिक संबंधो मे मूल्यो के पवित्रय के कमजोर होने तथा तलाक की अनुमति देने से पारिवारिक जीवन के पैटर्न पर भी प्रभाव पडा है।

संस्थाए (Institutions)

सस्थाए सामाजिक संबंधो, सामाजिक भूमिकाओं तथा सामाजिक मानदंडो का एक संगठित तंत्र हैं जो कुछ मूलभूत आवश्यकताओं अथवा कार्यों की संतुष्टि के लिए बनायी जाती हैं। सस्था व्यवहार के मानदड, मूल्य तथा आदर्श प्रदान करती है जो सही व वांछित व्यवहार जो आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक होता है। हॉर्टन एवं हण्ट ने कहा है कि प्रत्येक समाज मे पाच मूलभूत सस्थाएं विद्यमान होती हैं: परिवार, धर्म, सरकार, शिक्षा एव आर्थिक सस्थाए (अथवा आर्थिक व्यवहार में व्यस्त सस्थाए)। आर्थिक सस्थाए सामाजिक मानदड प्रदान करती हैं जो मैनेजर, मजदूर, क्लर्क, ग्राहक, कृषक, तथा अन्य सभी लोगों के लिए जिनका संबंध आर्थिक क्रियाओं से होता है, की भूमिकाओं के लिए उचित व्यवहार की व्याख्या करती है। किसी एक सामाजिक संस्था मे अनेक समूहो का समावेश हो सकता है। उदाहरण के लिए किसी एक आर्थिक सस्था मे व्यापारिक सगठनो का समावेश हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि एक सस्था मे (1) ऐसे व्यवहार के पैटर्न जो पूर्णतः मानदंडीकृत

हो चुके हैं (ii) उनके सहायक लोकाचार, अभिवृत्तिया तथा मूल्य तथा (iii) परपराओ औपचारिक अनुष्ठान समारोह तथा प्रतीक आदि शामिल होते हैं।

प्रतीक (Symbols)

समाजशास्त्रियो के अनुसार प्रतीक वे स्वैच्छिक चिन्ह होते हैं जिन्हे किसी एक सस्कृति को मानने वाले लोगो द्वारा विशिष्ट अर्थ के रूप मे मान्यता दी जाती है। ये समान सामाजिक प्रतिक्रिया विकसित करते हैं तथा इस अर्थ म स्वेच्छिक होते हैं। ये वस्तुओ आदि मे अतर्निहित नहीं होते किन्तु उन व्यक्तियो के गहन अध्ययन तथा सर्वसम्मति से निकलते हैं जो इनका प्रयोग सम्प्रेषण मे करते हैं। मानव आपस मे सम्प्रेषण प्रतीकात्मक रूप से शब्दो हावभाव तथा क्रियाओ मे करते हैं। ध्वज भारतीय (हिन्दू) महिला के माथे पर सिदूर, विवाह की अगूठी, गले मे मगल सूत्र ट्रैफिक की लाल बत्ती हवा मे लहराती मुट्ठी आदि इन प्रतीको के उदाहरण हे जिन्हे सभी लोग मानते हैं। किन्तु विदेश म व्यक्तियो को प्रतीको के पहचानने मे कठिनाई होती हे। कभी-कभी प्रतीको के अर्थ समझने मे असमर्थ होने पर उन्हे सास्कृतिक सदमा पहुचता हैं। वे स्वय को एकाकी व किकर्तव्य विमूढ पाते हैं। किसी एक समाज मे भी प्रतीको के अर्थ भिन्न होते हैं। सास्कृतिक प्रतीक समय के साथ परिवर्तित होते हैं। एक समय था जब गाँधी टोपी समर्पित काँग्रेस कार्यकर्ता तथा राजनैतिक स्वतत्रता का प्रतीक मानी जाती थी। किंतु आज ऐसा नहीं है। प्रतीक लोगो को अर्थ निकालने की अनुमति देते हैं तथा उनका जीवन सार्थक बनाते हैं।

प्रतीको के अध्ययन को लक्षण विज्ञान कहते हैं। लक्षण विज्ञान बताता है कि अर्थ कभी भी वस्तुओं मे निहित नहीं होते किन्तु अनेक प्रथाओ के माध्यम से इसका वस्तुओ के इर्द-गिर्द निर्माण किया जाता है। विभिन्न अध्ययन बताते हैं कि कोई भी प्रतीक विभिन्न अर्थ दे सकता हे।

प्रतिबंध (Restrictions)

प्रतिबध एक प्रकार के दण्ड अथवा पुरस्कार होते हे जो किसी विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करने हेतु लगाए जाते हैं। नकारात्मक प्रतिबधो मे असहमतिदर्शक भजर सौम्य जबकि गोली चालन एक उग्र प्रकार का प्रतिबध है। सकारात्मक प्रतिबध के उदाहरण प्रशस्ति, अनुमोदन तथा पदक हैं। नकारात्मक प्रतिबधो का प्रयोग ऐसे विसामान्य व्यक्ति के विरुद्ध किया जाता हे जो *सामाजिक मानदडो* को *मानने से मना करता है।*

सस्कृति, समाज व व्यक्तित्व : सस्कृति का महत्व
(Culture, Society and Personality : Significance of Culture)

जबकि सस्कृति मानदडो एव मूल्यो का एक तत्र होता है, समाज स्वय स्थाई लोगो का समूह होता है जो किसी समान भू भाग पर बसे होते हैं तथा एक ही सस्कृति

को मानते हैं। किन्तु अनेक समाज बहु:सस्कृति वाले होते हैं अर्थात ये विभिन्न प्रकार के जीवन के तरीकों को अपनाते हैं तथा नित्य जीवन में एक सूत्र मे बध जाते हैं (अथवा सघर्षरत रहते हैं)। निकटस्थ समाजो की भी भिन्न सस्कृतिया होती हैं जैसे भारत व पाकिस्तान, भारत व नेपाल, भारत व चीन, चीन व जापान, अमेरिका व मैक्सिको आदि। फिर भी कुछ समाजो मे समान सस्कृति होती है जैसे अमेरिका व कनाडा। कभी-कभी एक ही समाज मे विभिन्न सस्कृति वाले समूह शामिल हो सकते हैं जैसे स्विटजरलैण्ड की आबादी में फ्रासीसी, जर्मन व इटालियन बोलने वाले खण्ड अथवा कैनेडियन आबादी मे फ्रासीसी तथा अग्रेजी बोलने वाले खण्ड।

मानव मे शारीरिक अनुकूलन तथा व्यवहारात्मक लचीलेपन की योग्यता होती है। इसी कारण मानव सबसे अधिक सृजनात्मक प्रजाति है। सस्कृति मानव को पर्यावरण का असहाय शिकार होने से बचाती है। सस्कृति मानव द्वारा निर्मित होती है, वहीं दूसरी ओर सस्कृति मानव का निर्माण करती है। हर्सकोविट्स (Herskovits) के लिए सस्कृति का अर्थ है मानव निर्मित अश। जिस सामाजिक परिवेश में रहकर मानव व्यवहार के नियमो व पैटर्न को बनाता व पालन करता है, अन्त में वही परिवेश मानव जीवन को आकार देता है। आगे चलकर मानव सीखे हुए ज्ञान के माध्यम से अपने प्राकृतिक परिवेश मे सुधार करता है। साझी सस्कृति ही सामाजिक जीवन को सभव बनाती है। इयान राबर्टसन (1981 : 57) ने यह भी कहा है कि भूतकाल से वर्तमान मे संस्कृति के सम्प्रेषण के अभाव मे प्रत्येक नई पीढ़ी को मानव अस्तित्व की प्रारंभिक समस्याओ को पुनः सुलझाना पड़ेगा, जैसे परिवार तत्र, विवाह तंत्र, आदि। सस्कृति हमें बदलती परिस्थितियो में अनुकूल के सोद्देश्य व कारगर साधन प्रदान करती है व इस प्रकार हमे भौतिक विकास की धीमी, बेतरती व संयोगिक प्रक्रिया से मुक्त करती है। हम पर्यावरण के साथ अनुकूलन कर सकते हैं तथा हम हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्यावरण को भी अनुकूल बना सकते हैं। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि सस्कृति का जीन के माध्यम से आनुवांशिक सम्प्रेषण नहीं किया जा सकता। इसे सामाजिक अंत:क्रिया द्वारा ही सीखा जा सकता है।

संस्कृति व व्यक्तित्व (Culture and Personality)

व्यक्ति के व्यवहार संबंधी सभी लक्षण उसके व्यक्तित्व में शामिल होते हैं। इनमे अभिवृत्तियां, आस्थाएं व मूल्य शामिल हैं। व्यक्तियों का व्यक्तित्व, उनके समाज व संस्कृति के ढांचे व प्रक्रियाओ को परिलक्षित करता है अर्थात व्यक्तित्व व्यक्ति को उसके सांस्कृतिक वातावरण व सामाजिक अत:क्रिया मे होने वाले अनुभवो का परिणाम होता है। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि व्यक्तित्व को सस्कृति के आत्मनिष्ठ पहलू के रूप में देखा जाता है। फिर भी सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन इतना जटिल, परिवर्तनशील, विसंगत व अस्थाई है कि अपेक्षाकृत समान सास्कृतिक व्याख्याओ व सामाजिक भूमिकाओं

के होते हुए भी व्यक्तित्व असीमित रूप से भिन्न होते हैं। व्यक्तित्व विकास के घटको मे जैविक उत्तराधिकार, भौतिक परिवेश, सस्कृति, समूह व व्यक्तिगत अनुभव शामिल होते हैं। जहाँ तक सस्कृति का प्रश्न है, कुछ अनुभव सभी सस्कृतियो मे समान होते हैं। उदाहरण के लिए सभी सस्कृतियो के बच्चो को समाजीकरण की प्रक्रिया, समूह मे रहकर तथा भाषा, हावभाव के माध्यम से सम्प्रेषण तथा किसी न किसी प्रकार के दण्ड अथवा पुरस्कार आदि के माध्यम से समान अनुभव प्राप्त होते हैं। इससे समाज के वहुत से सदस्यो में एक प्रकार का विशिष्ट व्यक्तित्व सरूपण पैदा हो जाता है। इसे 'रूपात्मक व्यक्तित्व' (Modal Personality) कहते हैं। दो सस्कृतियों मे रूपात्मक व्यक्तित्व भिन्न होता है। प्रत्येक समाज एक या अधिक व्यक्तित्व के प्रकार विकसित करता है जिसे सस्कृति प्राप्त होती है।

हॉर्टन एव हण्ट ने कहा है कि जहा तक सरल (पुरातनकालीन) समाज का प्रश्न है जहा पूर्णत: एकीकृत सम्कृति होती, वहा रूपात्मक व्यक्तित्व विद्यमान हो सकता है। किन्तु जटिल समाज में जहा अनेक उप सस्कृतिया होती हैं, दृश्य बदल जाता है। जैसे ग्रामीण व शहरी लोग, अनेक जातियो व वर्गों के लोग, अनेक धर्म, क्षेत्रो के लोग, भिन्न शैक्षिक पृष्ठभूमि के लोग विभिन्न रूपात्मक व्यक्तित्वो की ओर सकेत करेगे। अत: किसी जटिल समाज मे जितनी उप सस्कृतिया होंगी, उतने ही रूपात्मक व्यक्तित्व होंगे।

संस्कृति की संरचना : संस्कृति संबंधी कुछ अवधारणाएं
(Construction of Culture : Some Concepts about Culture)

संस्कृति के लक्षण (Culture Traits)

सस्कृति की मबसे छोटी पहचानने योग्य व महत्वपूर्ण इकाई को संस्कृति के तत्व या लक्षण कहते हैं। सबसे सरल इकाई का आकार अध्ययनरत समस्या से सबधित ही होगा। होवल ने भौतिक संस्कृति की सरलतम इकाई के रूप में मानव द्वारा निर्मित भौतिक उत्पादों का वर्णन किया है, जैसे टेलीफोन, टेलीविजन, कार आदि। उन्होने अभौतिक सस्कृति की इकाई के रूप मे व्यक्ति के सीखे हुए व्यवहार के पैटर्न का वर्णन किया है, जैसे हाथ मिलाना, सड़क के बाईं ओर वाहन चलाना (भारत) अथवा दाहिनी ओर वाहन चलाना (अमेरिका), राष्ट्र ध्वज का सम्मान करना, भूतो व पिशाचो में विश्वास करना, आदि। अभौतिक क्षेत्र में यह कोई शब्द, सकेत या विचार हो सकता है। प्रत्येक संस्कृति मे अनेक लक्षण शामिल होते हैं। नमस्ते करना, दण्डवत् प्रणाम करना पारम्परिक हिन्दू संस्कृति के सास्कृतिक लक्षण हैं। सस्कृति के तत्व जिन्हें हम इकाई कहते हैं, वे भी जटिलता से मुक्त नहीं है। इतना होते हुए भी हम इस इकाई को स्वतंत्र मानकर ही अध्ययन करते हैं।

संस्कृति संकुल (Culture Complex)

क्या नृत्य एक सास्कृतिक विशेषता है? इसका उत्तर नकारात्मक है क्योंकि यह एक संस्कृति सकुल है। नृत्य विशेषताओं का एक सचय है। इसमे पदन्यास, नर्तक, सगीत का साज आदि शामिल होता है। नृत्य एक धार्मिक समारोह, एक सामाजिक कार्यक्रम, एक जादुई अनुष्ठान, एक उत्सव हो सकता है। ये सब घट मिलकर एक संस्कृति सकुल बनाते हैं। किसी समाज मे सांस्कृतिक विशेषताओं के किसी एकीकृत तथा पैटर्नयुक्त तत्र को जो एक इकाई के रूप मे कार्य करता है, संस्कृति सकुल कहते हैं। कभी-कभी इसे सास्कृतिक विशेषताओं का सकुल अथवा केवल विशेषताओं का संकुल कहते हैं। हॉबेल के अनुसार संस्कृति सकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सबधित प्रतिमानों का एक जाल है। मदरलैण्ड के शब्दों मे "संस्कृति सकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो एक अर्थपूर्ण अत: सबध मे परस्पर गुथा होता है।" उदाहरण के लिए एक मूर्ति के सामने सिर झुकाना, हाथ जोडना, आरती करना, प्रसाद लेना आदि सभी तत्व मिलकर एक धार्मिक सास्कृतिक सकुल का निर्माण करते हैं। कुन्डली मिलाना, बरात ले जाना, तोरण, मत्रोचार, यज्ञ, पाणिग्रहण आदि सांस्कृतिक लक्षण मिलकर हिन्दू विवाह-सकुल की रचना करते हैं। होर्टन एव हण्ट के अनुसार सस्कृति सकुल विशेषता तथा सस्था के बीच में आता है। कुछ संकुल सस्था के भाग होते हैं जबकि अन्य कम महत्वपूर्ण क्रियाओं के इर्द-गिर्द घूमते हैं जिन्हें सरल स्वतत्र सकुल कहते हैं।

संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)

प्रत्येक सस्कृति का अपना एक विशेष प्रतिमान होता है जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक करता है। रुथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति की अतरंग सरचना के विश्लेषण के लिए संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा का प्रयोग किया। जब बहुत से तत्व व संकुल जो प्रकार्यात्मक रूप से सबधित हैं, मिलते हैं और किसी सार्थक उपादान का निर्माण करते हैं तो वे सस्कृति प्रतिमान की रचना करते हैं। दूसरे शब्दों में संस्कृति प्रतिमान किसी संस्कृति की एक महत्वपूर्ण-प्रकार्यात्मक इकाई है। संस्कृति प्रतिमान हमें मूल्यों और आदर्शों को समझने मे सहायता करता है। संस्कृति प्रतिमान संस्कृति के आदर्शों एवं लक्ष्यों की अभिव्यक्ति है। समाजशास्त्रियों ने सार्वभौमिक सांस्कृतिक प्रतिमानों की भी कल्पना की है।

संस्कृति क्षेत्र (Culture Area)

उस क्षेत्र को संस्कृति क्षेत्र कहते हैं जिसमें समान संस्कृति पाई जाती है। बिजलर के शब्दों में "संस्कृति क्षेत्र एक भौगोलिक क्षेत्र हैं जिसमे समान संस्कृतियों वाले अनेक सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र समुदाय होते हैं।" संस्कृति क्षेत्रों का विभाजन संस्कृति

समुदा के आधार पर किया जाता है। सांस्कृतिक समानताओं के आधार पर हम संस्कृति क्षेत्र की सीमा निर्धारित करते हैं।

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद (Cultural Relativism)

यह सर्वमान्य सत्य है कि किसी एक संस्कृति को किसी दूसरी संस्कृति के मानदण्डों के आधार पर नहीं आंका जा सकता। प्रत्येक संस्कृति अपनी अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के साथ अपने ढंग से समायोजन करती है। किसी संस्कृति की प्रथाओं का वैधतापूर्वक आकलन केवल उनके साथ कौन से मूल्य जुड़े हुए हैं, वे कौन सी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, तथा उनसे अन्य दायित्वों आकांक्षाओं तथा अध्ययनरत संस्कृति के नैतिक कूट संकेतों आदि का विचार करने के बाद ही किया जा सकता है। इस प्रकार सांस्कृतिक सापेक्षतावाद यह मानता है कि किसी एक संस्कृति की प्रथाओं को वस्तुनिष्ठपूर्वक अथवा वैधतापूर्वक दूसरी संस्कृति की प्रथाओं से उत्कृष्ट नहीं आंका जा सकता या उसे अधिक सहिष्णु, सभ्य अथवा प्रगतिशील नहीं माना जा सकता। अतः यह मानना गलत होगा कि जनजातीय हिन्दू संस्कृति से निकृष्ट है अथवा अमेरिकन संस्कृति भारतीय संस्कृति से बेहतर है। यह सच है कि हमारी स्वयं की संस्कृति के बारे में पूर्णतः पूर्वाग्रहरहित होना आसान नहीं है। प्रायः लोग स्वयं की संस्कृति के मानदंडों को बेहतर मानते हैं। फिर भी हमें यह बात माननी होगी कि इस संबंध में आकलन प्रायः व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। पारसी समुदाय की एक प्रथा किसी को भी सदमा दे सकती है। इस प्रथा के अनुसार शव को मौन मीनार (Tower of Silence) की दीवार पर रख दिया जाता है। शव धूप में रहता है तथा उसे गिद्ध अथवा अन्य पक्षी नोच-नोच कर खा जाते हैं। यद्यपि अब इसी समुदाय के कुछ लोग इस प्रथा के विरुद्ध हो गए हैं और वे शव के निपटान की वैकल्पिक विधियों के पक्षधर हैं किन्तु दकियानूसी पारसी अभी भी इस सुधार का विरोध कर रहे हैं। किन्तु कोई भी अपने समाज की इस प्रथा से बिल्कुल चिंतित नहीं है जिसके अंतर्गत अपने वृद्ध माँ-बाप को वृद्धाश्रम में भेजकर उन्हें बिना स्नेह व सहानुभूति का जीवन व्यतीत करने को बाध्य करते हैं। हमारे यहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में शिशु कन्याओं को मार डालने की प्रथा के बारे में सुनकर तो हमें सदमा पहुँचता है किन्तु महिलाओं के विरुद्ध हिंसा अथवा उनकी अवमानना तथा उन्हें दी जाने वाली यातना से हम बेखबर रहते हैं। किन्तु सांस्कृतिक सापेक्षतावाद यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरे समाजों की प्रथाओं का आकलन कभी भी न करें। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद का अर्थ है दूसरे समाजों की प्रथाओं को तभी पूर्ण रूप से समझा जा सकता है जब हम उनके मानदंड व मूल्यों को समझें। इसी परिप्रेक्ष्य में उनका आकलन किया जाना चाहिए। एक संस्कृति दूसरे की दृष्टि में भले ही अच्छी नहीं होती, किन्तु जिस समाज की वह संस्कृति है, उसके लिए वह हितकर हो सकती है। अतः संस्कृति

की श्रेष्ठता एक सापेक्षवाद दृष्टिकोण है। एक संस्कृति दूसरे की दृष्टि में हेय, गिरी हुई या बुरी हो सकती है लेकिन वह जिस समुदाय की संस्कृति है उसके लिए हितकर अथवा उचित कही जा सकती है। अतः संस्कृति की श्रेष्ठता एक सापेक्षवादी दृष्टिकोण है।

सांस्कृतिक बहुलवाद (Culture Pluralism)

अनेक सांस्कृतिक तथा सजाति समूहों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए समाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक बहुलवाद शब्द का प्रयोग किया है। सांस्कृतिक बहुलवाद का अर्थ नृजातीय व अन्य अल्पसंख्यक समूहों का समाज में अपनी पृथक पहचान बनाए रखने के साथ सांस्कृतिक विषम जातीयता में होता है। समाज में सांस्कृतिक विभिन्नताएं उस सीमा तक बनाए रखी जा सकती हैं जहाँ तक कि वे प्रमुख संस्कृति के मुख्य मूल्यों व मानदंडों से विरोधाभास न रखती हों। विभिन्न सांस्कृतिक समूहों का समीभवन समाज का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये विविध समूह आपसी समझ के साथ एक होकर रह सकते हैं।

स्व-संस्कृति केन्द्रीयता (Ethnocentrism)

एक ऐसी संवेगात्मक मनोवृत्ति जिसके अनुसार लोग अपनी जाति, प्रजाति, समाज अथवा संस्कृति को अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते हैं तथा दूसरों के प्रति घृणा, संदेह, उदासीनता, द्वेष जैसे मनोभावों को प्रकट करते हैं। इसके अनुसार व्यक्ति अपनी संस्कृति अथवा समूह को दूसरों से बेहतर मानता है। स्व-संस्कृति मनोवृत्ति अन्य संस्कृतियों के महत्व का मूल्यांकन स्वयं के सांस्कृतिक मानदंडों के आधार पर करती है तथा निकृष्ट, बुरी अथवा निम्न मानती है। स्व-संस्कृति केन्द्रीयता के अनुसार व्यक्ति अपनी संस्कृति अथवा समूह को अन्यों से बेहतर मानता है। स्व-संस्कृति मनोवृत्ति अन्य संस्कृतियों के महत्व का भले ही स्वयं के सांस्कृतिक मानदंडों के आधार पर आकलन करती है तथा उन्हें निकृष्ट बुरी अथवा निम्न मानती है। स्व-संस्कृति केन्द्रीयता अन्यों के दृष्टिकोण को समझने की असमर्थता को परिलक्षित करता है जिनकी संस्कृति में भिन्न नैतिकता, धर्म व भाषा होती है। यह समान मानवता तथा सभी समाजों में मानव के सामने आने वाली स्थितियों व समस्याओं को एक रूप में देखने की अनिच्छा तथा असमर्थता को व्यक्त करता है। नृजाति केन्द्रीकरण स्वजातिवाद (एथनोसेन्ट्रोसिज्म) शब्द का प्रयोग विलियम समर ने अपनी पुस्तक *Folkways* में सन् 1906 में किया था। इस प्रकार वह समाज जो एक-विवाह प्रथा को मानता है वह उन समाजों से स्वयं के समाज को उच्च मानता है, जो बहु-विवाह प्रथा को मानते हैं। वह समाज जो अपने बच्चों को अपने जीवन साथी स्वयं चुनने की अनुमति देता है वह स्वयं को प्रगतिशील कहता है तथा उन समाजों को जहां विवाह पालकों द्वारा तय किए जाते हैं को पिछड़ा हुआ मानता है। किसी समाज में पाए जाने वाले अधिकांश समूह नृजाति केन्द्रित होते हैं। हॉर्टन व हण्ट ने कहा है कि स्व-संस्कृति

केन्द्रीयता मानव समाजा के सभी समूहों तथा सभी व्यक्तियों की सार्वत्रिक मानव प्रतिक्रिया है। एडोरनो (Adorno, 1950) ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है कि स्वजातिवाद की भावना से ग्रस्त लोग कम शिक्षित समाज से अधिक खिचे-खिचे तथा धार्मिक दृष्टि से अधिक रूढ़िवादी होते हैं। किन्तु तब कम शिक्षित, समाज से विरक्त तथा राजनैतिक दृष्टि से रूढ़िवादी लोग भी उतने ही स्वजातियाद केन्द्रित हो सकते हैं जितने शिक्षित व स्वतंत्र विचारधारा के लोग। इस प्रकार यह एक वाद-विवाद का विषय है कि सामाजिक पृष्ठभूमि अथवा व्यक्तित्व के प्रकार के अनुसार लोगों की स्वजातियाद केन्द्रीयता की मात्रा में कोई महत्वपूर्ण भिन्नता होती है अथवा नहीं।

सांस्कृतिक विविधता का स्वभाव (Nature of Cultural Variation)

विभिन्न समाजों की विभिन्न संस्कृतियाँ होती हैं। प्रत्येक समाज की संस्कृति पृथक होती है। वास्तव में प्रत्येक समाज की संस्कृति इस अर्थ में भिन्न होती है कि उसके अपने मूल्य आस्थाएं एवं मानदंड होते हैं। एक समाज में लोग मेंढक साप आदि खाते हैं जबकि दूसरे समाजों में वे मछली खाते हैं किन्तु सूअर का मांस नहीं। जबकि हिन्दू गोमांस नहीं खाते रूसी लोग इसे खाते हैं। मुस्लिम बहु विवाह करते हैं हिन्दू नहीं। अरबी समाजों की महिलाएं बुर्का पहनती हैं किन्तु पाश्चात्य समाजों की महिलाएं नहीं पहनती। कई समाजों में विवाह के बाद पति अपनी पत्नी के घर रहने जाता है जबकि अनेक समाजों में पत्नी पति के घर रहने जाती है। कुछ समाजों में जीवन साथी चुनने का अधिमान्य तंत्र होता है किन्तु अन्य समाजों ऐसा कुछ नहीं होता। सांस्कृतिक विविधताओं की शृंखला इतनी असीम है कि प्रत्येक मानव समाज में कोई विशेष मानदंड नहीं पाया जाता।

सांस्कृतिक विविधताओं के उपागमन (Approaches to Cultural Variations)

ऐसे तीन उपागमन हैं जो सांस्कृतिक विविधताओं को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाते हैं। ये हैं— प्रकार्यवादी, पारिस्थितिक व सांस्कृतिक सर्वतामुखी।

सांस्कृतिक विविधता क्यों? (Approaches to Cultural Variations)

सांस्कृतिक विविधता को आनुवंशिक रूप से नहीं समझाया जा सकता क्योंकि सभी मानव जैविक रूप से समान हैं। इसे भौतिक पर्यावरण में भिन्नताओं (भूगोल, जलवायु पशु, संसाधन, वनस्पति आदि), सामाजिक परिस्थितियों आदि के द्वारा समझाया जा सकता है। संस्कृतियां विशिष्ट परिस्थितियों जैसे तकनीकी, नवप्रवर्तन, जनसंख्या में वृद्धि आदि के अनुसार अनुकूलित होती हैं।

शेफर्ड (1981 : 67) मानते हैं कि एक समय ऐसा था जब भौतिक पर्यावरण को ही सांस्कृतिक विविधता का एक मात्र कारण माना जाता था। यहां तक कि अरस्तु ने भी कहा था कि यूनानी लोग सांस्कृतिक दृष्टि से इसलिए श्रेष्ठ हैं क्योंकि यहां

को जलवायु सौम्य है। किन्तु आज समाज–वैज्ञानिक भौतिक पर्यावरण को सांस्कृतिक विविधता का कारण नहीं मानते। यद्यपि वे सास्कृतिक विविधता मे इसकी भूमिका स्वीकार करते हैं। क्योंकि भौतिक पर्यावरण समाज के सदस्यों हेतु उपलब्ध विकल्पो को सीमित करता है। सामाजिक परिस्थितिया सास्कृतिक विविधता मे अधिक योगदान देती हैं। एक सामाजिक प्रथा एक सामाजिक पर्यावरण हेतु उपयुक्त हो सकती है किन्तु दूसरे के लिए नहीं। वे लोग जिन्हें अपने पडोसियों के साथ अमैत्रीपूर्ण युद्धों का सामना करना पडता है, वे अपने बच्चों को हिसक व आक्रामक होने के लिए प्रशिक्षित करते हैं किन्तु दूसरे क्षेत्रो के लोग ऐसा नहीं करते।

सांस्कृतिक विविधता का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि यह नृजाति-केन्द्रीकरण को बल प्रदान करता है व प्रोत्साहित करता ह। लोग अपनी सस्कृति के प्रति इतने प्रतिवद्ध होते हैं कि वे किसी अन्य प्रकार के जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। वे अन्य सस्कृतियो को कम आकते हैं।

सांस्कृतिक विविधता के पहलू (Aspects of Cultural Variation)

उप-संस्कृति (Sub-cultures)

एक ही समाज मे लोगो के कुछ खण्ड कुछ ऐसे सांस्कृतिक पैटर्न विकसित कर लेते हैं जो प्रभावशाली समाज के पैटर्न से भिन्न होते है। इन्हें उप-संस्कृतियां कहा जाता है। एक उप-सस्कृति समाज का वह खण्ड होती है जिसके लोकाचार, लोकरीतियों तथा मूल्यों के पेटर्न विशिष्ट होते हैं तथा जो वृहद् समाज के पेटर्न से भिन्न होते हैं जैसे क्षेत्रीय उप-सस्कृति, छात्रावास में छात्रों की उप-सस्कृति, विधवाश्रमों में रहने वाली विधवाओं को उप-सस्कृति, गावों मे बधुआ श्रमिको की, सगठित तस्करों की, काला बाजारी करने वालों की उप संस्कृति आदि। संघर्ष सिद्धान्तवादी तर्क देते हैं कि उप-संस्कृतियो का उदय प्राय: प्रभावशाली समाज द्वारा ऐसी प्रथाओं के असफल दमन के प्रयास के कारण होता है जिसे वे अनुपयुक्त मानते हैं जैसे गैरकानूनी दवाओं का प्रयोग।

उप-सस्कृति को मानने वाले सदस्य प्रभावकारी संस्कृति मे भाग तो लेते हैं यद्यपि वे इसके साथ–साथ व्यवहार के विशिष्ट प्रकार मे भी लिप्त रहते हैं। कभी कभी उप-सस्कृति समूह अपनी स्वयं की भाषा (कूट बोली) विकसित कर लेते हैं, जैसे कारागार मे कैदी। गणेशजी आ रहे हैं, का अर्थ जेल अधीक्षक (अपने बड़े पेट के साथ) आ रहे हैं। ठेलो पर माल बेचने वालों ने पुलिस कांस्टेबल के लिए 'हफ्ता' शब्द का प्रयोग करते हैं मुबई मे 'पेटी' शब्द का अर्थ एक लाख रुपये होता है। इसी प्रकार ट्रक ड्राइवरो की हाइवे पुलिस का वर्णन करने की स्वय की विशेष भाषा होती है। उप-संस्कृति की कूट बोली सप्रेषण के ऐसे पैटर्न स्थापित करती है जिसे 'बाहरी' लोगो को समझने में कठिनाई होती है। इसीलिए इसमे कोई आश्चर्य नहीं

कि अत:क्रियावादी परिप्रेक्ष्य को मानने वाले समाजशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि भाषा व सकेत उप-सस्कृति को अपनी अलग पहचान बनाए रखने मे प्रबल भूमिका निभाते हैं।

उप सस्कृति का उदय कैसे होता है? एक सम्पूर्ण सस्कृति मे कई उप–सस्कृतियाँ हो सकती हैं। यह अनेक प्रकार की विधियो से सभव होता है। उनमे से एक विधि है जब समाज का एक खण्ड कोई विशिष्ट समस्या का सामना करता है। उप सस्कृति समान आयु (वृद्ध लोग) समान आस्थाए (हिप्पी), समान व्यवसाय (तस्कर) समान हित (कारागार मे समायोजन) आदि के आधार पर भी उदय हो सकती है।

जातिगत उप–सस्कृतिया (Caste Sub-cultures)

आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारत मे जातिगत उप-सस्कृतियो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज भी ये महत्वपूर्ण बनी हुई हैं यद्यपि उप-जातिया एक-दूसरे से मिल गई हैं। उन्होंने अन्य जातियो व उपजातियो जिनमे प्रभावशाली जातिया भी शामिल हैं, के साथ अपनी आस्थाए व प्रथाए मिला ली हैं, फिर भी इनमे से कुछ ने अपनी जीवन–शैली, व्यवसाय व कुछ प्रथाओ के माध्यम से अपनी उप सस्कृति को बचाए रखा है। जाति और वर्ग मे मुख्य अन्तर का आधार है उप-सास्कृतिक भिन्नताए (Sub-Culture Variations)

क्षेत्रीय उप-सस्कृतियां (Regional Sub-cultures)

भारत के केवल पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार क्षेत्र ही नहीं हैं बल्कि एक क्षेत्र के अनेक राज्य (जैसे पूर्वी क्षेत्र मे असम, मिजोरम, नागालैण्ड आदि, दक्षिण क्षेत्र मे तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, आध्र प्रदेश, पश्चिम क्षेत्र में महाराष्ट्र, गुजरात, गोआ अथवा उत्तरी क्षेत्र में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, आदि) अभी भी अपने विविध इतिहास व बसाहट की कुछ विशेषताओ व पुट को बनाए रखे हैं। इनमे से कुछ भिन्नताए तो उनके उपनिवेशियो की सस्कृतियो के कारण उत्पन्न हुई हैं। कुछ विशिष्ट विशेषताए उस क्षेत्र मे चल रही आर्थिक गतिविधियो के कारण उत्पन्न हुई हैं। पजाब मे उद्योग व व्यापार के विस्तार ने भिन्न प्रकार की समस्याए पैदा कर दी हैं। फिर भी उद्योग, व्यापार व व्यापक सचार साधनो के कारण क्षेत्रीय विविधताओ मे कमी आ गई है। अब केवल स्थानीय बोली, आहार व व्यवहार वैचित्र्य की गौण विविधताए ही शेष रह गई हैं।

व्यावसायिक उप-संस्कृतियां (Occupational Sub-cultures)

व्यवसाय की विविधता लोगो के जीवन, जिसमे उनकी आस्थाए, अभिवृत्तिया तथा सामाजिक प्रथाए शामिल हैं, को प्रभावित करती है। ब्रूम व सेल्जनिक ने कहा है

कि व्यवसाय मैत्री के पैटर्न निर्मित करते हैं तथा वर्ग की स्थिति निश्चित करते हैं। व्यवसाय के साथ उप सस्कृतिया किस हद तक जुडी हुइ हैं यह इस बात से स्पष्ट किया जा सकता ह कि व्यवसायो की विशिष्ट भाषाए इतनी जटिल होती हैं जिनका बाहरी व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नहीं होता।

भारत मे उप-सस्कृतियो की विविधता जिनका उदाहरण क्षेत्र धर्म जाति तथा व्यावसायिक उप-सस्कृतियाँ अथवा वर्ग लिग आयु की विविधताए है के होते हुए भी इसमे एक अतर्निहित अनुरूपता है जैसे समान आस्थाए मानदड प्रथाए आदि जिन्हें भारतीय कहा जा सकता है।

प्रतिरोधी संस्कृति (Contra Culture)

कुछ उप-सस्कृतिया विद्यमान सस्कृति के मानदडो व मूल्यो को खुल आम चुनौती देती हैं। जे यिगर (J Yinger 1960) के अनुसार प्रतिरोधी सस्कृति वह उप सस्कृति ह जो सामाजिक मानदडो व मूल्यो को अस्वीकार करती ह तथा वैकल्पिक जीवन शलियो की खोज करती है। कभी-कभी समाज के कुछ सदस्य अपनी सस्कृति के कतिपय मानदडो मूल्यो, आदर्शो का उल्लघन करने लगते हैं, ऐसी स्थिति प्रतिरोधी संस्कृति को प्रकट करती है। रिचर्ड शैफर (Richard Schaefer, 1989 79) ने कहा है कि प्रतिरोधी सस्कृतिया युवा वर्ग मे अधिक लोकप्रिय होती हैं, जैसे युवा अपने पालकों की इच्छाओ के विरुद्ध अपना जीवन साथी चुनना पसद करते हैं, अथवा नवविवाहित नवयुवतिया अपने सास-ससुर से पृथक होकर रहना चाहती हैं। भारत मे पिछले एक दशक से एक प्रतिरोधी सस्कृति उभर कर सामने आई है जिसमे युवा वर्ग शामिल है जो ससद मे राजनीतिक दलो के कामकाज राजनीतिक सभ्रांत लोगों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपो की छानबीन की विधि, राजनीतिक दलो द्वारा चुनाव लडने हेतु अपराधी तत्वों को टिकट देना आदि का विरोध करते हैं। राजनीतिक आमूल चूल परिवर्तनवादियो की प्रतिरोधी सस्कृति यह चाहती है कि लोग ऐसी संस्कृति मे रहे जो ईमानदारी जवाबदेही, न्याय, मानवतावादी मूल्यों आदि पर आधारित हो।

संस्कृति के निर्धारक (Determinants of Culture)

चूंकि समाजो मे सस्कृति की विविधता होती है, अत: सास्कृतिक विविधता की अनेक सैद्धान्तिक व्याख्याए सामने आई हैं। इनमे से चार महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक व्याख्याए हैं — जातीय (Racial), भौगोलिक, तकनीकी व भाषाई व्याख्याएं। प्रत्येक घटक (अर्थात सैद्धान्तिक व्याख्या) सस्कृति के उस प्रकार को समझाता है जो किसी समाज मे किसी निश्चित समय पर उभरकर आता है। किन्तु सभी चार सिद्धान्त मिलकर विभिन्न संस्कृतियों मे पाए जाने वाली अनेक भिन्नताओं को नहीं समझाते। हो सकता है कि दो समाज समान भौगोलिक परिवेश मे बसे हों, वहां के लोग एक ही नस्ल के

हो वहा की भाषा एक ही हो तथा वहा के लोगो मे समान तकनीकी कोशल हो फिर भी उनमे उल्लेखनीय सास्कृतिक भिन्नताए हो सकती हैं। सस्कृति विभिन्न दिशाओ मे विकसित होती है।

सास्कृतिक विविधताओ का प्रजातिवादी सिद्धान्त
(Recialist Theory of Cultural Variation)

इस सिद्धान्त के अनुसार एक घटक जो सस्कृति को निर्धारित करता है अथवा जो एक सस्कृति को दूसरी सस्कृति से अलग करता है वह यह है कि सस्कृति का निर्माण करने वाले मनुष्य भिन्न होते हें (विशेषत. उनकी नस्लीय भिनताए)। उत्कृष्ठ लोग उत्कृष्ठ सस्कृति निर्मित करते हैं व निष्कृष्ट लोग निकृष्ट सस्कृति। ये सास्कृतिक विशेषताए एक पीढी से दूसरी पीढी मे सप्रेषित होती हैं। अत: इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ लोगो मे जन्मत, महान होने की अत:पेरणा होती हे तो दूसरो की नियति सदा के लिए कम सृजनशीलता की होती है। हिटलर जर्मन सस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास करता था। कुछ अतिस्पष्ट जैविक विशेषताओ के आधार पर मनुष्यो मे अतर किया जाता है जैसे त्वचा का रग, आँखो का रग, नाक का आकार, होंठो की सरचना शरीर के बालो की मात्रा आदि। इन्हीं विविधताओ के आधार पर मनुष्यो को विभिन्न नस्लीय समूहो मे बाँटा जाता हे — मगोल, नीग्रो, केनकासोईड्स (Cancasoids) आदि। प्रजातिवादी सिद्धान्तवादियो के अनुसार केनकासोईड्स (Cancasoids) प्रजाति के लोग मानव अस्तित्व की समस्याओ से निपटने के लिए वे अन्य प्रजातियो के लोगो की अपेक्षा अधिक सुसज्जित होते हैं क्योकि वे अधिक बुद्धिमान होते हैं।

यह व्याख्या सही नहीं है। हाल ही किए गए बौद्धिक परीक्षण यह बताते हैं कि बुद्धि की विविधता अतर्जात कारणो से नहीं बल्कि सामाजिक पर्यावरण के प्रभाव के कारण होती है। उदाहरण के लिए अमेरिका मे पूर्व मे नीग्रो व श्वेतवर्णीय लोगो पर सीमित रूप से किए गए बुद्धि परीक्षण बताते हैं कि श्वेतवर्णीय लोगो की तुलना मे नीग्रो औसत रूप से कम श्रेणी के होते हे। इससे यह पता चलता है कि इस भिन्नता के लिए 'प्रकृति' जिम्मेदार है न कि 'पोषण'। (Ronald Freedman, 1956 109)। पूर्व मे किए गए इस परीक्षण को प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चुनौती दी गई तथा यह पाया गया कि बुद्धि विविधता के लिए सामाजिक पर्यावरण मे क्षेत्रीय भिन्नताए जिम्मेदार हैं न कि अतर्जात बोद्धिक क्षमता। ये साक्ष्य अब इस ओर सकेत करते हैं कि सास्कृतिक विविधताओ व प्रजातीय विविधताओ के बीच कोई 'कारण व प्रभाव' का सबध नहीं होता।

सांस्कृतिक विविधता का भौगोलिक नियत्ववादी सिद्धान्त
(Geographical Determinism Theory of Cultural Variation)

इस सिद्धान्त के अनुसार साम्कृतिक विविधता के लिए भौतिक पयावरण की विशेषताए उत्तरदायी होती हैं। एल्सवोर्थ हेमटिंगटन (Ellsworth Hemtington) (*Mainsprings of Civilization*, 1945) ने 1940 के दशक मे मत व्यक्त किया है कि विश्व की सभी उच्च सस्कृतियाँ शीतोष्ण जलवायु मे ही पाई जाती हैं। शैक्षिक समाज मे अब इस विचारधारा पर विश्वास नहीं किया जाता। आज उपलब्ध प्रमाण बताते हैं कि निकटस्थ भौतिक पर्यावरण सम्कृति का निर्धारण नहीं करता किन्तु वह उस पर्यावरण की सम्कृति के लेने वाले रूप को प्रभावित करता है। तकनीकी लोगो को भौतिक पर्यावरण को नियत्रित करने हेतु सक्षम बनाती है। इस प्रकार किसी सस्कृति का तकनीकी पहलू जितना कार्यदक्ष होगा भौतिक पर्यावरण उस सस्कृति के रूप को उतना ही कम सीमित करेगा। उन समाजो की सम्कृति जिनके पास कृषि तकनीकी विद्यमान हैं उन सस्कृतियों मे जो हस्तशिल्प तकनीकी पर आधारित है की अपेक्षा भौतिक पर्यावरण से कम सीमित होगी।

भाषा (Language)

भाषा व्यक्तियो के बीच सम्प्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। मानव के पास सम्प्रेषण हेतु भाषा है किन्तु पशु आवाज, हावभाव, स्पर्श तथा रासायनिक उत्सर्जन द्वारा सम्प्रेषण करते हैं। भाषा के माध्यम से सम्प्रेषण करने हेतु मानवीकृत अर्थों के सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार्य पैटर्न के तत्र की आवश्यकता होती है। भाषा सांस्कृतिक विगमत को व्यक्त करती है तथा विचारो, इच्छाओं व अनुभवो को एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाती है। भाषा एक सामाजिक उपज है तथा यह मानवीय अवबोधन, सोच, आत्मज्ञान एवं दूसरो को जानने व साथ ही सामाजिक समुदाय के अस्तित्व हेतु आवश्यक है।

वास्तव मे भाषा सस्कृति का मूल तत्व है। इसके बिना संस्कृति जीवित नहीं रह सकती क्योंकि मौखिक बोली के माध्यम के बिना ज्ञान तथा आस्थाए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तथा एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक नहीं पहुंचाए जा सकते। हमारे पूर्वजो के सचित ज्ञान तथा अनुभवों तक पहुचने मे भाषा ही हमें मदद करती है।

बहुत लंबे समय तक सामान्यत: यह मान्य किया जाता था कि भाषा वास्तविकता को परिदर्शित करती है तथा शब्दो को एक भाषा से दूसरी भाषा मे स्वाभाविक रूप तथा शुद्ध रूप से भाषातरित किया जा सकता है। किन्तु समाजशास्त्री अब इस परिकल्पना को सही नहीं मानते। विश्व की हजारो भाषाओं के अध्ययन के उपरान्त यह पाया गया कि वे एक ही घटना की व्याख्या अलग-अलग प्रकार से करती

हैं। एडवर्ड सपीरवोर्फ (Edward Sapirwhorf) की भाषाई सापेक्षता प्राक्कल्पना यह मानती है कि सम्कृति का भाषा के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता। किसी विशिष्ट भाषा को बोलने वाले उनकी भाषा द्वारा प्रदत्त व्याकरण की सरचना तथा वर्गों के आधार पर ही विश्व की व्याख्या करते हैं। विभिन्न भाषाओ मे अतर शब्दावली तथा व्याकरण प्रयोग आदि के सबध मे होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि विभिन्न भाषाओ के बोलने वालो मे समान विचारो को व्यक्त करने तथा विश्व को समान दृष्टिकोण से देखने की क्षमता नहीं होती।

सास्कृतिक विविधता का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त
(Sociological Theory of Cultural Variation)

समाजशास्त्रियो ने सस्कृति तथा सास्कृतिक विविधताओं को तीन घटकों द्वारा समझाया है — (i) समस्याए जिनका समाजशास्त्रियो को सामना करना होता है (ii) सपर्क का प्रकार अथवा विभिन्न समाजो के सदस्यो के बीच सम्प्रेषण (iii) नवाचार।

प्रत्येक समाज उसको विभिन्न समस्याओ को अपने स्वय के तरीकों से सुलझाता है। रोनाल्ड (1956 113) ने कहा है कि समाज के सामने आने वाली समस्याए चार प्रकार की होती हैं — (i) समाज के सदस्यो के बीच अतर्वैयक्तिक सबधो के कारण उत्पन्न समस्याए (ii) समूह तथा भौतिक पर्यावरण के बीच सबधो के कारण उत्पन्न समस्याए (iii) समूहो तथा उन समूहो जिनसे सामाजिक परिवेश बना है, के बीच सबधो के कारण उपजी समस्याए (iv) समूह अनुरक्षण की प्रकार्यात्मक समस्याए जैसे सदस्यो का प्रतिस्थापन। चूकि ये समस्याए प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं अत सस्कृतियो मे भिन्नता अपेक्षित है क्योंकि सस्कृतिया समूह की सयुक्त समस्याओ के समाधानो के मूर्तरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अन्य घटक जो विविधताओं को घटाता है वह है समाजो के बीच सपर्क एव सम्प्रेषण। एक समाज अन्य सस्कृतियो से जितने अधिक सपर्क मे रहेगा वह उस समाज द्वारा समस्याओ के निराकरण मे प्रयुक्त प्रभावी समाधानो के सबध मे उतना ही अधिक सीखेगा। इन समाधानों को अगीकार करने पर सास्कृतिक विविधताए कम होगी।

पूर्व मे सपर्क सीमित होते थे क्योंकि आवागमन व सचार के साधन भी सीमित थे। किन्तु आज हम विश्वव्यापी सपर्क तथा विश्वव्यापी सस्कृति की बात करने लगे हैं। इस सबध मे सातची एव सातची (Saathchi and Saathchi) का कहना है कि आज के वैश्वीकरण (Globalisation) के युग मे सस्कृति का मिलन (Cultural Convergence) हो रहा है। दूसरे समाजो के नवाचारो का प्रयोग करने से भी सास्कृतिक विविधताओ मे कमी आती है।

उपरोक्त घटकों के अतिरिक्त समाजशास्त्री जनसंख्या के आकार, जनसंख्या की संरचना (आयु, लिंग आदि) को भी संस्कृति को प्रभावित करने वाले घटकों के रूप में मानते हैं। एक समुदाय जिसमें अधिकांश युवा दम्पत्ती ही शामिल हैं, उस समुदाय जिसमें अधिकांश बुजुर्ग व बच्चे ही शामिल हैं से कई महत्वपूर्ण मामलों में भिन्न होगा। यहां तक कि विवाह का रूप भी जनसांख्यिकीय घटकों से जुड़ा रहता है। बहुपति, बहुपत्नी, कन्या भ्रूण हत्या आदि प्रथाएं भी जनसंख्या के मूची स्तंभ को बिगाड़ते हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन (Cultural Change)

सभी संस्कृतियों में परिवर्तन होता है, यद्यपि उनकी परिवर्तन की गति व तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं। सामान्यत: संस्कृतियों में विशेषत. पुरातनकालीन संस्कृतियों में परिवर्तन की गति धीमी तथा सतत थी। अभौतिक संस्कृति मुख्यत. परंपरावादी थी तथा लोग पुराने मूल्यों, मानदंडो, आस्थाओं व परंपराओं को त्यागने के इच्छुक नहीं थे। संस्कृति में परिवर्तन इसलिए भी होता है क्योंकि उसे भौतिक पर्यावरण के अनुरूप अनुकूलन करना होता है। विभिन्न प्रकार के पर्यावरण विभिन्न प्रकार से संस्कृति के विकास को प्रभावित करते हैं। संस्कृति में परिवर्तन वास्तव में एक प्रक्रिया है जो दैनंदिन जीवन की समस्याओं के पर्यावरण निदानों के विरुद्ध कार्य करती है। यह चयन उपलब्ध सामग्री तक ही सीमित होता है। उदाहरण के लिए अतिशीत पर्यावरण में खेती करना असंभव होता है। अन्य क्षेत्रों में कौन सी फसल सबसे अच्छी रहेगी यह वहां के तापमान व वर्षा पर निर्भर करता है। यद्यपि यह कहना सही नहीं होगा कि केवल पर्यावरण ही खेती के प्रकार को निश्चित करता है फिर भी पर्यावरण के सीमित करने के स्वरूप को अस्वीकार करना तर्क पूर्ण नहीं होगा। वन क्षेत्रों के लोग कृषि को काटकर जलाते हैं, शिकार करते हैं तथा वनोत्पादन एकत्र करते हैं। समुद्र किनारे रहने वाले लोग अधिकतर मछली पकडने का व्यवसाय करते हैं। ये लोग मछली पकडने हेतु डोंगियों का प्रयोग करते हैं किन्तु ये लोग गरीब होते हैं। ऊंचे पठारी क्षेत्र में जानवरों को पालतू बनाना आसान होता है। इस व्यवसाय में लोगों को अतिरिक्त बचत होती है जो सभ्यता के विकास में योगदान देती है। इस प्रकार पर्यावरण एक संरचना प्रदान करता है जिसके अंदर सांस्कृतिक विशेषज्ञता तथा चयनित दोहन चलता रहता है। पर्यावरणीय सीमाएं सांस्कृतिक विविधताओं में योगदान देती हैं।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमें टेलीफोन, हवाई जहाज, स्वचालित वाहन, कम्प्यूटर आदि दिए हैं जिनका हमारे जीवन की दशा में बहुत अधिक प्रभाव पडा है। ये आविष्कार समाज के सांस्कृतिक संसाधनों को बढ़ाते हैं। प्रत्येक नया आविष्कार पूर्व में उपलब्ध ज्ञान के भंडार पर निर्भर करता है। एक युग में *आविष्कारित मशीनों*

संस्कृति का विकास (Growth of Culture)

सर्वप्रथम आदि काल में संस्कृति का सचयन बहुत धीमा माना जाता था। आखेट युग मे लोग गुफाओं मे रहते थे, वे सरल पत्थर के औजारो का प्रयोग करते थे व जानवरो को मारकर उनका कच्चा मास अथवा खाने योग्य जड़ी बूटी खाते थे। जब आग का आविष्कार हुआ तब सांस्कृतिक विकास की गति कुछ बढ़ी। फिर सम्प्रेषण के लिए भाषा (कुछ ध्वनि समूहो के साथ विशिष्ट अर्थ जोड कर), प्रतीको तथा हाव भावों (शारीरिक भाषा) का प्रयोग होने लगा। फिर धीरे–धीरे सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवहार के कुछ मानदड (मानदड अर्थात अपेक्षित व्यवहार) विकसित हुए। इसके उपरान्त लोगो ने अन्य संस्कृतियो की कुछ विशेषताओ को स्वीकार करना आरंभ किया।

ऑगस्ट कास्टे ने मानवीय सोच के विकास की तीन अवस्थाएं बताई हैं : ईश्वर परक, तात्विक (तत्व ज्ञान सबंधी) व निश्चयात्मक (वैज्ञानिक)। हर्बर्ट स्पेंसर ने सामाजिक विकास को सरल से जटिल समाजो मे तथा सजातीय से विषमजातीय के रूप में परिभाषित किया। मानवशास्त्री इस बात को नहीं मानते कि परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता की ओर ही होता है। वे यह मानते हैं कि अनेक आदिम जातियों में विस्तृत बंधुत्व (*Elaborate Kinship*), आनुष्ठानिक (*Ritualistic*) तथा समारोह (Ceremonial) तंत्र विद्यमान थे जो आधुनिक समाजों मे बेहतर थे। कुछ इतिहासकार जैसे स्पेंगलर (Spengler) व टायनबी (Toynbee) भी किसी एकरेखीय उर्ध्वगामी प्रगति के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि समाज चक्रीय वृत्त में ही घूमे।

इस प्रकार जैविक समायोजन के साथ ही सामाजिक व सांस्कृतिक समायोजन भी धीरे–धीरे संभव हो सका। अभी हाल ही प्रौद्योगिकी में तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनो के कारण सांस्कृतिक विकास में योगदान मिला। आर्थिक गतिविधियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन तीन प्रक्रियाओं के माध्यम से होते हैं : हतोत्साहन, आविष्कार एव विसरण। आविष्कार वह ज्ञान होता है जिसका पूर्व में अस्तित्व नहीं था।

प्रकार्यवादी प्रतिमान बताते हैं कि (अ) मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संस्कृति एक अभिन्न तंत्र के रूप मे क्रियाशील होती है व (ब) सांस्कृतिक मूल्य समाज के प्रत्येक सदस्य द्वारा अंगीकार किए जाते हैं। फिर भी सांस्कृतिक स्थिरता पर अधिक जोर देकर यह अधिगमन (i) समाज के परिवर्तन के विस्तार को कम महत्व देता है, (ii) सांस्कृतिक विविधता के विस्तार की अनदेखी करता है तथा (iii) वे सांस्कृतिक पैटर्न जिन्हें समाज के प्रभावशील व्यक्तियों की मान्यता होती है समाज में प्रभावशाली होते हैं जबकि जीवन की अन्य विधियों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural Lag)

आधुनिक औद्योगिक समाजों की ओर संकेत करते हुए विलियम आगबर्न (William Ogburn) ने इस धारणा को अपनी पुस्तक "सोशल चेंज" में प्रस्तुत किया। सांस्कृतिक विलम्बना एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक संस्कृति के कुछ भागों में दूसरे संबंधित भागों की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का एकीकरण (Integration) और संतुलन भंग हो जाता है। यह धारणा उस स्थिति की ओर संकेत करती है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में तीव्र गति से परिवर्तन होने के कारण भौतिक संस्कृति में अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से परिवर्तन होता है। चूंकि विभिन्न अवयवों में परस्पर संबंध एवं एक-दूसरे पर निर्भरता होती है अतः हमारी संस्कृति के एक अवयव में तीव्र परिवर्तन होता है तो संस्कृति के विभिन्न परस्पर संबंधित अवयवों में परिवर्तन के माध्यम से समायोजन करने की आवश्यकता होती है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन के साथ अभौतिक संस्कृति में परिवर्तनों की पिछड़ने की स्थिति से एक अटकाव पैदा हो जाता है तथा कभी कभी यह अनेक वर्षों तक बना रहता है। ऑगबर्न के अनुसार पिछले कुछ वर्षों में भौतिक और अभौतिक दोनों संस्कृतियों का विकास हुआ है किन्तु भौतिक संस्कृति ने अभौतिक संस्कृति को काफी पीछे छोड़ दिया है। अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति से पिछड़ना सांस्कृतिक विलम्बना है। ऑगबर्न ने इन दोनों संस्कृतियों में असंतुलन के लिए चार कारणों का उल्लेख किया है—नए विचारों के प्रति भय, अतीत के प्रति निष्ठा, निहित स्वार्थ और नवीन विचारों के परीक्षण में कठिनाई। सांस्कृतिक विलम्बना की यह प्राक्कल्पना मानती है कि आधुनिक समाजों में एक प्रवृत्ति होती है कि राजनीतिक, शैक्षिक एवं धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन तकनीकी में हो रहे परिवर्तनों के साथ मेल न खाकर उनसे पीछे रह जाते हैं। इस कारण कुछ समाजों में संघर्ष और समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

सांस्कृतिक व मानवीय समायोजन (Culture and Human Adjustment)

मानवों में यह क्षमता होती है कि वे जैविक तथा सामाजिक दोनों पर्यावरणों में स्वयं को समायोजित कर लेते हैं। यह समायोजन संस्कृति के माध्यम से संभव होता है।

जैविक समायोजन (Biological Adjustment)

भौतिक संस्कृति में नवाचारों लोगों को प्रकृति (उसके जलवायु आदि) पर विजय पाने योग्य बनाते हैं। प्रकृति हमें फल, बीज, वनस्पति, औषधि प्रदान करती है जिन्हें हम अपने लाभ हेतु उपयोग करते हैं। यहाँ तक कि पृथ्वी की कड़ी सतह को भी बुलडोजर, ट्रैक्टर आदि की सहायता से कृषि योग्य बना लेते हैं। आधुनिक मशीनों का प्रयोग कर लोग ठंड, ऊष्णता, वर्षा, बाढ़, अकाल आदि का सामना कर सकते

हैं। फिर भी एक ओर तो संस्कृति लोगों को पर्यावरण के साथ समायोजन में मदद करती है, तो दूसरी ओर वह अनेक प्रकार से जैविक समायोजन में कडी बनती है। अनेक प्रथाएं व परपराए (अभौतिक संस्कृति) ऐसी आस्थाए अभिवृत्तिया व मूल्य तैयार करती हैं जिससे अनेक प्राकृतिक वस्तुए जैसे परजीवी आदि को लोग नष्ट नहीं करते। ये पराजीवी लोगो को नुकसान पहुँचाते रहते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में यह आस्था कि गायो बिल्लियो और यहाँ तक कि भटके हुए कुत्तों को भी नहीं मारना चाहिए। आस्था के कारण लोगों को कई कठिनाइयों का सामना करना पडता है। अनेक नदिया गदी व प्रदूषित हो जाती हैं। अनेक सांस्कृतिक मानदडो को जो हानिकारक हैं, लोग आज भी मानते हैं।

सामाजिक समायोजन (Social Adjustment)

सांस्कृतिक मानदड कुछ सवेदनाए विकसित करते हैं जो अपराध व विरोध की भावना पैदा करती हैं। उदाहरण के लिए अनेक धार्मिक भावनाए लोगो को आशकित, निष्क्रिय तथा अविश्वासी बनाती हैं। एक समय था (बीसवीं सदी के आरभ तक) हिन्दू विधवाओं को अपने पति के मृत शरीर के साथ सती बन जाने हेतु बाध्य किया जाता था। युवा विधवाओ को तपस्वी जीवन व्यतीत करने हेतु बाध्य किया जाता था तथा ऐसी अनेक बातें करने से रोका जाता था जिनसे वे सामान्य जीवन व्यतीत कर सकें। जाति सबंधी मानदड लोगों को ऐसे कार्य करने की मनाही करते थे जो उनके लिए लाभकारी (आर्थिक दृष्टि से) हो सकते थे। इस प्रकार कुछ मामलो मे संस्कृति लोगों को समायोजन में मदद करती थी बल्कि कुछ मामलो में तो वह मानवीय समायोजन मे बाधक बनती थी।

पर-संस्कृतिग्रहण (Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण शब्द के प्रतिपादन का श्रेय अमेरिकी समाजशास्त्रियों को दिया जाता है। किसी समूह या व्यक्ति द्वारा किसी अन्य सस्कृति के सम्पर्क से अपनी सस्कृति को परिवर्तित करना पर-सस्कृतिग्रहण कहलाता है। यह एक या एक से अधिक संस्कृतियो की सास्कृतिक विशेषताओं को उनसे सम्पर्क मे आकर प्राप्त करना है। यह समूह की संस्कृति को संशोधित करता है किन्तु यह मौलिक संस्कृति को नष्ट नहीं करता। सामान्यतः सपर्क की स्थिति में दोनो संस्कृतियो मे परिवर्तन होते हैं, यद्यपि उनमे से एक सस्कृति दूसरी की अपेक्षा अधिक तीव्रता से प्रभावित होती है। आज आधुनिक विश्व में कोई भी संस्कृति पूर्णतः एकाकी नहीं है तथा दूसरी संस्कृतियो द्वारा प्रभावित होती हैं किन्तु सपर्क की तीव्रता व अवधि स्थान एव समय के अनुसार बदलती रहती है। आवागमन व सचार के साधनों के विकास के साथ लोग लंबी दूरी तक प्रवास करते हैं तथा इस प्रक्रिया मे अपने साथ सास्कृतिक सच

ले जाते हैं जिसे अन्य लोग अंगीकार कर लेते हैं तथा वे भी अन्य लोगों से नई प्रथाएं सीखते हैं। जब दो संस्कृतियाँ आपस में सांस्कृतिक तत्वों का आदान–प्रदान करती हैं तब इस प्रक्रिया को पारस्परिक संस्कृतिग्रहण कहा जाता है।

ब्रूम एवं सेल्जनिक मानते हैं कि शब्द पर संस्कृतिग्रहण का प्रयोग समाजीकरण के समानार्थी किया गया है अर्थात् व्यक्तियों के व्यवहार के तरीकों तथा मूल्यों का अधिग्रहण। सभी सांस्कृतिक अधिग्रहणों को सीखना होता है। फिर भी पर-संस्कृतिग्रहण चयनात्मक होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है अमेरिका की जापान पर जीत के बाद जापानी लोगों द्वारा कुछ निवेशक प्रथाओं का अंगीकरण करना। अप्रवासी भी नए देश की सांस्कृतिक विशेषताओं को अंगीकार कर लेते हैं। फिर भी वे अपनी मूल संस्कृति से स्वयं को पूर्णतः विमुख नहीं करते। किन्तु लाखों अप्रवासियों के लिए सांस्कृतिक खाइयां बनी ही रहती हैं। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में अनेक भारतीय अप्रवासी विभिन्न पृष्ठभूमियों तथा सामाजिक स्थितियों से आते हैं। इनमें से कुछ कृषक थे तो कुछ डॉक्टर कुछ कम्प्यूटर ऑपरेटर कुछ तकनीशियन थे जिन्होंने बेहतर आर्थिक अवसरों अथवा जनसंख्या के दबाव तथा अपने देश में अवसरों की कमी के कारण भारत छोड़ा है। इन लोगों ने अपने नए पर्यावरण में स्वयं को समायोजित करने हेतु विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं को अंगीकार कर लिया है। नवीन संस्कृति तत्वों को अपनाने, सीखने की प्रक्रिया को नव-संस्कृतिकरण कहते हैं।

सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict)

अनेक अप्रवासी अथवा सीमान्त लोग सांस्कृतिक संघर्ष का सामना करते हैं। यह दो संस्कृतियों के लोगों के बीच का संघर्ष है दोनों को ही आंशिक रूप से स्वीकार किया जाता है। इसके कारण कुछ विरोधी मानदंड तथा विरोधी निष्ठाओं की समस्या खड़ी हो जाती है। लोगों की विभिन्न भाषाओं व रीतियों व प्रथाओं के कारण विसंगत स्थिति पैदा हो जाती है।

आत्मसातकरण (Assimilation)

आत्मसातकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक अल्पसंख्यक समूह धीरे-धीरे अपने सांस्कृतिक प्रतिरूपों को छोड़कर प्रबल समूह के सांस्कृतिक प्रतिरूपों को अपनाता है। आत्मसातकरण एक सांस्कृतिक समूह का दूसरी संस्कृति में पूर्णतः विलीन होना है तथा इस प्रकार समान संस्कृति व पहचान के साथ एक समूह में तादात्म्य यह एक समूह का दूसरे समूह में विलयन अथवा अपसारी संस्कृतियों का आपसी मिलन हो सकता है। इस प्रकार आत्मसातकरण में सांस्कृतिक विभिन्नताओं तथा विभिन्नता वाले समूहों की पहचान का पूर्णतः विलोपन होता है। जब एक समूह अपनी संस्कृति को पूर्णतः खो देता है तब यह प्रक्रिया वि–संस्कृतिकरण कहलाती है।

आत्मसातकरण या सात्मीकरण एक मन्द, अचेतन, क्रमिक और जटिल प्रक्रिया है। कुछ कारण ऐसे होते हैं जो आत्मसातकरण के लिए सहायक होते हैं जैसे—सहिष्णुता, समान आर्थिक अवसर, प्रभावशाली तथा अल्पसंख्यक समूहों की संस्कृति में समानता, प्रभावशाली समूह द्वारा अल्पसंख्यक समूह के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, एक समूह से दूसरे समूह में विवाह आदि। किन्तु कुछ कारक ऐसे भी होते हैं जो आत्मसातकरण की प्रगति को रोकते हैं। ये बाधक कारक हैं—प्रभावशाली समूह के अन्दर स्वयं को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ मानने की अभिवृत्ति, सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नताएं, रहन सहन की अवस्थाएं आदि।

सांस्कृतिक एकीकरण (Cultural Integration)

अनुकूलन की वह प्रक्रिया जिसमें संस्कृति के तत्व एक समनुरूप समग्र (Consistent Whole) का रूप धारण करते हैं। व्यक्ति अपने व्यवहार के सिद्धान्तों को स्वतंत्र रूप से निरूपित नहीं करते। मानदंडों को अनेकानेक व्यक्तियों द्वारा एक लंबी अवधि में बनाया जाता है। इन्हें संगतता पूर्वक एकीकृत किया जाना होता है जिसमें वे सभी सहभागियों के लिए कार्यात्मक व्यवस्था का रूप ले लें। यदि स्वयं अपने लिए नियम बनाने लगें तो सामाजिक तंत्र ध्वस्त हो जाएगा। इस प्रकार सांस्कृतिक विशेषताओं को पृथक से लें तो वे किसी समाज की कुल संस्कृति नहीं बन सकतीं। संस्कृति एक एकीकृत सामूहिकता होती है जिसकी लोकरीतियों, लोकाचारों व मूल्यों को एक-दूसरे को आधार देना होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कृषि में लगे अधिकांश लोग सूर्य व इन्द्र देव (वर्षा हेतु) की पूजा करते हैं, शिकार से जुड़े लोग शिकारी देवताओं की व मछली के शिकार से जुड़े लोग वरुण देवता की पूजा करते हैं।

संस्कृति का वैचारिक विश्लेषण (Theoretical Analysis of Culture)

प्रकार्यात्मक विश्लेषण (Functional Analysis)—प्रकार्यात्मक विश्लेषण समाज को तुलनात्मक दृष्टि से एक स्थाई व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु डिजाइन की गई है। इस दृष्टिकोण से विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं का महत्व इस बात में निहित है कि वे समाज के सम्पूर्ण कार्य को किस प्रकार बनाए रखते हैं। जैसा कि प्रकार्यवादी मानते हैं कि किसी सांस्कृतिक व्यवस्था के स्थायित्व का कारण यह है कि मूल मूल्य जीवन के तरीके को स्थाई बनाते हैं। मूल मूल्य दैनंदिन जीवन की अधिकांश गतिविधियों को आकार देते हैं तथा इसी प्रक्रिया में समाज के सदस्यों को एक सूत्र में बांधकर रखते हैं।

चूंकि संस्कृतियां मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु रणनीतियां होती हैं अतः हम अपेक्षा करते हैं कि विश्व भर के समाजों में कुछ घटक समान होंगे। 'सांस्कृतिक

सामान्य प्रत्यय' का अर्थ उन विशेषताओ से होता ह जो प्रत्येक ज्ञान सस्कृति के हिस्से होते हैं। सास्कृतिक सामान्य प्रत्यय जमे भाषा ऐसी रीतियाँ हें जो प्रत्येक सस्कृति मे पाई जाती हें। जार्ज मरडाक ने ऐसी कई विशेषताए पाईं जो सभी सस्कृतिया मे होती हें। एक सास्कृतिक सामान्य प्रत्यय ह- परिवार जो लैंगिक प्रजनन को नियत्रित करने तथा बच्चो की देखभाल व उनके लालन-पालन को सगठित करने के लिए सभी जगह कार्य कर रहा है। अतिम सस्कार एव कर्मकाण्ड भी सभी जगह पाए जाते हें। लतीफे भी एक सास्कृतिक समान प्रत्यय ह जो सामाजिक तनावो से मुक्ति क साधन के रूप मे उपयोग म लाए जाते हैं। सास्कृतिक रीतियाँ सम्पूर्ण विश्व मे समान हो सकती हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति प्रत्येक सस्कृति मे भिन्न-भिन्न होती ह।

सास्कृतिक स्थिरता पर बल देकर प्रकायवादी सामाजिक परिवर्तन के विस्तार का महत्व कम कर देन हें। इसी प्रकार प्रकायवादी सास्कृतिक विविधता के विस्तार को *भी नजरअदाज कर देते हैं।*

सघर्पात्मक विश्लेषण (Conflict Analysis)

सघर्पात्मक विश्लेषण सस्कृति व विषमता के बीच सबधो की ओर ध्यान आकर्षित करता है तथा सास्कृतिक विशेषताए किस प्रकार समाज के कुछ सदस्यो को अन्य लोगों का नुकसान कर फायदा पहुचाते हैं इस बढा चढा कर बताता है। सघर्पात्मक *विश्लेषण यह बात उजागर करता ह कि सास्कृतिक व्यवस्थाए मानवीय आवश्यकताओ* की ओर असमान रूप से ध्यान देती हैं तथा सास्कृतिक घटको का एक महत्वपूर्ण कार्य हैं कुछ लोगों के अन्य लोगों पर प्रभुत्व को बनाए रखना। यह विषमता परिवर्तन हेतु दबाव बनाती है। सघर्ष सिद्धान्त अनेक प्रश्न पूछता ह जैसे समाज मे कुछ विशिष्ट *मूल्यो का प्रभुत्व ही क्यों रहता है? लोग किस प्रकार प्रतिरोध की सस्कृति को विकल्प* के रूप मे निर्मित कर सकते हे, इसका भी सघर्ष सिद्धान्त परीक्षण करता है।

आधुनिक सस्कृति (Modern Culture)

क्रुक (Crook) के अनुसार आधुनिक सस्कृति के तीन प्रमुख लक्षण हैं —

1 विभेदीकरण (Differentiation):—क्रुक मानते है कि समाज के विभिन्न पहलुओ का आकलन विभिन्न कसौटियो के रूप मे *होता है। विज्ञान का आकलन सत्य के माध्यम से होता है,* नैतिकता एव कानून का आकलन अच्छाई व न्याय द्वारा तथा कला का आकलन सौंदर्य द्वारा होता है। प्रत्येक क्षेत्र अपनी विशिष्ट सस्था तथा अधिकार विकसित करते हैं।

2 युक्तिकरण (Rationalisation):—युक्तिकरण ने भी आधुनिक सस्कृति को आकार दिया है। सस्कृति के पुनर्निर्माण अथवा उसकी अनुमति बनाना तकनीकी के

प्रयोग से अब संभव हो गया है। संस्कृति के युक्तिकरण के बावजूद महान कलाकारों का सृजनात्मकता महत्त्व अभी भी बना हुआ है।

3. वस्तुकरण (Commodification):—सस्कृति के वस्तुकरण मे सास्कृतिक उत्पादो को वस्तुओ मे परिवर्तित करना जिन्हे आसानी से खरीदा व बेचा जा सकता है, निहित है।

क्रुक के अनुसार आधुनिकता मे प्रचलित कुछ प्रक्रियाओ का तीव्रीकरण उत्तर आधुनिकता की ओर ले जाता है।

❖❖❖
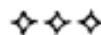
13

धर्म

(Religion)

धर्म आस्था का विषय है। यह श्रद्धा पर आधारित होता है न कि वैज्ञानिक सबूतों पर। आस्था व श्रद्धा विवेक से परे होती है। इसलिए धर्म की व्याख्या वैज्ञानिक रूप से नहीं हो सकती। धर्म तथा अन्य आस्थाएं प्रत्यक्ष रूप से समाज को प्रभावित करती हैं। इसीलिए समाज को समझने के पूर्व धर्म को समझना आवश्यक है।

महाभारत में शान्तिपर्व मे धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है —

"*धारणाद् धर्म इति आहु:*"

अर्थात मनुष्य जो धारण करे वही उसका धर्म है। इसके अनुसार धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्य से है।

ईसाई मत के अनुसार धर्म वह है जो विभिन्न वस्तुओं को प्रेम, सहानुभूति तथा पारस्परिक कर्तव्य और अधिकार के बन्धन मे बाँधती है।

एडवर्ड टायलर के अनुसार आध्यात्मिक सत्ताओं मे विश्वास ही धर्म है। ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने कहा है कि धर्म मानवोपरि शक्तियों के प्रति अभिवृत्तियाँ है।

धर्म संस्कृति को भी प्रभावित करता है। एमिल दुर्खीम के अनुसार-धर्म आस्थाओं एवं परम्पराओं का एकीकृत तंत्र है जो पवित्र वस्तुओं से संबंधित होता है। यह उन लोगों को जो इन आस्थाओं व परम्पराओं में विश्वास रखते हैं, को

एक नैतिक समुदाय के रूप में एक सूत्र में बांधता है। आस्थाओं व परम्पराओं का यह तंत्र मानव तथा उन वस्तुओं के संबंधों को प्रस्थापित करता है जो प्रथम दृष्टि में उनकी समझ से परे होती हैं। धर्म मानव को नैतिक जीवन शैली को अपनाने हेतु प्रेरित करता है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक आस्थाएं एवं अनुष्ठान किसी पवित्र वस्तु अथवा वस्तुओं से संबंधित होते हैं। जैसे ईसाइयों के लिए क्रॉस, मुसलमानों हेतु कुरान, सिखों के लिए "गुरु ग्रंथ साहेब" व हिन्दुओं के लिए स्वास्तिक, त्रिशूल आदि। धर्म से संबंधित सभी वस्तुओं, पुस्तकों, ग्रन्थों, प्रतीकों, क्रियाओं आदि को पवित्र माना जाता है। बौद्ध धर्म में वस्तुओं के स्थान पर कुछ आस्थाओं अथवा मार्गदर्शक सिद्धान्तों को पवित्र माना गया है।

सभी धर्मों के अनुयायी अपने धर्म के पवित्र प्रतीकों का बहुत सम्मान करते हैं तथा उनकी रक्षा हेतु कुछ भी करने को तत्पर होते हैं। सभी धर्मों में कुछ अनुष्ठान निश्चित होते हैं जिन्हें सभी अनुयायियों को मानना ही होता है। इन अनुष्ठानों में प्रार्थना करना, भजन गाना, उपवास करना, कुछ विशिष्ट वस्तुओं को खाना अथवा विशिष्ट वस्तुओं का परहेज करना आदि शामिल हैं। यद्यपि इन अनुष्ठानों को धर्मावलम्बी वैयक्तिक रूप में मनाते हैं किन्तु प्रत्येक धर्म में कुछ अनुष्ठान ऐसे होते हैं जिन्हें सामूहिक रूप में मनाया जाता है। ऐसा सामाजिक एकात्मकता के लिए आवश्यक होता है।

सभी धर्म एकेश्वरवाद (Monotheism) अर्थात एक ही ईश्वर को नहीं मानते इसलिए धर्म का एकेश्वरवाद के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं करना चाहिए। ईश्वर विहीन धर्म भी हो सकता है जैसे बौद्ध धर्म। बौद्ध व जैन धर्म नास्तिवाद को मानते हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं जो अनेक देवी-देवताओं में विश्वास रखते हैं तो कुछ ऐसे हैं जो एक भी देवता को नहीं मानते जैसे कंफ्यूशियसवाद। विभिन्न धर्मों में ईश्वर व ब्रह्माण्ड के संबंधों, मानवीय जीवन भाग्य की व्याख्या तथा मुक्ति की धारणा के संबंध में भिन्नता पाई जाती है। यद्यपि सभी धर्म कुछ नैतिक सिद्धान्तों को समान रूप से मानते हैं किन्तु वे कई नैतिक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं। धर्म का संबंध अलौकिकता तथा अप्राकृतिक शक्तियों के साथ भी स्थापित नहीं किया जा सकता।

धर्म के संबंध में समाजशास्त्रियों द्वारा कई प्रश्न पूछे गए हैं, यथा--

दुर्खीम-- धार्मिक पूजा-पाठ तथा संस्कारों (Rituals) के माध्यम से एक समूह की सामाजिक एकता या सामूहिक एकात्मकता को धर्म किस प्रकार पुनर्गठित (Reinforce) करता है।

मार्क्स-- धर्म किस प्रकार लोगों के भावात्मक तथा बौद्धिक विकास को रोकता है।

वेबर-- किस प्रकार एक विशेष अर्थ-व्यवस्था (पूंजीवाद) विशिष्ट प्रकार की धार्मिक विचारधारा (Protestantism) की उपज है।

समाजशास्त्री विभिन्न धर्मों के प्रतिस्पर्द्धात्मक दावों (Claims) से सम्बन्ध नहीं रखते। व तो धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं के सामाजिक प्रभावों का अध्ययन करते हैं। धर्म के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के द्वारा यह देखा जाता है कि धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की अभिव्यक्ति समाज में किस प्रकार होती है और धर्म निरपेक्षता किस प्रकार अन्तर्धार्मिक पूर्वाग्रहों को रोक सकती है।

धर्म मूलभूत धारणायें (Religion–Basic Concepts)

समाजशास्त्रियों ने धर्म का विश्लेषण कई प्रकार से किया है।

(i) दुर्खीम का मानना है कि धर्म पवित्र वस्तुओं से सबंधित विश्वासों और आचरणों (Practices) की सम्पूर्ण व्यवस्था है। धर्म किसी समूह की सामूहिक एकता तथा सामाजिक एकात्मकता को बल प्रदान करने का कार्य करता है।

(ii) मार्क्स ने धर्म का लौकिक दृष्टिकोण दिया है। मार्क्स के अनुसार धर्म—

- *आधुनिक जगत में वास्तविक खुशियों से विसबंध (Alienation) का एक प्रकार है।*
- एक प्रकार की विचारधारा है जो दलित वर्ग में भ्रमित सचेतना का विकास करती है।

(iii) फ्रायड मानते हैं कि धर्म सामाजिक विघटनकारी प्रवृत्तियों को परिष्करण (Sublimation) के माध्यम से नियंत्रित करने में मदद करता है।

(iv) मैक्स वेबर के मतानुसार यह सामाजिक परिवर्तन में विभिन्न प्रकार से योगदान देता है तथा स्थिति बनाए रखता है। यह अलौकिक के तार्किक निरूपण को जिसे पूर्व में अपवित्र माना जाता था, उसे दूर करने की प्रक्रिया।

(v) बगर व लाकमैन मानते हैं कि केवल धर्म एक ही रास्ता है जिसके द्वारा लोग अपने अनुभवों से आशय निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(vi) पारसन्स के विचार से धर्म सामाजिक व्यवस्था का एक तत्व है।

धर्म की विशेषताएं (Characteristics of Religion)

धर्म एक व्यापक शब्द है। धर्म की सामान्य विशेषताएं है—

1. धर्म विज्ञानोपरि (Non-Scientific) है।
2. धर्म अवलोकन से परे है।
3. धर्म का आधार आस्था या विश्वास है।
4. धर्म एक सामाजिक संस्था है।
5. धर्म से सम्बन्धित वस्तुएं, प्राणी, प्रतीक और स्थान पवित्र माने जाते हैं।

6. धर्म लोकोत्तर (Transcendental) मूल्यों से संबंधित होता है।

7. धर्म का सम्बन्ध भावनाओं और संवेगो से है।

धर्म का प्रादुर्भाव (Origin of Religion)

उन्नीसवीं सदी में धार्मिक समाजशास्त्र के समक्ष दो प्रश्न प्रमुख रूप से खड़े थे—धर्म का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? तथा धर्म का विकास कैसे हुआ? जिस प्रकार सन् 1859 में डार्विन ने विभिन्न प्रजातियों के प्रादुर्भाव व विकास की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया, उसी प्रकार समाजशास्त्रियों ने भी समाज व विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के उद्गम तथा विकास की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया। जहां तक धर्म का संबंध है, इसके प्रादुर्भाव संबंधी दो सिद्धान्तों का प्रस्तुत किया गया—आत्मवाद (Animism) व प्रकृतिवाद (Naturlism)।

आत्मवाद का तात्पर्य है आत्माओं में विश्वास। एडवर्ड बी टायलर (E.B Tylor) के अनुसार आत्मवाद ही धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप था। टायलर तर्क करते हैं कि धर्म एक प्रकार का आत्मवाद ही है जिसका प्रादुर्भाव मानव के बौद्धिक स्वभाव को संतुष्ट करने तथा मृत्यु, स्वप्न व दृष्टि के आशय को समझने की आवश्यकता की पूर्ति हेतु हुआ था। टायलर के अनुसार आत्मवाद सभी धर्मों का मूल है।

प्रकृतिवाद का आशय है कि प्रकृति के आवेगों में अलौकिक (Supernatural) शक्तियां होती हैं। मैक्स मूलर (Max Muller) के अनुसार यही धर्म का सर्वप्रथम स्वरूप था। उनके अनुसार प्रकृतिवाद का उदय मानव के प्रकृति के अनुभवों के कारण हुआ। मानव ने पाया कि प्रकृति में आश्चर्य है, आतंक है, व चमत्कार भी हैं जैसे बादलों की गरज व बिजली की चमक तथा ज्वालामुखी आदि। प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर मनुष्य के मन में भय, आतंक और श्रद्धा उत्पन्न हुई। इस कारण वह प्रकृति की पूजा-आराधना करने लगा। प्रकृतिवाद मानव की संवेदनाओं पर प्रकृति की शक्तियों व चमत्कारों के प्रभावों की प्रतिक्रिया है।

गणचिह्नवाद (टोटमवाद) एवं जीवसत्तावाद (प्राणवाद) (*Totemism and Animatism*)

गौण सम्कृतियों में प्राय: दो प्रकार के धर्म पाए जाते हैं। गणचिह्नवाद एवं जीवसत्तावाद। गणचिह्न शब्द का प्रयोग वृहद् रूप से पशु-पक्षियों अथवा पेड़-पौधों की उन प्रजातियों के लिए किया जाता था जिनमें अलौकिक शक्ति होती है। सामान्यत: किसी समाज के प्रत्येक नातेदारी समूह अथवा कुछ का अपना एक विशिष्ट गणचिह्न होता है जिसके साथ अनेक कर्मकाण्डी गतिविधियां जुड़ी होती हैं। टोटम के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर और भय की भावना पाई जाती है। जीवसत्तावाद में प्रेतात्माओं व भूतों में विश्वास किया जाता है और ऐसा माना जाता है कि वे उसी

विश्व मे बसते हैं जिसमे मानव रहते है। ये प्रेतात्माओं मानव व्यवहार को अनेक प्रकार से प्रभावित कर सकती हैं। कुछ संस्कृतियो में एसा विश्वास किया जाता है कि प्रेतात्माए वशीभूत कर लेती हैं कि जिससे वे उन व्यक्तियो के व्यवहार को नियंत्रित कर सके।

दुर्खीम ने गणचिह्नवाद को धर्म का सबसे सरल व बुनियादी रूप बताया है। गणचिह्न एक प्रतीक होता है। यह कुल या एक प्रतीकात्मक चिह्न होता है। यह वह चिह्न होता है जिसमे एक कुल अन्य कुलो से अलग अपनी पहचान बनाते है।

दुर्खीम ने सामूहिक शक्ति व पवित्रता की धारणा को स्पष्ट करने के लिए टोटमवाद को सबसे महत्वपूर्ण माना है। टोटम की पूजा स्वय की पूजा है अर्थात एक गोत्र के व्यक्तियो द्वारा अपनी पूजा करना है। मलिनोस्की ने कहा है कि जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों को दुर्लभ जाति के पौधों और पशुओं के बारे मे ज्ञान हो। *हॉविन्स ने गणचिह्नवाद की उत्पत्ति के लिए आर्थिक कारणो को* उत्तरदायी माना है।

धर्म व जादू (Religion and Magic)

धर्म और जादू दोनो की जडे भावना में जमी हुई हैं। अनेक समाजो मे लोग जादुई कर्मकाण्डो को मानते हैं जो धर्म से घनिष्ठ रूप से जुडे होते है। मेलिनोस्की (Malinowski) धर्म व जादू मे अंतर को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार जादू का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है और इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु जादुई कर्मकाण्ड किया जाता है। दूसरी ओर धर्म का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता। वे बच्चे के जन्म के समय मृत्यु को टालने हेतु किए जाने *वाले जादुई व धार्मिक कर्मकाण्डो की तुलना कर उनकी विषमताओं को दर्शाते हैं।* जादुई कर्मकाण्ड का एक उद्देश्य होता है जो इसे करने वालो को पूर्णत ज्ञात होता है। धार्मिक कर्मकाण्ड दावत अथवा अन्य किसी विधि-विधान द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जादुई व धार्मिक दोनों प्रकार के अनुष्ठान सवेगी दबाव की स्थिति में ही सम्पन्न किए जाते है। दोनो मे ही मिथक विद्या, वर्जन तथा चमत्कार युक्त वातावरण का समावेश होता है। जादू से मनुष्य मे *अज्ञात का सामना करने हेतु आत्मविश्वास आता है जबकि धर्म* उसे विपत्ति का सामना करने हेतु बल प्रदान करता है। गोल्डनवीजर ने कहा है कि धर्म मे आत्मसमर्पण निहित है, जबकि जादू मे दृढ आत्मसंकल्प तथा नियंत्रण। धर्म मनुष्य और *ईश्वर के मध्य* सम्बन्ध स्थापित करता है जादू मे ऐसा नहीं होता। जादू प्राय: व्यक्तियो द्वारा सम्पन्न किया जाता है न कि धर्म को मानने वाले समुदाय द्वारा। आज के विज्ञान के युग व आधुनिक समाजो मे जादुई अनुष्ठानो का चलन प्राय. समाप्त हो गया है किन्तु फिर भी विपत्ति अथवा संकट के समय अंधविश्वासो की शरण मे लोग अभी भी जाते ही हैं। *टायलर ने जादू को एक 'मिथ्या विज्ञान' के रूप में माना है। फ्रेजर (Frazer) ने जादू को* विज्ञान की 'अमान्य बहन' कहा है।

दुर्खीम ने धर्म और जादू के मध्य अन्तर करते हुए लिखा है कि जादू उन व्यक्तियों को आपस मे नहीं बाँधता जो उसका अनुसरण करते हैं। जादू एक संस्कार है जो मानवीय इच्छाओ की सन्तुष्टि के लिए विशेष पद्धति द्वारा प्रकृति की ओर मोड़ता है। मोलिनोस्की ने जादू के निम्न चार तत्व बताए हैं-

(i) मन्त्र — मन्त्रो के द्वारा ही जादू की क्रिया सम्पन्न की जाती है।

(ii) भौतिक पदार्थ — सफेद जादू मे इत्र फूल तथा काले जादू मे चाकू-कटार या जहरीली वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।

(iii) क्रियाओं की नियमबद्धता — जादू करने की एक विधि एव क्रम होता है।

(iv) संवेगों का महत्व — जादूगर के चेहरे पर जादू करते समय जादुई उद्देश्यों के अनुसार ही संवेगों की अभिव्यक्ति होती है।

मोलिनोस्की ने जादू के दो भेद किए हैं—सफेद जादू (White Magic) और काला जादू (Black Magic)। दूसरों की रक्षा अथवा हित के लिए किये जाने वाली जादुई क्रिया सफेद जादू कहलाती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति या समूह को लाभ पहुचाना है। इसमे कल्याण की भावना होती है जैसे स्वास्थ्य लाभ, दुर्भाग्य से बचाव, यात्रा मे सुरक्षा आदि। इसके विपरीत काला जादू दूसरो को हानि या कष्ट पहुँचाने अथवा स्वार्थ के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ—दुश्मन को मारने, उसकी सम्पत्ति नष्ट करने, उसे बीमार या मृत्यु का आह्वान करने आदि में। यह सामान्यतः समाज द्वारा स्वीकृत नहीं होता। काला जादू, विनाशात्मक जादू (Destructive Magic) है।

काले जादू के अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र अर्थात जादू टोना (Sorcery) तथा भूत-प्रेतों की सिद्धि अर्थात जादू मायाजाल (Witchcraft) आते हैं। सोरसरी किसी भी व्यक्ति द्वारा सीखी जा सकती है। परन्तु उनकी क्रियाएं उपयुक्त ढंग से सम्पन्न करना आवश्यक होता है। विचक्राफ्ट जादूगर की अति प्राकृतिक शक्ति पर निर्भर करता है और सभी को नहीं सिखाया जा सकता है।

जादू के अन्य प्रकार भी है जैसे अनुकारी (Imitative) जादू। उत्तरी जापान के 'आयनो' लोगों मे परम्परा से प्रचलित परिपाटी के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा अपने शत्रु की मूर्ति के सिर और वक्ष मे कील ठोककर पेड़ पर टाँगा जाता है, यह अनुकारी जादू का उदाहरण है।

धर्म और नैतिकता (Religions and Morality)

मैकाइवर और पेज ने धर्म और नैतिकता में अन्तर को स्पष्ट किया है। इनके अनुसार धर्म श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है नैतिकता तर्क व विवेक पर। धर्म का सम्बन्ध भावनाओं से है, नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के कर्तव्यों से है। धर्म के आगे प्रश्न चिन्ह करना पाप है, नैतिकता को चुनौती दी जा सकती है। धर्म की प्रकृति

अपरिवर्तनशील है, नैतिकता समय व परिस्थिति के साथ बदलती है। धर्म का पालन न करने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि मे गिर जाता है, नैतिकता का पालन न करने पर समाज मे आलोचना का पात्र बन जाता है।

काम्टे के अनुसार धर्म नैतिकता का आधार है। धर्म और नैतिकता दोनो मानव आचरण को नियंत्रित करते हैं। धर्म का नैतिकता से चोली दामन का साथ है। धर्म ही नैतिक मूल्यो का स्रोत है। दुर्खीम ने कहा है कि पहले नैतिकता का जन्म हुआ फिर धर्म का प्रादुर्भाव। दुर्खीम के विचार से धर्म और नैतिकता एक-दूसरे को परस्पर जोडे हुए हैं। बॉटोमोर की मान्यता है कि वर्तमान समय मे धार्मिक विश्वास के ह्रास के साथ आवश्यक हो गया है कि नैतिकता को अपना नया आधार ढूढना चाहिए। नैतिक नियम तर्कयुक्त निर्णय पर आधारित होते हैं, जबकि धर्म संवेगात्मक और अतार्किक होता है। किन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इस विचारधारा को पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि धर्म और नैतिकता एक-दूसरे से भिन्न तथा स्वतंत्र हैं।

धर्म और विज्ञान (Religion and Science)

विज्ञान अवलोकन, निरीक्षण मापन और प्रयोग पर आधारित है। परीक्षण एवं आनुभविक मूल्याकन के आधार पर ही निष्कर्ष मान्य किये जाते हैं। धर्म विश्वास और दैवी ज्ञान पर आधारित है। गैलीलियो की खोज कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है, यह धार्मिक विश्वास के विपरीत था। अत. गैलीलियो को फासी दी गई। धर्म ने डार्विन और हक्सले के परिणामों को झूठ सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया। धार्मिक व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं। ऑगबर्न और निमकॉफ ने लिखा है कि कुछ लोग सोचते हैं कि वे धर्म के बिना रह सकते हैं परन्तु वे धार्मिक अनुभव के मूल्य से परिचित नहीं हैं। धर्म का अतार्किक स्वरूप समाज और व्यक्ति दोनो के लिए महत्वपूर्ण है। धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं है। मनुष्य और प्रकृति (Nature) को समझने के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। विज्ञान की प्रगति के बाद भी वास्तव मे धर्म एव विज्ञान दानो ही सस्कृति के महत्वपूर्ण तत्व हैं। मैक्स वेबर ने विज्ञान और धर्म की पृष्ठभूमि का विश्लेपण करते हुए आर्थिक व्यवस्था से जुडे हुए तर्क का प्रयोग किया है विज्ञान और टैक्नोलॉजी का उन देशों मे अधिक विकास नहीं हुआ जहाँ लोगो की आस्था धर्म पर आधारित थी। विकसित समाजो मे धर्म की तुलना मे विज्ञान का महत्व अधिक है। धर्म अवैज्ञानिक नहीं है, यह गैर वैज्ञानिक है।

धार्मिक व्यवहार (Religious Behaviour)

एक समाजशास्त्री के लिए धार्मिक व्यवहार बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इन्हीं

व्यवहारों के द्वारा समाज व धर्म के संबंध रेखांकित होते हैं। सभी धर्मों में कुछ तत्व समान पाए जाते हैं किन्तु प्रत्येक धर्म के कुछ विशिष्ट तत्व होते हैं जिनसे व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है। धार्मिक व्यवहार के तीन आयाम होते हैं — आस्था, अनुष्ठान अथवा कर्मकाण्ड व अनुभव।

(अ) आस्था (Belief)

किंग्सले डेविस ने लिखा है आस्थाएं धर्म का ज्ञानात्मक पक्ष हैं। धार्मिक आस्थाएं विश्वास पर आधारित होती हैं न कि अनुभवों पर। प्रत्येक धर्म की कुछ उक्तियां अथवा कथन होते हैं। अनुयायी इन्हीं को मानते हैं व उनसे जुड़े रहते हैं। ये उक्तियां प्रत्येक धर्म में भिन्न होती हैं। आस्थाएं अपने आप में कोई महत्व नहीं रखतीं। उनका महत्व तभी होता है जब वे किसी व्यक्ति को अच्छा जीवन व्यतीत करने हेतु मार्गदर्शित करती हैं। आस्थाओं को उनकी संज्ञानात्मक वैधता के लिए नहीं बल्कि उनके नैतिक प्रभावों के लिए मूल्यांकित करना चाहिए। धार्मिक आस्थाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—धार्मिक मूल्य तथा ब्रह्माण्डिकी।

धार्मिक मूल्य क्या अच्छा है क्या वांछनीय है तथा क्या उचित है, आदि से संबंधित वे धारणाएं होती हैं जो उस धर्म के मानने वाले सभी लोग मान्य करते हैं। धार्मिक मूल्य व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। ये सभी सामाजिक संस्थाओं पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। उदाहरण के लिए विवाह संबंधी धार्मिक मूल्य समाज में पारिवारिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

ब्रह्माण्डिकी ब्रह्माण्ड के बारे में धारणाओं को समझाती है। इसमें स्वर्ग, नर्क, जीवन, मृत्यु आदि का वर्णन होता है। प्रत्येक धर्म इनका वर्णन भिन्न प्रकार से करता है। व्यक्ति का व्यवहार इन धारणाओं से भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए समाज की दृष्टि से वह बुरे काम इस डर से नहीं करता कि मरने के बाद वह नर्क में जाएगा।

(ब) अनुष्ठान अथवा कर्मकाण्ड (Rituals)

धार्मिक अनुष्ठान वे विधियां होती हैं जिन्हें धर्मावलंबियों द्वारा अपनाया जाता है। प्रत्येक धर्मावलंबी से यह अपेक्षा होती है कि वह इनका पालन करे। धार्मिक अनुष्ठान एवं धार्मिक आस्थाएं एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर रहती हैं। इन अनुष्ठानों को करने पर प्रतिफल मिलता है व न करने पर विपदा आ सकती है यह धारणा धर्मावलंबियों के मन में बिठा दी जाती है। प्रत्येक धर्म में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान अथवा क्रियाएं की जाती हैं। जैसे—पूजा पाठ, प्रार्थना, नमाज, हवन, यज्ञ आदि। कुछ अनुष्ठान बहुत सरल होते हैं जैसे धार्मिक स्थानों में जाकर प्रार्थना करना। किन्तु कुछ अनुष्ठान बहुत जटिल व विस्तृत होते हैं। त्याग करना यह अनुष्ठान सभी धर्मों में पाया जाता है।

है। यह उन राष्ट्रों में भी पाए जाते हैं जहाँ यह धार्मिक शासन हो। डिनॉमिनेशन किसी धर्म के सभी लक्षणों को न मानते हुए कुछ लक्षणों को मानते हैं।

(4) कभी कभी लोगों को एक करिश्माई नेतृत्व (Charismatic Leader) मिल जाता है। इस नेतृत्व के अधीन वे एक सम्प्रदाय (Cult) की स्थापना कर लेते हैं। एक सम्प्रदाय धार्मिक रूप से सक्रिय व्यक्तियों का एक छोटा सा समूह होता है जिनके विश्वास विशिष्ट रूप से रहस्यमय, व्यक्तिवादी और समन्वयात्मक हैं। सम्प्रदाय के सदस्य एक ही प्रकार के रीति रिवाजों को मानते हैं। यह संगठन शिथिल होता है। ये पंथ के समान ही दिखते हैं किन्तु इनकी स्थायित्वता कम होती है। सम्प्रदायों का करिश्माई नेतृत्व लोगों को जीवन का नया मार्ग दिखाता है। सम्प्रदाय की कुछ रीतियाँ व रिवाज परम्परा से हटकर होते हैं।

भारत में भी प्रायः सभी धर्मों में पंथ अथवा सम्प्रदाय पाए जाते हैं। एक सम्प्रदाय के लोग किन्हीं विशिष्ट विश्वासों, रीति रिवाजों तथा परम्पराओं के आधार पर अपनी विशिष्ट पहचान बना लेते हैं। सभी धार्मिक संगठन पुरुष प्रधान होते हैं। कुछ में देवियों का भी पूजन होता है। हिन्दू धर्म इनमें से एक है। किन्तु अधिकांश धर्मों में मूर्तियाँ व प्रतीक पुरुषों के ही होते हैं।

धर्म के कार्य (The Functions of Religion)

धर्म व्यक्ति व समाज के लिए कई प्रकार के कार्य संपादन करता है। यही कारण है कि धर्म नामक संस्था इतने लंबे काल के बाद भी अस्तित्व में बनी हुई। इससे धर्म की उपयोगिता भी सिद्ध होती है। समाजशास्त्रियों के अनुसार धर्म निम्न कार्यों का संपादन करता है:—

पौरोहितीय (Priestly) कार्य

यह धर्म का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य द्वारा धर्म समाज को एक सूत्र में बांध कर रखता है। व्यक्तियों को व्यक्तिगत लक्ष्यों के स्थान पर सामूहिक हितों व लक्ष्यों को प्राप्त करने में मदद करता है। धर्म समाज की वर्तमान संरचना को संबल प्रदान करता है तथा अधिकार प्राप्त तथा अधिकारविहीन दोनों प्रकार के लोगों को यथास्थिति बनाए रखने हेतु प्रोत्साहित करता है। इसीलिए कार्ल मार्क्स ने धर्म के इस कार्य की तुलना अफीम से की है जो लोगों को भ्रमित करती है। पौरोहितीय कार्यों के माध्यम से धर्म लोगों को विसामान्य होने से बचाता है तथा सामाजिक हित में कार्य करने हेतु प्रोत्साहित करता है। धर्म समाज में नैतिकता को बनाये रखने में सहायक है।

पैगंबरी (Prophetic) कार्य

ये कार्य पौरोहितीय कार्य के बिल्कुल विपरीत होते हैं। 'मानव निर्मित कानूनों से

ईश्वरीय कानून श्रेष्ठ होता है इस धारणा को मानने वालो का कहना है कि समाज मे पस्थापित नियमो के अतिरिक्त मानव कार्य करा सकता है। धर्म के पैंगबरी कार्य व्यक्ति को सामाजिक समालोचना करने का अटल आधार उपलब्ध कराते हैं।

स्व-व्यक्तित्व (Self-identity) कार्य

इस कार्य के अतर्गत धर्म व्यक्ति के स्वय के व्यक्तित्व का बोध कराता है। यह बात सभी लोग स्वीकार करते ह कि धर्म समाजीकरण करने वाली सस्थाओ मे सबसे सशक्त होता है। धर्म मानव को स्वय के व्यक्तित्व का बोध कराता है। इसी कारण व्यक्ति देनिक जीवन में आने वाली चुनातियो तथा शकाओं का सामना करता है। धर्म लोगो को मानसिक तनावो एव सवेगो से मुक्ति दिलाता ह। धर्म मानव को अपने व्यक्तित्व का अवबोधन प्रबल सकारात्मक अनुभवो के द्वारा कराता है। किन्तु कभी कभी व्यक्ति को यह अवबोधन भय के कारण भी होता है। ऐसा सदेव नही होता। व्यक्तित्व का अवबोधन कराने की भूमिका मे धर्म कभी-कभी मुक्ति दिलाने तथा एकीकृत कराने वाली शक्ति का कार्य भी करता है।

सबल देने (Buttress) सबधी कार्य

व्यक्ति जब भी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक सकट मे होता है, तब धर्म उसे सहानुभूति व सहारा देता है। धर्म शोक और भय से मुक्ति दिलाता ह। धर्म के इस कार्य को सबल देने सबधी कार्य कह सकते हैं। सकट के समय धर्म मनुष्य मे आशा का सचार करता ह। यह समर्थन आर सात्वना है। धर्म सकट के समय अतर्कवादी समर्थन प्रस्तुत करता है।

आयु-श्रेणी (Age-grading) देने सबंधी कार्य

जीवन काल को विभिन्न सोपानो मे बाटा गया है। एक सोपान से दूसरे सोपान मे जाने के लिए कुछ अनुष्ठान तथा पवित्र समारोह धर्म द्वारा निश्चित किए गए हैं। जीवन के प्रत्येक सोपान हेतु एक न एक सस्कार निश्चित है। धर्म द्वारा किए जाने वाले इस कार्य को आयु श्रेणी देने सबधी कार्य कहते हैं।

व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण (Explanation) सबधी कार्य

जब मानव को वैज्ञानिक ज्ञान नही था तब धर्म ऐसी घटनाओ का स्पष्टीकरण करता था जो मानव समझ से परे थीं। मानव जिन घटनाओ को समझने मे असमर्थ होता था तब वह धर्म की शरण मे जाता था व धर्म उसे उस घटना का स्पष्टीकरण देता था। ऐसी वस्तुओ को जो ऐतिहासिक अथवा प्रकृति के नियमो द्वारा न समझाई जा सके उनकी अधविश्वासी व्याख्या धर्म द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए आकाश मे बिजली का चमकना विद्युतीय उत्प्रेषण द्वारा होता है यह तथ्य जब तक मानव को ज्ञात नही था, तब धर्म द्वारा इसे ईश्वरीय प्रकोप की व्याख्या दी गई थी। इस प्रकार धर्म व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण

देने का कार्य भी करता है। कुछ लोग वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा व्याख्या दिए जाने के बावजूद आज भी धर्म द्वारा दी गई व्याख्या को ही सही मानते हैं।

समाज के सुचारु रूप से सचालन में धर्म एक प्रमुख भूमिका निभाता है। दुर्खीम के अनुसार धर्म तीन ऐसे कार्य करता है जिससे समाज सुचारु रूप से कार्य कर सके। ये तीन कार्य इस प्रकार हैं —

(1) सामाजिक संसंजन (Social Cohesion) का कार्य :— धर्म लोगों को पवित्र प्रतीकों, मूल्यों तथा मानदडों द्वारा एकत्र करने का कार्य करता है। धार्मिक सिद्धान्त तथा अनुष्ठान समाज में निष्पक्ष व्यवहार के नियम प्रतिपादित करते हैं। इसके कारण सामाजिक जीवन सुसगठित होता है। प्रेम के मानवीय आयामों के सबध में भी धर्म विस्तृत व्याख्या देता है।

(2) सामाजिक नियंत्रण (Social Control) :— धर्म प्रत्येक समाज में लोगों को समाज के नियमों को मानने हेतु, अच्छे व बुरे परिणामों पर बल देता है। विभिन्न समाजों में सांस्कृतिक मानदडों को धार्मिक व्याख्या देकर लोगों को उनके पालन हेतु बाध्य किया जाता है। इस प्रकार धर्म सामाजिक नियत्रण का कार्य करता है।

(3) सामाजिक जीवन को महत्व व प्रयोजन प्रदान करना (Providing Meaning and Purpose):— धार्मिक आस्थाएं लोगों को यह बताती हैं कि उनकी दयनीय अवस्था भी किसी वृहद् प्रयोजन का भाग है। अत: मनुष्य को हताश नहीं होना चाहिए। जीवन के प्रत्येक सोपान हेतु जैसे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि पर कुछ धार्मिक अनुष्ठानों का प्रयोजन किया गया है। यह लोगों की आध्यात्मिक चेतना को बढ़ाता है। इस प्रकार धर्म जीवन को एक अर्थ प्रदान करता है।

धर्म के सभी कार्यों की चर्चा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि धर्म के मुख्यत: निम्न कार्य हैं —

(1) संकट के समय यह लोगों को सहारा, सात्वना व शक्ति प्रदान करता है।

(2) यह समाज को संगठित कर स्थिरता प्रदान करता है।

(3) यह व्यक्ति को स्वय का व्यक्तित्व प्रदान करता है।

(4) यह समाज को मूल्यों के मानदण्ड प्रदान करता है।

(5) यह समाज में स्थापित मानदंडों व मूल्यों को पवित्रता प्रदान करता है।

(6) यह समाज और संस्कृति की रक्षा करता है।

धर्म के अकार्य (Dysfunctions of Religion)

धर्म के अनेक अकार्य भी हैं। धर्म की प्रवृत्तियाँ रूढ़िवादी होती हैं। यह सामाजिक व्यवस्था में नवीन परिवर्तन नहीं आने देता। इससे समाज प्रगति नहीं कर पाता। धर्म

के कारण लोग भाग्यवादी बन जाते हैं। धर्म समाज मे कभी-कभी विघटन भी पैदा करता है और इस कारण आपसी वैमनस्य बढता है।

विश्व मे विद्यमान धर्म (World Religions)

विश्व मे अनेक धर्म विद्यमान हैं। इनमे से कई *धर्म* ऐसे हैं जो किसी सकुचित भू-भाग पर ही केन्द्रित हैं तथा उनके अनुयायियो की सख्या भी सीमित है। विश्व के प्रमुख छह धर्मों मे से चार धर्म ऐसे हैं जिनके अनुयायियों की सख्या अधिक है। ये चार धर्म हैं— हिन्दू, इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म। विश्व की जनसख्या के लगभग तीन चौथाई भाग इन चार धर्मों के अनुयायी हैं। अब हम सक्षेप मे इन धर्मों की चर्चा करेगे।

हिन्दू (Hindu)

हिन्दू धर्म को विश्व का सबसे पुराना धर्म मानते हैं। हिन्दू धर्म कर्म (कर्त्तव्य पालन), धर्म, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, त्याग व मोक्ष आदि सिद्धान्तों का अधिवक्ता है। हिन्दू धर्म मे अनेक देवी-देवताओ को मान्यता प्राप्त है। हिन्दू धर्म की आस्थाए व रीति-रिवाज अनेक प्रकार के है। स्थान स्थान पर इनमे विभिन्नता पाई जाती है। किन्तु सभी हिन्दू धर्मावलबी एक नैतिक शक्ति को मानते हैं। इस नैतिक शक्ति को "धर्म" कहा जाता है। प्रत्येक हिन्दू को धर्म के अनुसार आचरण करना उसका कर्त्तव्य होता है। सभी हिन्दू पुनर्जन्म मे विश्वास रखते हैं। हिन्दू धर्म की मान्यता है कि जन्म-मृत्यु-पुनर्जन्म यह चक्र चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस चक्र से गुजरना होता है। *विश्व जनसख्या के 14 प्रतिशत लोग हिन्दू धर्म के अनुयायी* हैं। इनमे से अधिकाश हिन्दू भारतीय उप-महाद्वीप मे ही बसे हुए हैं। वैश्वीकरण के प्रभाव से अब हिन्दू भारतीय उप-महाद्वीप से बाहर बसने लगे हैं। दक्षिण अफ्रीका, अमेरिका, ब्रिटेन आदि मे बडी सख्या मे हिन्दू बस गए है। हिन्दू व्यक्तिगत भक्ति *तथा सार्वजनिक अनुष्ठान दोनो मे ही विश्वास रखते हैं। सार्वजनिक रूप से अनेक* अनुष्ठानो का आयोजन किया जाता है जिसमे हजारो की सख्या मे श्रद्धालु भाग लेते हैं। ये अनुष्ठान अनेक प्रकार के होते हैं तथा क्षेत्र के अनुसार इनकी रीतियो मे भिन्नता पाई जाती है। हिन्दू मानते है कि व्यक्ति के प्रत्येक कर्म के आध्यात्मिक परिणाम होते हैं। *धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने से नैतिकता का विकास होता है।* हिन्दुओ के जीवन मे विभिन्न अनुष्ठानो का बहुत महत्व होता है।

इस्लाम (Islam)

विश्व की जनसख्या के 19 प्रतिशत लोग इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं। इन्हे मुस्लिम अथवा मुसलमान कहा जाता है। मुस्लिम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब थे। 'कुरान' को इस्लाम मे बहुत पवित्र माना जाता है तथा इसके अनुसार ही सब कार्य सम्पन्न

होते है। वे इसे अल्लाह की देन मानते हैं तथा इसे मोहम्मद साहब के माध्यम से सप्रेषित किया गया है। यह अल्लाह का संदेश है। मुस्लिमो का मानना है कि कुरान के अनुसार जीवनयापन करने पर आतरिक शाति मिलती है। इस्लाम एक अरबी शब्द है। इसका अर्थ अल्लाह के प्रति समर्पण व शाति होता है। इस्लाम के अनुसार प्रत्येक मुस्लिम के पाच कर्तव्य होते है— अल्लाह मे विश्वास पाच बार नमाज अदा करना, दान जकात देना, प्रतिवर्ष एक माह का रोजा रखना तथा जीवनकाल मे कम से कम एक बार मक्का की तीर्थ यात्रा करना।

इस्लाम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन म किए गए प्रत्येक कार्य हेतु अल्लाह के दरबार मे उत्तर देना होता है। जो व्यक्ति अल्लाह के बताए मार्ग पर चलता है उसे स्वर्ग मे पुरस्कृत किया जाता है तथा बाधक जीवन व्यतीत करने वाले को दण्डित किया जाता है। इस्लाम म मुस्लिम महिलाओ को उतने अधिकार प्राप्त नहीं है जितने पुरषो को प्राप्त है। इस्लाम मे कई सम्प्रदाय हैं जिनमे प्रमुख हैं सुन्नी तथा शिया। भारत म सुन्नी सम्प्रदाय का बाहुल्य है।

ईसाई धर्म (Christianity)

ईसाई धर्म विश्व मे सबसे अधिक प्रचलित धर्म है। विश्व को जनसख्या के एक तिहाई लोग ईसाई हैं। वसे तो ईसाई सारे विश्व मे फैले हुए हैं किन्तु अमेरिकी महाद्वीप, यूरोप व ऑस्ट्रेलिया मे ही अधिकाश ईसाई बसे हुए हैं। ईसाई एकेश्वरवादी होते हैं। ईसाई लोग जेसस (Jesus) को मसीहा के रूप में मानते हैं। ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव प्रथम (Judaism) के एक पथ के रूप में हुआ। बाद मे यह पृथक धर्म के रूप मे उभरा। धर्म शास्त्र एव चर्च के सगठन के मान से ईसाई धर्म के अनेक पथ हैं। इनमे से प्रमुख हैं— रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट व पूर्वी रूढ़िवादी। यूरोप के सभी समाज ईसाई धर्म पर ही आधारित हैं। ईसाई धर्म मे पाच अनुष्ठानों का प्रावधान है। ये हैं— बपतिस्मा (Baptisma), पुष्टिकरण (Confirmation), आत्मनिवेदन (Confession), पवित्र संचार (Holy Communication), एव विवाह (Matrimony)।

बौद्ध धर्म (Buddhism)

बौद्ध धर्म के अनुयायी विश्व जनसंख्या के 4 प्रतिशत हैं। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव लगभग 2500 वर्ष पूर्व भारत मे ही हुआ। इसके प्रणेता गौतम बुद्ध थे। अधिकांश बौद्ध दक्षिण पूर्वी एशिया के देशो मे (म्यामार, थाइलैण्ड, जापान, चीन, कंबोडिया, वियतनाम, लाओस, श्रीलंका, भारत) फैले हुए हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार कोई व्यक्ति जन्म से बड़ा नहीं होता। व्यक्ति ऊचा और नीचा तो अपने आचरण से होता है। बौद्ध धर्म का नीतिशास्त्र पांच निर्देशों पर आधारित है। ये निर्देश हैं— किसी की

जान मत लो, चोरी मत करो झूठ मत बोलो, असयमित मत बनो व मद्यपान मत करो। बोद्ध व हिन्दू धर्म में अनेक समानताए हैं। दोनों ही धर्म पुनर्जीवन मे विश्वास रखते हैं। बोद्ध धर्म के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना अथवा आध्यात्मिक रूप से पूर्ण सतुष्टि प्राप्त करना होता हे। बोद्ध धर्म नैतिक आदर्शो पर अधिक बल देता है।

धर्म और विचारक (Religion and Thinkers)

समाजशास्त्री इससे सहमत हैं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था मे धार्मिक कारक को समझना आवश्यक होता हे।

धर्म के समाजशास्त्रीय उपगमन को तीन समाजशास्त्रीय विचारको ने सबसे अधिक प्रभावित किया हे। ये है—कार्ल मार्क्स, दुर्खीम व वेबर। दुर्खीम ने आस्तिको (विश्वास करने वालों) के नेतिक समुदाय पर बल दिया है। मार्क्स यह मानते थे कि धर्म श्रमिको को सगठित होने से रोकता है तथा वेबर धर्म के आर्थिक सस्थाओ के साथ सबधो पर अधिक बल देते थे। इन तीनों मे से कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति का नहीं था। ये विचारक धर्म को भ्रम मानता था। अब हम विचारकों के धर्म सबधी विचारो की विस्तार से चर्चा करेंगे।

कार्ल मार्क्स व धर्म (Karl Marx and Religion)

जैसा कि पूर्व मे हम कह चुके हैं कि मार्क्स धर्म मे विश्वास नहीं रखते थे। उन्होने कभी भी धर्म का विस्तृत अध्ययन नहीं किया था। उनके धर्म सबधी विचार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे अनेक लेखको के द्वारा लिखी गई पुस्तको पर आधारित थे। मार्क्स मानते थे कि धर्म लोगो को स्वय से विमुख करता है। मार्क्स के अनुसार पारपरिक रूप मे धर्म लुप्त हो जाएगा और ऐसा होना ही उचित है। "धर्म लोगों के लिए एक अफीम की गोली के समान है" मार्क्स का यह कथन बहुत अधिक प्रचलित हुआ है। धर्म का एक प्रबल सेद्धातिक तत्व होता है। मार्क्स मानते थे कि धार्मिक आस्थाए तथा मूल्य समाज मे व्याप्त सपत्ति एव सत्ता की असमानताओ को उचित ठहराने का प्रयास करते हैं।

मार्क्स के अनुसार धर्म एक प्रकार सवेगात्मक तथा बौद्धिक विमुखीकरण है। आज की दुनिया मे धर्म सामाजिक न्याय व आनद का स्थान नहीं ले सकता। मार्क्स मानते थे कि धर्म श्रमिक वर्ग के सवेगात्मक एव बौद्धिक विकास में बाधक होता है। वास्तविक दुनिया मे शक्ति की स्थापना मे भी धर्म बाधक ह। मार्क्स का मानना था कि यदि श्रमिक वर्ग धर्म के भ्रम से स्वय को मुक्त करता है तो उनकी सृजनात्मक शक्ति, उनके कार्य, उनकी कला तथा उनके बौद्धिक जीवन में अभिव्यक्त हो सकेगी।

मार्क्स के अनुसार धर्म एक ऐसा सिद्धान्त अर्थात अफीम की ऐसी गोली है

जो लोगों को धर्म द्वारा प्रस्थापित नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करती है तथा उनके द्वारा की जाने वाली क्रांति को उठने से पूर्व ही दबा देती है। धर्म का कोई प्रभाव नहीं है ऐसी मार्क्स की मान्यता नहीं थी। यदि धर्म का उपयोग शासक वर्ग द्वारा श्रमिकों को अधीन करने हेतु किया जाता रहा है तो इसका कुछ तो महत्व होना ही चाहिए। मार्क्स धर्म को सामाजिक परिवर्तन के स्रोत के रूप मे नहीं मानते थे। उनके अनुसार धर्म में एक प्रबल सैद्धांतिक घटक होता है और उसके द्वारा सम्पत्ति व सत्ता की असमानता को उचित ठहराया जाता है।

दुर्खीम व धार्मिक अनुष्ठान (Durkheim and Religious Rituals)

मार्क्स के बिल्कुल विपरीत दुर्खीम ने अपने बौद्धिक जीवन का पर्याप्त समय धर्म के अध्ययन मे बिताया। उनकी पुस्तक 'धार्मिक जीवन के प्रारंभिक रूप' जो सन् 1912 मे प्रकाशित हुई "धर्म के समाजशास्त्र" विषय मे सबसे महत्वपूर्ण योगदान है। दुर्खीम के अनुसार धर्म हृदयहीन का हृदय है। दुर्खीम धर्म का संबंध सामाजिक असमानता से नहीं मानते थे किन्तु वे धर्म का संबंध संस्था के रूप में पूर्ण समाज के स्वरूप से होता है ऐसा मानते थे। बात को समझने के लिए वे समाज के आंतरिक स्रोत तथा धर्म का सामूहिक जीवन को बचाए रखने में दिए गए योगदान के अध्ययन की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते थे। दुर्खीम मानवीय अनुभवों को दो क्षेत्रों मे बांटते थे-- समाज के सदस्य जिन्हें पवित्र मानते हैं, उन्हें साधारण या अपवित्रता से दूर रखने का प्रयत्न करते है। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। इसी से धर्म की नींव पड़ती है। पवित्र वस्तुएं समाज और समुदाय के एकल भाव को प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त करती हैं। दुर्खीम के धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धान्त पवित्र और साधारण के बीच के अन्तर पर आधारित हैं।

दुर्खीम मानते थे कि धर्म का केन्द्र बिन्दु वे वस्तुएं होती हैं जो हमारे ज्ञान की सीमा से परे होती हैं (1965 : 62)। दुर्खीम कहते हैं कि मानव होने के नाते हम हमारे परिवेश की अधिकांश वस्तुओं, घटनाओं व अनुभवों की व्याख्या अपवित्र Profane (लैटिन शब्द का अर्थ मंदिर से बाहर की), के रूप में करते हैं जो कि हमारे रोजमर्रा के जीवन की साधारण घटक होती है। किन्तु हम कुछ वस्तुओं को पृथक रखते हैं व उन्हें पवित्र (Sacred) कहते हैं। ये वे वस्तुएं होती हैं जिन्हें हम असाधारण, आदर युक्त भय के साथ प्रेरणादायक मानते हैं। अपवित्र व पवित्र वस्तुओं मे अन्तर करना सभी धर्मों का सार होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसमें पवित्र की धारणा पर आधारित आस्थाएं व परम्पराएं शामिल होती है।

दुर्खीम ने पवित्र (Sacred) वस्तुओं के लक्षणों के सात गुणों का वर्णन किया है:—

1. जो पवित्र है उसे शक्ति या बल माना जाता है।

2 यह शारीरिक व नैतिक, इुमानवीय व अतरिक्षीय, आकर्षक व घिनानी तथा मानव के लिए सहायक तथा खतरनाक होते ह।

3 यह अन आनुभविक (Non-emperical) होते हैं।

4 यह ज्ञान से सबधित नहीं होते।

5 यह भक्ता को शक्ति व सहायता प्रदान करते हैं।

6 यह अनुपयोगितावादी (Non-utilitarian) होते हैं।

7 यह भक्तो से नेतिक आचरण की अपेक्षा करते हैं।

दुर्खीम के धर्म के सामाजिक कार्यों के विश्लपण मे प्रतीको व अनुष्ठाना का वहुत महत्व है। प्रतीक जैसे प्राचीन काल मे गण चिह्न अथवा क्रॉस या स्वम्निक सवेगो व आस्थाओ का केन्द्र प्रस्तुत करते हैं। पवित्र वस्तुओ की पूजा लोग सर्वत्र करते हैं किन्तु वे पवित्र किस वस्तु को मानते हैं यह प्रत्येक स्थान पर भिन्न भिन्न होता है। दुर्खीम के अनुसार ये प्रतीक व अनुष्ठान लोगो को एक सूत्र म वाधने हेतु आवश्यक होते हं। धार्मिक पूजन व अनुष्ठान ही ऐसी कडिया हैं जो लोगो को समाज मे एक साथ रहने व अपनी समान पहचान की अभिव्यक्ति करने मे मदद करती हैं।

दुर्खीम समाज का ही ईश्वर मानते थे। दुर्खीम का निष्कर्ष ह कि समाज ही वास्तविक देवता ह। उनके अनुसार समाज व्यक्ति से श्रेष्ठ होता ह। जिन परपराओ पर समाज टिका हुआ हे उन्हे धर्म पवित्र वनाता ह। धर्म व्यक्ति को शक्ति व महारा प्रदान करता है तथा यह उन विचारो व मूल्यो को जन्म देता है जिनस व्यक्ति का जीवन सार्थक वनता है। दुर्खीम ईश्वर की पूजा को समाज की पूजा के रूप मे देखते थे। इस प्रकार उनके *अनुसार धर्म का कार्य समाज के अस्तित्व को वनाए रखना है।*

दुर्खीम मानते थे कि जब लोग ईश्वर की पूजा करते हैं तब वे समाज को प्रणाम कर अपना आदर प्रदर्शित करते हं। धार्मिक अनुष्ठान धर्म के केन्द्र बिन्दु हाते हं तथा विभिन्न समूह समय-समय उनमे अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

दुर्खीम के अनुसार जेसे-जैसे आधुनिक समाजो का विकास हो रहा है वेसे वैसे धर्म का प्रभाव कम हो रहा हे। वेज्ञानिक सोच ने घटनाओ की धार्मिक व्याख्या व स्पष्टीकरण का स्थान ले लिया हे। इसके माथ ही धार्मिक अनुष्ठानो व समारोहो का अस्तित्व धीरे धीरे कम हो रहा है। इनका स्थान नई गतिविधियाँ ले सकती हैं।

वेबर : धर्म सामाजिक परिवर्तनो का स्रोत
(Weber : Religion as a Source of Social Change)

दुर्खीम ने सामाजिक परिवर्तन की ओर वहुत कम ध्यान दिया। धर्म व सामाजिक परिवर्तनो के सबधो के बारे मे दुर्खीम व वेबर के विचारो मे एकमत नहीं था। वेबर

मानते थे कि यह आवश्यक नहीं कि धर्म सदैव रूढ़िवादी शक्ति ही हो। इसके विपरीत उनके अनुसार धर्म द्वारा प्रवृत्त ऐसे अनेक आन्दोलन हुए हैं जिनका समाज में बड़ा योगदान रहा है। इस प्रकार वे सिद्ध करते हैं कि धार्मिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा दे सकती है। इसीलिए वे मानते थे कि सामाजिक परिवर्तन लाने में धर्म विशेष भूमिका अदा कर सकता है। वेबर ने धर्म का दो प्रकार से विश्लेषण किया। एक धर्म की सामाजिक परिवर्तन लाने में भूमिका तथा दूसरा धर्म द्वारा समाज में यथास्थिति बनाए रखने में योगदान। उनके अनुसार समाज में परिवर्तन आने से अलौकिकवाद का स्थान विवेक पूर्ण व्याख्याओं ने लिया है।

दुर्खीम व वेबर दोनों एक बात पर सहमत थे कि धर्म केवल व्यक्तिगत आस्थाओं से सम्बन्धित ही नहीं है। धर्म के सामूहिक स्वभाव के कारण ही समाज पर उसका प्रभाव पड़ता है। जहां कार्ल मार्क्स यह मानते थे कि धर्म अर्थव्यवस्था का ही परिणाम है, वहीं दूसरी ओर वेबर मानते थे कि धर्म नए आर्थिक तंत्र को आकार देने में सहायता करता है। मार्क्स व वेबर में मतभेद केवल पूंजीवाद के उदय से सम्बन्धित ही नहीं थे बल्कि वे पूंजीवाद के भविष्य के सम्बन्ध में भी थे। एक ओर जहाँ मार्क्स का विश्वास था कि पूंजीवाद का अन्त हो जाएगा, वहीं दूसरी ओर वेबर मानते थे कि एक आर्थिक तंत्र के रूप में पूंजीवाद अनिश्चितकाल तक अस्तित्व में रहेगा। वेबर में अंतःदृष्टि के होते हुए भी उनके विचारों को स्वीकार करना आसान नहीं है। वेबर की इस बात पर तीव्र आलोचना की जाती है कि उन्होंने कैल्विनवाद (Calvinism) के विचारों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया। वेबर के अनुसार कैल्विनवाद के विचारों से एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण होगा जो पूंजीवादी व्यवहार में व्यस्त रहेगा। इस बात को स्वीकार करना कठिन है।

फ्रायड : धर्म एक भ्रम (Freud : Religion as Illusion)

फ्रायड ने अपने धर्म सम्बन्धी विचारों में धर्म-वृति को कोई स्थान नहीं दिया है। उनके अनुसार धार्मिक क्रियाएं धर्म-वृत्ति के कारण नहीं होतीं। फ्रायड के अनुसार धर्म केवल दमन की हुई काम-वृति का द्योतक है। प्रेम में निराश होने या अन्य किसी कारण प्रेम-ग्रंथि पड़ने से व्यक्ति अपनी चेतना का केन्द्र ईश्वर को बनाता है। इस प्रकार ईश्वर भक्ति की आड़ में उसकी काम प्रवृति की शांति हो जाती है। फ्रायड ने अपनी कृति 'फ्यूचर ऑफ एन एल्युजन' (*Future of an Illusion*) में यहां तक कहा है कि धर्म केवल एक भ्रम है। धर्म केवल कल्पना का परिणाम है और कल्पना का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं।

धर्म : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य (Religion: Theoretical Perspectives)

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Functional Perspective)

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य धर्म की व्याख्या समाज की आवश्यकताओं के रूप में करता

है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण मुख्यत: इस बात से संबंध रखता है कि धर्म आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार योगदान करता है। इस परिप्रेक्ष्य से समाज में कुछ हद तक लोगों में सामाजिक एकात्मकता मूल्यों के संबंध में सर्वसम्मति एकरूपता तथा एकीकरण की आवश्यकता होती है। टालकट मानते हैं कि धर्म तनावों एवं कुंठाओं से जो कि समाज व्यवस्था को भंग कर सकते हैं मुक्ति दिलाकर सामाजिक स्थिरता को बनाए रखता है। मेलिनोस्की के अनुसार धर्म सामाजिक मानकों व मूल्यों को पुन: स्थापित कर सामाजिक एकात्मकता को प्रोत्साहित करता है। मेलिनोस्की ने सामाजिक जीवन के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को चिह्नित किया है जिनसे धर्म का संबंध रखता है तथा जिन्हें वह लक्षित करता है। ये भावनात्मक तनाव की स्थितियाँ सामाजिक एकात्मकता के लिए संकट उत्पन्न कर सकती है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज के लिए धर्म के सकारात्मक योगदान पर जोर देता है तथा उसके अप्रकार्यात्मक पहलू को नजरअंदाज करता है। प्रकार्यवाद जहां धर्म को विभाजक तथा विघटनकारी शक्ति के रूप में देखा जाता है, की ओर ध्यान नहीं देता।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य (Marxist Perspective)

मार्क्स के शब्दों में *धर्म दलित प्राणी की आह है, हृदयहीन विश्व की भावना है* तथा आत्मविहीन स्थितियों की आत्मा है। धर्म एक भ्रम है जो शोषण व उत्पीड़न की पीड़ा को कम करता है। मार्क्स के दृष्टिकोण से धर्म सामाजिक नियंत्रण की एक यंत्रणा है जो वर्तमान में विद्यमान शोषण तंत्र को बनाए रखती है तथा वर्गात्मक संबंधों को पुन: स्थापित करती है। धर्म केवल उत्पीड़ित व्यक्तियों का ही क्षेत्र नहीं है। शासक वर्ग के लोग भी धार्मिक आस्थाओं का उपयोग अपनी स्थिति एवं हितों को उचित ठहराने हेतु करते हैं। साधारणत: मार्क्सवादी इस संभावना को नकारते हैं कि धर्म समाज में परिवर्तन ला सकता है। फिर भी परस्पर विरोधी प्रमाण बताते हैं कि धर्म सदैव ही सत्ता को वैध नहीं ठहराता है, यह न तो विमुखीकरण का औचित्य है न ही विशेषाधिकारों का। धर्म कभी-कभी परिवर्तन के लिए प्रोत्साहन भी प्रदान करता है।

नारी अधिकारवादी परिप्रेक्ष्य (Feminist Perspective)

धार्मिक आस्थाओं पर साधारणत: पुरुषों का ही नियंत्रण रहा है। इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि जहाँ महिलाओं की बात आती है तो धर्म अधिक कठोर व रूढ़िवादी हो जाता है। हिन्दू धर्म में केवल ब्राह्मण पुरुष ही पुजारी हो सकते हैं। *ईसाई धर्म में महिलाओं की गौण भूमिका अन्य प्रमुख धर्मों की विशेषताओं के* समान ही है। जीन होम (1994) ने विभिन्न धर्मों में महिलाओं व पुरुषों के बीच भेदभाव का वर्णन किया है। उन्हें आशा है कि महिलाओं की धार्मिक स्थिति में

सुधार आएगा। अन साटवी का तर्क है कि महिलाओं का उत्पीड़न धर्म के कारण नहीं बल्कि पितृ प्रधान तंत्र के कारण होता है। वे आगे तर्क करती हैं कि अनेक धर्मों की पारम्परिक सीखें महिला व पुरुषों की समानता पर बल देती हैं, किन्तु व्यवहार में महिलाओं व पुरुषों की समानता कहीं नज़र नहीं आती।

समाज व धर्म में परिवर्तन (Changes in Society and Religion)

अधिकांश समाजशास्त्री मानते हैं कि समाज में परिवर्तन के साथ ही धर्म में परिवर्तन होते हैं —

1. मार्क्स का मानना था कि समाज की अधोसंरचना में परिवर्तन का प्रभाव धर्म पर भी पड़ता है।
2. टालकट पारसन्स मानते हैं कि जैसे-जैसे समाज विकसित होता है धर्म के कुछ कार्य समाप्त हो जाते हैं।
3. धर्म निरपेक्षवादी सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि औद्योगीकरण ने धर्म के महत्व को कम कर दिया है।
4. कुछ समाजशास्त्रियों का यह मानना है कि उत्तर आधुनिकतावाद तथा वैश्वीकरण के आगमन के कारण धर्म में परिवर्तन आए हैं।

इससे यह प्रतीत होता है कि वृहद् समाज में परिवर्तन के परिणामस्वरूप धर्म में परिवर्तन होते हैं। जटिल समाज में धर्म राजनीति में शामिल होता है। वेबर का मत है कि कुछ परिस्थितियों में धर्म भी सामाजिक परिवर्तन ला सकता है।

धर्म निरपेक्षतावाद और धर्म निरपेक्षीकरण

(Secularism and Secularisation)

जिस प्रकार आज समाज को देखा जाता है वह मध्ययुगीन व प्राचीन जगत से भिन्न है जिसमें यह समझा जाता था कि "ईश्वर सर्व शक्तिमान है" या कि "प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आत्माओं का हस्तक्षेप होता है" या कि "व्यक्ति के जीवन में जो कुछ होता है वह पूर्व निर्धारित होता है।" आज, रहस्य और अचम्भों में विश्वास कम हो गया है यद्यपि पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है। तर्क की विजय मिथक और कहानियों की कीमत पर हुई है। यही धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया है। पीटर बर्गर के अनुसार धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज व संस्कृति के प्रखण्डों (Sector) को धार्मिक और प्रतीकों के प्रभाव से दूर रखा जाता है।

वेबर धर्मनिरपेक्षीकरण को तर्क-संगतीकरण की एक प्रक्रिया मानते हैं। प्रदत्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त सिद्धान्त हैं जो वैज्ञानिक विचारों पर आधारित है, अर्थात् जो तर्कसंगत हैं। इन विचार ने धर्म का महत्व कम कर दिया है। डार्विन,

फ्रायड और मार्क्स भी मानव व्यवहार की धार्मिक व्याख्या के स्थान पर वैज्ञानिक व्याख्या मे प्रमुख योगदाता रहे हैं।

धर्म पर आधुनिकता का क्या प्रभाव पडा है? बर्गर इस विचार के है कि बढती हुई सामाजिक एव भौगोलिक गतिशीलता तथा आधुनिक सचार व्यवस्था के विकास ने *व्यक्ति को धार्मिक प्रभावो की विविधता के समक्ष असहाय बना दिया है।* इसलिए उन्होने एक दूसरे के धार्मिक विश्वासो को सहन करना सीख लिया है। इसलिए लोग अब नये विचारो और नये परिप्रेक्ष्यो की सस्कृति की खोज के लिए स्वतत्रता का अनुभव करते है। भारत मे भी हम देखते हैं कि शिक्षित एव आधुनिकता की ओर उन्मुख मुसलमानो ने धर्मोन्मुख प्रतिमानो मे परिवर्तन के लिए खोज करना शुरू कर दिया है जैसे तलाकशुदा पत्नियो के लिए गुजारा भत्ते की माँग (जो कि धर्म द्वारा मान्य नहीं है), बच्चो का गोद लेना, स्त्रियो को अपने पतियो को तलाक देने के लिए *अधिक उदार नियमो की माँग, बहुपत्नी विवाह पर प्रतिबन्ध आदि।* हिन्दू *भी स्त्रियो पर धार्मिक प्रतिबन्धो, अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, तलाक व विधवा* पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध तथा सती प्रथा आदि को स्वीकार नहीं करते। लोग अपने अनुभवों का अर्थ ढूढते हैं। वास्तव मे, गैर-धार्मिक दर्शन भी अस्तित्व की सार्थक व्याख्या देते हैं।

यदि भारत मे धर्मनिरपेक्षीकरण का विश्लेषण किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज अधिक धर्मनिरपेक्ष हो गया है। विश्लेषण समझना सरल है लेकिन दर्शाना जटिल है। मोटे तौर पर धर्मनिरपेक्षीकरण की धारणा बताती है कि अनेक धार्मिक मूल्य बदल गए हैं, कई प्रथाए समाप्त हो गई हैं, और विज्ञान तथा तर्कसंगतता की महत्ता बढ गई है *(माइक ओ डोनेल, 1997 : 532-33)। यह सही है कि समाज के सास्कृतिक और सस्थात्मक मूल मे परिवर्तन मोलिक और तीव्र होना* चाहिए। विवाह, परिवार, जाति और कई संस्थाओ पर धर्म का प्रभाव कम होता दिखाई दे रहा है, लेकिन यह भी सत्य है कि धर्म की ताकत जारी है। धर्म स्थलो पर जाने मे, तीर्थयात्रा पर जाने मे, धार्मिक उपवास करने मे और धार्मिक त्योहार मनाने मे लोगो की अभिवृत्ति मे परिवर्तन हो सकता है, सिविल विवाह मे वृद्धि हो सकती है, यहा तक कि सक्रिय धार्मिक लोगो की सख्या मे कमी हो सकती है, लेकिन *धार्मिक प्रथाओ मे कमी हिन्दुओ मे धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया की ओर आवश्यक* रूप से सकेत नहीं करती। सिख अभी भी धार्मिक प्रतिबन्धो को जारी रखे हुए हैं। सस्थात्मक धर्म की अपेक्षा व्यक्तिगत अर्थ और पूर्ति के माध्यम के रूप मे धर्म पूरे उत्साह और शक्ति के साथ जीवित है। अत: धर्म निरपेक्षीकरण की धारणा औपचारिक धर्म की अपेक्षा व्यक्तिगत धर्म पर कम लागू होती है। इसमे आश्चर्य नहीं कि डेविड मार्टिन जैसे विद्वान यह मानते हैं कि धर्म निरपेक्षीकरण शब्द इतना बोझिल है कि

यह शब्द प्रयोग में नहीं लाया जाये (माइक ओ डोनेल, 1997 : 538)। यहाँ उदारवाद तथा धार्मिक कट्टरता के बीच संघर्ष की चर्चा करना आवश्यक है। उदारवाद धार्मिक समूहों के बीच अंतरों के प्रति सहनशीलता पर धारित होता है अर्थात यह बहुलवादी होता है। कट्टरवाद (Fundamentalism) उदारवाद के विरोध में सम्बद्ध है और कभी-कभी बहुलवाद (Pluralism) के प्रति हिंसात्मक अभिवृत्ति की ओर संकेत करता है। पाकिस्तान, सऊदी अरब, ईरान आदि देश कट्टरवादी अधिक माने जाते हैं। भूमण्डलीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षीकरण की धारणा के लिए उदारवाद और कट्टरवाद के बीच अन्तर करना सार्थक है। पश्चिमी समाज धर्मनिरपेक्ष हो गया है (चर्च के अधिकारों में कमी आने के संदर्भ में), कई मुस्लिम देशों में इस्लामिक कानून ही नागरिक व धार्मिक जीवन का संचालित करते हैं। परन्तु भारत ऐसा देश है जहां धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं यहां तक कि राजनीतिक बहुलवाद भी मौजूद हैं। भारत के मुसलमान जो इस्लामी परम्पराओं का निर्वाह जारी रखे हुए हैं, कट्टरवादी ही बने हुए हैं जो उन्हें आधुनिकता स्वीकार करने से रोकता है। अधिकतर हिन्दुओं के लिए उदारवाद आधुनिक हिन्दू समाज के विकास के साथ चलने वाला है।

भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षवाद ने धार्मिक समुदायों के रक्षक के रूप में व उनके संघर्षों में मध्यस्थ की भूमिका निभाने के संदर्भ में राज्य शक्ति को बढ़ा दिया है। वह राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को संरक्षण प्रदान करने को रोकता है।

वास्तव में, 'धर्मनिरपेक्ष' धारणा का सर्वप्रथम यूरोप में प्रयोग किया गया था जहां हर प्रकार की सम्पत्ति पर चर्च का ही नियंत्रण था और चर्च की सहमति के बिना उनका कोई भी उपयोग नहीं कर सकता था। कुछ बुद्धिजीवियों ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। इन व्यक्तियों को धर्मनिरपेक्ष कहा जाने लगा जिसका अर्थ था 'चर्च से पृथक' या 'चर्च के विरुद्ध'। भारत में यह शब्द आजादी के बाद अनेक सन्दर्भों में प्रयोग किया जाने लगा। देश के विभाजन के बाद राजनीतिज्ञ अल्पसंख्यक समुदायों को, विशेष रूप से मुसलमानों को, आश्वासन दिलाना चाहते थे कि उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। अतः नये संविधान में प्रावधान किया गया कि भारत धर्मनिरपेक्ष बना रहेगा, जिसका अर्थ था : (a) प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म का उपदेश देने और पालन करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी, (b) राज्य का कोई धर्म नहीं होगा, और (c) सभी नागरिक अपने धार्मिक विश्वास के भेदभाव के बिना समान होंगे। इस प्रकार विरोधियों को भी वही अधिकार दिये गये जो अनुयायियों को थे, इससे स्पष्ट होता है कि एक धर्मनिरपेक्ष समाज या राज्य अधार्मिक समाज नहीं है। धर्म मौजूद रहते हैं, उनके अनुयायी अपनी धर्म पुस्तकों में प्रतिष्ठित सिद्धान्तों और प्रथाओं को मानते हैं और कोई भी बाह्य एजेन्सी, राज्य सहित, वैधानिक धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप नहीं करती। दूसरे शब्दों में, धर्मनिरपेक्ष समाज के दो

अभिन्न तत्व है . (a) धर्म और राज्य की सम्पूर्ण रूप से पृथकता, और (b) सभी धर्मों के अनुयायियो को पूर्ण स्वतत्रता और साथ ही नास्तिक और अनीश्वरवादियो को भी अपने-अपने विश्वास को मानने की स्वतत्रता। धर्मनिरपेक्ष समाज मे विभिन्न धार्मिक समुदायों के नेताओं और अनुयायियो से अपेक्षा की जाती है कि वे राजनीतिक लाभ के लिए धर्म का प्रयोग न करें।

निर्भय सिह (1994 111) ने माना है कि भारत मे दवाव का सकट कट्टरपथियो और राजनीतिज्ञो द्वारा धर्म के राजनीतिकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण है। इस अर्थ मे धर्मनिरपेक्षवाद की प्रक्रिया ही भारत के बहुधर्मी चरित्र के लिए चुनौती है। इसने धार्मिक मूल्यो के अवमूल्यन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है। आज आवश्यकता इस बात की है कि अन्य धर्मों और विश्वासो के प्रति अन्तर्दृष्टि और खुलापन हो। अन्य विश्वासो को समझने का अर्थ है उनको स्वतत्रता की गारण्टी देना। इस अर्थ मे धार्मिक विश्वास की आजादी धर्म के बहुरूप को मानना है।

धर्म निरपेक्ष समाज मे धर्म (Religion in Secular Society)

धर्म निरपेक्ष समाज मे धर्म कैसे प्रासगिक है? धर्म मनुष्य और समाज के मामलों मे महत्वपूर्ण था और महत्वपूर्ण भूमिका निभाए जा रहा है। एस सी दुबे (*1994: 79-80*) ने धर्म के नौ कार्य बताये हैं (*i*) *व्याख्यात्मक* (*Explanatory*) कार्य (*रहस्यो के प्रति क्यो, क्या आदि की व्याख्या से सम्बन्धित*, (*ii*) एकात्मक (Integrative) कार्य (अनिश्चितता मे सहारा तथा असफलता और कुण्ठा में सात्वना प्रदान करते हैं), (iii) पहचान सम्बन्धी (Identity) कार्य (सुरक्षा और पहचान हेतु श्रेष्ठ सम्बन्ध बनाए रखने के लिए आधार प्रदान करना), (iv) प्रमाणित करने (Validating) का कार्य (सभी मूलभूत सस्थाओ को शक्तिशाली मान्यता तथा नैतिक औचित्य प्रदान करना), (v) नियत्रण सबधी कार्य (विचलन के विविध स्वरूपो पर *अकुश लगाना*), (*vi*) *अभिव्यक्ति* (*Expressive*) *का कार्य* (*दुखदायी कारकों की* सन्तुष्टि के कार्य करना), (vii) भविष्यवाणी का कार्य (स्थापित स्थितियो के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन मे) (viii) परिपक्वता का कार्य (अधिकारो की रक्षा करके व्यक्ति के जीवन इतिहास मे सकटपूर्ण स्थिति मे मान्यता प्रदान करना), और (ix) इच्छा पूर्ति (Wish Fulfilment) का कार्य (आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही प्रकार की इच्छाओ की)।

जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान और प्रविधि का क्षेत्र विस्तृत होता है, धर्म का क्षेत्र सकुचित होता जाता है। इसके कुछ *कार्य अन्य एजेन्सियों द्वारा ले लिए जाते हैं।* दुबे (1994 : 80) का मानना है कि सरल समाजो मे, जिन्हे व्यावहारिक व अनुभवात्मक ज्ञान कम होता है, इसके प्रभाव का क्षेत्र अधिक होता है। प्रौद्योगिकी क्षेत्र मे कम विकसित समाज मे सासारिक उपलब्धियो के लिए अतिप्राकृतिक शक्तियो को बडे पैमाने पर प्रसन्न करने के लिए सस्कार एव प्रतीकात्मक कार्य किए जाते

हैं। आधुनिक औद्योगिक समाजों में धार्मिक विश्वासों की पकड़ ढीली पड़ जाती है, यद्यपि धर्म में रुचि बनी रहती है। यह सामूहिक तथा साम्प्रदायिक मामला न होकर व्यक्तिगत रहता है। धर्म निरपेक्षीकरण से तर्क संगतीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है जिसके कारण धर्म विविध सामाजिक क्रियाकलापों पर नियंत्रण खो देता है, जैसे आर्थिक, व्यापार, शिक्षा, चिकित्सा, आदि। धर्म के कई पारम्परिक कार्यों की देखभाल धर्म निरपेक्ष संस्थाएं करने लगती हैं। एक समग्र धार्मिक सामाजिक दृष्टिकोण जिसमें क्रियाकलापों का समस्त ढाँचा धर्म उन्मुख होता है, उसमें पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाता है।

लेकिन धर्मनिरपेक्षता हर समाज में भिन्न होती है। शायद भारत विविध संस्थाओं को विकसित करने में असफल रहा है जो धर्म के परम्परागत कार्यों को अपना सके। इस कारण यह साम्प्रदायिक ही रहा है और धार्मिक विश्वास जारी है। समस्याओं को बड़े राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा संकीर्ण और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखा जाता है। धर्मोन्मुखता कार्य और धन के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करती है और ऐसी नैतिकता के उदय में बाधक है जो प्रगति में सहायक हो। वास्तव में, कोई भी समाज पूर्ण रूपेण धर्मनिरपेक्ष नहीं है तथापि धर्म परिवर्तनशील आचार तत्वों के साथ समायोजन करने का प्रयत्न कर रहा है। यह बात न केवल हिन्दू धर्म के लिए सत्य है बल्कि मुस्लिम, सिख और जैन धर्मों के लिए भी। दुबे (1941 : 81) का भी विचार है कि भारत में सभी धर्मों ने परिस्थितिपरक समझौते किए हैं। कोई भी धर्म अपने मूल स्वरूप को कायम नहीं रख पाया है लेकिन सभी ने आवश्यक समायोजन किए हैं। धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक समाज धर्म के विरुद्ध नहीं है। इस आधार पर भारत में धर्म आधुनिकीकरण के विरुद्ध नहीं है। अनेक लोग संकट में भी धर्म का सहारा लेते रहेंगे। धर्म संकटापन्न आघातों के समय समर्थन और विश्वास प्रदान करता रहेगा। इस प्रकार हमारे देश में अलग-अलग धार्मिक पहचान मान्य रहेंगी जब तक वे बड़े राष्ट्रीय हितों की वैधता को चुनौती नहीं देते हैं।

◇◇◇

14

परिवार

(Family)

अनेक समाजशास्त्री परिवार को समाज का आधार स्तम्भ मानते हैं। यह सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई होती है। परिवार एक सामाजिक समूह है जिसके सम्बन्धित, वे ही सदस्य होते हैं जिनके आपस में या तो रक्त सम्बन्ध होते हैं अथवा विवाह द्वारा संबंध स्थापित होते हैं। परिवार के सदस्य कानूनी, नैतिक तथा आर्थिक अधिकार एवं कर्तव्यों के द्वारा भी आपस में बंधे रहते हैं। जार्ज मरडॉक (Murdock) ने परिवार को इस प्रकार परिभाषित किया है "परिवार वह सामाजिक समूह है जो एक ही आवास में रहता है, आर्थिक रूप से एक-दूसरे को सहयोग करता है तथा सन्तानोत्पादन करता है।" इस प्रकार परिवार साथ में रहता है, आर्थिक सम्बन्धों का सृजन करता है, साथ-साथ काम करता है तथा सन्तानोत्पत्ति करता है। परिवार की संरचना समाजों के अनुसार निश्चित होती है। परिवारों की संस्कृतियों में भी विभिन्नता पाई जाती है।

संस्थागत विश्लेषण (Institutional Analysis)

संस्था के रूप में परिवार की संरचना रिश्तों, विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति व उनके पालन के घटकों के इर्द-गिर्द घूमती है। परिवार की संस्था में ये तीनों घटक एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। पारिवारिक व्यवस्था के तीन पहलू होते हैं.—

(1) कौटुम्बिक तंत्र (Household System)— इस तंत्र में परिवार के सदस्यों

को एक ही आवास मे रहना होता है। ये सदस्य आपस मे खून के रिश्ते में अथवा विवाह के रिश्ते मे बधे रहते ह।

(2) वैवाहिक तंत्र (Marital System)— इस तत्र मे स्त्री व पुरुष के सबधो को समाज द्वारा मान्य किया जाता है। सतानोत्पत्ति से पूर्व इन सबधो की मान्यता होना आवश्यक होता है।

(3) रिश्तेदारी का तत्र (Kinship System)— यह तत्र समान परिवार मे उत्पन्न विभिन्न रिश्तो का होता है जिन्हे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। इन रिश्तो का महत्व व विस्तार प्रत्येक समाज म भिन्न-भिन्न होता ह।

जब हम परिवार की चर्चा करते है तो हम कौटुम्बिक समूह, वैवाहिक जोडी व रिश्तेदारी समूह के बीच अन्तर को समझना होगा। इन सभी का समावेश परिवार म होता ह।

परिवार की अवधारणा (Concept of Family)

प्रजनन तथा जैविक इकाई के रूप मे परिवार में सामाजिक स्वीकृति से यौन सम्बन्ध रखने वाले एक स्त्री और एक पुरुष और उनकी सन्तान (चाहे वह प्राकृतिक हो या गोद ली हुई) होते हैं। सामाजिक इकाई के रूप मे परिवार को "दोनो लिगो के व्यक्तियों का यह समूह कहा जाता है जो विवाह या रक्त या गोद लेने के अधिकार से जुडे हुए हों, जो आयु, लिग और सम्बन्धों पर आधारित भूमिकाएँ अदा करते हो, और जो सामाजिक रूप से एकाकी गृह (Single Household) में रहते हो।" एलीन रॉस (Aileen D. Ross) की परिवार की परिभाषा मे पारिवारिक जीवन के भौगोलिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्व शामिल हैं। उसके अनुसार (1961 : 31), "परिवार किसी विशेष प्रकार के बन्धुओ (Kindred) के रूप में सामान्यत: सम्बन्धित लोगो का समूह है जो एक ही गृह में रहते हैं और जिनकी एकता उनके अधिकारों, कर्त्तव्यो तथा भावनाओं के रूप में निहित रहती है। रास ने परिवार का चार उप-संरचनाओं में भेद किया है : (i) पारिस्थितिक (Ecological) उप-सरचना, अर्थात् परिवार मे सदस्यो और उनकी गृहस्थितियो का जगह के अनुसार (Spatial) प्रबन्ध, या नातेदार किस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे के निकट रहते हैं। सरल शब्दो में यह गृह के आकार तथा परिवार के प्रकार को बताता है, (ii) अधिकारों और कर्त्तव्यों की उप-संरचना, अर्थात् गृह के भीतर श्रम विभाजन, (iii) शक्ति और अधिकार की उप-संरचना, अर्थात् सदस्यों के कार्यो पर नियत्रण, और (iv) भावनाओं की उप-संरचना, अर्थात् विभिन्न सदस्यों के बीच सम्बन्ध, जैसे पति-पत्नी के बीच, माता-पिता और सन्तान के बीच, और भाई-भाई या भाई-बहन या सहोदरो के बीच के सम्बन्ध, आदि।

परिवार के कार्य (Functions of the Family)

एक परिवार अनेक प्रकार की कार्यात्मक भूमिकाएं निभाता है। आज के आधुनिक समाज में अनेक कार्य जैसे धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा रक्षात्मक विशिष्ट संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं। पहले ये कार्य परिवार द्वारा किए जाते थे। इसके बावजूद आज अनेक ऐसे कार्य हैं जो परिवार ही करता है। इनमें कई महत्वपूर्ण कार्य भी हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो परिवार समाज की रीढ़ की हड्डी के समान कार्य करता है। समाज के बहुत से कार्य परिवार के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं।

परिवार द्वारा किए जाने वाले महत्वपूर्ण कार्य हैं —

(i) लैंगिक व्यवहार का नियंत्रण एवं जननीय कार्य (Productive Function)— विवाह स्त्री एवं पुरुष का मिलन होता है जिससे परिवार की स्थापना होती है। पारम्परिक रूप से विवाह स्त्री–पुरुषों के बीच लैंगिक संबंधों को सामाजिक वैधता प्रदान करता है। इन संबंधों के माध्यम से किसी दम्पती के जीवन काल में कुछ अंतराल से संतानोत्पत्ति होगी ऐसी अपेक्षा की जाती है। संतानोत्पत्ति को समाज में प्रतिष्ठा का स्रोत माना जाता है। परिवार संतानों की उत्पत्ति कर समाज के अस्तित्व को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वैध सन्तानों को ही उत्तराधिकार (Succession) एवं विरासत प्राप्त होती है।

परिवार का गठन एवं मूलभूत उद्देश्य के लिए होता है— संतानोत्पत्ति करना व मानव जाति को भविष्य में सुरक्षित रखना। परिवार का गठन आत्मानुभूति तथा पूर्णता का एक भाग है। वैवाहिक प्रतिबद्धता अत:वैयक्तिक संबंधों के लिए सतत लैंगिक उपागम प्रदान करती है। लैंगिक व्यवहार के मानदण्ड परिवार में ही स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं। परिवार एक प्रमुख संस्था है जिसके माध्यम से समाज लैंगिक आवश्यकताओं की संतुष्टि को संगठित तथा नियमित करने का कार्य करते हैं।

(ii) समाजीकरण (Socialisation)— परिवार समाजीकरण का एक सबसे महत्वपूर्ण कारक है। परिवार बच्चे का पहला प्राथमिक समूह होता है और यहीं से उसके व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है। जब तक बच्चा बड़ा होकर परिवार के बाहर के समूहों में प्रवेश करने योग्य होता है तब तक उसके व्यक्तित्व की बुनियाद पड़ जाती है। परिवार बच्चे के समाजीकरण का प्रमुख निर्धारक होता है। बच्चों को समाज में भलीभांति एकीकृत होने तथा समाज में योगदान देने वाले सदस्य बनने की शिक्षा देने का उत्तरदायित्व परिवार उठाता है। *समाज के मानदंड, मूल्य तथा* संस्कृति को बच्चों तक पहुंचाने का कार्य परिवार ही करता है। यह बच्चों में सामाजिक भावनाओं का विकास करता है जो सामाजिक कार्यों के लिए अपरिहार्य होती हैं। परिवार बच्चों के समाजीकरण का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है फिर भी परिवार

समाजीकरण का एक मात्र कारण नहीं है। समवयस्क समूह, संचार के साधन आदि जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपनी पूरक भूमिका निभाते हैं।

(iii) स्नेह एवं साथ (Affection and Companionship)— यद्यपि परिवार के अनेक कार्य जैसे शिक्षा, मनोरंजन, आर्थिक सुरक्षा पर अब उसका एकाधिकार समाप्त हो गया है किन्तु इसके कारण उसके स्नेहात्मक अवलम्ब देने के कार्य का महत्व बढ़ गया है। आदर्श के रूप में एक परिवार अपने सदस्यों को स्नेहपूर्ण, घनिष्ठ अंतःसंबंध प्रदान करता है। इस संबंध में कोई अन्य सामाजिक समूह परिवार की बराबरी नहीं कर सकता। एकाकी परिवार में पति व पत्नी के बीच तथा माता–पिता व बच्चों के बीच स्नेहपूर्ण संबंध और अधिक घनिष्ठ होते हैं। वह व्यक्ति जो इन स्नेहपूर्ण पारिवारिक संबंधों से वंचित रहता है उसे इसका अभाव बहुत खलता है तथा इसकी भरपाई अन्य किसी प्रकार से नहीं की जा सकती। स्नेहमय प्रतिक्रिया के लिए अधिकांश समाज पूर्णतः परिवार पर निर्भर करते हैं।

(iv) सुरक्षा (Protection)—बच्चों की सुरक्षा एवं उनका लालन-पालन का सारा उत्तरदायित्व परिवार पर ही रहता है। मानव संतान एक लंबे समय तक अपने माता–पिता पर आश्रित रहती है। एक परिवार अनेक प्रकार के कार्य कर अपने बच्चों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। बच्चों के लालन-पालन में बहुत अधिक समय व अथाह प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। मानव संतानों को वयस्क व परिपक्व होने में अन्य किसी भी प्रजाति की अपेक्षा अधिक समय लगता है। बच्चे वयस्क होने के बाद भी अपने माता-पिता से सहायता लेते रहते हैं। यह क्रिया स्वयं पालक बनने के बाद भी चलती रहती है। दुर्घटना, अपाहिज होने, बीमारी, वृद्धावस्था आदि की दशा में परिवार ही अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार अपने सदस्यों को शारीरिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक संरक्षण प्रदान करता है।

(v) स्थापन संबंधी कार्य (Placement Function)— किसी विशिष्ट परिवार में जन्म लेने के कारण ही बच्चे को जन्म से ही एक सामाजिक पहचान मिल जाती है। परिवार सम्मान स्थापना, उत्तराधिकार तथा प्रवर्तन प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह अपेक्षित होता है कि परिवार के सदस्य अन्य लोगों की अपेक्षा आपस में एक–दूसरे के ऋणी व आभारी रहते हैं। बच्चों को अपने माता–पिता की संपत्ति उत्तराधिकार में मिलती है। इस प्रकार परिवार सामाजिक व आर्थिक समानता के अवसरों को सीमित कर देता है तथा अवसरों की समानता को भी प्रतिबंधित कर देता है।

(vi) आर्थिक कार्य (Economic Function)— अनेक समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि औद्योगीकरण ने कारखाने के रूप में उत्पादन की एक नई इकाई निर्मित कर दी है किन्तु वे इस बात से इंकार करते हैं कि उत्पादन की इकाई के

रूप मे परिवार ने अपनी आर्थिक भूमिका खो दी है। अन्य समाजशास्त्री मानते हैं कि यद्यपि परिवार ने उत्पादन की इकाई के रूप मे अपना कार्य खो दिया है फिर भी उपभोग की इकाई के रूप मे परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका अभी भी कायम हे। परिवार ने उपभोक्ता के रूप में तकनीकी के साथ महत्वपूर्ण सबध स्थापित कर लिया है। परिवार एक महत्वपूर्ण आर्थिक कार्य सम्पन्न करता हे तथा वह आर्थिक तत्र के साथ प्रकार्यात्मक रूप से जुडा हुआ है।

धार्मिक कार्य (Religious Function)

परिवार द्वारा परम्परागत रूप से कुछ धार्मिक कार्य किए जाते हैं। नैतिक मानदण्डो को मन मे बैठाने और उनके पालन करने मे परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण हे। परिवार के धार्मिक कार्यो मे झुकाव धर्म मे आए झुकावो से प्रभावित होते हैं जैसे कि वे परिवार मे आए झुकावो से प्रभावित होते हे। इस सबध मे विभिन्न धर्मों तथा विभिनन क्षेत्रो मे भिन्नता पाई जाती ह। स्पष्ट रूप से अब पारिवारिक प्रार्थना की प्रथा धीरे-धीरे कम होती जा रही है। रोनाल्ड फ्लेचर इम बात से सहमत हैं कि परिवार अभी भी कार्यात्मक दृष्टि से एक आवश्यक सामाजिक इकाई बना हुआ है, किन्तु वे इस बात से असहमत हैं कि इसके गैर आवश्यक कार्य समाप्त हो गए ह। फ्लेचर ने परिवार के गेर आवश्यक (अनावश्यक) कार्य इस प्रकार बताए हैं आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य सबधी तथा मनोरजन सबधी।

परिवार के प्रकार (Types of Family)

विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार के परिवार बताए हैं—(i) के पी चट्टोपाध्याय (1961 . 75) ने तीन प्रकार के परिवार बताए हें : सिम्पल या सरल (Simple) परिवार (पुरुष पत्नी, और अविवाहित बच्चे) यौगिक या कम्पाउण्ड (Compound) सयुक्त परिवार (दो सरल परिवार, जेसे पुरुष, उसकी पत्नी, उनके अविवाहित बच्चे, और पति के माता–पिता और अविवाहित भाई बहने), और मिश्रित या कम्पोजिट (Composite) परिवार, (समरेखीय (Lineal) या भिन्न शाखाई (Collateral) सयुक्त परिवार)। (ii) अधिकार के आधार पर परिवारो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है : पति प्रभुत्व वाला, पत्नी प्रभुत्व वाला, समानवादी प्रभुत्व वाला (Equalitarian) तथा स्वायत्त (Autonomic) परिवार। (iii) बर्जिस और लॉक (Burgess and Lock, 1963 26) ने परिवारो को सदस्यो के व्यवहार के आधार पर सस्थात्मक (Institutional) और सहचारिता (Companionship) परिवारो मे वर्गीकृत किया है। सस्थात्मक परिवार मे सदस्यो के व्यवहार पर रूढियो, लोकाचार व जनमत द्वारा नियत्रण किया जाता है, जबकि सहचारिता परिवार मे सदस्यो का व्यवहार पारस्परिक स्नेह और मतैक्य (Consensus) से बनता है। (iv) नातेदारी बन्धनो के आधार पर परिवारो का वर्गीकरण दाम्पत्य अथवा वैवाहिक परिवार (Conjugal) (जिसमे

वैवाहिक बन्धनों को वरीयता दी जाती है) और रक्तमूलक परिवार (Consanguine) (जिसमें रक्त सम्बन्धों को वरीयता दी जाती है) में किया गया है। (v) ज़िमरमैन (1947 . 20) ने इनका वर्गीकरण न्यासधारी (Trustee) (जहां सदस्यों को परिवार के प्रतिमानों का अनुपालन करना होता है और उनके व्यक्तिगत अधिकार नहीं होते) परमाणुवादी (Atomistic) (जिसमें परम्परागत लोकरीतियों का महत्व कम हो जाता है और प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छा का काम कर सकता है) और घरेलू (Domestic) परिवार (जो कि न्यासी परिवार तथा परमाणुवादी परिवार के मध्य प्रकार का होता है) के रूप में किया है। (vi) राम आहूजा ने 'विखंडित (Fissioned) परिवार की संकल्पना की है जो संरचना और कार्यों में एकल परिवार (Nuclear) है और जो पैतृक (Parental) परिवार से पृथक किया हुआ होता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त परिवार को निम्न प्रकार से भी वर्गीकृत किया गया है—

अ. सत्ता (Authority) के आधार पर

1 मातृसत्तात्मक परिवार (Matriachal Family) व्यवहारिक एवं सत्ता दोनों दृष्टि से परिवार की कमान स्त्री के हाथों में रहती है पुरुष उसके अधीन होता है। इस परिवार में विवाह के पश्चात पति पत्नी के घर आकर रहता है। वंशों का वंशावली माता के नाम पर चलती है। सम्पत्ति की उत्तराधिकारी केवल स्त्रियाँ ही होती हैं। भारत में केरल के नायर तथा आसाम में खासी और गारो मातृवंशीय हैं।

2 पितृसत्तात्मक परिवार (Patriachal Family) : ऐसे परिवार में सत्ता परिवार के सबसे ज्येष्ठ पुरुष के हाथ में होती है। वही परिवार का प्रबंधक और परिवार की सम्पत्ति का स्वामी होता है। पत्नी विवाह के उपरान्त पति के घर रहने आती है। वंशावली पिता के नाम से चलती है। परिवार का यह स्वरूप सभी आधुनिक समाजों में प्रचलित हैं।

ब. विवाह (Marriage) के आधार पर

1 एक पत्नी परिवार (Monogamous Family): इसमें पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। यह एक विवाही परिवार भी कहलाता है।

2 बहुपत्नी परिवार (Polygamous Family) : पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है।

3. बहुपति परिवार (Polyandrous Family) : एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करती है। वह सबके साथ या क्रमशः एक–दूसरे के साथ रहती है।

संरचना (Structure) के आधार पर

1 केन्द्रीय परिवार (Nuclear Family) जिसमे पति पत्नी तथा अवयस्क बच्चे सम्मिलित होते हैं। विवाह के उपरान्त बच्चे माता–पिता का परिवार छोड कर अलग हो जाते हैं।

2 विस्तारित परिवार (Extended Family) सामान्यत· ऐसे परिवारो मे दो या दो से अधिक पीढियाँ साथ–साथ रहती हैं। एक विस्तारित परिवार म दादा-दादी उनके विवाहित पुत्र तथा उनकी सन्तान व अविवाहित सन्ताने सम्मिलित होती हैं।

द अन्त समूह एवं वाह्य समूह (In-group and Out-group Affiliations) के आधार पर—

1 अन्त वैवाहिक (Endogamous) परिवार म अन्त· समूह के सदस्यो मे ही विवाह होता है।

2 वहिर्विवाहिक (Exogamous) परिवार मे वाह्य समूह के सदस्यो के साथ विवाह हो सकता है।

इ सम्पत्ति (Property) के आधार पर

सम्पत्ति के आधार पर सयुक्त परिवार दो प्रकार के हैं

1 दायभाग (Diabhag) सयुक्त परिवार की सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार उन व्यक्तियों तक सीमित हैं जो मृत व्यक्ति को पिण्डदान कर सकते हैं।

2 मिताक्षरा (Mitakshara) सयुक्त परिवार की सम्पत्ति मे परिवार के सदस्य का अधिकार जन्मजात होता है।

क्षेत्र के अनुसार ग्रामीण एव नगरीय परिवार (Rural and Urban Family), नातेदारी के आधार पर विवाह सबधी परिवार (Conjugal) तथा रक्त सम्बन्धी (Consanguineous), निवास के आधार पर मातृस्थानीय (Matrilocal) व पितृस्थानीय (Patrilocal) भी परिवार जाने जाते हैं।

हम एकाकी परिवार (Nuclear Family) और सयुक्त परिवार (Joint Family) का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

एकाकी परिवार (Nuclear Family)— एकाकी परिवार का गठन विवाह के माध्यम से होता है। इसमें पति, पत्नी व उनके अवयस्क व निर्भर बच्चे शामिल होते हैं। कभी–कभी एकाकी परिवार इस प्रकार सयुक्त होते हैं जैसे परमाणुओ मे अणु। एकाकी परिवार की रचना विवाहित दम्पती तथा उनकी आश्रित सतानो द्वारा होती है।

एकाकी परिवार एक स्वतंत्र इकाई होती है जिसे या तो पति अथवा पत्नी अथवा दोनों मिलकर चलाते हैं। प्रत्येक एकाकी परिवार एक स्वतंत्र इकाई होती है और व अन्य एकाकी परिवारों से बिल्कुल अलग होता है। चूंकि एकाकी परिवार विवाह पर आधारित होता है अतः इसे कभी–कभी दाम्पत्य परिवार भी कहते हैं।

समग्र रूप में विचार किया जाए तो पति पत्नी व बच्चों को एक छोटा समूह विभिन्न कार्यों को करने हेतु एक कार्यकुशल (Efficient) इकाई के रूप में कार्यकारी नहीं होता। यद्यपि यह कुछ दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रभावी हो सकता है जैसे घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंध तथा व्यक्तिगत एकान्त से मिलने वाली संतुष्टि।

एकाकी परिवार में निर्णय लेने का कार्य दंपती का ही करना होता है। सास-ससुर दम्पती के लिए न तो उत्तरदायी होते हैं और न ही वे दम्पती का भाग्य निर्धारण करते हैं।

एकाकी परिवार आज के आधुनिक युग में आदर्श परिवार के रूप में जाना जाता है।

संयुक्त परिवार : प्रकृति, स्वरूप और विशेषताएँ
(Joint Family : Nature, Types and Characteristics)

विभिन्न विद्वानों ने संयुक्त परिवार की विविध संकल्पनाएँ की हैं। इरावती कर्वे संयुक्तता में 'सह-निवासिता' (Co-residence) को महत्वपूर्ण मानती हैं, इन परिवारों का सिद्धान्त वाक्य होता है साथ खाओ, साथ रहो (Eats together, Stays together)। वहीं हेरोल्ड गूल्ड, रामकृष्ण मुखर्जी, एस.सी. दुबे, बी.एस. कोहेन, तथा पाउलिन कोलेण्डा सह-निवासिता और सह-भोज को संयुक्तता के आवश्यक तत्व नहीं मानते। बेली (Bailey) और टी.एन. मदान निवास और सह-भोज के भेदभाव के बिना सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व को महत्त्व देते हैं। आई.पी. देसाई दायित्वों (Obligations) की पूर्ति को महत्त्व देते हैं, भले ही निवास अलग हो और सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व न हो।

इरावती कर्वे के अनुसार (1983 : 21) परम्परागत प्राचीन भारतीय परिवार (वैदिक और महाकाव्य युग) निवास, सम्पत्ति, और कार्यों (Functions) में संयुक्त था। उसने संयुक्त परिवार की पाँच विशेषताएँ बताई हैं : सह-निवास, सह-रसोई, सह-सम्पत्ति, सह-परिवार पूजा, और कोई नातेदारी सम्बन्ध। इस आधार पर उसने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है : "व्यक्तियों का समूह जो सामान्यतः एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही चूल्हे पर पका भोजन करते हैं, सम्पत्ति में समान हिस्सा रखते हैं, पारिवारिक पूजा अर्चना में समान रूप से भाग लेते हैं और एक-दूसरे से किसी प्रकार के बन्धु (Kindred) सम्बन्ध रखते हैं।"

'सयुक्त सम्पत्ति शब्द' (1956 के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के अन्तर्गत) का अर्थ है कि तीन पीढियो तक सभी जीवित पुरुष और स्त्री सदस्य पैतृक सम्पत्ति मे हिस्सा रखते हैं। आई पी देसाई के अनुसार (1956 . 41) समान निवास और रसोई सयुक्त परिवार के उतने महत्वपूर्ण आयाम नहीं हैं जितने कि अन्तरापारिवारिक सम्बन्ध हैं। वे मानते हैं कि जब नातेदारी (Kinship) सम्बन्धी दो परिवार अलग-अलग रहते हो लेकिन एक ही व्यक्ति के अधीन कार्य करते हो, तब इसे सयुक्त परिवार कहा जायेगा। इसे वह प्रकार्यात्मक सयुक्त परिवार कहते हैं। पारम्परिक सयुक्त परिवार वह है जिसमे तीन या अधिक पीढियाँ निहित हो। दो पीढी परिवार को सीमान्त (Marginal) सयुक्त परिवार' कहा ह। रामकृष्ण मुखर्जी (1962 . 352 98) द्वारा पाँच प्रकार के सम्बन्ध बताते हुए सयुक्त परिवार को परिभाषित किया गया है। ये सबध है दाम्पत्य-मूलक (Conjugal) सबध, माता पिता व सन्तान के सम्बन्ध, अन्तर-सहोदर सबध समरेखीय (Lineal) सबध ओर विवाह सबधी (Affinal) सबध। उनके अनुसार सयुक्त परिवार समान निवास (Co-resident) ओर सह भोजी (Commensal) नातेदारी समूह है जिसमें प्रथम तीन प्रकार के सम्बन्धो मे से एक या एक से अधिक सम्बन्ध तथा इसके अलावा समरेखीय या वैवाहिक सम्बन्ध भी होते हे।"

सयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है . वशावली की विविधता से सम्बन्धित (Multiplicity of Geneologically Related) एकल परिवार जो निवास ओर सह-भोजी सबधो मे सयुक्त हो ओर जो एक ही व्यक्ति के अधीन कार्य करते हो। एम एस गोरे (1968 · 6 7) ने कहा है कि सयुक्त परिवार को 'समानाशी (Co-parteners) तथा उनके आश्रितो के परिवार के रूप म देखना चाहिए, न कि एकल परिवारो के बहुत्व (Multiplicity) के रूप में। वह मानते है कि एकल परिवार मे दाम्पत्य मूलक (Conjugal) सम्बन्धों पर बल दिया जाता है जबकि सयुक्त परिवार मे सतानीय (Filial) और भ्रातृक (Fraternal) सम्बन्धों पर बल दिया जाता हे। गोरे के अनुसार सयुक्त परिवार तीन प्रकार के होते हैं : सतानीय (Filial) सयुक्त परिवार, (माता पिता व उनके विवाहित बेटे अपनी सतति के साथ), भ्रातृक सयुक्त परिवार (दो विवाहित भाई और उनके बच्चे), आर सतानीय तथा भ्रातृक (मिश्रित) सयुक्त परिवार।

राम आहूजा उस एकल परिवार को 'विखण्डित' (Fissioned) परिवार मानते है जो अपने पिता के या विवाहित भाइयो के परिवार से अलग हो गया हो। यह विखण्डित परिवार किसी प्रकार की नातेदारी से सम्बन्धित अन्य एकल परिवार पर निर्भर भी हो सकता हे तो स्वतत्र भी। दूसरी ओर आहूजा ने नातेदारी (Kin) के प्रकार के सदर्भ मे (प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक, और दूर का) सयुक्त परिवार का वर्गीकरण किया है। जो निम्नलिखित पाँच प्रकार के परिवार हे —
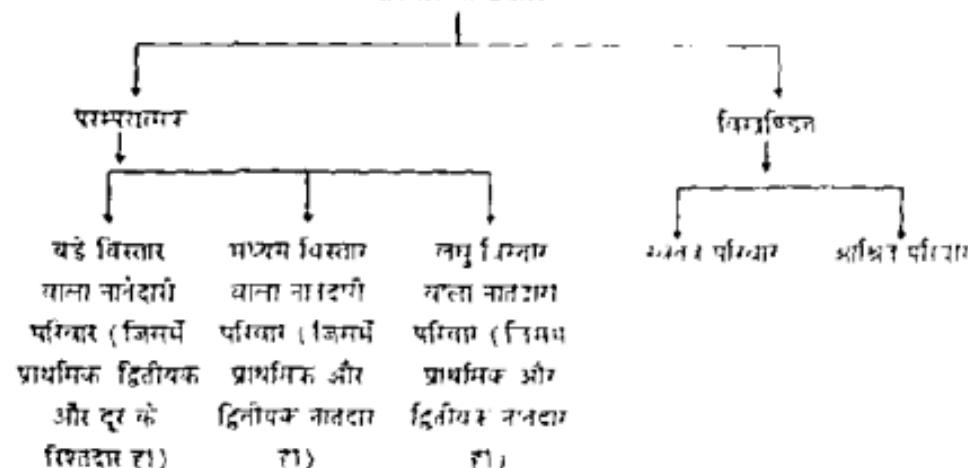
संयुक्त परिवार की विशेषताएँ

1 इसकी सरचना सत्तावादी (Authoritarian) होती है, अर्थात् निर्णय लेने की शक्ति परिवार के मुखिया के हाथ में होती है (पितृसत्तात्मक)। सत्तावादी परिवार के विपरीत लोकतांत्रिक परिवार में दक्षता और योग्यता के आधार पर सत्ता एक या दो व्यक्तियों के हाथ में रहती है।

2 इसका सगठन पारिवारिक (I amilistic) होता है, अर्थात् व्यक्ति-हित पूर्ण परिवार के हितों के अधीन होते हैं या परिवार के लक्ष्य व्यक्तिगत लक्ष्य होते हैं।

3 सदस्यों की प्रस्थिति उनकी आयु व सम्बन्ध (नातेदारी) से निर्धारित होती है, पुरुष की प्रस्थिति उसकी पत्नी से ऊँची होती है, दो पीढ़ियों में उच्च पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति निचली पीढ़ी में व्यक्ति की प्रस्थिति से ऊँची होती है, समान पीढ़ी में, अधिक आयु के व्यक्ति की प्रस्थिति कम उम्र के व्यक्ति से ऊँची होती है, और एक स्त्री की प्रस्थिति उसके पति की प्रस्थिति से निर्धारित की जाती है।

4 सतानीय (I ilial) एवं भ्रातृक सम्बन्धों को दाम्पत्य सम्बन्धों से वरीयता प्राप्त होती है, अर्थात् पति-पत्नी सम्बन्ध पिता-पुत्र सम्बन्ध से या भाई-भाई सम्बन्धों से निम्न होते हैं।

5 परिवार सयुक्त उत्तरदायित्व के आदर्श के आधार पर कार्य करता है। यदि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिये ऋण लेता है तब उस ऋण के चुकाने का उत्तरदायित्व पुत्रों का भी होता है।

6. सभी सदस्यों पर समान रूप से ध्यान दिया जाता है। एक गरीब भाई के पुत्र को भी उसी स्कूल में प्रवेश दिलाया जायेगा (भले ही महगा हो) जिसमें धनी भाई के पुत्र को।

7 परिवार में अधिकार (पुरुषों–पुरुषों के बीच, पुरुषों-स्त्रियों के बीच, आर स्त्रियों-स्त्रियों के बीच) वरिष्ठता (Seniority) के सिद्धान्त से निर्धारित होता है। यद्यपि सबसे बड़ा पुरुष या स्त्री अपनी शक्ति किसी अन्य को सौंप (Delegate) सकता है लेकिन यह प्रतिनिधित्व भी वरिष्ठता पर आधारित होता है जो व्यक्तिवाद के उदय की सम्भावना को सीमित कर देता है।

सत्तावादी तथा समतावादी परिवार
(Authoritarian and Equalitarian Family)

हम पारिवारिक अत सबधो को दो प्रमुख प्रकारों मे विभक्त कर सकते हैं— सत्तावादी व समतावादी। सत्तावादी परिवार में एकाकी अथवा विस्तृत परिवार के एक सदस्य के पास ही निर्णय लेने की शक्ति रहती है। (प्राय· यह सदस्य पुरुष ही रहता है।) परिवार के प्रत्येक सदस्य के कर्तव्य व कार्य स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं। परिवार मे बच्चो की स्थिति अधीनस्थ होती है। माता–पिता तथा बच्चो के बीच सबध इस मानदण्ड द्वारा सचालित होते हैं कि बच्चो द्वारा सदैव माता–पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। बच्चे देखे जा सकते हैं किन्तु उनकी बात नहीं सुनी जाती (Children should be seen but not heard) यद्यपि परिवार के सदस्यो के बीच स्नेह विद्यमान होता है किन्तु पारिवारिक सबधो मे इसे आवश्यक नहीं समझा जाता।

समतावादी परिवार में पति व पत्नी की भूमिकाए कम निश्चित होती हैं तथा अधिकार का विभाजन होता है। निर्णय लेने का अधिकार परिवार के किसी एक सदस्य के पास नहीं रहता। पारिवारिक मामलो मे बच्चो की भी कुछ सीमा तक सहभागिता होती है। परिवार के सदस्यो के बीच श्रम विभाजन उतना विशिष्टीकृत नहीं होता जितना कि सत्तावादी परिवारो मे होता है। अत. पारिवारिक सबधो का आधार स्नेह होता है न कि आज्ञापालन।

परिवार का बदलता स्वरूप (Changing Pattern of Family)

क्या सयुक्त परिवार सरचना एकात्मक (Nuclearised) होती जा रही है? मेरी धारणा है कि भारत मे परिवार मे सयुक्तता समाप्त नहीं हो रही है और उस स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जब सयुक्त परिवार लोगों के मानस पटल से गायब हो जायेगा, सयुक्तता का केवल 'काटने वाला बिन्दु' (Cut off Point) ही बदल रहा है। सयुक्त परिवारो के स्थान पर अब दो पीढियों वाला या ऐसा ही स्थानीय रूप से कार्य करने वाला (Locally Functioning) प्रभावी लघु सयुक्त परिवार होगा। साथ ही, एकल विखडित परिवार (पति, पत्नी और अविवाहित बच्चों का) पूर्ण रूपेण स्वतत्र नहीं होगा बल्कि प्रकार्यात्मक रूप से पिता या भाई जैसे प्राथमिक नातेदारों पर निर्भर होगा (अर्थात् सयुक्त रहेगा)। यह तथ्य अनेक विद्वानों द्वारा देश के विभिन्न भागों मे किए गए आनुभविक अध्ययनों से स्पष्ट है।

संयुक्तता में परिवर्तनों का हम दो स्तरों पर विश्लेषण करेंगे : संरचनात्मक और अन्तर्क्रियात्मक।

संरचनात्मक परिवर्तन (Structural Changes)

परिवार में होने वाले सभी संरचनात्मक परिवर्तनों को एक साथ देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :

1 विखण्डित परिवारों की संख्या बढ़ रही है परन्तु अलग-अलग रहते हुए भी वे अपने पैतृक परिवारों के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करते हैं।

2 परम्परागत समुदायों (गावों) में संयुक्तता अधिक है और औद्योगीकरण शहरीकरण और पश्चिमीकरण से प्रभावित समुदायों में एकलता अधिक है।

3 (परम्परागत) संयुक्त परिवार का आकार छोटा हो गया है।

4 जब तक लोगों में पुराने सांस्कृतिक मूल्य बने रहेंगे संयुक्त परिवार (प्रकार्यात्मक प्रकार) हमारे समाज में चलता रहेगा।

5 'परम्परात्मक' से 'संक्रमण' (Transitional) परिवार की ओर परिवर्तनों में स्थानीय निवास के प्रति प्रवृत्तियां, कार्यात्मक संयुक्तता, व्यक्तियों की समानता, स्त्रियों के लिए समान प्रस्थिति, अपनी आकांक्षाओं को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक सदस्य के अवसरों में वृद्धि, और पारिवारिक मानदंडों का कमजोर पड़ना शामिल हैं।

वे मूल्य क्या हैं जिन्होंने संयुक्त परिवार संगठन को पोषण दिया, स्थिर किया, और जीवन दिया तथा वे मूल्य क्या हैं जो अब भारत में संयुक्त परिवार को तोड़ने में लगे हैं? वे महत्वपूर्ण मूल्य जिन्होंने संयुक्त परिवार संरचना को जीवन्त बनाए रखा वे हैं— (1) पुत्रों का वंशागत लगाव, (2) कुछ भाइयों के आर्थिक रूप से जीने योग्य क्षमता की अयोग्यता, (3) वृद्धावस्था के पुरुषों और स्त्रियों का बहुत कम होना, (4) श्रम इकाई के आकार को संगठित करने के लिए भौतिक प्रोत्साहन आवश्यक है क्योंकि वस्तुएँ एवं सेवाएं उत्पन्न करने के लिए आवश्यक पूँजी का प्रमुख भाग इसी में होता है और लोगों को परिवार-श्रम पर निर्भर रहना पड़ता था।

जो कारक अब संयुक्त परिवार को तोड़ रहे हैं वे हैं— (1) परिवार में तनाव पैदा करने वाली भाइयों की आमदनी में अन्तर। आरम्भ में तो भाई एक-दूसरे के साथ समायोजित हो जाते हैं पर जब वे वैवाहिक संबंधों पर अधिक बल देते हैं तब उनमें तनाव बढ़ता है। (2) उस मूल दम्पती (Root Couple) की मृत्यु जो आर्थिक शक्ति लिए रहता है, तथा उनके पुत्रों व उनकी पत्नियों की अयोग्यता, अक्षमता जिससे वे 'पैतृक दम्पती' की भूमिका निभा सकें। (3) परिवार-श्रम पर

निर्भर रहने का प्रोत्साहन, नकदी के बन्धन (Cash Nexus) के उदय के कारण गायब हो रहा है। (4) सामाजिक सुरक्षा सबधी बचत की प्रथा तथा सेवानिवृत्ति के बाद भी लोगों की आमदनी कमाने के अवसर भी सयुक्त परिवार व्यवस्था को एकलीकरण की ओर ले जा रहे हैं।

अन्तर्क्रियात्मक परिवर्तन (Interactional Changes)

अन्तर पारिवारिक सम्बन्धों मे परिवर्तन तीन स्तरो पर देखे जा सकते हैं . पति-पत्नी के सम्बन्ध, माता-पिता व सतान के सम्बन्ध, और बहू तथा सास ससुर के सम्बन्ध।

भारतीय परिवार मे पति-पत्नी के सम्बन्धों का मूल्याकन, गुडे (Goode 1963) कापडिया (Kapadia 1966), गोरे (Gore 1968) और मरे स्ट्रॉस (Murray Straus, 1969) द्वारा किया गया है। ये अध्ययन (1) निर्णय करने मे शक्ति का विभाजन (2) पत्नी की मुक्ति और (3) निकटता (Closeness) मे परिवर्तन का सकेत करते हैं।

परम्परागत परिवार मे परिवार सम्बन्धी निर्णय करने की प्रक्रिया मे पत्नी की कोई आवाज नहीं होती थी। लेकिन समकालीन समाज मे परिवार व्यय, बजट बनाने मे बच्चो के अनुशासन मे, वस्तुएँ खरीदने और उपहार देने मे पत्नी की भूमिका समान शक्ति वाली होती है। यद्यपि पति की 'साधक' (Instrumental) भूमिका अभी भी जारी है और पत्नी भी 'अभिव्यक्ति' (Expressive) की भूमिका निभा रही है, लेकिन अब दोनो ही चर्चा कर लेते हैं और किसी निर्णय तक पहुचने के लिए एक-दूसरे की सलाह ले लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पति-सत्तात्मक परिवार पत्नी-सत्तात्मक या समसत्तात्मक परिवार मे बदलता जा रहा है। आर्थिक भूमिका ग्रहण करने और पत्नी की शिक्षा ने पत्नियो को सम्भावित रूप मे समान बना दिया है। शक्ति का स्रोत सस्कृति' से 'ससाधन' (Resource) की ओर खिसक गया है। इसमें 'ससाधन' का अर्थ है "कोई भी वस्तु, एक साथी दूसरे की सहायता करते हुए उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति या लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध करा दे।" इस तरह से शक्ति सन्तुलन उस साथी के पक्ष मे होगा जो विवाह सफलता के लिए अधिक ससाधनो को जुटा सकेगा। 'पति से पत्नी की ओर शक्ति का झुकाव' पर मरे स्ट्रॉस का अध्ययन (1975 : 141) 'सास्कृतिक मूल्य सिद्धान्त' की अपेक्षा 'ससाधन सिद्धान्त' पर आधारित सकल्पना का समर्थन करता है। उसने पाया कि मध्यमवर्गीय पति श्रमिक वर्ग पति की अपेक्षा अधिक 'प्रभावी शक्ति' रखते हैं। इसमे पता चलता है कि मध्यमवर्गीय परिवारो की तुलना मे कार्यकारी वर्ग के परिवार अधिक 'पृथक भूमिका वाले' (Role Segregated) या 'स्वायत्ततावादी'

(Autonomic) होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रमवर्गीय परिवार में सभी प्रकार की कार्यवाहियों में पति पत्नी की संयुक्त कार्यवाही होती है। इसका यह अर्थ है कि मध्यमवर्गीय परिवारों में किसी भी समस्या समाधान में परिवार के व्यवहार के निर्देशन में पति-पत्नी दोनों ही अधिक सक्रिय भाग लेते हैं अपेक्षाकृत श्रमजीवी वर्गीय परिवारों के। इस प्रकार स्ट्रॉस का अध्ययन स्पष्ट करता है कि 'एकाकिता' (Nuclearity) और निम्न सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति दोनों ही पति की शक्ति कम करने से सम्बद्ध हैं।

'समाधन' तत्व पर जोर देने का यह अर्थ नहीं है कि 'संस्कृति' (जिन्हे वेबर ने 'परम्परागत सत्ता' कहा है) का महत्व समाप्त हो गया है। वास्तव में, 'दाम्पत्य बन्धनों' (Conjugal Bonds) में दोनों ही तत्व महत्वपूर्ण है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि एक औसत भारतीय परिवार पति प्रधान (Husband Dominant) ही होता है लेकिन स्त्रियों की शक्ति का वैचारिक स्रोत (Ideological Source) व्यावहारिकता (Pragmatism) का स्थान ले रहा है।

दाम्पत्य सम्बन्धों में परिवर्तन पत्नी की बढ़ती 'मुक्ति' (Emancipation) से भी स्पष्ट है। शहरी क्षेत्रों में पत्नी का सामाजिक मुलाकातों (Visits) में पति के साथ जाना, पति के साथ या उसके पहले खाना खाना, रेस्त्रां और सिनेमा साथ-साथ जाना, आदि पत्नी की साहचर्य (Companion) भूमिका को दर्शाते हैं। पति अब पत्नी को हीन, अधीनस्थ (Inferior), अश्रेष्ठ, तुच्छ या कम विवेकी नहीं मानता बल्कि गम्भीर मामलों में भी उसकी सलाह लेता है और उस पर विश्वास करता है। जहा तक व्यक्ति का अपनी पत्नी तथा माँ से निकटता (Closeness) का सम्बन्ध है, विशेष रूप से शिक्षित पुरुष का, वह अब दोनों के समान रूप से निकट है (गोरे : वही : 180)

माता-पिता और बच्चों के बीच के सम्बन्धों का चार आधार पर-सत्ता धारण करने, समस्याओं की चर्चा की आजादी, बच्चों द्वारा माता-पिता का विरोध, और दण्ड देने के तरीकों—के संदर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है। परम्परागत परिवार में मुखिया/कुलपिता (Patriarch) के हाथ में ही शक्ति और अधिकार रहते थे। वह पूर्ण शक्तिवान होता था और परिवार के बच्चों की शिक्षा, व्यवसाय, विवाह और जीवन (Career) आदि के विषय में सभी निर्णय करता था। समकालीन परिवार में– न केवल एकाकी बल्कि संयुक्त परिवार में भी दादा का अधिकार समाप्त हो गया है। अब अधिकार कुलपिता से माता–पिता में निहित हो गए हैं जो बच्चों के बारे में कोई भी निर्णय लेने से पहले उनसे परामर्श अवश्य लेते हैं। रॉस (1961: 93) ने भी माना है कि दादा-दादी अब उतने प्रभावशाली नहीं रहे जितनी अपेक्षा की जाती है। एस.एस. गोरे (1968 : 131) ने भी पाया कि अब माता-पिता ही बच्चों के स्कूल भेजने तथा व्यवसाय, विवाह आदि के विषय में निर्णय करते

हैं। बच्चो ने भी अपने माता-पिता के साथ समस्याओ की चर्चा करना आरम्भ कर दिया है। वे अपने माता पिता का विरोध भी करते हैं। कापडिया (1966 : 323) और मार्गरट कोर्मेक (*Margaret Cormach, 1969*) ने भी पाया कि बच्चे अब अधिक आजाद हैं। कुछ वैधानिक उपायो ने भी बच्चो को अपने अधिकार माँगने की शक्ति दी है। शायद इसी कारण माता पिता बच्चो को दण्ड देने के पुराने तरीके नहीं अपनाते। शारीरिक विधियो (पीटना) की अपेक्षा वे आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विधियाँ अधिक अपनाते है। माता-पिता और बच्चो के बीच इन सम्बन्धो के बावजूद बच्चा न केवल इन अधिकारो के विषय मे सोचता है बल्कि अपने माता-पिता तथा सहोदरो के कल्याण के विषय मे भी सोचता है। वे अपने बडो से डरते है और उनका आदर भी करते हैं।

सास ससुर तथा बहू के बीच सम्बन्ध मे भी परिवर्तन हुआ है। यद्यपि यह परिवर्तन सास और बहू (DIL-MIL or Daughter-in-Law and Mother-in Law) मे इतना अधिक नहीं हुआ है जितना कि ससुर और बहू के सम्बन्धो मे। शिक्षित बहू ससुर से पर्दा नहीं करती। वह न केवल पारिवारिक मामलो पर बल्कि राजनीतिक मामलो पर भी ससुर के साथ चर्चा करती है।

सभी तीन प्रकार के सम्बन्धो (पति पत्नी, माता-पिता-बच्चे ओर सास-ससुर और बहू) को एक साथ देखने पर यह कहा जा सकता है कि (1) युवा पीढी अब अधिक व्यक्तिवादी होने का दावा करती है। (2) रक्त मूलक (Consanguineous) सम्बन्ध विवाह मूलक सम्बन्धो के सामने महत्त्व नही रखते। (3) 'सस्कृति' और 'वैचारिक तत्वों' के साथ-साथ 'संसाधन तत्व' भी सम्बन्धो को प्रभावित करता है।

परिवार के विशिष्ट लक्षण (Distinctive Features of the Family)

परिवार एक समूह है जो लैगिक सबधो द्वारा परिभाषित होता है, यह पर्याप्त रूप से सुनिश्चित होता है तथा बच्चो के प्रजनन एव लालन पालन के लिये चलता रहता है। इसमे गोण अथवा सहायक सबध शामिल हो सकते हैं किन्तु इसे दो साथियो को साथ-साथ रहने हेतु गठित किया गया है। इसमे उनके बच्चे भी शामिल होते हैं तथा परिवार मे एक विशिष्ट एकता पाई जाती है। इस एकता मे कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं जिनमे से पाँच विशेष हैं–1 पति-पत्नी के सबध। 2 विवाह का प्रकार अथवा अन्य सस्थागत व्यवस्था जिसके अनुसार पति-पत्नी सबध स्थापित किये जाते हैं तथा चालू रहते हैं। 3 एक नामतत्र जिसमे वशानुक्रम को मानने का तरीका निहित हो। 4 समूह की साझेदारी मे कुछ आर्थिक प्रयोजन जो बच्चो के प्रजनन व उनके भरण-पोषण सबधी आर्थिक आवश्यकताओ के विशेष सदर्भ मे पर्याप्त हो तथा 5 एक साझे का निवास, घर जो हो सकता है केवल उसी परिवार के लिये न हो।

परिवार समाज के सपूर्ण जीवन को अनेक तरीको मे प्रभावित करता है। इसके निम्न विशिष्ट लक्षण होते हैं (मेकाइवर व पेज, 1962 240) —

1 सार्वभौमिकता (Universality)—यह सभी समाजो मे तथा विकास की सभी अवस्थाओ मे पाया जाता है। लगभग सभी मनुष्य किसी न किसी परिवार के सदस्य होते हैं अथवा रहे होंगे।

2 भावनात्मक आधार (Emotional Basis)—यह हमारे नैसर्गिक स्वभाव के सबसे गहन आवेगो की जटिलता पर आधारित है। ये आवेग हैं—सभोग प्रजनन मातृभक्ति माता–पिता की देखभाल आदि।

3 रचनात्मक प्रभाव (Formative Influence) जैविक तथा मानसिक दोनो प्रकार की छाप के माध्यम से यह व्यक्ति के चरित्र को रूप देता है। इसके स्थाई प्रभाव को मानने के लिए हमे इस विचार का अनुमोदन करने की आवश्यकता नहीं है कि शैशवावस्था मे शिशु पर पड़ा परिवार का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व की सरचना को हमेशा के लिए निर्धारित कर देता है।

4 सीमित आकार (Limited Size)—यह आवश्यक है कि परिवार छोटा ही हो क्योकि यह जैविक स्थितियो मे परिभाषित होता है जिसमे यह अपनी पहचान खोए बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

5 सामाजिक सरचना मे केन्द्रीय स्थिति (Nuclear Position in the Social Structure)—परिवार अन्य सामाजिक क्रियाकलापों का केन्द्र बिन्दु होता है। समाज की सारी सरचना परिवारो से बनी होती है।

6 सदस्यो का उत्तरदायित्व (Responsibilities of the Members)—किसी अन्य संगठन की तुलना में परिवार अपने सदस्यो से लगातार बड़ी अपेक्षाएं रखता है। सदस्य अपने परिवार के लिए आजीवन श्रम करते रहते हैं।

7 सामाजिक नियत्रण (Social Regulations)—सामाजिक वर्जन व कानूनी नियत्रण परिवार की विशेष रूप से रक्षा करते हैं। ये नियंत्रण ही परिवार का रूप निर्धारित करते हैं। आधुनिक समाजो मे परिवार उन थोड़े से सघों में से एक है जिसमे सहमति से प्रवेश तो किया जा सकता है किन्तु आपसी सहमति होते हुए भी स्वतत्रता से छोड़ा अथवा भंग नहीं किया जा सकता।

8. इसका स्थाई व अस्थाई स्वभाव (Its Permanent and Temporary Nature)—सस्था के रूप मे परिवार अत्यधिक स्थाई व सार्वभौम होता है, जबकि संघ के रूप में यह समाज के सभी महत्वपूर्ण सघो मे सबसे अधिक अस्थाई तथा सबसे अधिक सक्रमित होता है।

भारतीय परिवार का भविष्य (Future of Indian Family)

तनाव और अनुकूलन (Stresses and Adaptation)

क्या सयुक्त परिवार के विरुद्ध तर्क उपयुक्त और प्रामगिक ह? क्या लोगो के मूल्य वास्तव मे बदल रहे है? क्या लोगो की मूल्य व्यवस्था मे गुणवत्तात्मक परिवर्तन का कोई साक्ष्य है जो सयुक्त परिवार सरचना को पूर्णरूपेण एकाकी परिवार की ओर ले जा रहा है? यदि हाँ तो पूर्व के मूल्य समकालीन युग म अपना प्रभाव क्यो खोते जा रहे हैं? भारतीय परिवार का भविष्य क्या है?

भारत मे परिवार पर कोई भी दृष्टिकोण या तो युवाओ के मतो का सर्वेक्षण या विविध परिवार ढाचो के आम लोगो की राय का सर्वेक्षण करके या शहरी व ग्रामीण क्षेत्रो मे विभिन्न वर्गों और जातियों के लोगो के सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण करके 'आधुनिकता मे परम्परा के वैचारिक पमाने पर विकमित किया जाता ह। क्या अब तक भारतीय परिवार पर किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि भविष्य मे कुछ परिवर्तन होने जा रहे ह?

भारत मे परिवार के भविष्य का प्रश्न दो पक्षों से सम्बद्ध है . (i) सयुक्त परिवार का क्या भविष्य है? (ii) सस्था के रूप म परिवार का भविष्य क्या है? जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, यह सकेत पहले ही दिया जा चुका हे (पूर्व पृष्ठो मे) कि हमारे समाज मे सयुक्त परिवार पूर्ण रूप मे कभी भी एकाकी परिवार मे नहीं बदलेगा। दोनो ही सरचनाएँ (सयुक्त व एकाकी) जारी रहेगी। केवल सयुक्तता का स्वरूप ही आवासीय से प्रकार्यात्मक मे बदलेगा और सयुक्त परिवार का आकार ही दो या तीन पीढियो के बाद कम होगा। जहा तक परिवार के सस्था के रूप मे भविष्य का प्रश्न है, इसकी चर्चा परिवार को प्रभावित करने वाले चार तत्वो के आधार पर की जा सकती हे (जो परस्पर अलग-थलग नहीं हैं) (a) प्रौद्योगिकीय क्रान्ति : तथा ऐसी सुविधाओं (जैसे बिजली, घरो मे नलो का पानी, गैस, फ्रिज, टेलीफोन, बसे और अन्य वाहन) तक पहुँच जिन्होने आम आदमी का जीवन स्तर और जीवन शैली बदल दी है। परिवार पर औद्योगिक एव प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का भी प्रभाव पडा है, जैसे उत्पादन कार्य, परिवार अर्थव्यवस्था मे आत्मनिर्भरता की अधिकता, व्यावसायिक और जनसख्या गतिशीलता, नातेदारी बन्धनो का कमजोर पडना, आदि। (b) जनसख्या क्रान्ति : कृषि से निर्माण व नौकरियो की ओर झुकाव, ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों मे प्रवजन, जन्म व मृत्यु दर मे कमी, जीवन के औसत मे वृद्धि और परिवार मे बड़े बूढो की उपस्थिति, विवाह मे परिवर्तन—छोटी उम्र से बडी उम्र मे—आदि, ने पुनर्समायोजन की समस्याओ को पैदा कर दिया है, शक्ति सरचना मे परिवर्तन कर दिए हैं, और लघु परिवार की चाह पैदा कर दी है। (c)

लोकतान्त्रिक क्रान्ति : लोकतंत्र के आदर्श अपने अधिकारो की माँग, पैतृक सत्ता से बच्चो को छुटकारा, लोकतान्त्रिक प्रक्रिया निर्णय करने मे, और परिवारवाद से व्यक्तिवाद मे परिवर्तन, आदि परिवार मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कहे जा सकते हैं (d) धर्म निरपेक्ष क्रान्ति : धार्मिक मूल्यो से तार्किक मूल्यो की ओर झुकाव हो रहा है। पति के प्रति पत्नी के दृष्टिकोण मे परिवर्तन, कुसमायोजन के आधार पर तलाक की माँग, वृद्धावस्था मे माता–पिता की देखभाल करने मे बच्चो की उदासीनता, पारिवारिक पूजा आदि मे कमी—सभी तार्किक सोच के परिणाम हैं तथा नैतिक व धार्मिक मानदडो से विचलन की स्थिति है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि गत कुछ दशको से हमे भारतीय परिवार मे अनेक प्रमुख प्रवृत्तिया दिखाई दी हैं। ये इस प्रकार हैं — (1) एकाकी परिवार का बढता महत्व (2) कुछ कार्यो का अन्य सस्थाओ का स्थानान्तरित होना जैसे, शैक्षिक मनोरजनात्मक, सरक्षात्मक, आदि (3) परिवार के सदस्यों की आयु सरचना मे मौलिक परिवर्तन अर्थात देखभाल करने के लिए कम अनुपात में बच्चे और अनुपात मे अधिक आयु के वृद्धो का जीवित रहना। इस तथ्य ने देखभाल तथा समर्थन के कार्य के परिवार से राज्य एव बीमा कम्पनियों को स्थानान्तरित करना आवश्यक बना दिया है। इसने परिवार की शक्ति सरचना को भी प्रभावित किया है। (4) शिक्षा व बढ़ती आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता (5) परिवार नियंत्रण से बच्चो की सख्या मे कमी (6) युवाओं के मूल्यों में परिवर्तन। यद्यपि ये बड़ों का आदर करते हैं तथा उनका डर मानते हैं लेकिन वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए ही माता-पिता का सहारा चाहते हैं (7) यौन के प्रति धारणाओं एवं व्यवहार मे उदारीकरण (8) पूर्व-यौवनारम्भ अवस्था मे उत्तर-यौवन अवस्था में विवाह (9) छोटा होता परिवार का आकार। वर्तमान में भारतीय परिवार की ये विशेषताएँ यह दर्शाती हैं कि परिवार संरचना और बन्धनो मे परिवर्तन हो रहे हैं।

परिवार की ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर प्रक्रिया हैं। ये रुकी नहीं हैं। फिर भी, यह विचारणीय है कि परिवार का स्वरूप भविष्य मे या अगले 25-30 वर्षों मे क्या होगा। हैरोल्ड क्रिसटेन्सन (Harold Christensen, 1975 : 410) का अनुसरण करते हुए 21वीं शताब्दी के प्रथम एक-दो दशकों मे भारतीय परिवार में निम्नलिखित सम्भावित परिवर्तनों की कल्पना की जा सकती है :

1. परिवार निरन्तर बना रहेगा। यह प्रजनन व बच्चों के लालन-पालन की राज्य-नियंत्रित व्यवस्था (State-controlled System) से कभी भी बदला नहीं जायेगा।
2. इसका स्थायित्व बाहर से सामाजिक दबावों या नातेदारी वफादारी की अपेक्षा अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों पर अधिक निर्भर करेगा।

3 यह सामुदायिक समर्थन एव सेवाओ पर अधिक निर्भर करेगा।

4 चिकित्सा म विकास के साथ परिवार अपनी जैविक प्रक्रियाओ पर अधिक नियत्रण रख सकेगा। (यौन कार्यो को प्रजनन कार्यों से अलग रखने का, बीमारी और मृत्यु पर नियत्रण रखने का, और सन्तति निर्धारण का)

5 पुनर्विवाह और तलाक दर ऊँची हो जायेगी।

6 माता-पिता और दादा दादी अपने बच्चो और पात्र पीढी को सहारा देते रहेग भले ही वे स्वय सेवा मुक्त हो जाय।

7 परिवार म स्त्रिया की शक्ति सम्बन्धी स्थिति लाभकारी रोजगार के द्वारा और भी सुधरेगी।

8 सामान्य दृष्टि से परिवार समतावादी (Equalitarian) नहीं होगा बल्कि पति प्रधान बना रहेगा।

उदीयमान प्रवृत्तिया (The Emerging Trends)

हमारे देश मे परिवार सरचना के परिवर्तन से सम्बद्ध निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं .

1 *विखण्डित (Fissioned) परिवारो की सख्या बढती जा रही है, अर्थात् पुत्र अपने* माता-पिता से अलग रहना पसन्द करते हैं, लेकिन उनके प्रति परम्परागत दायित्वो का निर्वाह करना जारी रखते हैं।

2 परम्परागत समुदायो मे सयुक्तता अधिक है और बाहरी प्रभावो से प्रभावित समुदायो मे एकाकिता अधिक है।

3 *परम्परागत परिवारो (अर्थात् सह-निवासी व सह-भोजी नातेदारी इकाई)* का आकार छोटा हो गया है।

4 हमारे समाज मे प्रकार्यात्मक (Functional) प्रकार का सयुक्त परिवार तब तक बना रहेगा जब तक यह सॉस्कृतिक आदर्श बना रहेगा कि एक पुरुष को अपने *माता-पिता व अल्प आयु भाई-बहनो की देखभाल करनी है।*

स्पष्ट रूप से यह तो बताना सम्भव नहीं है कि भारतीय परिवार मे परिवर्तन कब प्रारम्भ हुए। वास्तव मे परिवार व्यवस्था कभी भी स्थिर नहीं रही है और बीसवीं शताब्दी मे परिवर्तन धीरे-धीरे हुए हैं। वस्तुतः स्वतत्रता के पश्चात से, परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे।

यह कहा जा सकता है कि परम्परागत से सक्रमणशील (Transitional) परिवार में होने वाले परिवर्तन की प्रवृत्तिया इस प्रकार हैं : (1) नव-स्थानीय आवास (2)

प्रकार्यात्मक सयुक्तता (3) व्यक्तियो मे समानता (4) महिलाओं के लिए समान दर्जा (5) सयुक्त जीवन-साथी चुनाव (6) परिवार के आदर्श प्रतिमानों का कमजोर होना।

नव-स्थानीय आवास (Neo-Local Residence)

विवाह के बाद कुछ बच्चे अपने माता-पिता के साथ रह सकते हैं लेकिन शीघ्र ही वे अलग रहना पसन्द करते है। नव दम्पत्ति एव उनके परिवार अपने कार्य-स्थान के अनुरूप अपने आवास का निर्धारण करते हैं। अत नव स्थानीय आवास अधिक से अधिक सामान्य होते जा रहे हैं। कभी-कभी ये नव स्थानीय परिवार किसी घटनावश अपने माता-पिता के परिवार मे लौट आते हैं लेकिन अक्सर वे नहीं लौटते।

प्रकार्यात्मक संयुक्तता (Functional Jointness)

नव-स्थानीय आवास से तृतीयक तथा दूर के नातेदारो मे सम्बन्ध कमजोर तो होते हैं किन्तु पृथक रहने वाले प्राथमिक व द्वितीयक नातेदारो से नहीं। विवाहित पुत्र अपने माता-पिता एव भाई-बहनो के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निभाना जारी रखते हैं। उनके ये सम्बन्ध न केवल कर्त्तव्यो के निर्वहन मात्र के लिए बने रहते है, बल्कि उनके प्रति श्रद्धा व स्नेह के कारण भी। नव-स्थानीय परिवारो की यह विशेषता रहती है कि वे अपने प्राथमिक व द्वितीयक रिश्तेदारो के साथ आवश्यकता पडने पर (बीमारी, बुढापा बेरोजगारी, आदि मे) आपसी सहयोग एव आर्थिक सहयोग करते रहते हैं।

व्यक्तियों में समानता (Equality of Individuals)

पति, पत्नी एव अन्य सदस्यों को समान व्यवहार देना बड़े स्तर पर वैचारिक परिवर्तन का ही एक भाग हैं। व्यक्तिवाद का विचार जिसमे समूह (परिवार) से अधिक महत्व व्यक्ति को दिया जाता है लगभग समस्त विश्व मे बढता जा रहा है। अतः परिवार मे कुलपिता व माता-पिता अपनी सत्ता को बच्चो पर थोपते नहीं हैं, बल्कि बच्चो को अपने साधनो व लक्ष्यो के चुनाव की पूर्ण स्वतत्रता प्रदान करते हैं। व्यक्ति की योग्यता को मान्यता प्रदान की जाती है और नये परिवार मे उसकी इच्छाओं को महत्वपूर्ण माना जाता है। व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी अपनी उपलब्धियो से बनती है, न कि उसकी आयु और सम्बन्ध मे। इस तरह हर परिवार का दर्जा हर पीढ़ी के लिए नये सिरे से निश्चित होता है।

महिलाओं के लिए समान दर्जा (Equal Status for Women)

संयुक्त परिवारों को महिलाओ की अधीनता से जोड़ा जाता है। महिलाओं को घर के सभी कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी जाती है और उन्हे खाना बनाने, सफाई करने, कपडे धोने, एवं बच्चो के लालन-पालन की भूमिका मे ही व्यस्त रखा जाता है। उनको मात्र यौन सहयोगी का दर्जा दिया जाता है, किन्तु पत्नी के वैधानिक व अन्य प्रकार के अधिकार नहीं दिये जाते। नये उभरते हुए परिवार इसमे परिवर्तन लाने का

प्रयास कर रहे हैं। महिलाए अब कुछ शक्ति प्राप्त कर रहीं हैं। इसके साथ सम्बद्ध तथ्य यह है कि बाल विवाह का स्थान वयस्क विवाह ने ले लिया है और लडकियो मे शिक्षा प्रसार भी तेजी से हो रहा है। विस्तृत होती अर्थव्यवस्था मे महिलाए भी अब कार्य कर रही हैं तथा जीवन स्तर को उठा रही हैं। ऐसे परिवारो मे पुरुष स्त्रियो का समान व्यवहार देने लगे हैं। यद्यपि कामकाजी महिलाओ के परिवारो मे महिलाओं के लिए समान अधिकार का विचार जोर पकडता जा रहा है, परन्तु गर-कामकाजी महिलाओं के परिवारों मे यह सब चर्चा नहीं होती है। महिलाए क्योकि परिवार म कोई आर्थिक योगदान नहीं देती ह अत इन परिवारो म पुरुष उनसे अधिक सम्मान की अपेक्षा करते हैं। जब तक घर का कामकाज व बच्चो का लालन-पालन महिला का उत्तरदायित्व रहेगा, तब तक कोई भी परिवार व्यवस्था महिलाओं को पूर्ण बराबरी का दर्जा प्रदान नहीं करेगी।

सयुक्त जीवन–साथी चुनाव (Joint-Mate Selection)

'परम्परागत' परिवार मे बच्चो के विवाह उनके माता पिता द्वारा बच्चो से सलाह लिए बिना ही तय कर दिये जाते थे। लेकिन 'सक्रमणशील' (Transitional) परिवार में जीवन साथी के चुनाव में बच्चे व माता-पिता सयुक्त रूप मे निर्णय करते ह। इस सयुक्त चुनाव मे सघर्ष के अवसर कम होने हैं और नव दम्पती अपने माता पिता से अलग गृहस्थी बसाने से पहले कुछ माह या वर्ष उनके साथ रहते हैं। नये परिवार मे आने पर नव-विवाहित पत्नी को परिवार के अन्य सदस्यो से अधीन दर्जा मिलता है जब तक कि उसका परिवार मे इतना समाजीकरण न हो जाये कि परिवार की प्रथाओं, रीति-रिवाजो का विरोध कम हो जाये। यदि नव विवाहिता अलग निवास मे भी रहती है तब भी वह अपने ससुराल वालो के प्रति कर्तव्यो का निर्वाह करती रहती है और इस कार्य को अधिक महत्व देती है।

पारिवारिक प्रतिमानो का कमजोर होना (Weakening of Family Norms)

'सक्रमणशील' (Transitional) परिवार मे परिवार प्रतिमान इस सीमा तक कमजोर हो गए हैं कि अवसरों और पुरस्कारो का वितरण व्यक्ति के परिवार की सदस्यता से नहीं, अपितु उसके गुणा से निश्चित होता है। भारतीय परम्परागत परिवार की सरचना अति विशिष्टतावादी सिद्धान्त पर आधारित की गयी थी। विशिष्टतावाद (Particularism) व्यक्ति की परिवार में सदस्यता के अनुसार अवसरो एव पुरस्कारो के वितरण की व्याख्या करता है, न कि व्यक्ति के विशिष्ट गुणो या योग्यताओं के आधार पर। हमारे प्राचीन समाज मे पारिवारिक सदस्यता इतनी महत्वपूर्ण थी कि परिवार के पास ही पुरस्कार और उनके वितरण का नियत्रण होता था। किसी व्यक्ति के रोजगार के अवसर तथा कार्य जो वह करता था उसकी परिवार म स्थिति से निर्धारित होता था। श्रम-विभाजन अधिक विशिष्ट नहीं होता था और किसी भी वयस्क

को किसी भी व्यवसाय के लिए काफी शीघ्रता से दक्ष (Trained) बनाया जा सकता था। श्रम का यह विभाजन "प्रकार्यात्मक प्रसरण" (Functional Diffuseness) कहलाता है। इसके विपरीत आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था में सार्वभौमिक कसौटी (Universalistic Criteria) के प्रयोग की आवश्यकता है। 'सार्वभौमिकता' में विशिष्ट दीक्षा व कुशलता के आधार पर अवसरों का प्रदान किया जाना निहित है तथा इसमें परिवार और अन्य सम्बन्धों पर ध्यान नहीं दिया जाता। 'प्रकार्यात्मक विशिष्टता' (Functional Specificity) में श्रम का विभाजन सम्मिलित है।

जैसे-जैसे भारत में आधुनिकीकरण प्रारम्भ हुआ परिवार व्यवस्था की विशिष्टतावादी आवश्यकताएँ व्यावसायिक व्यवस्था की बढ़ती हुई सार्वभौमिक आवश्यकताओं से टकराने लगीं। परम्परागत प्रतिमानों की माँग थी कि बाहरी लोगों से सम्पर्क कम किये जायें तथा उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि बाहरी लोगों के साथ अनुबंधित (Contractual) सम्बन्ध बंधनकारी नहीं हैं। जो उद्योगों के मालिक थे या उनके प्रबन्ध में लगे थे, उन्हें दुविधा का सामना करना पड़ा। यदि वे परम्परागत प्रतिमानों का पालन करते तो उन्हें व्यापार में हानि होती और यदि वे सार्वभौमिक कसौटी का पालन करते तो वे दायित्वों का उल्लंघन करते और उनके परिवारों को कष्ट होता। अत. लम्बे अन्तराल के बाद परिवार को ही औद्योगीकरण की मांग के सामने झुकना पड़ा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपरोक्त प्रवृत्तियां मात्र प्रवृत्तियाँ हैं। यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि परम्परागत (संयुक्त) परिवार टूट रहा है और कुलपिता या माता-पिता की प्रभुता समाप्त हो रही है। दाम्पत्य-मूलक परिवार (Conjugal Families) कुछ शहरी व औद्योगिक क्षेत्रों में हो सकते हैं, किन्तु उनसे पुरानी व्यवहार पद्धतियों के टूटने का संकेत नहीं मिलता। दाम्पत्य मूलक परिवारोन्मुख प्रवृत्ति अभी प्रकट होनी है। ग्रामीण समुदाय इस (दाम्पत्य-मूलक) व्यवस्था से अप्रभावित है।

विशिष्ट परिवार-स्वरूप को वरीयता देने के कारण (Causes of Preference for Specific Family Pattern)

लोग संयुक्त (परम्परागत) परिवार या एकाकी/खण्डित (Fissioned) परिवार को क्यों पसन्द या नापसन्द करते हैं? संयुक्त परिवार को पसन्द करने का प्रथम कारण है जीवन की विविध आवश्यकताओं और उच्च जीवन मूल्य के विरुद्ध आर्थिक सुरक्षा की इच्छा। पुरातन काल में बीमारी, वृद्धावासी, बेरोजगारी, दुर्घटना आदि से सुरक्षा परिवार, जाति, ग्राम तथा जनहितैषी व्यक्तियों (Philanthropists) द्वारा चलायी गयी संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती थी, लेकिन आज ग्राम तथा जाति, आदि इस प्रकार की कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करते हैं।

कुछ स्थितियों में राज्य ने यह उत्तरदायित्व विभिन्न माध्यमों के द्वारा अपने हाथ में ले लिया है जैसे राज्य कर्मचारी बीमा योजना वृद्धावस्था हित योजना कामगार क्षतिपूर्ति योजना मातृ प्रसूति हित योजना आदि लेकिन ये योजनाएं कुछ ही प्रकार के औद्योगिक संस्थानों तथा कुछ निजी या सार्वजनिक संस्थानों द्वारा ही अपनाई गई हैं। यहां तक कि इन संस्थाओं में कार्यरत सभी श्रमिकों को इन योजनाओं का लाभ नहीं मिलता है जब तक कि वे कुछ शर्तों को पूरा न करें। देश की कृषि पर आधारित जनसंख्या के लिए इस प्रकार की कोई भी उल्लेखनीय सामाजिक सुरक्षा योजनाएं नहीं हैं। इन परिस्थितियों ने हमारे समाज में व्यक्तियों को आवश्यकता के समय में सहयोग व सहायता के लिए परिवार संस्था पर ही निर्भर रहने को बाध्य किया है। द्वितीय कारण है स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता तथा उनकी नौकरी। सास ससुर का परिवार में होने का लाभ यह है कि कामकाजी बहू की अनुपस्थिति में उसके बच्चों की देखभाल होती रहती है। तीसरा कारण यह है कि परिवार के बड़ों के प्रति आदर व स्नेह तथा छोटों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना बनी रहती है। हमारी युवा पीढ़ी अपने वृद्ध माता पिता और छोटे भाई बहनों के प्रति 'धार्मिक' उत्तरदायित्वों को भले ही न समझें लेकिन वे निश्चय ही यह तो समझते हैं कि अपने नातेदारों का समर्थन करना उनका 'सामाजिक' कर्तव्य तो है ही। अन्तिम कारण है कि इससे परिवार के सदस्यों की शक्ति व मान सम्मान बढ़ता है।

दूसरी ओर एकाकी परिवार तथा पृथक निवास के चयन के कारण हैं—संघर्षों से बचना पारिवारिक नियंत्रण से मुक्ति तथा कुछ भी करने व कैसे भी रहने के लिए स्थान की प्राप्ति, अधिक एकान्तता (Privacy) शैक्षणिक आकांक्षाओं एवं सामाजिक महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के प्रयास आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना तथा स्वेच्छा से चुने हुए व्यवसाय के द्वारा उच्च जीवन स्तर बनाना आदि।

परिवर्तन के प्रकार्यात्मक व दुष्कार्यात्मक पक्ष (Functional and Dysfunctional Aspects of Change)

परम्परागत से एकाकी या संक्रमणकालीन या खण्डित परिवार के ढाँचे में परिवर्तन के साथ साथ एकाकी परिवार के पक्ष तथा संयुक्तता के विपक्ष की अभिरुचि में परिवर्तन प्रकार्यात्मक तथा अप्रकार्यात्मक दोनों ही है। यह प्रकार्यात्मक इसलिए है कि (1) प्रथमतः परम्परागत (संयुक्त) परिवार पराश्रित (Parasites) एवं निकम्मे (Drones) लोगों को जन्म देता है। कुछ सदस्य यह सोच कर बिल्कुल काम नहीं करते कि परिवार के अन्य लोग उनके पोषण आदि के लिए हैं ही। ऐसा इसलिए है कि परम्परागत (संयुक्त) परिवार "सबके लिए एक और सब एक के लिए" के सिद्धान्त पर कार्य करता है। यदि एक व्यक्ति कुछ भी धनार्जन नहीं करता फिर भी उसका उसकी पत्नी तथा बच्चों का परिवार उतना ही ध्यान रखता है जितना कि

कमाने वाले सदस्य और उसके बच्चो व पत्नी का। अतः यदि इस प्रकार के सदस्य काम की तलाश भी करते हैं तो वह आधे मन से ही। यह स्थिति परिवार में सन्देहो, विवादो, गलत फहमियों, और झगड़ों को जन्म देती है जिससे सदस्यों के सामजस्यपूर्ण सम्बन्ध व परिवार का सगठन ही समाप्त हो जाता है। (ii) द्वितीयत, सयुक्त परिवार व्यक्तिवाद को रोकता है। युवक अपने अधिकारो एव प्रस्थिति के प्रति सचेत हो गये हैं और परिवार के भीतर भी सम्बन्धो के पुनरावलोकन की माँग करते हैं। किन्तु परिवार के वयस्क लोग परम्पराओ में विश्वास के कारण इससे इनकार करते हैं जिससे युवको की कठिन परिश्रम करने तथा आगे बढने की चाह कम हो जाती है। (iii) तृतीयत, सयुक्त परिवार विवादो एव मनमुटावों की स्थली है। जिस स्त्री का पति अधिक कमाता है वह उत्तेजित होती है, विवाद करती है, विद्रोह करती है और पृथकता की माग करती है। स्त्रियो के बीच कामकाज का असमान वितरण, बच्चों का लालन-पालन तथा बुजुर्गों द्वारा स्त्रियो के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार भी विवाद का कारण बन जाता है। फिर, सयुक्त परिवार की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि सदस्यो के बीच तनाव उत्पन्न हो जाता है क्योकि या तो वे परिवार द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्यों और भूमिकाओ के साथ सामन्जस्य करने के लिए इच्छुक नहीं रहते है या फिर सयुक्त परिवार उन सदस्यो को समायोजित करने मे असमर्थ होते है जो कि परम्परागत स्वरूप से थोड़ा हट कर चलते हैं। (iv) अन्ततः सयुक्त परिवार महिलाओ की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है। उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है और बच्चो के लालन–पालन में उनका कोई सहयोग नहीं होता। वे दमन का अनुभव करती हैं तथा भावात्मक तनावो से पीड़ित रहती हैं।

सयुक्त (परम्परागत) परिवार मे परिवर्तन निम्न कारणों की वजह से अप्रकार्यात्मक (Dysfunctional) हैं: (i) प्रथमतः इससे भूमि के छोटे टुकड़े हो जाते हैं जिससे कृषि उत्पादन तथा देश की राष्ट्रीय आय भी प्रभावित होती है। संयुक्त परिवार मे विखण्डन से सम्पत्ति के बंटवारे की आवश्यकता बढ़ जाती है और भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होना आवश्यक हो जाता है जिससे कृषको को वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना लगभग असम्भव हो जाता है। इससे कृषि उत्पादन बुरी तरह प्रभावित होता है और परिवार के आर्थिक स्तर एवं समाज की आर्थिक प्रगति भी प्रभावित होती है। (ii) द्वितीयतः आवासीय संयुक्तता के विखण्डन ने हमे नकारात्मक अर्थो में प्रभावित किया है क्योकि सयुक्त परिवार कमजोरों और वृद्धो की शरण-स्थली थे। यद्यपि सरकार ने हाल के वर्षो मे वृद्धों, बीमारो, अपगों तथा बेरोजगारो के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए अनेक योजनाए प्रारम्भ की हैं फिर भी हमारे देश की जनसंख्या का अधिक भाग इन लाभों से वंचित रह जाता है। इस कारण बहुत से लोग वांछित संरक्षण के लिए परिवार पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में,

संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य को ऐसा वातावरण प्रदान किया जाता है जिसमें वह अपने अस्तित्व को ही नहीं बल्कि धार्मिक और मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। (iii) तृतीयतः तेजी से उभरते हुए आवासीय एकाकी परिवार में एक व्यक्ति प्रेम, विश्वास और बलिदान के मूल्यों का विकास करने में इतना समर्थ नहीं होता है जितना कि संयुक्त परिवार में होता है। ऐसी एकीकरण की प्रक्रिया के प्रशिक्षण ने हमें वास्तविक जीवन अनुभव प्रदान किया है और हमारी सामाजिक परिपक्वता में वृद्धि की है जिससे हमारे व्यक्तित्व के विकास को अवसर मिला। इन्हीं लाभों के कारण कहा जाता है कि परम्परागत (संयुक्त) पारिवारिक जीवन बालपन में विद्यालय, यौवन में सुरक्षा कवच, वृद्धावस्था में सांत्वना तथा हर समय पूजनीय, सम्माननीय व श्रद्धास्पद संस्था है।

परिवार के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य
(Theoretical Perspectives of the Family)

समाजशास्त्री यह मानते आए हैं कि परिवार पर समाज का अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। कुछ समाजशास्त्री यह भी तर्क करते हैं कि परिवार भी समाज को अत्यधिक प्रभावित करता है।

प्रकार्यवादी (Functionalist) परिप्रेक्ष्य में

प्रकार्यवादी विचारक परिवार को समाज का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज से सम्बन्धित परिवार के कार्यों तथा ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ परिवार के अनुकूलन का विश्लेषण करता है। प्रकार्यवादी विश्लेषण परिवार के प्रमुख कार्यों को निम्नानुसार चिह्नित करता है : युवा पीढ़ी को समाजीकृत करना, लैंगिक गतिविधि को नियमित करना, सामाजिक व्यवस्था को सपोषित करना तथा भौतिक एवं संवेगिक सहायता प्रदान करना। ये उन कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं जो परिवार पूरा करता है—(यौन, प्रजननात्मक, समाजीकरण, शैक्षिक और आर्थिक)। प्रथम दो कार्य संकेत देते हैं कि जैविक दृष्टि से परिवार जरूरी है जबकि अन्य कार्य बताते हैं कि परिवार सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी लाभदायक है।

एक प्रकार्यवादी के परिप्रेक्ष्य से परिवार के विश्लेषण में तीन बातें शामिल होती हैं— (अ) परिवार के कार्य (ब) परिवार तथा सामाजिक तंत्र के अन्य अवयवों के बीच कार्यकारी सम्बन्ध (स) परिवार का अपने सदस्यों के प्रति कार्य।

प्रकार्यवादी परिवार को समाज रूपी शरीर का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। परिवार द्वारा समाज के लिए किए गए कार्यों को उसके द्वारा अपने सदस्यों के लिए किए गए कार्यों से पृथक नहीं किया जा सकता।

इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार परिवार ऐसे महत्वपूर्ण कार्य करता है जो समाज की

की विभिन्न भूमिकाओं के मध्य सम्बन्ध भी समझाता है। इसके अतिरिक्त परिवार के कार्यों और भूमिकाओं में परिवर्तन मुख्यत समाज में तथा सामाजिक मानदंडों व मूल्यों के परिवर्तन के कारण मानता है।

प्रकार्यवाद ने परिवार के अनेक कार्यों को अंकित किया है और कहा है कि परिवार के कार्य उसके सदस्यों तथा समाज दोनों के लिए होते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि परिवार के बिना समाज अस्तित्व में नहीं रह सकता। परिवार में श्रम विभाजन द्वारा पति व पत्नी के बीच कार्य के बटवारे को उचित ठहराने के लिए प्रकार्यवादियों की आलोचना की गई है। पिछले साठ वर्षों में परिवार के आकार में तथा समाज के साथ उसके सबंधों में आए बदलाव का प्रेक्षण किया गया। परिवार द्वारा किए जाने वाले कुछ कार्यों के महत्व पर जोर देने के परिणामस्वरूप प्रकार्यवाद ने समाज की कुछ अन्य संस्थाओं जैसे विद्यालय मीडिया तथा सरकार द्वारा बच्चे के समाजीकरण में निभाई गई भूमिका को नजरअदाज किया है। बच्चों का परिवार के बाहर भी समाजीकरण होता है। इसके साथ ही प्रकार्यवाद परिवार की समस्याओं की ओर कम ध्यान देता है। परिवार में दुर्व्यवहार तथा हिंसा के अनेक सबूत मिले हैं जो यह बताते हैं कि परिवार नाम की संस्था ठीक से कार्य नहीं कर रही है।

क्या अन्य संस्थाएँ परिवार के कार्यों को छीन सकती हैं? यह तर्क दिया जाता है कि चाहे अन्य संस्थाएँ भी परिवार के कार्यों को करें वे परिवार को इन कार्यों में केवल सहायता ही दे सकती हैं न कि परिवार को इन कार्यों से पूर्णत, वंचित या मुक्त कर सकती हैं। हाल के ही वर्षों में परिवार के कार्यों में सुधार हुआ है। परिवार अन्य उप-व्यवस्थाओं को कुछ देता भी है और उनसे कुछ लेता भी है। परिवार की भूमिका असाधारण है।

परिवार—मार्क्सवादी (Marxist) परिप्रेक्ष्य में

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य इस बात का विश्लेषण करता है कि परिवार वर्तमान श्रम शक्ति को बनाए रखकर पूँजीवाद समाज को पुन. प्रस्थापित करने में किस प्रकार सहायता करता है तथा आने वाली पीढ़ी को किस प्रकार पैदा करता है व उसका समाजीकरण करता है। मार्क्सवादी भी परिवार के बारे में संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य अपनाते हैं। मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने परिवार को पूँजीवादी समाज व सामाजिक वर्ग के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। फ्रैडरिक एंजिल्स (Friedrich Engels) ने परिवार को विकासवादी दृष्टि से देखा। उन्होंने परिकल्पना की है कि विवाह व परिवार का विकास स्वच्छन्द संभोगी समूहों से कई अवस्थाओं के माध्यम से हुआ जिनमें बहुपत्नी प्रथा से लेकर आज की अवस्था का एक विवाही एकल परिवार तक शामिल है। इस प्रकार एंजिल्स के विश्लेषण के अनुसार निजी स्वामित्व तथा पुरुष प्रभुत्व अथवा पितृसत्ता का विकास

साथ-साथ हुआ। पूंजीवादी समाज निजी सपंत्ति के सग्रहण पर आधारित था तथा उत्तराधिकार योग्य सपंत्ति पर पुरुषों का नियत्रण था। मार्क्स व एजिल्स मानते हैं कि पूंजीवाद महिलाओं को घर के बाहर रोजगार प्राप्त करने तथा स्वय को आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के अवसरों को सीमित कर देता था। एजिल्स के विचार मे साम्यवाद की विजय के साथ ही लोग इस प्रकार की शोषण वाली व्यवस्था से मुक्त हो जाएंगे। एंजिल्स ने इस प्रकार होने वाले परिवर्तनों के सबध मे भी विचार किया। उनका मानना था कि जब महिलाओं व पुरुषों, दोनों के लिए आर्थिक समानता एक वास्तविकता बनेगी तब पुरुष धन अथवा सामाजिक सत्ता के द्वारा किसी महिला के समर्पण को नहीं खरीद सकेंगे। एजिल्स यह भी अपेक्षा करते थे कि तब बाल-श्रमिको का शोषण समाप्त हो जावेगा।

मार्क्सवादी विद्वान परिवार को सरचनात्मक एव लिग (Gender) सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। ये परिवार मे पुरुष प्रधानता को ऐतिहासिक सन्दर्भ मे समझते हैं। उनकी परिकल्पना है कि मानव के सामाजिक विकास संबंधी घुमक्कड (Nomadic) अवस्था मे पुरुष का अलग से न तो कोई यौन वर्चस्व (Sexual Possessivenes) था अथवा न ही निजी सम्पत्ति होती थी। धीरे-धीरे पुरुष कार्यकलापो का क्षेत्र विशिष्ट होता गया और शिकार के साथ-साथ उन्होंने मवेशी-जनन, खान खोदना और व्यापार का काम भी ले लिया। पुरुषो ने क्योंकि धन व सम्पत्ति पर अधिक नियंत्रण प्राप्त कर लिया, वे उन साधनो की तलाश मे लग गए ताकि ये चीजें उनके साथ बनी रहें और उनके बच्चो तक पहुँचें। इसके लिए वे सुनिश्चित करना चाहते थे कि उनकी सन्तानें कौन हो? इस प्रकार मुक्त यौन सम्बन्धो का स्थान एक विवाह प्रथा ने ले लिया। परिवार पुरुष-प्रधान और पितृसत्तात्मक हो गया। श्रम विभाजन का आधार लिंग हो गया और स्त्रिया अधीन हो गईं। इस प्रकार महिला उत्पीडन जैविक न होकर ऐतिहासिक समस्या बन गई। अत: मार्क्सवादी पारिवारिक जीवन पर वर्ग के प्रभाव की बात करते हैं, विशेष रूप से समाजीकरण पर। वे श्रम विभाजन को लिंगीय मानते हैं जो कि सामाजिक रचना है और जो प्रकार्यवादियो की प्रकृतिवादी धारणा के विपरीत है। नारीवादी मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि यौन, प्रजनन, समाजीकरण और आर्थिक क्रियाओं का होना आवश्यक है किन्तु उस प्रकार नहीं कि स्त्री-श्रम का शोषण हो और उन्हें शक्तिहीन बना दिया जाये। इस प्रकार वे (बहुवादी–नारीवादी मार्क्सवादी) विश्वास करते हैं कि भविष्य मे भी परिवार जीवित रहेगा लेकिन परिवर्तन होगें (व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्त्रियों की राजनीतिक आवाज, आदि)। यह दृष्टिकोण राजनीतिक है और महिला मुक्ति इसकी आन्तरिक भावना है। दूसरे शब्दों में परिवार नहीं टूटेगा, यह केवल अपने को अनुकूलित कर लेगा।

संघर्ष (Conflict) परिप्रेक्ष्य में

संघर्ष प्रतिमान भी परिवार को समाज के सुचारु संचालन में केन्द्र बिन्दु मानता है।

सघर्ष सिद्धान्तवादी इस बात की जाँच करते हैं कि परिवार किस प्रकार सामाजिक विषमता को बनाए रखता है। सामाजिक विषमता को बनाए रखने मे परिवार की भूमिका अनेक रूप ले सकती है।

(i) सपत्ति व उत्तराधिकार (Property and Inheritance)— एजिल्स के अनुसार परिवार का उदय इसलिए हुआ है जिससे माता-पिता अपने बच्चो को अपनी सपत्ति का वारिस बना सके।

(ii) पितृसत्ता (Patriarchy)— एजिल्स ने इस बात पर जोर दिया है कि परिवार किस प्रकार पितृसत्ता को बढावा देता है। पुरुष महिलाओ की लैगिकता को नियत्रण मे करके ही यह जान सकते हैं कि उनके वारिस कौन हैं।

(iii) प्रजाति एव प्रजातिकता (Race and Ethnicity)— सजातीय विवाह प्रजातीय एव नृजातीय पदानुक्रम (Hierarchy) को जन्म देते हैं।

सघर्षवादी सिद्धान्त इस बात का भी पता लगाता है कि किस प्रकार परिवार वर्ग नृजातिवाद प्रजातिवाद व लिग के आधार पर विभाजित समाज मे असमानता को बल प्रदान कर स्थाई रूप से उसे बनाए रखता है।

सघर्ष सिद्धान्त पारिवारिक जीवन के एक और पहलू को उजागर करता है— सामाजिक असमानता को बनाए रखने मे उसकी भूमिका।

नारी अधिकारवादी (Feminist) परिप्रेक्ष्य मे

नारी अधिकारवादी परिप्रेक्ष्य समाज व परिवार मे महिलाओ के वशीकरण व उत्पीडन पर जोर देता है।

नारी अधिकारवादी परिवार को महिला उत्पीडन का केन्द्रीय स्थल मानते है। वे मानते हैं कि मार्क्सवाद लैंगिक असमानता की उपयुक्त व्याख्या प्रदान करने मे असफल रहा है। मार्क्सवादियो के इस वादे से कि समाजवाद महिलाओ को मुक्ति दिलाएगा नारी अधिकारवादियो की उपेक्षा कम हुई है। कई नारी अधिकारवादी लेखको का मानना है कि मार्क्सवादी शोषण, उत्पीडन तथा क्रातिकारी परिवर्तनो पर स्वय की स्थिति तथा प्रतिबद्धताओ के साथ सामजस्य स्थापित करने हेतु ही जोर देते है। वे दो मान्यताओ के साथ अपनी बात प्रारभ करते हैं। पहली पुजीवाद एक बुराई है तथा शोषणवादी तत्र है। दूसरी महिलाओ का उत्पीडन व शोषण विशेषकर परिवार मे ही होता है। फिर भी एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य मे विचार करे तो पाएगे कि पारिवारिक जीवन के अनेक पहलू जिन्हे शोषणकारी माना जाता है, केवल पुजीवादी समाजो तक ही सीमित नहीं हैं। नारी अधिकारवादी यह भी मानते हैं कि परिवारो से पुरुषो को ही अधिक लाभ मिलता है महिलाओ को नहीं। पारिवारिक मामलो मे निर्णय लेने मे महिलाओ की भागीदारी न्यूनतम होती है। नारी अधिकारवादियो ने असमान

सत्ता संबधो की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है इनमे पत्नी के साथ मारपीट व दुर्व्यवहार भी शामिल है। नारी अधिकारवादी समाजशास्त्री घरेलू क्षेत्र म परिवारा क अन्दर महिलाओं के अनुभवा का परीक्षण करन मे सफल रहे ह। उन्होने इस कल्पना को चुनौती दी ह कि परिवार एक सहयोगात्मक इकाई है जो समान हितो व परस्पर अवलंब पर आधारित ह।

अन्तर्क्रियावादी (Interactionist) परिप्रेक्ष्य में

अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य परिवार क सदस्यो के बीच की अन्तर्क्रिया से सम्बन्धित है। इसमे यह जानन का प्रयत्न किया जाता है कि परिवार के सदस्य किस प्रकार अन्य सदस्यो की भाषा, तौर तरीके व संकेतो को समझत हैं जो उनक व्यवहार को तथा दूसरों के साथ उनकी अन्तक्रिया को प्रभावित करत है। अन्तर्क्रियावादी परिवार म उत्पन्न तनाव की स्थितियो स मुक्त होन क तरीको पर भी विचार करत हैं।

अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य पारिवारिक जीवन मे सरचना एव भूमिकाओ मे रुचि दर्शाता है कि किस प्रकार ये विविधताए परिवार के सदस्यों के सम्बन्धो को प्रभावित करती ह। यह मुख्यत इस तथ्य मे रुचि दर्शाता है कि किस प्रकार ये विविधताए परिवार के सदस्यो के सम्बन्धो को प्रभावित करती ह। अन्तर्क्रियावादी समाजशास्त्रियो के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु यह होता है कि किस सीमा तक पति-पत्नी, माता-पिता-बच्चे, सास-ससुर बहू संबधो ने समकालीन परिवारों मे एकता बनाये रखने के लिए एक कार्य प्रणाली का विकास किया है। कार्य प्रणाली के वर्णन मे यह खोजने का प्रयत्न रहता है कि व्यक्तिगत सामंजस्य के लिए अन्तर्क्रिया के कौन-कौन से पक्ष आवश्यक हैं जैसे—संयुक्त निर्णय लेना तथा एक-दूसरे की भावनाओं और आकाक्षाओं का सम्मान करने की आवश्यकता।

संरचनावादी (Structuralist) परिप्रेक्ष्य

सरचनावादी परिप्रेक्ष्य मे परिवार को एक विशेष समय पर अन्त: सम्बन्धित प्रस्थितियों तथा भूमिकाओ की सरचना के सम्बन्ध मे तथा इसका अपने सदस्यो के प्रति सुगठित अधिकारों व दायित्वों के अन्तःसम्बन्धो की सरचना के रूप मे देखा जाता है। सभी समाजों मे प्रस्थितियाँ सार्वभौमिक हैं जैसे—माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची आदि। और परिवार के सदस्यो की भूमिकाओ मे जो अन्तर व भिन्नता मिलती है वह इन्हीं प्रस्थितियो के कारण होती है।

उत्तर-आधुनिक परिप्रेक्ष्य (The Postmodern Family) में

मॉर्गन का मानना है कि परिवार के अध्ययन मे ध्यान पारिवारिक रीतियों पर केन्द्रित होना चाहिये न कि परिवार को संरचना पर। पारिवारिक रीतियों का सम्बन्ध परिवार वास्तव में क्या करता है, इससे रहता ह। मॉर्गन मानते हैं कि परिवार के रहन-

सहन के अध्ययन के आधुनिक उपगमन अब पुराने हो गए हैं। मॉर्गन ने परिवार के अध्ययन का एक ऐसा उपगमन विकसित किया है जिसमें उत्तर-आधुनिकता शामिल नहीं है।

अमेरिकन समाजशास्त्री जूडिथ स्टेसी (Judith Stacey) ने वर्ष 1996 मे परिवार की संस्कृति के प्रतियोगी उभयभावी व अनिर्धारित लक्षणों की ओर संकेत करने हेतु 'उत्तर-आधुनिक परिवार' शब्द विकसित किया है। द्रुत गति से बदलते विश्व का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए परिवार द्वारा भविष्य मे उपयोग की जाने वाली रणनीतियों को स्टेसी ने चिह्नित किया है तथा इस संबंध में रोचक संभावनाओं को भी प्रस्तुत किया है। जूडिथ ने 'उत्तर आधुनिक परिवार' नामक पुस्तक मे पारिवारिक जीवन के उभरते हुए नये स्वरूपों मे कामकाजी और मध्यम वर्ग की महिलाओ की समस्याओं को भी उजागर किया है।

ब्रिटिश समाजवादी एथनी गिडेन्स ने कहा है कि घनिष्ठ संबंधों मे अत्यधिक परिवर्तन हुआ है। परिवर्तनीय लैंगिकता (Plastic Sexuality) का विकास हुआ है। परिवार के सदस्यों में अब खुलापन आया है तथा वे एक दूसरे का ध्यान रखने लगे हैं जिससे अब किसी एक साथी का प्रभावशाली होना कठिन हो गया है। वे अब उन्हे जन्म से मिली भूमिकाओं के साथ बंधे नहीं रहे हैं तथा परम्पराओं के आदेशों के बंधन भी तोड चुके हैं।

परिवार : आलोचनात्मक दृष्टिकोण (Critical View of the Family)

परिवार एक लचीली सामाजिक इकाई है जो बदलते परिवेश से अनुकूलन करती जा रही है। फिर भी कुछ विद्वान इसके भविष्य को लेकर चिन्तित हैं और निराशाजनक दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। यहाँ तक कि इसे शोषणमूलक और दिवालिया संस्था भी कहा गया है। इस संबंध में निम्नांकित दृष्टिकोण उल्लेखनीय हैं।

(अ) परिवार की मृत्यु (The Death of the Family)— डेविड कूपर (David Cooper) की पुस्तक 'द डेथ ऑफ द फेमिली' में एक संस्था के रूप मे परिवार की निंदा की गई है। वे मानते हैं कि परिवार अपने सदस्यों को भूमिकाएं सौंपने मे माहिर होते हैं न कि उन्हे अपनी पहचान बनाने हेतु स्थितियां पैदा करने मे। बच्चों को पुत्रों व पुत्रियों, नर व मादा की भूमिकाएं निर्वाह करना सिखाया जाता है। परिवार व्यक्ति को शोषण करने वाले समाज में उनकी भूमिका का निर्वहन करने हेतु तैयार करता है। बच्चे को मुख्य रूप से यह नहीं सिखाया जाता कि समाज में अपना अस्तित्व किस प्रकार बनाए रखा जाए किन्तु यह सिखाया जाता है कि समाज के सामने कैसे झुका जाए। शिष्टाचार, संगठित खेल, जीने के यांत्रिक विकल्प आदि बच्चों की सहज सृजनात्मकता, कल्पनाओं का स्थान ले लेते हैं। प्रत्येक बालक

में संभावनाए होती हैं किन्तु उन्हे परिवार मे कुचल दिया जाता है। विकास के अवसरो को समाज की आवश्यकताओ के अनुसार झुकाकर दबा दिया जाता है। परिवार बच्चे के समाजीकरण के नाम पर उस पर सामाजिक नियत्रण लाद देता है।

(ब) पलायनवादी विश्व (A Runaway World)— अपने "अ रनअवे वर्ल्ड" अध्ययन मे एडमण्ड लीच (Edmund Leach) ने परिवार का एक निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार एकाकी परिवार अपने रिश्तेदारो व विस्तृत समुदाय से कटा रहता है। घरेलू कुटुंब अलग-थलग पड जाता है। परिवार अपने अदर ही देखने लगता है। पति व पत्नी तथा माता पिता व बच्चो के बीच सवेगी तनाव दृढ होता जाता है। लीच के शब्दो मे "माता-पिता बच्चों के विद्रोह से लडते रहते हैं।" अलग-थलग पडने के कारण परिवार के सदस्य एक-दूसरे से कुछ ज्यादा ही अपेक्षा रखते हैं। परिणाम सघर्ष मे होता है। ये समस्याए परिवार तक ही सीमित नहीं रहतीं। परिवार मे उत्पन्न तनाव व शत्रुता की प्रतिध्वनि सपूर्ण समाज मे गूजती है। लीच ने कहा है कि एक अच्छे समाज का आधार बनने के स्थान पर परिवार अपने सकीर्ण एकान्तता व भद्दी गोपनीयता के कारण सभी असतोषों का स्रोत बन गए हैं।

(स) परिवार की राजनीति (The Politics of the Family)— अपनी पुस्तक "पॉलिटिक्स ऑफ द फेमिली" में आर डी लॉग (R D Laing) ने एक सुखी परिवार के प्रकार्यवादी चित्र का एक मूलभूत विकल्प प्रस्तुत किया है। वे परिवार के अन्दर की अत:क्रिया मे तथा उस सबध मे दिलचस्पी रखते हैं। लॉग परिवार को अत:क्रिया के दृष्टिकोण से देखते हैं। वे परिवार के सगूह को अतर्सम्बन्ध के रूप मे मानते हैं। अन्तर्सम्बन्धो के अन्दर अंत:क्रिया, पारस्परिक आतरिकीकरण विकसित करती है। लॉग आतरिकीकरण की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हानिकारक मानते हैं। क्योंकि यह 'स्व' के विकास मे बाधक होती है। यह व्यक्ति के स्वय के विकास को रोकती है। परिवार की छाया मे स्वय के बारे में जागरूकता कुंठित हो जाती है। परिवार का प्रत्येक सदस्य दूसरा क्या सोचता है, क्या महसूस करता है, क्या करता है इसमें ही दिलचस्पी रखता है। परिणामस्वरूप नुकसान होने की संभावना बढ जाती है। परिवार के सदस्य अत्यधिक असुरक्षित स्थिति मे रहते हैं। लॉग मानते हैं कि परिवार की समस्याए समाज मे समस्याएं पैदा कर देती हैं। परिवार के अंदर बच्चे अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना सीखते हैं। बचपन के प्रारंभ में ही आज्ञापालन के पेटर्न उनके व्यवहार मे इस प्रकार बैठ जाते हैं कि वे ही आगे के जीवन मे सत्ता के आज्ञा पालन का आधार बन जाते हैं। लॉग मानते हैं कि बिना पारिवारिक आज्ञा पालन के प्रशिक्षण के लोग आदेशो को चुनौती देंगे, वे स्वयं के निर्णयो के अनुसार चलेंगे तथा स्वयं अपने निर्णय लेंगे। पारिवारिक जीवन

को निराशावादी दृष्टिकोण में प्रस्तुत करने के बावजूद लाग एक साक्षात्कार म कहते हैं, "मुझे परिवार मे रहकर खुशी होती है। मैं सोचता हूँ कि परिवार अभी भी जैविक रूप में प्राकृतिक वस्तु के रूप मे अस्तित्व में रहने वाली सबसे अच्छी वस्तु है। मैंने परिवार पर जो प्रहार किया है उसका लक्ष्य वह हिंसा तथा दुर्व्यवहार है जो वयस्को द्वारा अनेक बच्चो पर किया जाता है। वयस्को को वे क्या कर रहे हैं इसका ज्ञान भी नहीं होता है।'

(द) समाज विरोधी परिवार (The Anti-social Family)— माइकेल बैरेट और मेरी मितकोप यह मानती हैं कि परिवार न केवल दमनकारी है अपितु यह एक समाज विरोधी सस्था है। केवल इसलिए नही कि ये महिलाओ का शोषण करते है व पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाते हैं बल्कि इसलिए कि परिवार की विचारधारा परिवार के बाहर के जीवन को नष्ट कर देती है। अन्य सस्थाओ जैसे वृद्धाश्रम, बाल आश्रम के जीवन परिवार के जीवन की तुलना मे अर्थहीन प्रदर्शित किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भी परिवार की आलोचना की गई है जैसे—

"परिवार पूँजीवाद समाज का अवलम्ब है।" जरेस्की, (केपिटालिज्म द फेमिली एण्ड पर्सनल लाइफ , 1976)

आधुनिक समाज मे परिवार सस्था का अब आर्थिक शैक्षिक मनोरजन तथा धार्मिक क्षेत्रो मे काम करने का उतना उत्तरदायित्व नही है, जो उसके ऊपर पूर्व मे था। फिर भी परिवार आज भी अस्तित्व में है क्योंकि यह अन्य महत्वपूर्ण कार्य— प्रजनन, लैंगिक गतिविधिया को नियत्रित करना, बच्चा का समाजीकरण परिवार के सदस्यो को सस्थिति, स्नेह व सहचर्य प्रदान करना आदि सम्पन्न करता है। यह कथन कि परिवार का अन्त हो रहा है, सही नहीं है। किसी अन्य सस्था के समान ही परिवार तब तक बना रहेगा जब तक वह व्यक्ति तथा समाज की समस्याओ का समाधान करता है।

बदलता परिदृश्य (Changing Scenario)

(1) सामाजिक सरक्षणवादी परिवार की एकात्मकता को कमजोर बनाने के लिए स्वार्थ मे वृद्धि को एक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। वहीं आनुभविक अध्ययन है कि परिवार का नेटवर्क अभी भी शक्तिशाली है। परिवार के सदस्यो के बीच दूर रहने के बावजूद सपर्क बना रहता है। ये सपर्क बताते हैं कि परिवार के सदस्यो के बीच भावनात्मक बधन अभी भी विद्यमान हैं। परिवार के सदस्यो मे व्यवहारिक सहायता नेटवर्क भी विद्यमान हैं। यद्यपि कुछ अधिक जटिल परिवारो मे सबधो के बारे मे सदिग्धता बढती जा रही है किन्तु परिवार के महत्व के सबध मे परपरागत भावनाओ की सतत प्रबलता को मान्यता मिलती है।

(2) परिवार में दो भिन्न प्रकार के संबंध होते हैं- –प्रेम व सत्ता। ये दोनों विरुद्ध प्रवृत्तियां हैं। जब पूर्णतः प्रेम होता है तब एक व्यक्ति की आवश्यकताएं दूसरे व्यक्ति के लिए केन्द्र बिन्दु बन जाती है किन्तु जब सत्ता की झलक भी दिखती है तब प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार मांगने लगता है स्वयं के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु ही जूझता है तथा स्वयं के विशेषाधिकार हेतु लड़ता है। उसकी कुछ मांगें ऐसी भी होती हैं जिनकी पूर्ति हेतु किसी अन्य व्यक्ति को त्याग करना पड़ता है। फिर भी शायद परिवार में कर्त्तव्य को जितना महत्त्व होता है उतना किसी अन्य संस्था में नहीं होता। परिवार में व्यक्ति की प्रतिबद्धताएं होती हैं वह अन्यों के दायित्व अपने ऊपर लेता है तथा उन्हें पूरा भी करता है चाहे ऐसा करने में उसे कोई आनंद न भी मिले। परिवार का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य पर निर्भर रहता है। यह निर्भरता जीवन चक्र के विभिन्न सोपानों में भिन्न भिन्न रहती है। कभी कभी यह अत्यधिक होती है तो कभी नाम मात्र की।

(3) गर्भ निरोधकों के विकास के साथ अब यह संभव हो गया है कि बिना प्रजनन के भय के लैंगिक संबंध का आनंद लिया जा सकता है। इससे लैंगिक दृष्टि से नैतिक स्थिति में बदलाव आ गया है। एक ऐसी परिस्थिति निर्मित हो गई है जिसके लिए परंपरागत मानदंड नहीं बनाए गए थे।

(4) चिकित्सा विज्ञान, स्वच्छता आदि के कारण लोगों का जीवन काल बढ़ गया है। अब जन्म के बाद अधिक शिशु बचने लगे हैं तथा समाज के लिए नई पीढ़ी निर्माण करने हेतु अधिक बच्चों को जन्म देने का लोगों का दायित्व समाप्त हो गया है। यह एक नई नैतिक स्थिति है और इसके लिए नये समाधान खोजने की आवश्यकता है।

(5) आजकल दोहरी आय, एक बच्चे वाला परिवार (Double Income Single Kid) का अत्याधिक प्रचलन है इसके निम्न कारण हैं —

- अपने पेशे की चिन्ता कामकाजी महिलाओं को विवाह तथा पालकत्व को तब तक स्थगित करने को बाध्य करती हैं, तब तक उनकी आयु लगभग 30 वर्ष तक हो जाती है। बढ़ती आयु के कारण उनके पास एक से अधिक बच्चे के पालने हेतु समय नहीं होता।
- शहरों में खर्च तथा बच्चों की अच्छी शिक्षा की बढ़ती लागत के कारण आजकल दंपती एक ही बच्चा पैदा करना पसन्द करते हैं।
- इकलौते बच्चे पर ध्यान अधिक केन्द्रित किया जा सकता है तथा उनकी अच्छी परवरिश हो सकती है।

- इकलौते बच्चे अपने माता-पिता के साथ अधिक अतक्रिया करते ह। सहोदरो की अनुपस्थिति मे इकलाते बच्चो का अपने माता पिता के साथ बधन अधिक अटूट रहता ह।
- सहोदरो की कमी को पूरा करने के लिए इकलाते बच्चे आसानी से मित्र बना लेते ह।
- इकलौते बच्चे जब उनके माता पिता कार्य पर जाते ह, तब घर म अकेले रहते ह। स्वाभाविक ह कि वे स्वय ही मनोरजन करा सीख जाते हे। अकेले कार्यों मे जेसे पढना, चित्रकला सगीत आदि मे घण्टो आनन्द के साथ व्यतीत करते हे।

(6) परिवार भी अनेक प्रकार से पुन. परिभाषित हो रहे ह। शहरी भारत मे आज अनेक प्रकार के परिवार पाए जाते ह एक पालक वाला परिवार, दोहरी आय बिना बच्चो वाला परिवार, एक बच्चे वाला परिवार, दोहरी आय एक बच्चे वाला परिवार आदि। इन नए प्रकार क सबधो मे परिवार अब सर्वव्यापी इकाइ नही रह गया हे। परिणामस्वरूप मित्रता ने अब अधिक बडी भूमिका प्राप्त कर ली ह जो व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओ को प्रभावित करती हे। वतमान समय मे जब लोग अपनी स्वतत्रता को अधिक महत्व देत हैं मित्रनाए अधिक मुक्ति देने वाली तथा परिवार की अपेक्षा अधिक समझ व अनुकपा देने वाली बनती जा रही ह। मित्रता म न किसी प्रकार का पदानुक्रम होता ह न आलोचना आर न ही विवशताए।

तेजी से परिवतित हा रहे इक्कीसवी सदी के भारत मे दो पीढियो के बीच का मतातर कुछ अधिक ही बढ रहा ह जिसके कारण पालको के साथ सम्प्रेषण तथा कभी कभी परिवार के धागे को सुरक्षित रखना कठिन हो जाता है। पारिवारिक सबधो मे जो पाबदियाँ व निरोध होते हे वे मित्रो के साथ सबधो मे नहीं होते। पारिवारिक सबध पूर्व के भावनात्मक बोझ से जैसे झगडे गलतफहमियाँ आदि से दबे होते हें। दूसरी ओर मित्रताए अपेक्षाकृत ऐसे बोझो से मुक्त होती ह। व्यक्ति मित्रो का चयन कर सकते हे तथा वे विश्व भर मे फेले होते है।

फिर भी अधिकतर लोग हे जो सहज वृत्ति से यह अनुभव करते हें कि मित्रता की बढती भूमिका के बावजूद भी परिवार को अभी ग्रहण नहीं लगा ह। यह तथ्य कि मित्रताए अब पारिवारिक हो रही हैं, वे नातेदारी का रूप ले रही हे, परिवार की श्रेष्ठता प्रदर्शित करता हे। क्या मित्रता वास्तव मे परिवार का स्थान ले रही हे अथवा क्या हम परिवार व मित्र, दोनो ही धारणाओ की पुन व्याख्या कर रहे हैं, जिससे दोनो को विभाजित करने वाली रेखाए आर भी धूमिल हो जाए?

इक्कीसवीं सदी में परिवार (Families in the Twenty First Century)

हाल के कुछ दशको मे सारे विश्व मे परिवार मे परिवर्तनो के कारण एक नया विवाद

उत्पन्न हो गया है। वर्तमान मे उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर हम भविष्य के पारिवारिक जीवन के सबध मे पाच भविष्यवाणिया कर सकते हैं:—

(i) आर्थिक परिवर्तन परिवार मे सुधार लाते रहेंगे। अनेक परिवारो मे आर्थिक सुरक्षा के लिए पति-पत्नी दोनो को कार्य करना अनिवार्य होगा।

(ii) पारिवारिक जीवन मे विभिन्नताए आएगी। यह आधुनिकता मे भी आगे बढ जाएगा। बिना विवाह के साथ रहने वाले जोडे, एक पालक वाले परिवार, समलैंगिक परिवार, मिश्रित परिवार आदि की सख्या मे वृद्धि होगी। फिर भी अधिकाश परिवार विवाह पर आधारित ही होंगे तथा अधिकाश दम्पती सतानोत्पत्ति करेंगे।

(iii) बच्चो के पालन पोषण के सबंध मे पुरुषो की भूमिका मे परिवर्तन आएगा।

(iv) प्रजनन की नई तकनीक का महत्त्व बढेगा। प्रजनन की नई विधियो के कारण पालकत्व (Parenthood) का पारपरिक अर्थ बदल जाएगा।

(v) तलाक की दर बढ जाएगी। अपनी अपेक्षाओ के अनुरूप विवाह सबध न चलने से अधिक से अधिक दम्पती विवाह-विच्छेद करना पसद करेंगे। फिर भी तलाक की दर मे वृद्धि इतनी खतरनाक नहीं है जितना परिवार के रूप मे परिवर्तन। *क्योकि अधिकांश तलाकों के बाद पुनर्विवाह होते रहेंगे तथा* इस विचार को कि विवाह सस्था कालबाह्य अथवा अप्रचलित हो गई है, को विराम लगेगा।

15

विवाह

(Marriage)

विविध सस्थाओं के अध्ययन के लिए विविध विज्ञान पृथक सन्दर्भों के ढाचो का प्रयोग करते हैं। सामाजिक वैज्ञानिको ने भी विवाह सस्था की कल्पना विविध प्रकार से की है। विवाह के सम्बन्ध मे प्रचलित विचार यह है कि यह स्त्री पुरुष के बीच का सयोग है। लॉवी (Lowie) मरडॉक (Murdock) तथा वेस्टरमार्क (Westermarck) जेसे मानवशास्त्रियो ने इस सयोग मे सामाजिक स्वीकृति पर बल दिया है और इस तथ्य पर भी कि यह विविध सस्कारा एव समारोहो द्वारा किस प्रकार सम्पन्न होता है। ब्लड लाज और स्नाइडर वोमन बावर ओर बर्गेस जैसे समाजशास्त्रियों का विचार है कि विवाह प्राथमिक सम्बन्धो की भूमिकाओ का एक तत्र है। भारतशास्त्री (Indologists) विवाह को एक सस्कार या एक धर्म मानते हैं। परम्परागत एव आधुनिक हिन्दू विवाह व्यवस्था का अध्ययन करने से पूर्व हम विवाह की अवधारणा एव सामाजिक महत्व को समझने का प्रयत्न करेंगे।

विवाह की अवधारणा (Concept of Marriage)

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है या यह कहा जा सकता है कि जीवन अनेक भूमिकाओ का एक सयोग है जिन्हे विविध सस्थाओ के परिवेश मे निभाना होता है। विविध भूमिकाओं मे दो भूमिकाए अहम् हैं— एक है आर्थिक भूमिका और दूसरी है वैवाहिक या परिवार की भूमिका। प्रथम

भूमिका नि:सदेह ही प्रमुख ह क्योकि व्यक्ति अपने जीवन का एक बडा भाग इसी भूमिका में लगाता है। मान ले कि व्यक्ति अपना जीविकोपाजन 20 से 24 वर्ष की आयु मे प्रारम्भ करता है और 60 वर्ष की आयु तक निरन्तर इस कार्य मे व्यस्त रहता है तथा नित्य आठ या दस घण्टे अपने काम पर खर्च करता ह, तो हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारी आर्थिक भूमिका हमारा कितना समय लेती ह। ववाहिक भूमिका मे भी जीवन के चालीस से पचास वर्ष व्यतीत होत हैं। किन्तु इन दानो भूमिकाओं मे से आर्थिक भूमिका की अपेक्षा ववाहिक भूमिका ही अहम ह, क्योकि आर्थिक भूमिका मे द्वितीयक सम्बन्ध सम्मिलित होते ह और ववाहिक भूमिका म प्राथमिक सम्बन्ध।

प्राथमिक सम्बन्ध आवश्यक रूप से असीमित, विशिष्ट, भावात्मक, परमार्थवादी, एव शाश्वत (Spontaneous) होते हैं। दूसरी ओर द्वितीयक सम्बन्ध प्रारम्भिक रूप से सीमित मानवीकृत (Standardized) भावना विरहित (Unemotional), उपयोगितावादी और सविदात्मक (Contractual) होत ह। विवाह के प्राथमिक सम्बन्ध अन्य प्राथमिक समूहो जस मित्र समूह, पडोस, गाँव, आदि के प्राथमिक सम्बन्धो से भिन्न होते ह, क्योंकि ववाहिक सम्बन्ध यान सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विवाह मे प्राथमिक सम्बन्ध दो महत्वपूर्ण कार्य करते ह, आवश्यकता पूर्ति तथा सामाजिक नियत्रण। यह व्यक्ति की जविक (यान सन्तुष्टि), मनोवैज्ञानिक (स्नेह और सहानुभूति) और आर्थिक (भोजन, वस्त्र एव निवास) आवश्यकताओ की पूर्ति करता है तथा नेतिकता एव नीतिशास्त्र के प्राथमिक स्रोत का कार्य करता ह। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि उसका जीवन साथी उसके लिए कोई कार्य कर रहा ह, तो वह सोचता है कि यह उसका नैतिक दायित्व है कि वह उसकी देखभाल करे या उसकी बात सुने। अत: कोई भी व्यक्ति अनतिक तथा उत्तरदायित्वहीन बनने के लिए स्वतंत्र नहीं है।

'विवाह' का अध्ययन करते समय एक समाजशास्त्री इसमे निहित केवल प्राथमिक सम्बन्धो का विश्लेषण ही नहीं करता, बल्कि इसका भी करता है कि किस प्रकार विवाह मे नयी और विभिन्न भूमिकाए सम्मिलित हे, क्या उन भूमिकाओं में लिप्त व्यक्ति उनके योग्य हैं या नहीं, तथा उन भूमिकाओ को निभाने की अपर्याप्तता से किस प्रकार परिवार का विघटन होता है। विवाह मे महत्वपूर्ण बात यह ह कि किस प्रकार एक साथी का भूमिका निर्वहन दूसरे साथी की अपेक्षाओं के कितना अनुकूल हे (ब्लड, 1960 189)। विवाह का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य भूमिकाओं की व्यवस्था (System of Roles) पर केन्द्रित है।

कूस (Koos, 1953 44) के अनुसार विवाह एक विभाजन रेखा है जो कि जनक परिवार (Family of Orientation) तथा जनन परिवार (Family of

Procreation) के बीच दोनों परिवारों में व्यक्ति की भूमिका के सन्दर्भ में खींची गई है। जनक परिवार में भूमिकाएं शैशव, बचपन तथा किशोरावस्था में बदलती रहती हैं तथा उनमें उत्तरदायित्व या दायित्व बोध नहीं होता किन्तु जनन परिवार में भूमिकाएं विवाह के बाद पति के रूप में, पिता के रूप में, धन अर्जनकर्ता के रूप में, पितामह के रूप में तथा अवकाश प्राप्त व्यक्ति के रूप में विविध अपेक्षाओं एवं दायित्वों वाली होती हैं।

विभिन्न भूमिकाओं से आलिप्त जनक परिवार तथा जनन परिवार में विविध अवस्थाएं
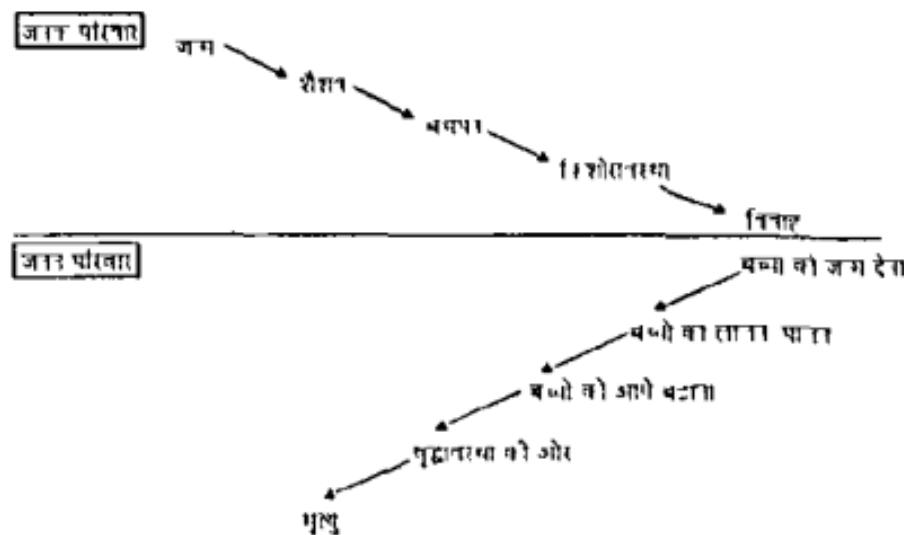
इस प्रकार विवाह सामाजिक तन्त्र का सूक्ष्म रूप है जिसे सन्तुलन में रहना चाहिए अन्यथा सब कुछ बिखर सकता है। सन्तुलन के लिए समायोजन की आवश्यकता होती है जो आदान प्रदान पर आधारित होता है या पति व पत्नी दोनों से ही त्याग की अपेक्षा रखता है। यह एक सुगम व्यवस्था है। सन्तुलन बनाए रखने के लिए किसी को तो कुछ कार्य करने ही होंगे, जैसे खाना बनाने का, सफाई, कपड़े धुलाई, धन कमाने, बच्चों की देखभाल, आदि का। कौन क्या भूमिका निर्वाह करता है, यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि विवाह के स्थायित्व के लिए कौन भूमिका निभा रहा है।

विवाह में साधक (Instrumental) तथा एकीकृत (Integrative) नेतृत्व निहित होता है। साधक नेता कार्य को करने से सम्बन्ध रखता है तथा समूह को लक्ष्य प्राप्ति की ओर ले जाता है। एकीकृत नेता समूहों को एकीकृत रखने में लगा रहता है। इस प्रकार दोनों भूमिकाएं परस्पर विरोधी हैं, फिर भी एक दूसरे की पूरक हैं। समाजशास्त्री विवाह के अन्तर्गत इन्हीं भूमिकाओं का अध्ययन करते हैं।

विवाह में अभिप्रेरणाएं (Motivations in Marriage)

सभी भूमिकाओं के पीछे कुछ अभिप्रेरणाएं होती हैं। विवाह के पीछे क्या अभिप्रेरणा है? यह मान्यता है कि प्रारम्भिक काल में व्यक्ति विवाह इसलिए करता था क्योंकि जीवनयापन की समस्या उसके सामने थी। आर्थिक कारणों से मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता होती थी, जो न केवल उन्हें काम में मदद करें, बल्कि जब माता पिता कार्य करने योग्य नहीं रहें तब बच्चे उनके काम आ सकें। उन्हें खेती पर काम करने के लिए अधिक स्त्रियों की आवश्यकता होती थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक काल में विवाह में प्रेम और सहयोग नहीं था और केवल व्यावहारिक कारण ही अधिक महत्वपूर्ण थे। बोमैन (Bowman) के अनुसार विवाह के मूलभूत उद्देश्य हैं : यौन सन्तुष्टि, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता, सामाजिक स्थिति और सम्मान, तथा आर्थिक सुरक्षा एवं संरक्षण। पोपनो (Popenoe, 1951) ने विवाह के पाँच तत्व बताए हैं— यौन इच्छा, श्रम विभाजन, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता तथा आर्थिक सुरक्षा। बोमैन ने व्यक्तित्व सन्तुष्टि को विवाह का उद्देश्य नहीं माना है। वे कहते हैं कि यह विवाह का उद्देश्य नहीं बल्कि प्रतिफल है।

मजूमदार (1944 : 78) के अनुसार यद्यपि नियमित तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सन्तुष्टि विवाह का मूल कारण है, फिर भी यह एकमात्र और अन्तिम कारण नहीं है। उन्होंने सेमा नागाओं का उदाहरण दिया है जिसमें एक बच्चा अपने पिता की विधवाओं (अपनी माँ के अलावा) से विवाह कर लेता है ताकि उसको सम्पत्ति पर अधिकार कर सके, क्योंकि उनके जनजातीय रिवाजों के अनुसार पुरुष की विधवा सम्पत्ति की अधिकारी होती है, न कि बच्चे। इस प्रकार मजूमदार की मान्यता है कि विवाह के उद्देश्य हैं : यौन सन्तुष्टि, बच्चों के लालन पालन की विश्वसनीयता सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति का संक्रमण, आर्थिक आवश्यकताएं तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकार।

आज जब 'परम्परागत' समाज 'आधुनिक' समाज में बदल रहा है, विवाह के लिए इन व्यावहारिक कारणों का महत्व कम होता जा रहा है। आज विवाह के जो प्रेरक कारक माने जा रहे हैं, वे हैं एकाकीपन की भावना से छुटकारा तथा दूसरों के माध्यम से जीवित रहने का उद्देश्य। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि आज विवाह का प्रमुख उद्देश्य मित्रता या सहयोग प्राप्ति होता है। यौन सन्तुष्टि इसके क्षेत्र से परे नहीं है परन्तु यह अब मित्रता की अपेक्षा गौण हो गया है।

परम्परागत हिन्दू समाज में विवाह के उद्देश्य निम्न माने जाते थे: धर्म, प्रजा, तथा रति। इनमें से धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, तत्पश्चात, सन्तानोत्पत्ति तथा यौन सन्तुष्टि को। दफ्तरी (Daftri, 1948 47) ने भी कहा है कि यौन आनन्द हिन्दू विवाह का मात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। प्रमुख उद्देश्य था धर्म अर्थात कर्तव्य पालन। इस प्रकार हिन्दू विवाह में व्यक्ति की रुचि का कम महत्व था। विवाह समुदाय तथा परिवार के प्रति सामाजिक कर्तव्य समझा जाता था।

हिन्दू विवाह—एक धार्मिक संस्कार (Hindu Marriage—A Sacrament)

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो कि धर्म के निर्वाह के लिए किया जाता ह न कि आनन्द के लिए। हिन्दू विवाह को पवित्र मानने के कई कारण दिए जा सकते हैं — (1) धर्म (धार्मिक कृत्यों की पूर्ति) हिन्दू विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य था, (2) धार्मिक संस्कारों को पूरा करना, जैसे यज्ञ, कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि (3) संस्कार अग्नि के समक्ष किए जाते थे जिनमे ब्राह्मणों द्वारा वेदो से मंत्रोच्चार किया जाता था (4) विवाह बन्धन अटूट समझा जाता था तथा पति-पत्नी मृत्यु पर्यन्त ही नहीं अपितु मृत्यु के उपरान्त भी परस्पर बन्धनयुक्त रहते थे (5) यद्यपि पुरुष अपने जीवन मे अनेक धार्मिक संस्कारो की पूर्ति करता था, किन्तु स्त्री के लिए विवाह ही एक मात्र संस्कार था इसीलिए स्त्री के लिय यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था (6) स्त्रियों के कौमार्य (Chastity) तथा पुरुषो की वफादारी पर बल दिया जाता था (7) विवाह परिवार तथा समुदाय के प्रति एक सामाजिक कर्तव्य माना जाता था तथा व्यक्तिगत रुचियों और आकांक्षाओं पर विचार कम किया जाता था।

गत कुछ दशको म हिन्दू विवाह अनेक परिवतनो के बीच मे गुजरा है, तो क्या यह अब भी पवित्र है या इसे भी एक समझौता माना जाए? हिन्दू विवाह म हुए दो महत्वपूर्ण परिवर्तन ये हैं कि आज युवा वग धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए विवाह नहीं करते, वरन् मित्रता क लिए करते हैं और विवाह बन्धन अब अटूट नहीं रह गए ह, क्योंकि तलाक वैधानिक एव सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुका है। विद्वानों का मत है कि तलाक की अनुमति में विवाह की पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पडा है, क्योंकि तलाक अन्तिम उपाय के रूप मे ही प्रयोग होता है न कि पुनर्विवाह के रूप में। इसी प्रकार यद्यपि विधवा विवाह को मान्यता प्रदान कर दी गई है किन्तु ऐसे विवाह विस्तृत रूप मे प्रचलित नहीं हैं। परस्पर विश्वास तथा जीवन साथी के प्रति प्रतिबद्धता आज भी विवाह के मूल तत्व माने जाते ह। जब तक विवाह केवल यौन सन्तुष्टि के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता रहेगा, बल्कि 'साथ रहने तथा 'सन्तान प्राप्ति' के लिए किया जाएगा, तब तक विवाह हिन्दुओ के लिए धार्मिक पवित्र संस्कार बना रहेगा। विवाह म स्वतंत्रता (साथी के चुनाव की) विवाह मे स्थायित्व को दृढ बनाती हैं, न कि नष्ट करती है तथा वैवाहिक व्यवहार को शुद्ध बनाती है। कापडिया (1972 : 197) ने भी कहा है विवाह अभी भी धार्मिक संस्कार के रूप में जारी है केवल नैतिक स्तर ऊंचा उठा है।

विवाह के प्रकार (Types of Marriage)

प्रारम्भिक काल मे हिन्दू समाज मे पत्नी प्राप्त करने के आठ तरीके बनाए गए थे जिनमे से चार उचित व वांछनीय (धर्म्य) समझे गये जिनको पिता/परिवार की अनुमति प्राप्त थी, तथा अन्य चार अवांछनीय (अधर्म्य) माने गए जिन्हें परिवार तथा पिता की

स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। स्मृतियों द्वारा मान्यता प्राप्त उपयुक्त विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष, तथा प्राजापत्य थे, जबकि चार अवांछनीय विवाह थे : असुर, राक्षस, गान्धर्व तथा पैशाच।

'ब्राह्म' विवाह माता-पिता द्वारा निश्चित किया जाता है। विवाह संस्कार ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न तथा पिता द्वारा वर को कन्या वस्त्र, अलंकार आदि के साथ दहेज के रूप में दी जाती है। 'देव' विवाह में कन्या के पिता द्वारा यज्ञ की व्यवस्था की जाती है और जो ब्राह्मण उसे उचित ढंग से पूरा करता था, उसी को दक्षिणा के स्थान पर कन्या अलंकृत कर के दी जाती है। 'आर्ष' विवाह में कन्या का पिता वर से गाय या बैल के रूप में कुछ भेंट लेकर उसे कन्या दे देते थे। यह मात्र एक संस्कार का रूप होता है। 'प्राजापत्य' विवाह में यद्यपि माता-पिता की अनुमति आवश्यक है, किन्तु कोई संस्कार सम्पन्न नहीं होता है। 'असुर' विवाह में कन्या के पिता को वर द्वारा मूल्य दिया जाता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। यह एक प्रकार का आर्थिक अनुबन्ध होता है। 'गान्धर्व' विवाह में न तो माता-पिता की सहमति की आवश्यकता है और न संस्कारों या दहेज आदि की। इसे प्रेम विवाह भी माना जाता है। इसमें दोनों पक्षों की इच्छा को ही महत्व दिया जाता है। यौन सन्तुष्टि ही इसमें अधिक महत्व की बात है। 'राक्षस' विवाह में कन्या या उसके माता पिता की सहमति के बिना कन्या को छीन कर या कपट से विवाह कर लिया जाता है। ये विवाह तब किये जाते थे जब समूहों में संघर्ष एवं जन-जातीय युद्ध आम बात थी। उस समय जीते हुए राजा पराजित राज्यों से अनेक सुन्दर कन्याओं का हरण कर लेते थे तथा उन्हें रखैलों के रूप में रखते थे। 'पैशाच' विवाह में सोई हुई, उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा राह में अकेली जाती हुई लडकी के साथ यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक कुकृत्य करके बाद में उससे विवाह कर ले, तब ऐसे विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं।

उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों में से 'ब्राह्म' विवाह सर्वोत्तम समझा जाता है जिसमें कन्या एक योग्य व उसी जाति या समान स्थिति वाली जाति के 'वर' को दान में दी जाती है। इस विवाह में वर व कन्या दोनों की परिपक्वता अपेक्षित होती हैं और दोनों में परस्पर सहमति होती है। इनके अतिरिक्त 'एक विवाह' का प्रचलन भी था जिसे एक पति-पत्नी विवाह कहा जाता था। यद्यपि आदिकाल व मध्य युग में कुछ बहु-पत्नी विवाह के उदाहरण भी मिलते हैं। महाभारत में द्रौपदी के बहुपति विवाह का एक उदाहरण भी मिलता है।

बहुपत्नी विवाह (Polygyny)

एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने को बहुपत्नी विवाह कहा जाता है। बहुपत्नी विवाह सशर्त (Conditional) या अप्रतिबन्धित (Unrestricted) हो सकता है। प्रारम्भिक हिन्दू समाज में सशर्त बहुपत्नी विवाह ही प्रचलन में थे।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार कोई व्यक्ति अपने प्रथम विवाह के दस वर्ष बाद पुन. विवाह कर सकता था, यदि उसकी पत्नी बाँझ हो या वह तेरह या पन्द्रह वर्ष बाद पुनः विवाह कर सकता था, यदि उसकी केवल पुत्रिया ही हो और वह पुत्र की कामना करता हो। मनु ने कहा है कि पुरुष अपनी प्रथम पत्नी को अधिकार से हटा सकता है यदि आठ वर्ष तक वह बाँझ रही हो, दस वर्ष बाद तब जब उसके द्वारा जन्म दिए गए बच्चे जीवित न रहते हों, ग्यारह वर्ष बाद तब यदि उसकी पत्नी ने केवल पुत्रियों को ही जन्म दिया हो, और विवाह के तत्काल पश्चात यदि उसकी पत्नी झगडालू, विद्रोही या कठोर हो। महाभारत मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अकारण ही दो बार विवाह करता है वह ऐसा पाप करता है जिसका कोई भी प्रायश्चित नहीं है। नन्दा (Nanda) ने कहा है कि जो व्यक्ति दो बार विवाह करता है उसको साक्ष्य (Witness) के लिए स्वीकार नही किया जाना चाहिए। दफ्तरी (वही 158) ने कहा है कि निसन्देह एक व्यक्ति एक से अधिक स्त्रियो से विवाह कर सकता था, फिर भी एक पत्नी विवाह ही प्रचलित था।

आजकल 'बहुपत्नी' विवाह वैधानिक रूप से निषिद्ध है। बम्बई मे 1946 मे, मद्रास मे 1949 मे, और सौराष्ट्र मे 1950 मे इस सन्दर्भ मे विधान पारित एव लागू किए गए और दण्ड का प्रावधान किया गया। 1955 मे ये सभी विधान रद्द कर दिए गए जबकि केन्द्रीय सरकार ने हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया। वैधानिक प्रतिबन्धो के अतिरिक्त लोग आजकल बहुपत्नी विवाह नहीं अपनाते क्योंकि (1) आजकल मोक्ष अथवा वृद्धावस्था मे सहायता के उद्देश्य म पुत्रेच्छा के विचार मे बहुत कम लोग विश्वास करते हैं, (2) घर मे एक से अधिक पत्नियां होने पर उच्च जीवन स्तर बनाए रखना सम्भव नहीं होता, (3) पत्नियो की अधिकता के कारण घर मे तनाव बना रहता है, (4) सामाजिक और आर्थिक रूप मे आत्मनिर्भर स्त्रिया पुरुषों का प्रभुत्व मानने को अस्वीकार कर देती हैं। बहुपत्नी विवाह क्योंकि स्त्रियो की स्थिति को निम्न बनाता है, लडकी उस लडके से विवाह करने को मना कर देती है जिसकी पहले से ही पत्नी है।

बहुपति विवाह (Polyandry)

बहुपति विवाह एक स्त्री के साथ कई पुरुषो का विवाह है। महाभारत काल मे पाच पाण्डवो के साथ द्रोपदी के विवाह का एक उदाहरण है जिसको युधिष्ठिर द्वारा न्याय सगत ठहराया गया। उन्होने तीन आधारो पर इसका औचित्य बताया। उन्होंने कुछ उदाहरण दिये जिनमे इस प्रकार के विवाह हुए थे, उन्होंने अपने कुछ पूर्वजो के उदाहरण दिए, जिन्होंने इस प्रकार के विवाह किए थे, उन्होंने इसे माता की आज्ञा माना और माता की आज्ञा पुत्र को माननी ही चाहिए, यही पुत्र का 'धर्म' भी है। व्यास जी ने द्रौपदी के विवाह को प्रथा के विरुद्ध तथा धर्म के विरुद्ध बताया है। महाभारत मे भी बहुपति प्रथा के

सम्बन्ध में कहा गया है, "अनेक पत्नियां रखना धर्म नहीं है किन्तु स्त्री के लिए प्रथम पति के प्रति कर्त्तव्यों का उल्लंघन अधर्म अवश्य है"।

आधुनिक समय मे दक्षिण भारत के हिन्दुओ मे 'नायरो' (Nairs) में बहुपति प्रथा प्रचलित है किन्तु वेस्टरमार्क (Westermarck) ने नायर विवाहो के सन्दर्भ मे कहा है कि इस विवाह को विवाह कहना मुश्किल से ही ठीक होगा जब यह विचार किया जाये कि वे चरित्रहीन व भगोडे चरित्र के होते हैं क्योंकि पुरुष स्त्रियो के साथ कभी नहीं रहते तथा पिता के कर्तव्यो की सदैव अवहेलना होती रही है। 1986 में मालाबार विवाह अधिनियम पारित किया गया जिसमें नायरो मे विवाह स्थाई रूप मे स्थापित हुआ। अब नायरो मे जिला न्यायाधीश को एक प्रार्थना पत्र देने से विवाह भंग हो जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक काल मे भारत मे बहुपत्नी विवाह विरले व दुर्लभ थे बहुपति विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं थी तथा एक पत्नी विवाह ही प्रचलित था। मनु ने भी 'मनुस्मृति' में कहा है कि "परस्पर विश्वास मृत्यु पर्यन्त बना रहे पति-पत्नी के लिए यही सर्वोत्तम नियम होना चाहिए" (कापडिया, 1972 : 97)। आज एक पत्नी विवाह ही सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि यह अब खर्चीला धार्मिक कृत्य नहीं ह फिर भी प्रमुख धार्मिक सम्कार वर तथा वधू के निवास स्थानो पर ही सम्पन्न होते हैं।

जीवन-साथी का चुनाव (Mate Selection)

सभी समाजो में कौन किससे विवाह कर रहा है, इसे नियन्त्रित करने के लिए कुछ व्यवस्थाएं हैं— (1) चुनाव करने का क्षेत्र, अर्थात् धर्म, जाति वर्ग, नातेदारी के जीवन-साथी प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध, (2) चुनाव करने वाले पक्ष, अर्थात् विवाह-साथी को कौन चुनेगा, (3) चुनाव का आधार, अर्थात् व्यक्ति और परिवार सम्बन्धी पूछताछ, अर्थात् वर व कन्या में कौन-कौन से गुण हों। इन कारको पर पृथक से विचार करेंगे।

जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र (Field of Mate Selection)

हिन्दू समाज ने विवाह के क्षेत्र मे तीन अवधारणाओ को आधार माना है: अन्तर्विवाह (Endogamy), बहिर्विवाह (Exogamy) और अनुलोम विवाह (Hypergamy)।

अन्तर्विवाह (Endogamy)

सामाजिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही वर्ग व जाति मे विवाह करने की आज्ञा होती है' इस प्रकार एक ब्राह्मण युवक को न केवल ब्राह्मण कन्या से विवाह करना होता है, बल्कि कान्यकुब्ज युवक को कान्यकुब्ज कन्या से, सरयूपारी

युवक को सरयूपारी कन्या से और गौड युवक को गौड कन्या से ही विवाह करना होता है। कायस्थ जाति भी उप जातियो मे विभक्त है, जैसे माथुर, सक्सेना, श्रीवास्तव भटनागर, निगम, आदि। कायस्थ युवक का विवाह, अन्तर्विवाही नियमो के अनुसार उसी जाति मे ही नही बल्कि उसी उपजाति मे ही होता है। राजपूत जाति चार अन्तर्विवाही उपजातियो मे विभक्त है: सूर्यवशी, चन्द्रवशी, नागवशी, और अग्निवशी। सूर्यवशी पुन. तीन उप-जातियो मे विभक्त हैं: गहलोत, कछावा, तथा राठोड। गहलोत पुन· तीन बहिर्विवाही समूहो मे विभक्त हैं· सिसोदिया, रानावत और शक्तावत। कछावा भी तीन बहिर्विवाही समूहो मे विभक्त हैं· नाथावत, राजावत ओर शेखावत और फिर राठौड पुन. तीन बहिर्विवाही उप-समूहो मे विभक्त है: यदु, तन्वर, ओर गौड जबकि नागवशी केवल एक ही उप जाति परिवार के पाये जाते हैं। अग्निवशी चार उप जातियो मे उप विभक्त हैं सोलकी, पँवार, चौहान, और परिहार। *अन्तर्विवाह नियमो के अनुसार एक राजपूत लडके को न केवल राजपूत* कन्या से ही विवाह करना होता है बल्कि अपने ही अन्तर्विवाही समूह एव उप जाति मे। बनिया जाति मे ओसवाल जाति पाँचा दस्सा और बीसा मे विभक्त है। ढैया के बहिर्विवाही उप-समूह हैं लूनिया और सिघावत पाचा कटारिया और कोठारी मे और दस्सा डक, भण्डारी, और मान्डोत मे।

प्रारम्भिक समाज मे जाति अन्तर्विवाह प्रकार्यात्मक था क्योकि (1) यह वैवाहिक समायोजन सरल बना देता था (2) यह जाति के व्यावसायिक रहस्यो को सुरक्षित रखता था (3) यह जाति की एकता बनाए रखता था (4) यह जाति के सदस्यो या शक्ति को कम होने से रोकता था। वर्तमान समाज मे पथम कार्य को करने के सिवाय यह कोई अन्य कार्य नही करता है। इसके विपरीत यह अपकार्यात्मक (Dysfunctional) भी सिद्व हुआ है। अन्तर्विवाह के नकारात्मक प्रभाव यह है कि (1) यह अन्तर्जातीय तनावो को जन्म देता है जो देश की राजनीतिक एकता पर विपरीत प्रभाव डालता है (2) वैवाहिक समायोजन की समस्या उत्पन्न करता है क्योकि चुनाव का क्षेत्र सीमित ही रह जाता है (3) बाल विवाह, दहेज व अन्य समस्याओ को जन्म देता है।

बहिर्विवाह (Exogamy)

बहिर्विवाह वह नियम है जो जीवन-साथी के चुनाव को कुछ समूहो मे निषिद्व व अनुचित मानता है। हिन्दुओ मे दो प्रकार का बहिर्विवाह मिलता है: गोत्र बहिर्विवाह और सपिण्ड बहिर्विवाह। इन दो के *अतिरिक्त कुछ मामलो मे गाँव को भी एक* बहिर्विवाही समूह माना गया है। राज बलि पाण्डे (1949 296-303) ने बहिर्विवाह की उत्पत्ति पर प्रतिपादित विविध विद्वानो के सिद्धान्तो का सन्दर्भ दिया है। मैक्लेनन (Maclennan) ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन इडियन हिस्ट्री' *(Studies In Indian History)* मे लिखा है कि बहिर्विवाह का रिवाज प्रारम्भिक

काल में स्त्रियों की कमी के कारण प्रचलन में आया, जबकि मार्गन (L.H. Morgan) ने अपनी पुस्तक 'दि एनिमिएन्ट सोसाइटी' *(The Ancient Society)* में उल्लेख किया है कि बहिर्विवाह कुल व गोत्र के भीतर यौन अनैतिकता को रोकने के उद्देश्य से किया गया। वेस्टरमार्क के अनुसार बहिर्विवाह की उत्पत्ति एक साथ पालन पोषण किए गए व्यक्तियों के बीच यौन आकर्षण न होने के कारण हुई क्योंकि आदिकाल में कुलपिता परिवार की युवा लड़कियों को अपने लिए रखना चाहता था। उसकी ईर्ष्या के कारण युवकों को अपनी पत्नी ढूढने के लिए परिवार से बाहर जाना पड़ा। जो बात पहले आवश्यकता के रूप में अनुभव की गई, वही बाद में रिवाज बन गई। दुर्खीम के अनुसार बहिर्विवाह के विकास के लिए गणचिह्न ही उत्तरदायी था। कुल-रक्त को पवित्र माना जाता था और इस गणचिह्न की पवित्रता को बनाए रखने व व्यक्ति के यौन उद्देश्य के लिए इसका निषेध करना पड़ा।

वल्वल्कर (Valvalkar) के अनुसार बहिर्विवाह निषेध माता-पिता सन्तान तथा भाई-बहनों के बीच विवाह तथा मुक्त विवाह सम्बन्धों को प्रतिबन्धित करने के लिए बनाए गये थे। काणे (Kane, *Study of Dharam Shastra* 1930) के अनुसार बहिर्विवाही निषेध दो कारणों से थे एक तो यदि निकट सम्बन्ध विवाह करते हैं तो उनकी कमियां भी उनकी सन्तानों को बिगाड़ देंगी और दूसरे गुप्त प्रेम और परिणामस्वरूप नैतिक पतन के डर से।

उपरोक्त सैद्धान्तिक व्याख्याएं ठीक ढंग से हिन्दुओं द्वारा प्रयोग की जाने वाली बहिर्विवाह की नीति को नहीं समझातीं। प्रथम तो हिन्दू नहीं बल्कि अनुसूचित जातियां ही गणचिह्नवाद में विश्वास करती हैं। दूसरे, प्रारम्भिक समाज में लोग नैतिकता पर अधिक विचार नहीं करते थे। तीसरे, साथ-साथ पालन पोषण प्राप्त लोगों के बीच यौन आकर्षण की कमी निषेध का कारण न होकर फल अधिक है। चौथे, यदि कन्या का चुनाव बाहर से होने के कारण कुलपिता को ईर्ष्या हो जाती थी तो क्या यह सम्भव नहीं था कि नवागन्तुक बहू के साथ भी वह दुर्व्यवहार कर सकता था? अन्तिम बात यह है कि प्रारम्भिक लोगों को वंशावली के विनाश की बात मालूम ही नहीं थी। अत: बहिर्विवाह के नियम की उत्पत्ति के विशिष्ट कारण बताना सरल नहीं है।

गोत्र बहिर्विवाह (Gotra Exogamy)

गोत्र का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो एक ही कल्पित पूर्वज या ऋषि से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। प्रारम्भ में केवल आठ ही गोत्र थे। परन्तु धीरे-धीरे उनकी सदस्यता हजारों में बढ़ गई। गोत्र बहिर्विवाह एक ही गोत्र के सदस्यों के बीच विवाह का निषेध करता है।

अल्टेकर के अनुसार 600 बी.सी. तक गोत्र विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

कापडिया (1972 . 127) ने भी वैदिक काल मे गोत्र निषेध न होने का संदर्भ दिया है। उनके तर्क हैं : (1) आर्यो मे न केवल स्वयंवर बल्कि 'गान्धर्व' विवाह भी प्रचलित था, (2) आर्य लोग ईरान से भारत आए थे (यद्यपि भारतीय अमेरिका इतिहासकारो ने अब नए शोध के आधार पर आर्यों को भारत के मूल निवासी बताया है जो बाद मे भारत से पश्चिम एशिया होते हुए यूरोप तक पहुचे।) मनु ने सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध लगाए थे।

1946 मे हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम (Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1946) मे गोत्र विवाह के प्रतिबंध हटा दिए गए। आजकल लोग इस प्रकार के प्रतिबन्ध को कोई अधिक महत्व नहीं देते।

सपिण्ड बहिर्विवाह (Sapinda Exogamy)

सपिण्ड का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसमे एक ही शरीर के कण विद्यमान हो। सपिण्ड सम्बन्ध एक ही पूर्वज के कणो या रुधिर से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार के सम्बन्धो वाले व्यक्तियो के बीच विवाह निषिद्ध होता है। लेकिन क्योकि इस प्रकार के रक्त सम्बन्धियो की कोई सीमा नहीं है इसलिए मातृ तथा पितृपक्ष मे कुछ सम्बन्धो पर प्रतिबन्ध है। गौतम ऋषि ने पितृपक्ष की सात पीढियों तथा मातृपक्ष की पाँच पीढियों मे विवाह का निषेध बताया है (कापडिया, 1947 : 126)। वशिष्ठ मुनि ने पितृपक्ष के ही केवल पाँच पीढियो के निषेध की सलाह दी है। यद्यपि मनु ने तीसरी पीढी मे ही विवाह की निन्दा की है, लेकिन साथी के चुनाव के लिए पीढियो के निषेध की ठीक सख्या नहीं बताई है। गौतम ऋषि की तरह याज्ञवल्क्य ने भी पितृ पक्ष को सात तथा मातृपक्ष की पाँच पीढियो का निषेध रखने का सुझाव दिया है। किन्तु व्यवहार मे तथा वैधानिक दृष्टि से, पितृपक्ष से पाँच पीढियों तथा मातृपक्ष से तीन पीढियों का निषेध है। यद्यपि सपिण्ड बहिर्विवाह का उल्लघन कभी भी दण्डनीय नहीं था, फिर भी गोत्र बहिर्विवाह का उल्लघन एक जघन्य क्रिया समझा जाता था।

कापडिया (1966 127) ने कहा है कि सपिण्ड बहिर्विवाह का नियम एक पवित्र सिफारिश थी जो आठवीं शताब्दी तक प्रचलन मे बनी रही। आजकल यद्यपि यह नियम अधिकतर सभी हिन्दू अपनाते हैं, फिर भी सहोदरज विवाह अप्रचलित नहीं है।

सहोदरज विवाह (Cousin Marriage)

सहोदरज चार प्रकार के होते हैं : चचेरा (पिता के भाई का पुत्र-पुत्री), ममेरा (माँ के भाई का पुत्र-पुत्री), फुफेरा (पिता की बहन का पुत्र-पुत्री) और मौसेरा (माता की बहन का पुत्र/पुत्री)। इनमे से चचेरा और मौसेरा समानान्तर सहोदरज (Parallel Cousins) कहलाते हैं और ममेरा तथा फुफेरा विलिंग सहोदरज (Cross Cousins) कहलाते हैं।

इन दोनों भेदों मे से विलिंग सहोदरज संतति विवाह प्राचीन हिन्दू समाज में प्रचलित था, यद्यपि मैकडोनेल (Macdonell) और कीथ (Keith) (कापडिया 1947:63) के अनुसार समानान्तर सहोदरज संतति विवाह भी अनुमान्य था। कापडिया का विचार है कि वैदिक आर्य लोग समानान्तर सहोदरज विवाह नहीं मानते थे तथा इस प्रकार के सभी विवाहो के उदाहरण (जैसे कृष्ण उनके पुत्र प्रद्युम्न अर्जुन और उनके पुत्र अभिमन्यु, सहदेव सभी ने अपनी सहोदरज बहनों से विवाह किया) (Willing) विलिंग सहोदरज विवाह के उदाहरण हैं विशेष रूप से 'ममरा' प्रकार के।

मनु ने इस प्रकार के विवाह को बुरा बताया है। उन्होंने कहा है 'वह जो अपनी बुआ, मौसी, या मामा की पुत्री से विवाह की बात करता है, उसे प्रायश्चित करना पड़ेगा। बुद्धिमान व्यक्ति को इन तीनों में से किसी को भी अपनी पत्नी नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वे निकट सम्बन्धी हैं वह जो ऐसा करता है पतित है" (कापडिया 1947 : 125)। बौद्धयान ने नर्मदा के पार के क्षेत्र में वहा के सास्कृतिक गुण के कारण विलिंग सहोदरज विवाह की अनुमति दी थी। कापडिया (वही . 125) ने माना है कि यह स्पष्ट है कि 'धर्म सूत्र' में विलिंग सहोदरजो का विवाह जो कि ब्राह्मण काल में अनुमान्य था केवल उन्हीं भागों मे चलता रहा जिन भागों में सामाजिक दशाओं के कारण जरूरी था, शेष भागो में यह प्रचलन से बाहर हो गया। क्योंकि हमारी धर्म पुस्तकों का विकास काल क्रम इस प्रकार रहा है: वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृहसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतियां, और पुराण, इसी कारण इसमें आश्चर्य नहीं कि मनु ने सहोदरज विवाह को बुरा कहा।

अनुलोम विवाह (Hypergamy)

अनुलोम विवाह वह सामाजिक प्रथा है जिसके अनुसार उच्च जाति का लडका निम्न जाति की लड़की से तथा इसके विपरीत भी विवाह कर सकता है। उदाहरण के लिए खत्री चार अनुलोम विवाही समूहों में विभक्त हैं : ढाईघर, चारघर, बाराघर, और बावन जाति। ढाईघर समूह का लडका न केवल ढाईघर समूह की लडकी से विवाह कर सकता है, बल्कि अन्य किसी भी तीन निम्न समूहों (चारघर, बाराघर व बावन जाति) की कन्या से विवाह कर सकता है, लेकिन ढाईघर की लड़की को केवल ढाईघर में ही विवाह करना होता है। इसी प्रकार कन्नौज ब्राह्मण तीन उप-समूहों में उप-विभाजित है: खटकुल, पन्चधरी और धाकरा। अनुलोमी विवाही नियमों के अनुसार खटकुल का लड़का 'पन्चधरी' व 'धाकरा' समूह की कन्या से विवाह कर सकता है, किन्तु धाकरा लड़का केवल धाकरा लड़की से ही विवाह कर सकता है।

यद्यपि अनुलोम विवाह मान्यता प्राप्त था, फिर भी निम्न जाति लड़की का उच्च जाति वर्ग के लड़के से विवाह की निन्दा की जाती थी। मनु (कापड़िया, 1972

102) ने माना है कि द्विज लोग जो मूर्खतावश निम्न वर्ण या जाति की लडकी से विवाह कर लेते हैं वे अपने परिवार व सन्तान को शूद्र की स्थिति तक गिरा देते हैं। अनुलोम विवाह को महत्व क्यो दिया गया? कापडिया (वही, 104) के अनुसार इसने स्थाई रूप से वह सामाजिक सस्तरण स्थापित किया जिसमे क्षत्रियो के ऊपर ब्राह्मणो का वर्चस्व स्थापित एव मान्य हो गया। उन्होंने आगे भी कहा है कि अनुलोम विवाह ने ब्राह्मणो की अन्तर्विवाही प्रवृत्ति को सहारा दिया जो उनके गगा घाटी मे निवास मे अभिव्यक्त की गई। इस प्रकार कापडिया (वही, 104) कहते हैं कि हिन्दू समाज मे जाति सरचना के लिए 'अनुलोम' व प्रतिलोम' विवाह का अधिक महत्व है अपेक्षाकृत हिन्दू विवाह के स्वरूप के।

प्रतिलोम विवाह (Hypogamy)

निम्न जाति के लडके का उच्च जाति की लडकी से अर्थात जब पत्नी अपने पति से ऊँचे कुल की हो तो विवाह को प्रतिलोम विवाह कहते हैं। इस प्रकार का विवाह समाजोनुमोदित नहीं है।

साथी के चुनाव मे भागीदार (Party to Mate Selection)

लडके या लडकी के विवाह के लिए जीवन-साथी का चुनाव कौन करता है? क्या चुनाव व्यक्ति की पसन्द पर छोड दिया जाता है और माता-पिता इस चुनाव के प्रति उदासीन रहते हैं, या माता-पिता की आवाज प्रबल होती है, या फिर माता-पिता व बच्चे मिलकर परिवार की आवश्यकताओं एव व्यक्ति के हितो को ध्यान मे रखकर जीवन-साथी का चुनाव करते हैं?

विवाह पर आधारित स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे सम्बद्ध व्यक्तियो का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण है क्योकि व्यक्तित्व ही व्यक्ति के समायोजन की प्रक्रिया को बनाता या मिटाता है। इसके लिए जीवन-साथी के चुनाव के लिए पूर्ण स्वतत्रता की आवश्यकता है। लेकिन भारत मे आधुनिक समय तक इस स्वतत्रता को प्रदान नहीं किया गया है।

इस युग मे वैवाहिक विज्ञापन भी साथी के चुनाव मे प्रयोग किए जा रहे हैं। साथी के चुनाव की प्रक्रिया मे वैवाहिक विज्ञापन केवल नगरीय क्षेत्रो मे धनी तथा शिक्षित लोगो द्वारा ही प्रयोग हो रहे है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि विज्ञापन देने, छान-बीन करने, परिवार पृष्ठभूमि का निरीक्षण करने, पत्र व्यवहार करने, साक्षात्कार के लिए किसे बुलाया जाये आदि का समस्त कार्य माता-पिता ही करते हैं। बच्चो से केवल सूचनार्थ सलाह ली जाती है। लोग विज्ञापन की सहायता तभी लेते हैं, जब वे अपने बच्चो के लिए सामान्य रूप से साथी का चुनाव करने मे असफल होते हैं और क्योकि यह विधि चुनाव का वृहद क्षेत्र प्रदान करती है। परन्तु, बहुत से लोग इस विधि को नापसन्द करते हैं क्योकि विज्ञापित तथ्य विज्ञापनकर्त्ता के गुणो को ठीक से प्रदर्शित नहीं करते।

जीवन-साथी के चुनाव की कसौटी (Criteria of Mate Selection)

बच्चों के लिए जीवन-साथी के चुनाव में माता-पिता अनेक बातों को ध्यान में रखते हैं क्योंकि वे इसे परिवार का विषय समझते हैं। वे जिन बातों पर बल देते हैं उनमें से प्रमुख हैं, परिवार की प्रतिष्ठा, प्रत्याशित साथी के परिवार के सदस्यों की नैतिकता, परिवार की सम्पत्ति, लड़के और लड़की की शारीरिक उपयुक्तता (Fitness), लड़के/लड़की का चरित्र, लड़के की आय व नौकरी, आदि।

वर्तमान युग में उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त बच्चे जीवन-साथी के चुनाव के पाँच अन्य कारक भी अपने अचेतन मस्तिष्क में रखते हैं। यह हैं: (1) माता-पिता की छवि (2) पूरक आवश्यकताएं, (3) लक्षणों में समजनकता और विषमजनकता, (4) परिचय और (5) प्रकार चेतना।

माता-पिता की छवि (Image)— माता-पिता की छवि का प्रभाव जीवन-साथी के चुनाव पर पड़ता है। एक युवक और एक युवती जिस प्रकार के व्यक्ति को प्रेम या घृणा करेंगे उससे निकट या दूर रहेंगे यह अधिकतर उन लोगों के प्रकार से निश्चित होगा जिनको बचपन से उसने प्रेम या घृणा करना सीखा है। जिस व्यक्ति का चुनाव वह करेगा या करेगी वह इस बात से मिलता-जुलता होगा या भिन्न होगा कि बचपन में उसने अपने माता-पिता के व्यक्तित्व में किस प्रकार की शारीरिक व व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं को पसन्द या नापसन्द किया है। जिस लड़की ने अपने पिता को शराबी, पत्नी को पीटने वाला, झूठा और सुस्त देखा है, तो निश्चय ही उन दुर्गुणों वाले व्यक्ति को वह अपने पति के रूप में नहीं देखना चाहेगी। इसी प्रकार यदि लड़का अपनी माँ को किटी पार्टियों में समय लगाने वाली, गृह कार्य से बचने वाली, आभूषणों और श्रृंगार की वस्तुओं में अधिक रुचि रखने वाली महिला के रूप में देखता है तो वह इस प्रकार के गुणों वाली लड़की को अपनी पत्नी के रूप में चुनना कदापि पसन्द नहीं करेगा। इसके विपरीत यदि लड़की अपने पिता को परिश्रमी, सहायक, परिवार के लिए प्रतिबद्ध, कार्य के प्रति लगन, आदि गुणों वाला देखती है तो वह ऐसे गुणों वाले लड़के को अपने पति के रूप में देखना चाहेगी। साथी के चुनाव में यही माता-पिता की छवि (Parental Image) होती है।

पूरक आवश्यकताएं (Complementary Needs)— साथी के चुनाव में ऐसे साथी को चुनने से सम्बन्धित होती हैं जिसकी आवश्यकताओं का स्वरूप उसकी अपनी आवश्यकताओं के स्वरूप का पूरक हो, भले ही समान न हो। इस विचार के अनुसार यदि लड़की भोजन के नये-नये प्रकार तैयार करने की शौकीन है तब वह ऐसा पति पसन्द करेगी जो उसके भोजन की प्रशंसा करे और पसन्द करे। यदि लड़के को कला और संगीत से प्रेम है, तो वह ऐसी पत्नी पसन्द करेगा जो संगीत सुनना तथा कला की प्रशंसा करना पसन्द करती हो।

समजनकता और विषमजनकता (Homogamy/Heterogamy) का सम्बन्ध साथी के उस चुनाव से है जिसे समान गुणो वाले लडके लडकी को और साथ ही विषम गुणो वाले व्यक्ति को वरीयता दी जाती है। उदाहरणार्थ यदि लडका खर्चीला है तो वह ऐसी पत्नी पसन्द करेगा जो थोडी सी कजूस प्रकृति की हो अर्थात विषम जनक लक्षण की हो, किन्तु यदि वह उच्च शिक्षा प्राप्त लडका है तो वह ऐसी पत्नी पसन्द करेगा जो लगभग उसी के बराबर शिक्षित हो।

परिचय (Acquaintance) का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो लडके-लडकी के माता-पिता व रिश्तेदारो को जानता हो और वे उसे जानते हो। यह परिचय चुनाव का आधार बनाता है।

अन्त मे, प्रकार चेतना (Consciousness of Kind) का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने ही प्रकार के व्यक्ति, अपनी ही सास्कृतिक पृष्ठभूमि के व्यक्ति अपने ही धर्म क्षेत्र समुदाय जाति और वर्ग आदि के व्यक्ति से विवाह की इच्छा रखता हो। ऐसा समझा जाता है कि यदि दोनो ही साथी एक से वातावरण के हो तो वैवाहिक समायोजन सरल हो जाता है।

उपर्युक्त पाँचो कारक तभी कार्य करेगे जबकि बच्चे स्वय अपने साथी चुने। इस प्रकार के गुण माता-पिता द्वारा निर्धारित विवाह मे काम करेगे ऐसी आशा नहीं की जाती। उपर्युक्त विचारो के बावजूद व्यक्ति की इच्छा उसकी आवश्यकता से भिन्न होती है तथा आवश्यकता व्यक्ति को मिलने की सम्भावना से भिन्न होती है। हो सकता है कि किसी को चमक-दमक वाली लडकी पसन्द हो, कार्यशील लडकी की आवश्यकता हो लेकिन वास्तव मे जो लडकी उसे मिले वह साधारण रूप से शिक्षित हो और साधारण आकर्षण वाली हो।

अत. यह कहा जा सकता है कि यद्यपि एक बडी सख्या मे युवक किसी भी लडकी को उसके व्यक्तिगत गुणो और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ के आधार पर चुनें लेकिन वे वधू के परिवार, परिवार के वातावरण एव उसके विशेष समूह आदि विचारो का भी समान महत्व देना चाहेगे।

विवाह—नयी प्रवृत्तियाँ (Marriage—New Trends)

महिलाओ को कार्य करने की स्वतत्रता के बारे मे बदलती अभिवृत्तिया महिला तथा पुरुष दोनो की गतिशीलता तथा अपनी जीवन शैली को स्वय रेखाकित करने की स्वतत्रता के कारण विवाह की पारपरिक धारणा अपना अर्थ खोती जा रही है। विवाह तथा बच्चो के पालन पोषण का उत्तरदायित्व अब दो लोगो के मिलन का आधार नही रह गए है। एक स्थापित सस्था के रूप मे विवाह को आज अनेक प्रमुख दबावो व तनावो का सामना करना पड रहा है। नीचे दिए गए कुछ व्यवहार विवाह को

संस्था के विषय मे सदियों से चले आ रहे विचारो को परिवर्तन की चुनौती दे रहे हैं:—

1. अविवाहित रहना (Remaining Single)— अविवाहित जीवन शैली अपनाने की प्रवृत्ति युवाओ मे बढने का कारण उनकी बढती आर्थिक स्वतत्रता मे है। किसी व्यक्ति के अविवाहित रहने के कई कारण हो सकते हैं। ऐसे समाज मे जहा वैयक्तिकता तथा व्यक्तिगत आत्म सतुष्टि को अधिक महत्व दिया जाता है, वहा अविवाहित जीवन शैली अपनाने मे कुछ स्वतत्रताए प्राप्त होती हैं जो विवाहित जोडियो को प्राप्त नहीं होतीं।

आज ऐसी लडकियों की संख्या भी काफी बढ रही है, जो विवाह की इच्छुक नहीं हैं। इनकी प्राथमिकता घर पति बच्चे न होकर अपना करियर हो गया है। उच्च शिक्षा व अच्छी नौकरी या स्वय के व्यवसाय के कारण ऊचे वेतनमान या आय ने लडकियो को आत्मनिर्भर व आत्मविश्वासी बना दिया है। आज उन्हे यह चिन्ता नहीं कि शादी नहीं करेंगी तो किसके सहारे जीवन बितायेंगी। ये अपने स्वय निर्णय लेने और स्वतत्र जीवन शैली को अपनाने के लिए विवाह की इच्छुक नहीं हैं। इनके लिए विवाह का अर्थ है जिम्मेदारी, सामजस्य और अनेक रिश्तो को निभाना जिसके लिए ये तैयार नहीं हैं।

2. खुला विवाह (Open Marriage)— यह पति व पत्नी मे पूर्ण समानता पर आधारित होता है। पारिवारिक जिम्मेदारिया जैसे घरेलू कार्य, बच्चो की देखभाल आदि पति व पत्नी दोनो में बांटी जाती हैं। पति व पत्नी दोनो को यह स्वतंत्रता रहती है कि वे अपनी बौद्धिक व भावनात्मक अभिव्यक्ति हेतु परिवार के बाहर भी साधन खोज सकते हैं। खुले विवाह का यह लक्ष्य कि एक ओर तो सार्थक विवाह संबंध बनाए रखना व दूसरी ओर विवाहेतर सबंध बनाने की अनुमति देना, प्राप्त करना बहुत कठिन है।

3. साथियों की अदला–बदली (Swinging)— दो दंपतियो के बीच अपने साथियों की अदला-बदली कई कारणों से है-जैसे विवाहित रहते हुए भी संभोग हेतु दूसरे साथी की चाह, दूसरे दपती के साथ पूर्व से ही विद्यमान भावनात्मक स्नेह संबधों को और अधिक बढ़ाना व उन्हे आनददायी बनाना अथवा विवाह को बचाने हेतु एक साथी की अदला-बदली की इच्छा के आगे दूसरे साथी का झुकना।

4. सहवास (Cohabitation)— अभी हाल ही के कुछ वर्षो में एक नई प्रवृति का उदय हुआ है और वह है महिला व पुरुष का बिना विवाह किए साथ रहना। अधिकांश पश्चिमी समाजों मे ऐसी जोडियां विवाह किए बिना साथ रहती हैं जिसे वे सहवास (Cohabition) कहते हैं। आस्ट्रेलिया मे ऐसी जोडियों को

Defacto कहते हैं । 'बिन फेरे हम तेरे' अर्थात बिना विवाह किए साथ रहने का चलन पश्चिमी देशो से प्रारम्भ हुआ। अनुमान है कि आज यूरोप मे 25 से 35 वर्ष के मध्य आयु के लगभग पचास प्रतिशत जोडे एक साथ रह रहे हैं पर उन्होने विवाह नही किया है। स्वीडन मे इसे नया नाम 'साम्बो' दिया गया है। सहवास पुरुष तथा महिला के लिए विवाह बधन का अस्थाई अथवा स्थाई विकल्प हो सकता है। ऐसे जोडे साथ रहते हैं तथा बच्चो का पालन-पोषण भी साथ ही करते हे। फिर भी अविवाहित जोडियो मे सबध विच्छेद (तलाक) की सभावना विवाहित जोडियों की अपेक्षा अधिक रहती है। कुछ सेलिब्रिटीज (Celebrities) द्वारा बिना शादी के साथ रहने के चलन ने 'लव इन रिलेशनशिप' को बढावा दिया गया है। कोई करार नहीं, जीवन का बधन नहीं, जब तक चाहे साथ रहे।

5. **बच्चे विरहित विवाह (Marriage Without Children)**— कुछ दपती यह निश्चित करते है कि वे बच्चे पैदा नही करेंगे। वे स्वय को बच्चों से मुक्त मानते हं न कि नि:सतान। वे यह नहीं मानते कि सतान पैदा करना सभी विवाहित दपतियों का कर्तव्य है। महिलाए स्वेच्छा से बिना सतान रहना पसद करती हैं। बच्चो के लालन-पालन मे खर्च आता है। इसीलिए इस अभिवृत्ति मे परिवर्तन हेतु आर्थिक कारण भी जिम्मेदार हैं। वित्तीय दबावो के चलते जेसे व्यवसाय मे सफलता का लक्ष्य प्राप्त करना तथा निजी जीवन मे स्वायत्तता के लिए सतानमुक्त रहने के लाभो को ध्यान मे रखकर यह निर्णय लिया जाता है। एक नि:सतान महिला अब दुखी विवाहित महिला नही रहती। अपने पेशे के प्रति मनोग्रस्त दपती यह फार्मूला अपनाते हैं 'बच्चे विरहित, दोहरी आमदनी' (Double Income, No Kid)।

सहवास, खुले विवाह, साथियों की अदला-बदली आदि पारपरिक परिवार की समस्याओ से निजात पाने के प्रयत्न है। ऐसे उपायो के प्रति कुछ सीमित लोग ही आकर्षित होते है तथा वे भी अपनी इस नवीन जीवन शैली के साथ सामजस्य स्थापित करने मे अनेक समस्याओं का सामना करते हैं। समाज इस नए पेटर्न को अपनाएगा ही, इसमे शका है।

नयी प्रवृत्ति (New Trend)

जीवन साथी के चुनाव मे एक और प्रवृत्ति का उदय हो रहा है, विशेष रूप से शहरी उच्च व मध्य वर्गीय युवको मे। माता-पिता अपने बच्चो के लिए जीवन साथी चुनते हे और सगाई भी कर देते हैं। लेकिन विवाह से पहले वे उन्हे आपस मे मिलने जुलने तथा एक दूसरे को जानने के लिए अनुमति दे देते हैं। लडके ओर लडकियाँ रेस्तराँ, सिनेमा, तथा बाग-बगीचो मे जाते हैं। अन्त:क्रिया की इस प्रक्रिया मे विवाह के अन्तिम निश्चय करने से पूर्व वे तीन अवस्थाओ से गुजरते हे। मुर्सटीन (Murstein, 1971 100-151) के अनुसार ये तीन अवस्थाए हैं, उत्तेजनात्मक (Stimulus)

अवस्था, मूल्यात्मक अवस्था (Value Stage) और भूमिका अवस्था (Role Stage)। प्रथम अवस्था में लडके और लड़किया एक दूसरे के गुणों की परख से प्रेरित होकर एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। ये गुण शारीरिक और सामाजिक दोनो होते हैं, जैसे, ऊँचाई, कद, सहनशक्ति, प्रसन्नचित होना, समझदार व्यक्तित्व तथा सौन्दर्य, आदि। इन सभी बातो को पूर्व रूप से व भली भाँति जाने बिना ही दोनो व्यक्ति एक-दूसरे के गुणो की अपने से तुलना करते हैं। यदि एक साथी थोडा कम आकर्षक हो तो सम्बन्ध टूटने की सम्भावनाए होती है। यदि दोनो का जोडा एक दूसरे को उपयुक्त लगता है तो ये ही सम्बन्ध मूल्य अवस्था मे विकसित हो जाते हैं। इस अवस्था मे सम्भावित साथी सयुक्त परिवार, पारिवारिक दायित्वो, स्त्रियो की उच्च शिक्षा, स्त्रियो की नौकरी, परिवार बजट, मकान का स्वामित्व, आदि विषयो पर बातचीत करते हैं। ये मूल्य जितने समान होगे उतने ही मजबूत आकर्षण के बन्धन होगे और वे अपना अधिकत्तर समय एक-दूसरे को पत्र लिखने या फोन करने या कम्प्यूटर पर चैट करने मे लगाएगे। कुछ युगल इस बिन्दु पर विवाह कर लेते हैं, किन्तु कुछ भूमिका अवस्था मे आगे बढ जाते हैं। वे देखते है कि उनका दूसरा साथी प्रसन्नचित्त, उदार, स्वार्थी, विश्वसनीयता, गलती करने वाला, क्षमा करने वाला, प्रभुत्व दर्शाने वाला, सहिष्णु तथा मिलनसार आदि गुणो मे से कौन से गुण रखता है या नहीं रखता है। जितना वे आपस मे मिलते-जुलते हैं, उतना अधिक अनुभव करने की चेष्टा करते हैं कि विवाह के बाद उनका साथ कैसा रहेगा। यदि उनके अनुभव व दृष्टिकोण पक्ष मे होते हैं तो परिणाम विवाह होता है और ऐसी स्थिति मे यह विवाह सफल होना निश्चित है।

किन्तु विवाह से पूर्व लडके और लडकियों का स्वतंत्रतापूर्वक मिलना-जुलना ग्रामीण क्षेत्रो मे बिल्कुल नहीं है। शहरी क्षेत्रो मे भी निम्न व मध्यम वर्गीय माता-पिता अपने बच्चो को इस प्रकार की स्वतत्रता देने मे विश्वास नहीं करते। मध्यम उच्च वर्गीय तथा उच्च वर्गीय लोग भी बच्चों के विवाह पूर्व यौन सम्बन्ध से न केवल डरते हैं, बल्कि हमारी संस्कृति में लड़कों के द्वारा लड़कियो को अस्वीकार करने के भय से भी पीडित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि विवाह के बाद भिन्न दृष्टिकोणो तथा विश्वासों वाले जीवन-साथियों का समायोजन कठिन हो जाता है, जिससे आपसी मन-मुटाव, संघर्ष, पृथक्करण और कभी-कभी तलाक भी हो जाता है। जीवन-साथी के चुनाव की इस प्रक्रिया को हम अत्यधिक तर्क-संगतिकरण (Over Rationalizing) नहीं कहेगे। माता-पिता और बच्चों द्वारा सावधानीपूर्वक जीवन-साथी के चुनाव से हमारा तात्पर्य इस बात पर बल देना है कि 'विवेकपूर्ण' साथी का चुनाव तथा विवाह की उचित आयु के निर्धारण से विवाह की सफलता मे 'अवसर' को न केवल कम करने में सहायता मिलेगी, बल्कि इस युग मे विवाह के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति मे भी सहायता मिलेगी।

वैवाहिक समायोजन (Marital Adjustment)

वास्तव में, विवाह एक जीवन-विधि (Way of Living) है। यह सदैव फूलों की सेज नहीं होती है बल्कि इसकी सफलता दोनों साथियों के समायोजन पर आधारित होती है। भले ही विवाह प्रेम विवाह हो या माता-पिता द्वारा ठहराया गया हो। प्रारम्भ में दोनों ही जीवन साथी एक दूसरे को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। काम उत्तेजना तथा नये सम्बन्ध की नवीनताएं दोनों ही साथियों को कुछ समय के लिए स्वय की सीमाओं से बाहर कर देती हैं। प्रत्येक साथी दूसरे को असाधारण व्यक्ति समझता है। प्रत्येक स्वय को नशे की स्थिति में अनुभव करता है। यह नशा नयी स्थिति नवीन उपलब्धियों तथा नवीन सम्बन्धों की स्थापना से और भी दृढ होता जाता है। वे एक दूसरे की कमियों व कमजोरियों को अनदेखा कर देते हैं और अनेक भ्रमों में रहते हैं। फिर धीरे-धीरे विभ्रम (Disillusion) की स्थिति प्रारम्भ होती है। प्रथम बार जब पति देर से घर लौटता है तो पत्नी समझती है कि वह उसकी परवाह नहीं करता है। प्रथम बार जब पत्नी अधिक नींद में होती है और पति को समय पर लन्च बाक्स नहीं देती है तो पति समझता है कि पत्नी सुस्त और गैर जिम्मेदार है। एक-दूसरे के विरुद्ध शिकायतों में वृद्धि होती रहती है। कभी-कभी पति-पत्नी को धमकाने लगता है और पत्नी अपने माता पिता को अपने पति की शिकायते देना प्रारम्भ कर देती है। भ्रम टूट जाता है और साथियों की कमियाँ उजागर होने लगती हैं। स्वप्नों का टूटना दुःखदायी होता है और सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

प्रारम्भ में असहमति और शिकायतों से खुली लडाई नहीं होती। अक्सर वे इस प्रकार के झगडों में व्यस्त हो जाते हैं जिनसे उनके साथी पर बाहर से तो आघात नहीं लगता, किन्तु कभी-कभी वे ऐसे कार्यों को करने लगते हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि दूसरा साथी यह न समझने लगे कि उसके साथी के कुछ कार्य उसके स्पष्ट कार्यों से भिन्न है। विवाह में अदृश्य व गुप्त (Covert) सघर्षों का मूल्याकन कठिन होता है, फिर भी कई सम्बन्धों में भावात्मक आघातों की अभिव्यक्ति परोक्ष आघातों तथा व्यवहार से प्रकट हो ही जाती है। और फिर 'गुप्त सघर्ष' (Covert Conflicts) का उदय होता है। पत्नी कभी कभी रोती है और पति को भोजन के बिना ही रहना पडता है। उदाहरण कई दिये जा सकते हैं और पति-पत्नी के विरुद्ध समान हो सकते है। ध्यान देने का बिन्दु यह है कि परस्पर आरोपों व प्रत्यारोपों के बीच पति-पत्नी उस आधार को ही नष्ट कर देते हैं जिस पर उनके सम्बन्ध बने होते हैं। विशेष सघर्ष सुलझाए जा सकते हैं और समायोजन की दिशा मे कार्य हो सकते है किन्तु नवीन विवाद पुनः उभर सकते हैं। परन्तु दम्पती अधिक नुकसान होने से पूर्व ही मामले का समाधान ढूढ लेते हैं और विवाह टूटने से बच जाता है।

वैवाहिक समायोजन दर्शाता चित्र
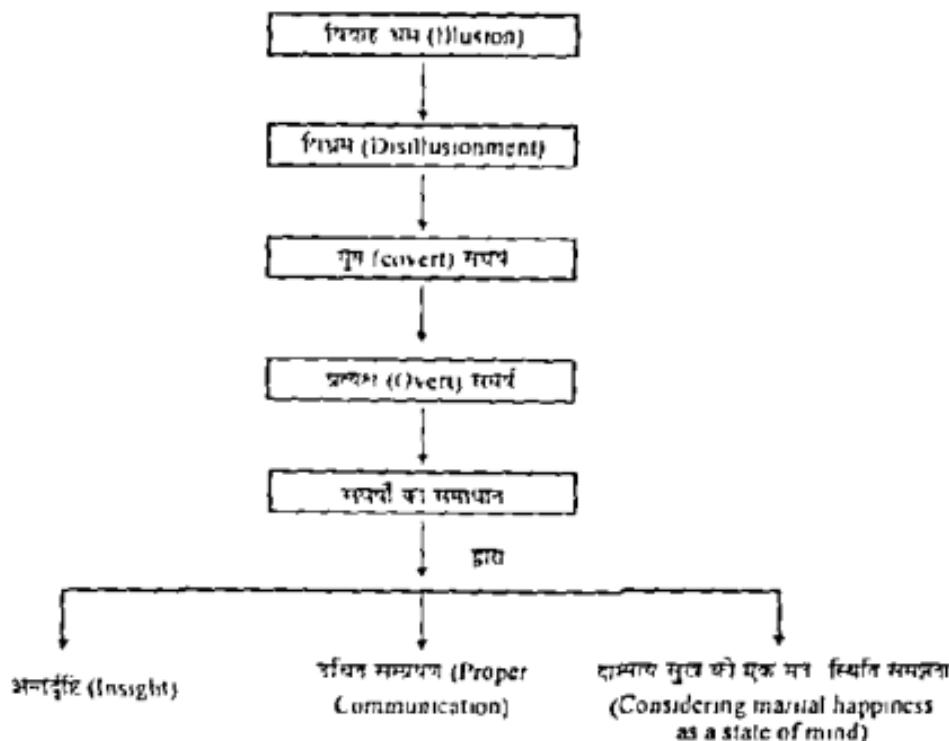
संघर्षों का समाधान अन्तर्दृष्टि, उचित सम्प्रेषण तथा संघर्षों के सामान्य होने पर आधारित है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ दम्पती के परस्पर व्यवहार से भावनाओं के विकास से है। व्यक्ति शीघ्र ही दूसरे के कार्य के परिणामों का अनुभव कर लेता है और भय तथा आघात कम करने के उद्देश्य से व्यवहार को परिमार्जित कर लेता है। कुछ त्याग करके एक समझदार साथी अपने दूसरे साथी को प्रभावित कर लेता है और उसकी रुचि एवं आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देने लगता है। 'उचित सम्प्रेषण' का तात्पर्य अपने साथी के साथ समस्याओं पर मुक्त रूप से बातचीत करने से है, जिससे कि वह एक-दूसरे को विवेकपूर्ण ढंग से समझते हैं तथा सहयोग और समझौते से कार्य करते हैं। अन्त में व्यक्ति को सीखना होता है, कि वास्तविक संसार में किस प्रकार रहा जायें और समझना होता है कि सुख एक मनःस्थिति है और दाम्पत्य जीवन की सफलता 'लेन-देन' के दृष्टिकोण पर निर्भर होती है। इन सभी अवस्थाओं को उपर्युक्त चित्र में दर्शाया गया है।

एक भली-भाँति अनुकूलित विवाह वह है जिसमे दोनो साथी (1) परस्पर एक दूसरे के प्रति बाहर से स्नेह प्रदर्शित करते हैं, (2) परस्पर विश्वास करते है, (3) सामान्य हितो मे भाग लेने का प्रयत्न करते हैं, (4) पति बच्चो की देखरेख मे पत्नी का साथ देता है और पत्नी अपने पति के माता-पिता व सहोदरो का आदर करती हैं, (5) एक-दूसरे की आकाक्षाओ का आदर करते हैं, (6) एक-दूसरे की भूमिका को महत्व देते हैं, और (7) एक-दूसरे के एकाकीपन व चिन्ताओ का ध्यान रखते हैं। सक्षेप मे दाम्पत्य समायोजन निम्नलिखित स्थितियो पर निर्भर करता है —

- विवाह के समय आयु तथा दम्पती की सामाजिक परिपक्वता
- मूलभूत आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए धन की उपलब्धता
- शैक्षिक व सामाजिक पृष्ठभूमि मे अन्तर
- त्याग करने की क्षमता
- ससुराल के लोगो की प्रकृति एव मिजाज
- आदत बदलने की पति-पत्नी की शक्ति
- पति-परिवार का आकार
- व्यवसाय सुरक्षा एव स्थायित्व
- बच्चो की देखभाल की परस्पर इच्छा

दाम्पत्य समायोजन की प्रकृति एव स्तर का विश्लेषण करते हुए क्यूब्वर व हैरोफ (Cuber and Harroff) (ef Leslie, 1982 462-463) के विचार के आधार पर हम कह सकते हैं कि दाम्पत्य सम्बन्ध (Marital Relationships) पाँच प्रकार के होते हैं :

(1) संघर्ष अभ्यस्त सम्बन्ध (Conflict-Habituated Relationship)

इनमे पति पत्नी के बीच बहुत खीचतान रहती है लेकिन यह काफी नियन्त्रित होती है। स्थिति बिगडने पर झगडा हो जाता है जिसके विषय मे परिवार के अन्य सदस्यो को तथा निकटस्थ लोगो को ज्ञान रहता है।

(2) निर्जित (उदासीन) सम्बन्ध (Devitalized Relationship)

इसमे पति-पत्नी के बीच सम्बन्ध उत्साहहीन होते हैं। कोई गम्भीर सघर्ष नहीं होता किन्तु युगल (Couple) के बीच निर्जीव जैसी अन्तर्क्रिया होती है और जीवन्त शक्ति (Vital) की कमी होती है, यद्यपि विवाह को कोई खतरा नही होता।

(3) निष्क्रिय सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध (Passive Congenial Relationship)

इसमे विभ्रम के लिए स्थान कम होता है तथा पति पत्नी के बीच सहयोगी भावना

काफी सुखद होती है। संघर्ष बहुत कम होता है और दम्पती सामान्य रुचियों का आनन्द लेते हैं। दम्पती विवाह से निष्क्रिय रूप से सन्तुष्ट रहते हैं।

(4) जीवन सम्बन्ध (Vital Relationship)

इसमें पति-पत्नी के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध के कम से कम एक पक्ष में दोनों सहभागी होते हैं, और अन्य बातें इस पर बलिदान कर दी जाती हैं।

(5) सम्पूर्ण सम्बन्ध (Total Relationship)

इसमें पति पत्नी बहु-आयामी (Multi-faceted) सम्बन्धों में भाग लेते हैं। यद्यपि इस प्रकार के संबंध दुर्लभ होते हैं लेकिन होते हैं।

विवाह पद्धति में परिवर्तन (Changes in Marriage System)

हिन्दू विवाह पद्धति में परिवर्तन का सात क्षेत्रों में विश्लेषण किया जा सकता है — (1) विवाह के उद्देश्य में परिवर्तन अर्थात विवाह का मुख्य उद्देश्य धर्म से परिवर्तित होकर सहचर्य होना, (2) विवाह के स्वरूप में परिवर्तन अर्थात बहुसाथी विवाह से एक साथी विवाह की ओर, (3) साथी के चुनाव की प्रक्रिया में परिवर्तन, अर्थात चुनाव के क्षेत्र में परिवर्तन (अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति), साथी के चुनाव में माता-पिता से व्यक्तिगत या संयुक्त रूप से चुनाव की ओर परिवर्तन, (4) विवाह की आयु में परिवर्तन, अर्थात बाल विवाह से यौवन प्राप्ति के पश्चात विवाह की ओर, (5) विवाह के स्थायित्व में परिवर्तन अर्थात हिन्दू समाज में तलाक को प्रारम्भ करके, (6) विवाह के आर्थिक पहलू में परिवर्तन, अर्थात दहेज व्यवस्था में परिवर्तन, और (7) विधवा पुनर्विवाह।

विवाह सम्बन्धी कानून (Marriage Legislation)

मार्च 1961 में राज्य सभा में जब असमान (Unequal) विवाह विधेयक पर बहस हो रही थी, एक सदस्य ने हिन्दू विवाह संस्था में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध महाकाव्यों से उदाहरण दिए। तत्कालीन राज्य सभा अध्यक्ष डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था– "प्राचीन इतिहास आधुनिक समाज की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता"। एक ही वाक्य में यह उत्तर उन आलोचकों के लिए है जो सामाजिक कानूनों और जनमत के बीच दूरी बनाए रखना चाहते हैं। कानून जनता की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए और चूंकि सामाजिक आवश्यकताएं बदलती रहती हैं तो विधान भी समय-समय पर बदलते रहने चाहिए। सामाजिक विधानों का कार्य यह है कि यह उस समाज में कानून व्यवस्था का सामन्जस्य करे जिसमें वह व्यवस्था निरन्तर विस्तृत होती जाती है। पुराने नियमों और आधुनिक आवश्यकताओं बीच की खाई को समाप्त किया जाना चाहिए।

आधुनिक भारत में आए परिवर्तनों में से एक है विवाह के प्रति दृष्टिकोण में

परिवर्तन, इसलिए *विवाह के विविध पक्षो पर कानूनो की आवश्यकता है।*

भारत मे निम्न विषयो पर कानून लागू किए गए हैं:— (1) विवाह आयु (2) साथी चुनाव के सम्बन्ध मे, (3) विवाह मे पति या पत्नी की सख्या, (4) विवाह विच्छेद, (5) दहेज लेना व देना, और (6) पुनर्विवाह। इन छह पक्षो से सम्बद्ध विविध विधान इस प्रकार हैं (1) बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 (विवाह आयु के सम्बन्ध मे) (2) हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946 *तथा* हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 (साथी के चुनाव के सम्बन्ध मे) (3) विशेष विवाह अधिनियम, 1954 *(विवाह की आयु, माता-पिता की सहमति के बिना बच्चो को* विवाह की स्वतत्रता द्विपत्नी विवाह विवाह विच्छेद से सम्बन्धित) (4) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (विवाह की आयु माता-पिता की सहमति से, द्विपत्नी विवाह, तथा विवाह विच्छेद के सम्बन्ध म) (5) दहेज अधिनियम (1961), और (6) विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856।

बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 (The Child Marriage Restraint Act, 1929)

यह अधिनियम पहली अप्रेल 1930 को लागू हुआ। यह अधिनियम बाल विवाह को रोकता है यद्यपि यह विवाह स्वय निरर्थक निष्प्रभावी घोषित है। तदनुसार 18 वर्ष से कम लडके आर 14 वर्ष से कम आयु की लडकी का विवाह तय करना, सम्पन्न करना, आदि कानूनी अपराध था। बाद मे लडकी की आयु बढाकर 15 वर्ष कर दी गई थी। 1978 मे सुधार के बाद लडके की आयु 21 वर्ष तथा लडकी की आयु 18 वर्ष कर दी गई है। अधिनियम के उल्लघन पर दण्ड का प्रावधान है लेकिन विवाह स्वय मे वेध रहता है। अधिनियम के अन्तर्गत अपराध सज्ञय (Non-cognizable) है और इसके अन्तर्गत माता-पिता, वर, सरक्षक ओर पडित तक के लिए तीन माह का साधारण कारावास ओर 1000 रु तक का अर्थदण्ड है। *किसी महिला को कारावास का दण्ड सम्मिलित नहीं है। अधिनियम मे बाल विवाह* को रोकने के लिए निषेधाज्ञा जारी करने का भी प्रावधान है। लेकिन अपराध के लिए कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती यदि आरोपित विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है।

हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946 (The Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1946)

हिन्दुओ मे कोई भी विवाह यदि निषेधो की सीमा मे आपस मे सम्बन्धित व्यक्तियो के बीच हुआ है तो वेध नहीं है जब तक ऐसा विवाह रिवाजों द्वारा मान्यता प्राप्त न हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक ही गोत्र और प्रवर के व्यक्तियों के बीच विवाह वैध करार दिया गया। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के पारित होने के बाद यह अधिनियम निरस्त हो गया है।

हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 (The Hindu Marriage Validity Act, 1949)

1940 तक हिन्दुओं में प्रतिलोम विवाह अवैध तथा अनुलोम विवाह अनुमान्य था यद्यपि इस प्रकार के विवाहो की वैधता के विरुद्ध न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions) थे। 1949 के अधिनियम ने ये सभी विवाह वैध घोषित कर दिए जो भिन्न जातियों, धर्मों, उपजातियों एवं विश्वासो के लोगो के बीच सम्पन्न हुए हो। लेकिन एक हिन्दू व मुसलमान के बीच विवाह को वैध नहीं माना गया। 1955 के अधिनियम के बाद यह नियम भी निरस्त हो गया है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (The Hindu Marriage Act, 1955)

यह अधिनियम 18 मई, 1955 से प्रभावी हुआ और जम्मू कश्मीर को छोड़कर समस्त भारत मे लागू होता है। इस अधिनियम मे 'हिन्दू' शब्द मे जैन, बौद्ध, सिख, और अनुसूचित जातिया सम्मिलित हैं।

किन्हीं दो हिन्दुओ के बीच विवाह की इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित शर्तें प्रदान की गई हैं — (1) किसी भी पक्ष के पास जीवित पति या पत्नी नहीं है। (2) कोई भी पक्ष पागल या मूर्ख नहीं है। (3) वर की आयु 18 वर्ष और वधू की आयु 15 वर्ष पूरी होनी चाहिए। 1978 के सशोधन के अनुसार लड़के की आयु बढ़ाकर 21 वर्ष और लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गई है। (4) दम्पतियों में से कोई भी निषिद्ध सम्बन्धो के स्तर के निकट का नहीं होना चाहिए, जब तक कि रिवाज उन्हे विवाह की अनुमति न दे। (5) दोनो मे से कोई भी सपिण्ड नहीं होना चाहिए, जब तक कि रिवाज अनुमति न दे। (6) जहाँ वधू 18 से कम और वर 21 वर्ष से कम आयु का हो उनके विवाह में उनके माता-पिता या संरक्षक की सहमति आवश्यक है। जिन लोगो की सहमति लेना आवश्यक है उनका वरीयताक्रम है: पिता, माता, दादा, दादी, भाई, चाचा, नाना, नानी और मामा।

अधिनियम मे विवाह सम्पन्न करने के लिए किसी विशेष स्वरूप का प्रावधान नहीं है। सम्बद्ध पक्षों को स्वतत्रता है कि वे प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार विवाह सम्पन्न करें।

अधिनियम न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह निरस्त करने की प्रक्रिया की अनुमति देता है। कोई भी पक्ष चार आधारो पर न्यायिक पृथक्करण ले सकता है : दो वर्ष तक निरन्तर त्याग, निर्दयी व्यवहार, कोढ़, व्यभिचार (Adultery)।

विवाह को निम्नलिखित चार आधारो पर निरस्त किया जा सकता है: (1) विवाह के समय विवाहित स्त्री या पुरुष नपुंसक रहा हो तथा कार्यवाही होने तक भी नपुंसक स्थिति जारी रहे, (2) विवाह के समय दोनों में से एक पागल या मूर्ख रहा हो, (3) माता-पिता या संरक्षक की सहमति बलात ली गई हो या धोखे से

दी गई हो और (4) विवाह के समय पत्नी पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण कर चुकी हो।

विवाह विच्छेद व्यभिचार धर्म परिवर्तन, असमस्थ मस्तिष्क, कोढ, यौगिक बीमारी (Veneral) सन्यास, सात वर्ष तक परित्याग तथा न्यायिक पृथक्करण के बाद दो वर्ष तक समागम न किया जाना, आदि आधारो पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिए प्रार्थना पत्र दे सकती है यदि उसका पति विवाह से पहले भी एक पत्नी रखता हो और वह बलात्कार या पशुता का दोषी हो।

सन् 1986 का सशोधन परस्पर सहमति (Mutual Consent) तथा असगतता (Incompatibility) के आधार पर विवाह विच्छेद की अनुमति देता है। न्यायालय मे विवाह विच्छेद के लिए प्रार्थना पत्र तभी दिया जा सकता है जबकि विवाह के बाद तीन वर्ष पूरे हो चुके हो। 1986 के सशोधन के बाद यह अवधि दो वर्ष कर दी गई है। विवाह विच्छेदित पक्ष पुर्नविवाह नहीं कर सकते जब तक कि विच्छेद की डिक्री को एक वर्ष समाप्त न हुआ हो। अधिनियम मे पृथक्करण के बाद गुजारा भत्ता (Maintenance Allowance) तथा विच्छेद के बाद निर्वाह व्यय (Alimony) का प्रावधान है। न केवल पत्नी बल्कि पति भी गुजारा भत्ता के लिए दावा कर सकता है।

विशेष विवाह अधिनियम, 1954 (The Special Marriage Act, 1954)

यह अधिनियम पहली अप्रैल, 1955 को प्रभावी हुआ। इस अधिनियम के पश्चात 1872 का विशेष विवाह अधिनियम निरस्त हो गया जो उन व्यक्तियो को जो वर्तमान स्वरूपो का पालन नहीं करना चाहते थे, ने एक नया स्वरूप दिया। 1872 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रावधान था कि जो व्यक्ति विवाह के इच्छुक होते थे उन्हे घोषणा करनी होती थी कि वे जैन, बौद्ध, सिख, मुस्लिम, पारसी, ईसाई, या हिन्दू किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं। 1923 मे इस अधिनियम मे सशोधन किया गया जिसके अन्तर्गत जो व्यक्ति विवाह का इच्छुक हो उसे ऐसी कोई भी घोषणा नहीं करनी होती थी। प्रत्येक पक्ष को केवल इतनी ही घोषणा करनी होती थी कि वह किस धर्म का अनुयायी था। इस प्रकार इस अधिनियम द्वारा अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता प्राप्त हो गई।

आयु, जीवित पत्नी, निषिद्ध सम्बन्ध और मानसिक दशा आदि की शर्तें 1955 के अधिनियम मे भी वैसी ही हैं जैसी कि 1954 के अधिनियम मे दी गई थीं। 1954 के अधिनियम के अन्तर्गत विवाह अफसर द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। दोनो पक्षो को कम से कम विवाह से एक माह पूर्व सूचना देनी होती है। दोनो पक्षो मे से एक के लिए उस विवाह अफसर के कार्यालय के जिले का निवासी होना आवश्यक है। एक माह की अवधि के भीतर कोई भी उनके विरुद्ध आपत्ति उठा

सकता है। यदि सूचना के तीन माह की अवधि के बीच विवाह सम्पन्न नहीं होता है तो फिर एक सूचना की आवश्यकता होगी। विवाह के समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है।

एक व्यक्ति द्वारा माता-पिता की सहमति के बिना विवाह करना विशेष विवाह अधिनियम, 1954 द्वारा जायज (Permissible) है। इस अधिनियम में विवाह निरस्त करने, विवाह विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण तथा निर्वाह व्यय, आदि का भी प्रावधान है। इनके आधार वही हैं, जो हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में दिए गए हैं।

हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 (The Hindu Widows Remarriage Act, 1856)

स्मृति काल के बाद से आगे तक विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। मनु के अनुसार "एक विधवा जो पुनर्विवाह करती है स्वयं को अपमानित करती है, अतः उसे अपने स्वामी के स्थान से बाहर निकल जाना चाहिए"। 1856 के अधिनियम ने हिन्दू विधवाओं के विवाह में आने वाली सभी कानूनी अड़चनों को दूर कर दिया। उद्देश्य था जन कल्याण तथा उच्च आदर्शों को प्रोत्साहन देना। यह अधिनियम घोषित करता है कि ऐसी विधवा जिसका पति उसके दूसरे विवाह के समय से ही स्वर्गवासी हो गया हो, का पुनर्विवाह वैध है और ऐसे विवाह की कोई भी सन्तान अवैधानिक नहीं होगी। ऐसे मामलों में जहां पुनर्विवाह करनेवाली विधवा अल्पवयस्क है, उसके माता-पिता, सगे सम्बन्धियों, भाई की सहमति आवश्यक है। सहमति के अभाव में कोई भी किया गया विवाह निष्प्रभावी होगा। अधिनियम विधवा को प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह अधिकार प्राप्त करने से वंचित करता है।

दहेज निषेध अधिनियम, 1961 (The Dowry Prohibition Act, 1961)

यह अधिनियम 20 मई 1961 को पारित हुआ। इस आशय का विधेयक 27 अप्रैल 1959 को तत्कालीन विधि मन्त्री श्री ए.के. सेन द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत किया गया था। यद्यपि लोक सभा ने इस विधेयक को पारित कर दिया था किन्तु राज्य सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। लोक सभा ने कुछ संशोधन के साथ इसे पुनः स्वीकार कर राज्य सभा में भेजा, जहां उसे पुनः अस्वीकृत कर दिया गया। तब यह विधेयक संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) को सन्दर्भित (Refer) किया गया। समिति की सिफारिशों पर लोक सभा व राज्य सभा की संयुक्त बैठक में बहस हुई तब यह पारित हो सका। यह अधिनियम मुसलमानों पर लागू नहीं होता। यह विधेयक 2000 रुपये से अधिक मूल्य के उपहारों के आदान-प्रदान की अनुमति नहीं देता। इसके उल्लंघन की दिशा में 6 माह का कारावास अथवा 5000 रुपये तक के अर्थदण्ड का प्रावधान है।

अधिनियम के उल्लघन पर पुलिस स्वय कोई कार्यवाही नही कर सकती है, जब तक कि कोई शिकायत दर्ज न कराई जाये। विवाह के एक वर्ष के बाद कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। जब विधेयक पर लोकसभा मे बहस चल रही थी, तत्कालीन उप विधि मत्री ने कहा था "विधेयक के अन्तर्गत अपराध सिद्ध करना लगभग असम्भव होगा क्योकि कोई भी माता-पिता अपनी बेटी का भविष्य खतरे मे नहीं डालने जा रहे हैं, यह कहकर कि उनसे दहेज लिया जा रहा है।" न्यायमूर्ति सप्रू ने भी राज्य सभा मे माना कि विधान पारित कर लेने से कोई लाभ नहीं है यदि इसे ठीक से लागू न किया जा सके। यह केवल कानून की अवमानना (Contempt) ही पैदा करेगा। अधिनियम मे जून 1986 मे कुछ और सशोधन किए गए और इसे पहले से अधिक कठोर बना दिया गया।

यह सत्य है कि उपर्युक्त विवाह सम्बन्धी नियमो मे कई कमिया हैं और सामाजिक बुराइया केवल कानून लागू कर देने से ही दूर नहीं की जा सकतीं, फिर भी यह एक यथार्थ है कि सामाजिक विधान समाज के लिए आवश्यक है। कानून व्यवहार का नमूना प्रस्तुत करता है, भय उत्पन्न करता है, सामाजिक चेतना को जागृत करता है, तथा समाज सुधारको एव कार्यकर्त्ताओ के लिए कार्य का आधार प्रस्तुत करता है। विवाह कानूनो के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोगो का सहयोग आवश्यक है। कानून के विरुद्ध अकेला व्यक्ति शक्तिहीन हो सकता है, लेकिन जहाँ अधिकतर लोग कानून की ओर आख मूद ले, कानून कमजोर पड जाता है। सामाजिक विधानो की सफलता जनता के स्वेच्छापूर्ण सहयोग पर आधारित होती है।

मुस्लिम विवाह (The Muslim Marriage)

मुस्लिम समाज मे स्तरीकरण (Stratification in Muslim Society)

मुस्लिम विवाह का विवेचन करने से पूर्व मुस्लिम समाज के विविध समूहो मे स्तरीकरण का ज्ञान आवश्यक है। वृहद रूप मे मुस्लिम समाज "शिया" और "सुन्नी" दो श्रेणियो मे विभक्त है। हजरत मोहम्मद की मृत्यु के पश्चात, जब उनके अनुयायियो के समक्ष उनके उत्तराधिकारी की समस्या आई तो कुछ लोगो ने इच्छा व्यक्त की कि "इमामत" हजरत साहब के परिवार या उनके द्वारा मनोनीत व्यक्ति तक ही सीमित रहे, जबकि दूसरे लोगो की मान्यता थी कि यह "जमात" के लोगो के द्वारा चुनाव के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। "सुन्नी" लोग चुने हुए व्यक्ति को इस्लाम का प्रमुख मानना चाहते थे, जबकि "शिया" लोग हजरत मोहम्मद के द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही इस पद का दावेदार चाहते थे। इस प्रकार शिया और सुन्नी का उद्भव इस विवाद का ही प्रतिफल था और हिन्दू समाज की भाँति विविध जातियो के उद्भव मे प्रजातीय या व्यावसायिक कारको से इनको कुछ लेना-देना नहीं था। दोनो ही

समूह कुछ क्षेत्रों मे भिन्न सामाजिक प्रथाओं एव मान्यताओ का पालन करते हैं, किन्तु सुन्नी कानून ही भारत मे सामान्यत: लागू होता है क्योंकि शिया सम्प्रदाय की संख्या बहुत ही कम है।

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त मुस्लिम तीन अन्य समूहो मे भी विभक्त हैं: अशरफ, अजलव, और अरजल। सैयद (जो अपना उद्‌भव हजरत मोहम्मद की बेटी फातिमा से मानते हैं), शेख पठान तथा कुछ अन्य "अशरफ" समूह मे सम्बद्ध हैं, मोमिन (जुलाहे), मन्सूरी (रुई धुनने वाले), इब्राहिम (नाई), आदि "अजलव" समूह से सम्बद्ध हैं, तथा हलालखोर आदि "अरजल" समूह से सम्बद्ध होते हैं। अशरफ कुलीन माने जाते हैं, अजलव निम्न जन्म के होते हैं, और अरजल हिन्दुओ मे अछूतों की भाँति होते हैं, यहाँ तक कि मस्जिदो में भी उनका प्रवेश वर्जित होता है। न ही उन्हें सार्वजनिक कब्रगाह के प्रयोग की अनुमति है। यह वर्गीकरण भी विशुद्ध सामाजिक-आर्थिक आधार पर आधारित है न कि धर्म पर।

एक ओर शिया और सुन्नी और दूसरी ओर अशरफ, अजलव, और अरजल अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह होते हैं। यद्यपि इन समूहों मे आपस में विवाह की निन्दा नहीं की जाती किन्तु इस प्रकार के विवाह को हतोत्साहित किया जाता है। सुन्नियो मे दूल्हे की सामाजिकहीनता विवाह के रद्द किये जाने का आधार हो सकती है, यद्यपि शियाओं मे ऐसा कुछ नहीं है। स्तरीकरण के उपरोक्त आधार पर अब हम मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताओ का विवेचन कर सकते हैं।

मुस्लिम विवाह के उद्‌देश्य व लक्ष्य (Aims and Objects of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह, जिसे "निकाह" कहा जाता है, हिन्दुओं के विवाह की भाँति पवित्र संस्कार न होकर एक दीवानी समझौता (Civil Contract) माना जाता है। इसके प्रमुख लक्ष्य हैं: यौन नियंत्रण, गृहस्थ जीवन को व्यवस्थित करना, बच्चों को जन्म देकर परिवार में वृद्धि करना तथा बच्चों का लालन-पालन करना। रौलेण्ड विल्सन (1941) के अनुसार, मुस्लिम विवाह यौन समागम को वैधानिक बनाना और बच्चों को जन्म देना मात्र है। एस.सी. सरकार का भी मानना है कि मुसलमानों में विवाह पवित्र संस्कार नहीं है, बल्कि एक विशुद्ध दीवानी समझौता है। परन्तु मुस्लिम विवाह का यह चित्र सही नहीं है। यह कहना निश्चित रूप से गलत है कि मुस्लिम विवाह का एक मात्र लक्ष्य यौन सुख की पूर्ति एवं बच्चो को जन्म देना है। मुस्लिम समाज में विवाह एक धार्मिक कर्त्तव्य भी है। यह श्रद्धा तथा "इबादत" की एक क्रिया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो मुसलमान इस कार्य को एक धार्मिक क्रिया मान कर करता है, उसे परलोक में पुरस्कार मिलता है और जो ऐसा नहीं करता, वह पाप का भागीदार होता है। इसे "सुन्नत मुवक्किदल" (Sunnat Muwakkidal)

कहते हैं (काशी पसाद सक्सेना 1959 116)। जग (Jang, 1953) यह मानने मे अधिक सही हैं कि निकाह यद्यपि आवश्यक रूप से एक समझौता है किन्तु साथ ही एक श्रद्धा का कार्य भी है। परन्तु मुस्लिम विवाह यद्यपि एक धर्मिक कर्तव्य है, किन्तु स्पष्ट रूप से यह एक पवित्र सस्कार (Sacrament) नहीं है। हिन्दू विश्वास की तरह इसे वह सस्कार नहीं माना जाता जो व्यक्ति को पवित्रता एव पुण्य पदान करता है।

विवाह व्यवस्था प्रमुख विशेषताए (The Marriage System: Characteristic Features)

मुस्लिम विवाह की पथम आवश्यकता है "पस्ताव रखना" (Proposal) और उसको "स्वीकृति" (Acceptance)। यद्यपि यह दोनो बाते हिन्दू विवाह मे भी पायी जाती हैं किन्तु यह केवल विवाह सम्बन्धी बातचीत को आगे बढाने के लिए होती हैं, न कि मुस्लिम समाज की भाँति विवाह तय करने के लिए। दूल्हा दो गवाहो तथा मौलवी की उपस्थिति मे विवाह से पूर्व दुल्हन के सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है। यह आवश्यक है कि "प्रस्ताव" तथा स्वीकृति" एक ही बैठक (Meeting) मे हो। एक बैठक मे प्रस्ताव तथा दूसरी बैठक मे स्वीकृति "सही निकाह" (Regular Marriage) नहीं होते, यद्यपि यह विवाह "अवैधानिक" (बातिल) नहीं होता। इस विवाह को 'अनियमित" (Irregular) अथवा "फासिद" (Fasid) माना जाता है। शियाओ मे विवाह भग करते समय दो गवाहो की आवश्यकता होती है न कि समझौते के समय, जबकि सुन्नियो मे नियम बिल्कुल इसके विपरीत हैं। साथ ही मुस्लिम विवाह मे महिला पमाण (Testimony) को पूर्णरूपेण अस्वीकृत किया गया है। अत. विवाह समझौता दो पुरषो द्वारा प्रमाणित किया जाना चाहिए। प्रस्ताव व स्वीकृति मे दो पुरुष साक्षियो की आवश्यकता होती है। एक पुरुष और दो महिलाओ का प्रमाण मान्य नहीं है। इस प्रकार "फासिद" एव "बातिल" विवाहो मे अन्तर यह है कि "फासिद" विवाह की अडचनो (Impediments) तथा अनियमित (Irregularities) को दूर करके "सही" विवाह मे तो बदला जा सकता है, लेकिन "बातिल" विवाह मे परिवर्तन सम्भव नहीं है। "फासिद" विवाह के अनेक उदाहरण हैं : प्रस्ताव तथा स्वीकृति के समय साक्षियो का न होना पुरुष का पाँचवा विवाह, महिला की इद्दत (Iddat) की अवधि मे विवाह (इद्दत वह समय होता है जिसमे महिला के तीन मासिक धर्मों को उसके पति की मृत्यु के पश्चात् या तलाक के बाद यह सुनिश्चित करने के लिए होता है कि वह महिला कहीं गर्भवती तो नहीं है) तथा पति-पत्नी के धर्मों मे अन्तर। एक पुरुष का विवाह एक 'किताबिया" स्त्री (यहूदी या ईसाई) के साथ "सही" विवाह कहलाता है, लेकिन ऐसी स्त्री के साथ विवाह जो अग्नि या मूर्ति पूजक होती है, 'फासिद" विवाह होता है।

पुरुष चाहे एक गैर-मुसलमान स्त्री से विवाह कर सकता है, यदि उसे विश्वास हो कि उस स्त्री की मूर्ति पूजा केवल नाम मात्र है, उदाहरणार्थ कई मुगल बादशाहों ने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किये और उनके बच्चे वैधानिक माने गये तथा अकबर राज सिंहासन पर भी आरूढ़ हुए। ऐसे विवाहों को निषिद्ध करने का एकमात्र उद्‌देश्य यह था कि मूर्ति पूजा को इस्लामी राजनीति से बाहर रखा जा सके। लेकिन एक मुस्लिम महिला को एक "किताबिया" पुरुष से विवाह की किसी भी परिस्थिति में अनुमति नहीं दी गई है। उसके लिए ऐसा विवाह "बातिल" विवाह होगा। "बातिल" विवाह के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं : बहुपति विवाह (Polyandry) या निकटस्थ रिश्तेदारों में विवाह का चलन (जैसे माँ, माँ की माँ, बहन, बहन की लड़की, माँ की बहन, पिता की बहन, लड़की की लड़की) या फिर एक विवाहमूलक नातेदार (Affinal Kin) से (जैसे पत्नी की माँ पत्नी की बेटी, बेटे की पत्नी)। "बातिल" विवाह का एक और उदाहरण है एक व्यक्ति का एक ही समय में दो ऐसी महिलाओं से विवाह जो आपस में इस प्रकार सम्बन्धित हों कि यदि इनमें से एक पुरुष होती तो विवाह सम्भव हो न होता। इसका सरल शब्दों में अर्थ यह है कि एक पुरुष अपनी पत्नी के जीवित रहते उसकी बहन यानी अपनी साली से विवाह नहीं कर सकता। "बातिल" विवाह दोनों पक्षों के बीच किसी भी प्रकार का अधिकार या कर्तव्य नहीं दर्शाता। ऐसे विवाह से उत्पन्न संतान भी अवैध (Illegitimate) मानी जाती है। केवल "सही" या वैध (Valid) विवाह ही पत्नी को पति के घर में रहने, गुजर करने (Maintenance) एवं मेहर (Dower) आदि का अधिकार प्रदान करता है। "फासिद" या अनियमित विवाह सहवास (Consummation) से पूर्व या पश्चात दोनों में से किसी एक भी पक्ष के द्वारा भंग किया जा सकता है। यदि विवाह में सहवास हो चुका है तो सन्तान वैध होगी और उन्हें सम्पत्ति की विरासत का अधिकार होगा, इसी प्रकार पत्नी को "मेहर" (Dower) का अधिकार भी प्राप्त होता है।

मुस्लिम विवाह का दूसरा लक्षण यह है कि व्यक्ति में विवाह समझौता करने की योग्यता (Capacity) होनी चाहिए। क्योंकि केवल वयस्क एवं समझदार व्यक्ति ही समझौते को समझ व कर सकता है, इसलिए बाल विवाह एवं अस्वस्थ मस्तिष्क के लोगों के विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं होती। अतः केवल यौन परिपक्वता प्राप्त (Puberty) व स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्ति ही विवाह संविदा कर सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि अल्पवयस्क के विवाह संविदा (Contract) हो चुका है तो वह अवैध (Void) है। अल्पवयस्क के विवाह संविदा उसके माता-पिता या संरक्षक द्वारा किया जा सकता है। "शिया" नियमों के अन्तर्गत अल्पवयस्क के मामले में विवाह संविदा करने का अधिकार क्रमशः पिता, दादा, भाई, अथवा वंशानुक्रम में किसी अन्य पुरुष रिश्तेदार को प्रदान किया गया है। यदि पितृपक्ष में कोई रिश्तेदार न हो तो मातृ पक्ष में माता, मामा, या मौसी को यह अधिकार प्रदान

किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति अनाधिकृत (Unauthorised) अथवा "फजूली" समझे जाते हैं और उनके द्वारा किया गया विवाह समझौता कानूनी सीमाओं मे निष्प्रभावी होता है जब तक कि यौन परिपक्वता प्राप्त होने के बाद सम्बद्ध पक्षों द्वारा ही उसे अनुमोदित (Ratify) न किया जाये। अनुमोदन अथवा अस्वीकृति के इस अधिकार को "ख़ैरुल बालिक" कहते हैं। अल्पवयस्क विवाह को अस्वीकार (Repudiate) कर सकता है यदि वह यह सिद्ध कर सके कि उसके सरक्षकों ने लापरवाही या धाधाधड़ी मे संविदा को किया था। उदाहरणार्थ उसका विवाह पागल लड़को से जानबूझ कर किया गया था अथवा मेहर उसके अहित मे तय हुआ आदि। विवाह की अस्वीकृति के लिए लड़के के लिए कोई समय सीमा नहीं है लेकिन लड़की के मामले मे युक्तिसगत (Reasonable) समय दिया जाता है तथा उसे बता दिया जाता है कि उसे विवाह को अस्वीकार करने का अधिकार है। लड़का या तो मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा या मेहर की रकम अदा करके या फिर यौन ससर्ग से विवाह की पुष्टि कर सकता है। 1938 के *मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम* के अन्तर्गत विवाह भग के विकल्प (Option) मे सुधार कर लिया गया था जिसके अन्तर्गत महिला को यौन परिपक्वता प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद तक विवाह विच्छेद के लिए समय प्रदान किया गया है यानी कि 18 वर्ष की आयु तक अगर यौन सबध स्थापित नहीं किया हो।

मुस्लिम विवाह का तीसरा लक्षण यह है कि "समानता के सिद्धान्त" (Doctrine *of Equality*) *का पालन अवश्य किया जाना चाहिए।* यद्यपि निम्न स्तर के व्यक्ति के साथ विवाह संविदा करने का कोई कानूनी निषेध नहीं है फिर भी इस प्रकार के विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसी प्रकार भाग कर किए गए विवाह (कीफा Kifa) को मान्यता प्राप्त नहीं है फिर भी लड़कियां घर से भाग कर तथा निम्न या उच्च स्तर पर विचार किए बिना अपनी पसन्द के लड़कों से विवाह कर ही लेती हैं। "सुन्नियो" मे वर के पक्ष मे सामाजिकहीनता का पत्न विवाह रद्द करने के लिए पर्याप्त कारण हो सकता है किन्तु "शिया" लोगो मे नहीं है।

मुस्लिम विवाह का चौथा लक्षण है "अधिमान व्यवस्था" (Preference System)। जीवन-साथी के चुनाव मे, पहली अधिमान्यता सलिग सहोदरज (Parallel *Cousin*) को *और उसके बाद विलिंग सहोदरज (Cross Cousin)* को दी जाती है। यद्यपि दोनो प्रकार के सलिंग सहोदरज विवाह (चचेरा और मौसेरा) का चलन (practice) मिलता है तथापि सहोदरज विवाह मे फुफेरा विवाह को मान्यता नहीं दी गयी है (मिश्र, 1956 153)। सम्भवत: उसके कई कारणो मे से कुछ यह भी हो सकते हैं: परिवार से बाहर अधिक दहेज मिलने की सम्भावना नये व्यक्तियों से रिश्तेदारी का बढ़ना तथा सहोदरजो का एक-दूसरे से बहुत दूर रहना।

हिन्दुओं में कुछ जातियो मे पाई जाने वाली प्रथा के विपरीत विधवा यदि पुनर्विवाह करने की इच्छुक है तो वह अपने मृत पति के भाई को वरीयता प्रदान करने के लिए बाध्य नहीं है। इस प्रकार मुस्लिमो मे भाभी विवाह (Levirate) का प्रचलन नहीं है। इनके समाज में साली विवाह (Sororate) को भी मान्यता प्राप्त नहीं है। किन्तु मृत या तलाकशुदा पत्नी की बहन मे विवाह की अनुमति है।

मेहर (Dower)

मेहर वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के प्रतिफल के रूप मे पत्नी अपने पति से लेने की अधिकारिणी होती है। यहाँ "विवाह का प्रतिफल" का प्रयोग भारतीय समझौता अधिनियम के अनुरूप नहीं किया गया है। मुस्लिम नियमो के अन्तर्गत "मेहर" पति का एक कर्त्तव्य (Obligation) है जो कि पत्नी के प्रति आदर का सूचक होता है। इस प्रकार यह वधू-मूल्य (Bride Price) नहीं है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं: पति पर पत्नी को तलाक देने सम्बन्धी नियंत्रण करना तथा पति की मृत्यु अथवा तलाक के पश्चात महिला को अपने भरण पोषण के योग्य बनाना। मेहर की धन राशि विवाह से पहले, बाद मे, या फिर विवाह के समय निश्चित की जा सकती है। यद्यपि यह धन राशि कम नहीं की जा सकती हैं, फिर भी पति की इच्छा से इसमे वृद्धि की जा सकती है। पत्नी चाहे तो इस धनराशि को घटाने के लिए सहमत हो सकती है या फिर इस समस्त धनराशि को अपने पति या उसके उत्तराधिकारियों को भेंट स्वरूप प्रदान कर सकती है। दोनों पक्षों में निश्चित की गई मेहर की धनराशि को "निर्दिष्ट" (Specified) कहते हैं। मेहर की कम से कम धन राशि 10 दरहम (Dirham) होती है, लेकिन अधिकतम की कोई सीमा निश्चित नहीं है। जब मेहर की राशि निश्चित न करके जो उचित समझते हैं वह देते हैं तो इस राशि को "उचित" (मुनासिब) मेहर कहते हैं। उचित मेहर राशि निश्चित करते समय पति और उसके परिवार के आर्थिक स्तर का सम्मान करना पड़ता है या फिर महिला के पिता के परिवार में दूसरी स्त्रियो पर निश्चित किए गए मेहर की ओर भी ध्यान देना पड़ता है (जैसे उसकी बहन या बुआ), या फिर पति के परिवार के पुरुष सदस्यो द्वारा निश्चित किए गए मेहर पर भी ध्यान देना पड़ता है। मेहर की राशि मुख्य रूप से पति की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है। माँगे जाने पर दी जानी वाली मेहर की राशि को (फौरी) "तुरंत" (Prompt) मेहर कहते हैं और जो मेहर विवाह-विच्छेद के बाद दिया जाये, उसे "स्थगित" (Deferred) मेहर कहते हैं। शिया लोगों मे जब कोई अनुबन्ध (Stipulation) नहीं होता तो मेहर "फौरी" माना जाता है, लेकिन सुन्नियों मे इस प्रकार की कोई मान्यता नहीं होती है।

मेहर का सम्बन्ध विवाह के उपरान्त यौन संबध स्थापित (सहवास) होने से भी होता है। विवाह के बाद यौन संबध स्थापित (Consummation) होने पर स्त्री

का मेहर पर अधिकार हो जाता है। यह तो वास्तविक यौन सम्बन्ध स्थापित करके हो सकता ह या उस प्रकार जिसे कानून ऐसा मानता ह, जैसे पति या पत्नी की मृत्यु हो जाने या ठोस आधार पर अलग हो जाने पर ऐसा होता है। पति द्वारा विवाह समाप्त किये जाने पर लाछित आदि किये जाने के पश्चात अलग होने की स्थिति मे पत्नी आधे "निर्दिष्ट" (Specific) मेहर की अधिकारी हो जाती है। यदि मेहर का उल्लेख न किया गया हो तो वह "मुतात" (Mutat) मेहर की अधिकारी होती है। यदि पति-पत्नी पत्नी की पहल (Initiative) पर अलग हुए हैं तो वह किसी भी प्रकार के मेहर की अधिकारी नहीं होती है (यदि विवाह के बाद यौन सबध स्थापित नहीं हुए हैं)।

मुस्लिम कानून के अन्तर्गत मेहर के लिए विधवा का दावा अपने पति की भूसम्पत्ति के विरुद्ध एक कर्ज है। पति की सम्पत्ति मे पत्नी का उतना ही अधिकार है जितना अन्य देनदारो का है। वह मेहर की रकम अदा किए जाने तक पूरी सम्पत्ति को अपने पास रोक सकती ह। सम्पत्ति को अपने अधिकार मे करने के लिए उसे अन्य किसी वारिसो से अनुमति नहीं लेनी होती। परन्तु यदि तलाक "खुला" या "मुबारत" हुआ है, तो महिला का मेहर पर से अधिकार खत्म हो जाता है, क्योंकि दोनों ही मामलो मे पति-पत्नी मिलकर विवाह भग करने के लिए सहमत होते हैं।

"मुता" विवाह (Muta Marriage)

मुसलमानों मे भी अस्थाई प्रकार के विवाह का प्रचलन है जिसे "मुता" विवाह कहते हैं। यह विवाह स्त्री व पुरुष के आपसी समझौते मे होता है और इसमे कोई भी रिश्तेदार हस्तक्षेप नहीं करता। पुरुष को एक मुस्लिम या यहूदी या ईसाई स्त्री से "मुता" विवाह के सविदा का अधिकार है, किन्तु एक स्त्री एक गैर-मुस्लिम से "मुता" सविदा नहीं कर सकती है। "मुता" विवाह से प्राप्त पत्नी को "सिघा" (Sigha) नाम से जाना जाता है। आजकल भारत और पाकिस्तान मे इस विवाह का प्रचलन नहीं है। यह केवल अरब देशों मे ही प्रचलित है। इसके अतिरिक्त यह विवाह शिया लोगों मे ही वैध माना जाता है और सुन्नियों में नहीं। इस प्रकार के विवाह की वैधता के लिए दो बातें आवश्यक हैं: (i) सहवास (Cohabitation) की अवधि पहले से ही निश्चित होनी चाहिए (ii) मेहर की राशि भी पहले ही निश्चित होनी चाहिए। यदि अवधि निश्चित नहीं है और मेहर निश्चित है तो विवाह स्थाई माना जाता है किन्तु यदि अवधि निश्चित है और मेहर निश्चित नहीं है तो विवाह अवैध (Void) माना जाता है। यदि अवधि निश्चित है और सहवास अवधि समाप्ति के बाद भी चलता रहता है तो यह मान लिया जाता है कि अवधि बढा दी गई है, और इस बीच उत्पन्न हुई सन्तान भी वैध मानी जाती है और स्त्री के सगे रिश्तेदारो को उन्हे स्वीकार करना पडता है। परन्तु "मुता" विवाह स्त्री-पुरुष के बीच विरासत

(Inheritance) के अधिकार प्रदान नहीं करता है। मिया' पत्नी भरण-पोषण की राशि (Maintenance Amount) का दावा नहीं कर सकती है और न ही उसे अपने पति की सम्पत्ति से विरासत में ही कुछ हिस्सा मिलेगा। लेकिन सन्तान वैध होने के कारण, पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा पाने की अधिकारी है। मुता विवाह में तलाक भी मान्य नहीं है, किन्तु पति अपनी पत्नी को बचे हुए समय को "भेंट" (Gift) देकर समझौते (Contact) को समाप्त कर सकता है। यदि विवाह उपभक्त (Consummate) नहीं हुआ है तो पूर्व निर्धारित मेहर का आधा भाग ही देय होता है, किन्तु विवाह की उपभक्ति पर मेहर की पूर्ण राशि देय होती है।

मुस्लिम कानून में 'मुता' विवाह को हेय (Condemned) माना जाता है। यह न केवल इसलिए कि विवाह अस्थाई होता है और 'वली' (Wali) या दो साक्षियों की सहमति के बिना व्यक्तिगत रूप में किया गया समझौता होता है, बल्कि इसलिए भी कि स्त्री ने अपना घर नहीं छोड़ा तथा उसके रिश्तेदारों ने उस पर अपना अधिकार नहीं छोड़ा और सन्तान पिता की न हो सकी और उसके वंश में सम्बन्धित न हो सकी। अतः इस विवाह के प्रति विरोधी रुख इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस विवाह में पायी जाने वाली मातृस्थानीयता व मातृवंशीयता इस्लाम द्वारा स्वीकृत पितृस्थानीयता व पितृवंशीयता के विरुद्ध थी। इस्लाम भी विवाह के स्थायित्व को मानता है और कोई भी बात जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्थायित्व को बढ़ावा देती हो उसको मान्यता प्रदान नहीं की गई।

विवाह विच्छेद (Divorce)

मुस्लिम कानून के अन्तर्गत विवाह समझौता (Contract) या तो अदालती कार्यवाही द्वारा समाप्त किया जा सकता है या बिना अदालत के हस्तक्षेप के भी। न्यायिक प्रक्रिया द्वारा मुस्लिम विवाह अधिनियम, 1939 के अन्तर्गत या "मुस्लिम कानून" के अन्तर्गत तलाक प्राप्त किया जा सकता है। न्यायिक हस्तक्षेप के बिना भी पति की इच्छा से तलाक हो सकता है या फिर पति और पत्नी की आपसी सहमति से भी हो सकता है, जिसे "खुला" या "मुबारत" कहते हैं। "खुला" और "मुबारत" में अन्तर यह है कि "खुला" तलाक में पहल पत्नी की होती है और "मुबारत" में पहल किसी की भी हो सकती है क्योंकि दोनों ही पक्ष तलाक के इच्छुक होते हैं। तलाक की प्रक्रिया को या तो मुह जबानी (Oral) कुछ उद्घोषणा (Pronouncement) करके या तलाकनामा लिखकर पूर्ण किया जा सकता है। तलाक की उद्घोषणा या तो निरसनीय (रद्द करने योग्य- Revocable) या अनिरसनीय (Irrevocable) हो सकती है। अनिरसनीय घोषणा से विवाह–विच्छेद तुरन्त होता है जबकि निरसनीय घोषणा से "इद्दत" की अवधि समाप्त होने तक विवाह-विच्छेद नहीं होता। इस अवधि में घोषणा का निरसन या तो अभिव्यक्ति द्वारा या विवाहित संबंध आरम्भ

करे बिना अभिव्यक्ति के किया जा सकता है। तलाक निम्नलिखित तीन तरह से दिया जा सकता है

1 तलाक-ए-अहसन—इसके अन्तर्गत 'तलाक' की अधिघोषणा मासिक धर्म की अवधि 'तुहर' में एक ही बार की जाती है और इद्दत की अवधि तक यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता है। शियाओं में इस तलाक को मान्यता नहीं दी जाती है। सुन्नियों में भी नशे की हालत में या गम्भीर धमकी की अवस्था में की गयी 'तलाक' की घोषणा निरर्थक होती है।

2 तलाक-ए-हसन– इसमें तीन घोषणाएँ सम्मिलित होती हैं जो लगातार तीन मासिक धर्म 'तुहर' की अवधि में की जाती हैं और इस अवधि में किसी भी प्रकार का यौन सम्पर्क नहीं किया जाता है।

3 तलाक-ए-उल-बिदत—इसके अन्तर्गत एक ही 'तुहर' की अवधि में एक ही वाक्य में तीन घोषणाएं करने से (मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ) या तीन बार तीन वाक्यों में दोहरा कर (मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ) तलाक हो जाता है, या फिर एक ही तुहर में उक्त वाक्य को एक ही बार कहने पर जिसमें *विवाह समाप्त करने की अनिरसनीय* इच्छा प्रकट की गयी हो (जैसे मैं तुम्हें अनिरसनीय आधार पर तलाक देता हूँ) तलाक हो जाता है।

इस प्रकार प्रथम दो प्रकार (अहसन और हसन) के तलाक के अंतर्गत दोनों ही पक्षों में समझौते के अवसर होते हैं लेकिन तीसरे में नहीं। तलाके-अहसन को *अधिक मान्यता प्राप्त है।*

हिन्दू व मुस्लिम विवाह में अन्तर (Difference between Hindu and Muslim Marriages)

हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में निम्नलिखित चार आधारों पर भेद किया जा सकता है (i) विवाह के उद्देश्य और आदर्शों के आधार पर (ii) विवाह व्यवस्था के *स्वरूप के आधार पर (iii) विवाह की प्रकृति के आधार पर, और (iv) विवाह* सम्बन्धों के आधार पर।

उद्देश्य और आदर्श

हिन्दू विवाह में धर्म व धार्मिक भावनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है किन्तु मुस्लिम विवाह में भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता है। हिन्दू विवाह दो धार्मिक उद्देश्यों से *किया जाता है, पहला प्रत्येक हिन्दू का धार्मिक कर्तव्य है* कि वह विवाह करे, दूसरा प्रत्येक हिन्दू को पुत्र प्राप्ति करनी चाहिए ताकि वह पितरों को पितृदान आदि कर सके। सभी धार्मिक क्रियाएं तभी मान्य होती हैं जबकि पति–पत्नी मिलाकर उन्हें सम्पन्न करें। हिन्दू विवाह आदर्श के विरुद्ध मुस्लिम विवाह मात्र

एक समझौता (Contract) होता है जिससे यौन सम्बन्ध स्थापित हो सके और सन्तानोत्पत्ति हो सके।

विवाह व्यवस्था के स्वरूप

"प्रस्ताव रखना" और उसकी "स्वीकृति" मुस्लिम विवाह की विशेषताएं हैं। प्रस्ताव कन्या पक्ष से आता है और जिस बैठक मे प्रस्ताव आता है, उसी मे स्वीकार भी किया जाना चाहिए और इसमे दो साक्षियों (Witnesses) का होना भी आवश्यक होता है। हिन्दुओ मे ऐसा रिवाज नहीं है। मुस्लिम इस बात पर जोर देते हैं कि क्या व्यक्ति में संविदा करने की सामर्थ्य है परन्तु हिन्दू इस प्रकार के सामर्थ्य मे विश्वास नहीं करते। मुस्लिम लोग मेहर की प्रथा का पालन करते हैं जबकि हिन्दुओं मे मेहर जैसी प्रथा नहीं होती है। मुसलमान बहुपत्नी-विवाह (Polygamy) मे विश्वास करते हैं, लेकिन हिन्दू ऐसी प्रथा का तिरस्कार करते हैं। जीवन-साथी के चुनाव के लिए मुसलमान लोग वरीयता (Preferential) व्यवस्था मानते हैं जबकि हिन्दुओं मे ऐसी व्यवस्था नहीं है। मुसलमानों की तरह हिन्दू लोग "फासिद" या "बातिल" विवाह में भी विश्वास नहीं करते।

विवाह की प्रकृति

मुसलमान अस्थाई विवाह "मुताह" को मानते हैं, लेकिन हिन्दू नहीं मानते। हिन्दू विवाह में समझौते के लिए "इद्दत" को नहीं मानते। अन्तिम, हिन्दू लोग विधवा विवाह को हेयदृष्टि से देखते रहे हैं, जबकि मुसलमान लोग विधवा विवाह मे विश्वास रखते हैं।

विवाह सम्बन्ध

हिन्दुओ मे विवाह-विच्छेद केवल मृत्यु के बाद ही सम्भव है, लेकिन मुसलमानों मे पुरुष के उन्माद पर विवाह विच्छेद हो जाता है। मुसलमान पुरुष अपनी पत्नी को न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना भी तलाक दे सकता है, लेकिन हिन्दू लोग न्यायालय के माध्यम से ही विवाह विच्छेद कर सकते हैं।

सामाजिक विधान में परिवर्तन की आवश्यकता

मुसलमानो ने, विशेष रूप से शिक्षित मुसलमानो ने, यह अनुभव किया है कि विवाह के सम्बन्ध मे सामाजिक कानून व प्रचलित धार्मिक नियमो मे विविध कारणों से परिवर्तन होने चाहिए — (i) पुराने नियम आज की औद्योगिक सभ्यता की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते, (ii) शिक्षा ने मनुष्य के विचारों मे विस्तार किया है और वे सामाजिक प्रथाओ को अधिक आधुनिक बनाना चाहते हैं, (iii) अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से मुसलमानों ने विवाह के प्रति दृष्टिकोण एवं व्यवहार मे एक नया अध्याय जोड़ दिया है, (iv) स्त्रियों को अपनी स्थिति एवं अधिकारों

का आभास होने लगा है, अत वे पुरुष के बराबर के अधिकार चाहती हैं (v) कुरान के तथ्यो की पुन: व्याख्या की आवश्यकता है, ताकि उन्हे जन आकाक्षाओ के अनुरूप बनाया जा सके।

दूसरी ओर परम्परागत विचारधारा भी है जो कि कुरान की व्याख्या मे हस्तक्षेप पसन्द नहीं करती है। वह सुधार का विरोध करती है। परन्तु, शिक्षित वर्ग इस्लामिक विश्वासो एव परम्पराओ मे पुनर्विचार का पक्षधर है। आधुनिक विचारो के लोग रूढिवादी विचारो वाले अशिक्षित लोगो को समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं कि उनकी सामाजिक रूढिवादिता (Social Conservatism) कुरान की शिक्षा के विपरीत है।

ईसाई विवाह (Christian Marriage)

स्तरीकरण (Stratification)

जिस प्रकार हिन्दू अनेक जातियो मे तथा मुसलमान शिया और सुन्नियो मे विभाजित हैं उसी प्रकार ईसाइयो मे भी स्तरीकरण मिलता है। वे दो समूहो मे विभाजित हैं— कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट। कैथोलिक लेटिन कैथोलिक तथा सीरियन कैथोलिक मे उप विभाजित हैं। प्रत्येक समूह ओर उप समूह अन्तर्विवाही (Endogamous) होता है। कैथोलिक लोग प्रोटोस्टेन्ट्स मे विवाह नहीं करते तथा लेटिन कैथोलिक सीरियन कैथोलिक समूह मे विवाह नहीं करते। ईसाइयो मे उक्त सामाजिक स्तरीकरण की पृष्ठभूमि मे ईसाई विवाह का विश्लेषण किया जा सकता है ओर हिन्दू व मुस्लिम से तुलना भी।

उद्देश्य (Objectives)

व्यवहारिक रूप से हिन्दू, मुस्लिम व ईसाई विवाहो का एक उद्देश्य तो सामान्य (Common) है—यौन सम्बन्धो को सामाजिक मान्यता प्रदान करना तथा सतान उत्पन्न करना। किन्तु हिन्दुओ मे विवाह धार्मिक भावनाओ (Sentiments) पर आधारित है, मुस्लिम विवाह मे इसका कोई बडा महत्व नहीं है। ईसाई विवाह मे धर्म बहुत महत्वपूर्ण है। ईसाई सोचते हैं कि विवाह का मानवीय जीवन सम्बन्धी ईश्वर के उद्देश्य (God's Purpose) मे एक विशेष स्थान है। ईसाई समाज मे यौन समागम एक आवश्यक बुराई नहीं समझी जाती और न इसे सन्तानोतपत्ति के लिए एक साधन माना जाता है। ईसाइयो की मान्यता है कि विवाह ईश्वर की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। विवाह के बाद स्त्री-पुरुष एक-दूसरे मे समा जाते हैं। अत. विवाह उनमे न केवल जैविकीय सम्बन्ध परन्तु मानसिक ओर धार्मिक सम्बन्ध भी स्थापित करता है। ईसाई विश्वास के अनुसार विवाह के तीन उद्देश्य प्रमुख हैं, सन्तान उत्पत्ति बिना विवाह के यौन सम्बन्धो से सरक्षण और पारस्परिक सहयोग व सान्त्वना। इन उद्देश्यो के आधार पर ईसाई विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है

"एक पुरुष और स्त्री के बीच यौन सम्बन्ध, पारस्परिक साहचर्य व परिवार की स्थापना के लिए एक अनुबंध है, जो सामान्यतः पूरे जीवन के लिए होता है।

जीवन-साथी का चुनाव व वैवाहिक संस्कार (Mate Selection and Marriage Rituals)

ईसाई समाज में हिन्दुओं की तरह जीवन साथी का चुनाव दो प्रकार से होता है: बच्चों द्वारा स्वयं चुनाव व माता-पिता द्वारा चुनाव। परन्तु 10 में से 9 प्रकरणों में चुनाव माता-पिता के द्वारा ही होता है। जीवन साथी के चुनाव में रक्त सम्बन्धों को दूर रखा जाता है तथा सामाजिक स्थिति, परिवार की स्थिति, शिक्षा, चरित्र एवं स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार समरक्तता (Consanguinity) व विवाह सम्बन्धी (Affinity) प्रतिबन्धों के सदर्भ में ईसाइ व हिन्दू विवाह में बहुत कम अन्तर पाया जाता है। मुसलमानों की भाँति विवाह में वरीय व्यक्ति (Preferred Person) का चुनाव नहीं होता है।

जीवन-साथी के चुनाव के पश्चात सगाई (Betrothal) की रस्म निभाई जाती है। माता-पिता अपनी सम्मति पादरी को बता देते हैं जिसे पादरी पंचों तक पहुंचाता है। यह रस्म लड़की के घर ही होती है। लड़का लड़की को अंगूठी पहनाता है तथा लड़की भी अक्सर लड़के को अंगूठी पहनाती है। सगाई के बाद दोनों ही पक्षों को कुछ औपचारिकताएं पूरी करनी होती हैं, जैसे, गिरजे की सदस्यता का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना, चरित्र प्रमाण-पत्र देना, तथा विवाह की निश्चित तिथि के तीन सप्ताह पूर्व चर्च में विवाह हेतु प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। चर्च का पादरी इसके पश्चात विवाह के विरुद्ध लिखित आपत्ति मांगता है। एक निश्चित अवधि में कोई आपत्ति न आने पर पादरी विवाह की तिथि निश्चित कर देता है। कन्या जिस गिरजे की सदस्य होती है, उसी में विवाह सम्पन्न होता है। पादरी वर व कन्या दोनों से पूछता है कि क्या वे एक-दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं और जब वे अपनी सहमति दे देते हैं, तब पादरी गवाहों के समक्ष दम्पती को यह घोषित करने को कहता है यह विवाह सम्पन्न करता है, "मैं (नाम) ईश्वर की उपस्थिति में तथा प्रभु यीशु के नाम पर तुम को (नाम) वैधानिक पति/पत्नी स्वीकार करता/करती हूँ"।

विशेषताएँ (Features)

ईसाई एक पत्नी-विवाह (Monogamy) को आदर्श मानते हैं तथा बहुपत्नी-विवाह निषेधित है। 1872 का भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम जिसमें 1891, 1903, 1911, 1920 तथा 1928 में संशोधन किये गये थे, ईसाई विवाह के सभी पक्षों पर प्रकाश डालता है, जैसे, विवाह कौन सम्पादित करेगा, किस स्थान पर (यानी चर्च में) सम्पन्न होगा, किस समय सम्पन्न होगा (6 बजे प्रातः से सायं 7 बजे तक), विवाह के समय वर व वधू

की कम से कम आयु क्या हो और वे शर्ते जिनके अन्तर्गत विवाह सम्पन्न होना है (विवाह के समय दोनो पक्षो के जीवित प्रेम साथी नहीं होने चाहिए)।

ईसाई विवाह-विच्छेद को भी मानते हैं यद्यपि चर्च इसकी अनुमति नहीं देता। सन् 1869 के भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम द्वारा भारतीय ईसाइयो को विवाह-विच्छेद की वैधानिक अनुमति प्राप्त है। इस अधिनियम मे विवाह-विच्छेद विवाह को अवेध घोषित करना न्यायिक पृथक्करण सुरक्षा आदेश तथा विवाह सम्बन्धी अधिकार की पुन स्थापना शामिल है।

विवाह को निम्नलिखित आधारो पर अवैध घोषित किया जा सकता है· पति-पत्नी के बीच निकट का रक्त सम्बन्ध पति नपुसक हो साथी के पागल होने पर और पति के दूसरी शादी करने पर। पति के क्रूर तथा व्यभिचारी होने पर न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation) भी लिया जा सकता है।

ईसाइया में मेहर या दहेज की प्रथा नहीं है। विधवा विवाह न केवल मान्य है, बल्कि उसको पोत्साहन भी दिया जाता है।

अन्त मे कहा जा सकता है कि ईसाई विवाह हिन्दू विवाह की भाति पवित्र बन्धन (Sacrament) नहीं है। यह स्त्री और पुरुष के बीच एक समझोता है जिसमे योन सम्बन्धो पर कम किन्तु आपसी सहयोग तथा सहायता पर अधिक बल दिया जाता है।

◇◇◇

16

नातेदारी

(Kinship)

नातेदारी क्या है (What is Kinship)

प्रत्येक समाज में पुरुष अपने जीवन में किसी न किसी समय एक पति, एक पिता (अगर वह अविवाहित रहने का निश्चय न कर चुका हो) एक पुत्र व भाई की भूमिका निभाता करता है और एक स्त्री एक पत्नी, एक माँ (अगर उसने अविवाहित रहने का निश्चय न किया हो) , एक पुत्री तथा एक बहन की भूमिका का निर्वाह करती है। लेकिन कुछ निषेधों (Incest Taboos) के कारण एक व्यक्ति एक ही एकाकी परिवार में, पुत्र और भाई, पिता और पति की भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक महिला जिस एकाकी परिवार में पुत्री व बहन है, उसी में माँ और पत्नी की भूमिका नहीं निभा सकती। इसलिए प्रत्येक वयस्क व्यक्ति दो एकाकी परिवारों में सम्बद्ध होता है— वह परिवार जो 'जनक परिवार' (Family of Orientation) है जिसमें वह जन्मा व उसका पालन हुआ है तथा वह परिवार जो 'जनन परिवार' (Family of Procreation) है, जिसकी स्थापना वह विवाह द्वारा स्वयं करता है। इन दो एकाकी परिवारों की व्यक्तिगत सदस्यता ही नातेदारी व्यवस्था का उदय करती है। इस तथ्य के प्रकाश में कि व्यक्ति दो एकाकी परिवारों में सम्बद्ध होता है, प्रत्येक व्यक्ति जनक परिवार तथा जनन परिवार के सदस्यों के बीच की कड़ी बनाए रखता है। इस प्रकार के बन्धन व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ नातेदारी बन्धनों में बाँधते हैं।

नातेदारी की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है — "वह सामाजिक सम्बन्ध जो पारिवारिक सम्बद्धता (Family Relatedness) पर आधारित हो" (*थियोडरसन और थियोडरसन, 1969 : 221*)। सम्बन्धो की प्रकृति, चाहे वह समरक्तक (Consanguineal) (यानी कि खून के बन्धनो पर आधारित) या विवाहमूलक (Affinal) (यानी कि विवाह पर आधारित) नातेदारी हो, ही व्यक्तियो के अधिकारो व कर्त्तव्यो का निर्धारण करती है। 'नातेदारी समूह' (Kin Group) वह समूह है 'जो रक्त या विवाह बन्धनो से बँधा हो। परिवार के अतिरिक्त अधिकतर नातेदार समूह रक्तमूलक होते हैं। 'नातेदारी व्यवस्था' को इस प्रकार बताया जा सकता है — 'प्रस्थिति एव भूमिकाओ की एक प्रधानुगत व्यवस्था जो उन लोगो के व्यवहार को सचालित करती है जो एक दूसरे से या तो विवाह के आधार पर या एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होने के नाते सम्बद्ध होते हैं" (थियोडरसन वही . 221)। इसे हम दूसरी तरह भी कह सकते हैं: "सम्बन्धो की ऐसी सरचनात्मक व्यवस्था जिसे नातेदार (स्वजन) एक-दूसरे से बडे जटिल अन्त. गठबन्धनो से बधे हो" (मरडॉक, 1949 . 93)। सरल शब्दो मे रक्त अथवा विवाह का ऐसा बधन जो व्यक्तियो को एक समूह मे बाधता है, नातेदारी *कहलाता* है।

नातेदारी वह सबध होता है जो लोगो को वशगत, विवाह अथवा दत्तक विधान के माध्यम से जोडता है। यद्यपि परिभाषा के अनुसार नातेदारी सबध *विवाह व परिवार मे ही निहित होते हैं किन्तु वे इन सस्थाओ के दायरे से* बाहर भी विस्तार से फैले होते हैं। सभी समाजो मे परिवार शामिल होते हैं किन्तु नातेदारी के दायरे मे किन्हे शामिल किया जाए— इस सम्बन्ध मे सम्पूर्ण इतिहास मे भिन्नता पाई जाती है तथा आज भी यह भिन्न सस्कृतियो मे भिन्न-भिन्न है।

नातेदारी के प्रकार (Types of Kinship)

नातेदारी का आधार सबध और सामाजिक अन्त.क्रिया है। नातेदारी दो प्रकार की होती है—

(अ) समरक्तीय नातेदारी (Consanguineous Kinship) — रक्त सवधो को व्यक्त करने के लिए समरक्तता का प्रयोग किया जाता है। वे सबध जो रक्त पर आधारित हैं समरक्तीय कहलाते हैं। माता-पिता व बच्चो के बीच तथा सहोदरा का सबध समरक्तीय सबध है। भाई-बहन, चाचा-ताऊ, भतीजा आदि समरक्तीय सबध मे आते हैं।

(ब) वैवाहिक नातेदारी (Affinal Kinship) — विवाह के बधन पर आधारित

संबंधों को वैवाहिक नातेदारी कहते हैं। विवाह में केवल वर या वधू के संबंध नहीं होते, अपितु वर या कन्या के परिवार के अन्य सदस्यों से भी संबंध स्थापित होते हैं जैसे बहनोई, जीजा, साढू, देवरानी, जेठानी आदि। विवाह के कारण स्थापित होने वाले संबंधों को व्यक्त करने के लिए विवाह संबंध (Affinity) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

नातेदारी श्रेणियां (Kinship Categories)

नातेदारी की चार प्रमुख श्रेणियाँ होती हैं प्राथमिक (Primary), द्वितीयक (Secondary), तृतीयक (Tertiary) तथा दूरस्थ नातेदार (Distant)। प्राथमिक नातेदार वे हैं जिनका आधार कोई अन्य व्यक्ति नहीं है बल्कि स्व (Ego) जनक तथा जनन परिवारों से सम्बद्ध है। इस प्रकार पिता, माता, बहन व भाई जनक परिवार में तथा जनन परिवार में पति, पत्नी, पुत्र और पुत्री व्यक्ति के प्राथमिक नातेदार हैं। व्यक्ति (स्व) के प्रत्येक प्राथमिक नातेदार का अपना प्राथमिक नातेदार होता है जो कि व्यक्ति (स्व) के द्वितीयक नातेदार होंगे, जैसे पिता का पिता, पिता की माता, माता का पिता, माता का भाई, आदि। द्वितीयक नातेदार 33 प्रकार के होते हैं। द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार तृतीयक नातेदार होंगे जैसे पिता के पिता के पिता, पिता के पिता का भाई, आदि। तृतीयक नातेदार 151 प्रकार के होते हैं। अन्त में तृतीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार व्यक्ति (स्व) के दूरस्थ नातेदार होंगे, जैसे, पिता के पिता के पिता का पिता, पिता की माता के पिता के पिता आदि। इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है।

नातेदारी सम्बन्ध दो प्रकार से प्रकार्यात्मक (Functional) होता है: (i) यह नातेदार के बीच सभी सम्बन्धों के लक्षणों का वर्णन करता है (ii) यह व्यवहार का आदान-प्रदान यानी कि पारस्परिक व्यवहार निर्धारित करता है।

नातेदारी के नियम दो कार्य निष्पादित करते हैं। पहला वे समूहों का निर्माण करते हैं— नातेदारों के विशेष समूह। अतिरिक्त नियमों व सामाजिक परंपराओं का उपयोग करके बड़े नातेदारी समूह जैसे बड़े परिवार, वंश तथा कुलों का निर्माण किया जाता है। नातेदारी का दूसरा प्रमुख कार्य है नातेदारों के बीच नातेदारी संबंधों को नियंत्रित करना अर्थात किसी विशेष नातेदार की उपस्थिति में एक नातेदार को कैसा व्यवहार करना चाहिये अथवा एक नातेदार दूसरे नातेदार का कितना ऋणी है।

नातेदारी एक प्रकार का सामाजिक जाल प्रदान करती है। समाज में लोग एक-दूसरे से वंशानुगत बंधनों तथा समान नातेदारी की सदस्यता से बंधे रहते हैं। यह वंश के सदस्यों एवं कुल के सदस्यों के बीच संबंधों की स्वीकार्य

भूमिका को परिभाषित करती है। इसके परिणामस्वरूप नातेदारी समाज के नियन्त्रक के रूप में कार्य करती है।

नातेदारी भावात्मक सबधो पर आधारित पारिवारिक व्यवस्था है। नातेदारी के बधन व्यक्तियो में विवाह अथवा वशानुगत उत्तराधिकारी के माध्यम से प्रस्थापित होते हैं। इनमे रक्त सबध होता है। (मा पिता भाई बहन पुत्र पुत्रिया आदि) नातेदारी विभिन्न प्रकार के कार्य सपादित करती है। यह लैगिक व्यवहार को नियत्रित करती है तथा बच्चो की देखभाल व पालन पोषण हेतु एक स्थाई व सुरक्षित नटवर्क प्रदान करती है।

नातेदारी लोगो के एक दूसरे के प्रति अधिकारो व कर्तव्यो को परिभाषित करती है। यह सगे सबधियो के बीच प्रजनन को रोकती है तथा स्वय को अव्यवस्था के कुए में डूबकर मरने से बचाती है। घनिष्ठ नातेदारी प्राथमिक सबधो के जाल का एक भाग हो सकती है। यह बच्चे को 'मैं' के स्थान पर 'हम' के अनुभव से परिचित कराती है।

नातेदारी एक सामाजिक सबध है जो वास्तविक अथवा माने हुए रक्त सबधो पर आधारित होती है। यद्यपि आज इसकी सभावना कम ही है कि नातेदार एक साथ पास पास रहे किन्तु उनमे आपस मे सपर्क प्राय बना रहता है। नातेदारी व्यवस्था तीन प्रकार की होती है—

सामाजिक जीवन के नियन्त्रक के रूप में नातेदारी का महत्व निम्न बातो पर निर्भर करता है—

1 व्यक्ति अपने नातेदारो से किस सीमा तक घिरा रहता है।

2 नातेदारी व्यवहार के पैटर्न के विकास की मात्रा।

3 लोगो की भूमिकाए सौपने के वैकल्पिक आधार के विकास की मात्रा।

अधिकार व कर्तव्यो को नियत्रित करने वाले नियम—ये नियम वहा लागू होते हैं जहाँ एक नातेदार दूसरे नातेदार के प्रति उसकी सेवाओ कर्तव्यो अथवा विशेषाधिकार के लिए आभारी होता है। यदि कोई नातेदार दूसरे नातेदार के यहा जाता है तो वह कुछ अपेक्षाएँ रखता है। नातेदार होने के नाते वह स्वय को कुछ सुविधाओ का हकदार मानता है।

नातेदारी शब्दावली (Kinship Terminology)

पारस्परिक व्यवहार के एक भाग मे, जो स्वजनो के बीच प्रत्येक सम्बन्ध के लक्षणो का वर्णन करता है, शब्दो की एक इकाई पायी जाती है, अर्थात वे शब्द पाये जाते हैं जिनसे एक स्वजन दूसरे को सम्बोधित करता है। कहीं तो सम्बोधन

मे व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत नाम से सम्बोधित किया जाता है, कहीं नातेदारी शब्द से, और कहीं उस शब्द से जिसे टाइलर ने 'टेक्नोनिमी' (Teknonymy) कहा है, जो कि व्यक्तिगत और नातेदारी शब्द का मिश्रण है जैसे राम के पिता, आशा की माता, आदि।

मॉर्गन (Morgan) ने नातेदारी पारिभाषिक शब्दो का अध्ययन कर इन्हें दो श्रेणियों मे वर्गीकृत किया है—

1 वर्गीकृत प्रणाली (Classificatory System)—इसमे विभिन्न सम्बन्धियो को एक ही श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता है और सब के लिए समान शब्द प्रयोग मे लाते है। इसके अन्तर्गत कुछ श्रेणियो को टाला जाता है जिससे एक ही नातेदारी शब्द एक से अधिक नाते रिश्तेदारो के लिए प्रयोग किया जा सके। अल्फ्रेड क्रोबर (Alfred Kroeber) ने इसकी छह श्रेणियाँ दी है। अंकित शब्द का प्रयोग चाचा ताऊ मामा मौसा फूफा सभी सबधियो के लिए किया जाता है। समधी, कजिन इन लॉ आदि वर्गीकृत शब्द हैं।

2 वर्णनात्मक प्रणाली (Descriptive System)—इसमे एक शब्द एक ही सबधी का बोध कराता है। पिता माता, भाभी, देवर, भतीजा, भान्जा आदि शब्द एक निश्चित सबध को प्रकट करते हैं।

सामान्यत: वर्णनात्मक एव वर्गीकृत दोनो प्रणालियो का ही प्रयोग किया जाता है।

मरडॉक ने तीन आधारों पर नातेदारी शब्दों का वर्गीकरण किया है :—

(1) नातेदारी शब्दों के प्रयोग का तरीका (Mode of Use of Kinship Terms)

इसका उस नातेदारी शब्द से आशय है जो या तो प्रत्यक्ष सम्बोधन में (जिसे सम्बोधन शब्द कहा जाता है) या अप्रत्यक्ष सदर्भ मे (जिसे सदर्भ शब्द कहा जाता है) उपयोग किया जाता है। कुछ लोग सम्बोधन (Address) और सदर्भ (Reference) के लिए पृथक शब्दो का प्रयोग करते हैं, जैसे 'पिता' (संदर्भ शब्द) और 'बाबा' (सम्बोधन शब्द) पिता के लिए, या 'माता' और 'अम्मा' माँ के लिए, लेकिन कुछ लोग व्याकरण का अन्तर करते है और कुछ कुछ भी अन्तर नहीं करते। 'सम्बोधन' के शब्दो मे कई बार परस्पर व्याप्ति (Overlapping) व दोहरापन (Duplication) प्रदर्शित होता है, उदाहरणार्थ, अंग्रेजी भाषा में 'अंकल' शब्द का प्रयोग कई लोगों के लिए होता (जैसे पिता का भाई, माँ का भाई, पिता का बडा चचेरा भाई, तथा अन्य सभी बुजुर्गों के लिए)। इसी प्रकार 'भाई' शब्द का प्रयोग सगे भाई के लिए ही नहीं होता बल्कि

चचेरे, ममेरे, मौसेरे, फुफेरे भाइयो तथा अन्य कइ लोगो क लिए भी होता है।

नातेदारी शब्दों का वर्गीकरण
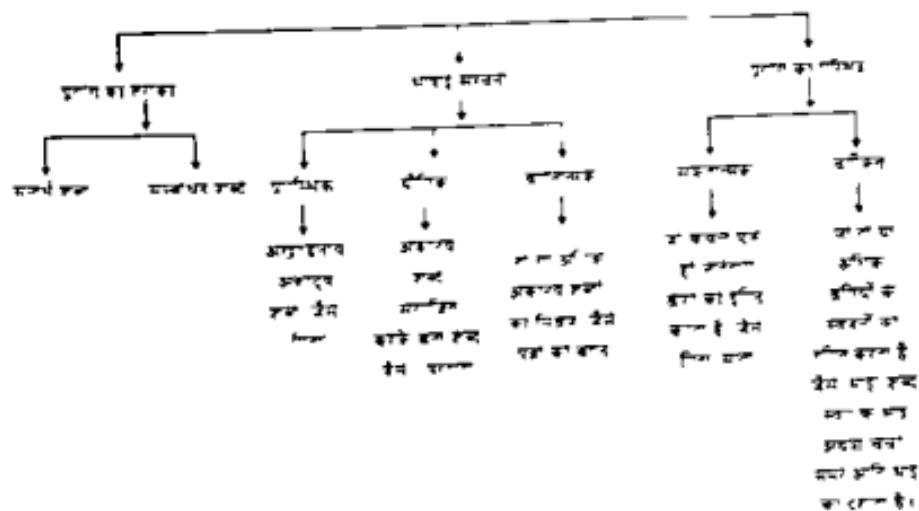
(2) नातेदारी शब्दो की भाषाई सरचना (Linguistic Structure of Kinship Terms)

इस आधार पर नातेदारी शब्दो को तीन प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है प्रारम्भिक (Elementary), यौगिक (Derivative) तथा वर्णनात्मक (Descriptive)। प्रारम्भिक शब्द वे हैं जिन्हें अन्य किसी शब्द मे अखण्डित नहीं किया जा सकता जैसे अंग्रेजी शब्द 'फादर', 'नेफ्यू', आदि या हिन्दी शब्द 'माता' 'पिता' काका 'चाचा' 'ताऊ', बहन, आदि। यौगिक शब्द प्रारम्भिक' शब्दो से मिलकर बने हैं जैसे अग्रजी मे ग्रान्ड-फादर, सिस्टर-इन-ला या हिन्दी मे 'पितामह' 'प्रपितामह', 'दुहित्र 'मौसा', 'बहनोई', आदि। वर्णनात्मक शब्द दो या अधिक प्रारम्भिक शब्दो को जोडकर विशेष रिश्तेदार को संकेत करने के लिए प्रयाग किए जाते हैं जैसे अंग्रेजी म वाइफ्स् सिस्टर (Wife's Sister), सिस्टरस् हसबन्ड (Sister s Husband) या हिन्दी में 'भ्रातृ जया', 'आर्यपुत्र', 'मौसेरी बहन' फुफेरा भाई आदि।

(3) नातेदारी शब्दो के प्रयोग का परिक्षेत्र (Range of Application of Kinship Terms)

इस आधार पर नातेदारी शब्द मे अन्तर 'सकेतात्मक' या 'पृथक्कृत' (Isolative) शब्दो का प्रयोग एक ही रिश्ते के लिए प्रयोग होता है जिसका निर्धारण, पीढी लिंग

कि एक समूह के सदस्य के रूप मे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नारी नातेदारी सम्बन्ध हर व्यक्ति और हर गाव को गावो के सामाजिक जाल (Network) मे समाकलन (Integrate) करने मे सहायता करते हैं जो ग्रामीण जीवन के बहुत से पहलुओ को प्रभावित करता है।

नातेदार की रीतियाँ (Kinship Usage)

विभिन्न सबधियो के व्यवहार को नियमित करने की कुछ रीतियाँ हैं, इन्हे नातेदारी रीतियाँ कहा जाता है। इनमे से प्रमुख हैं—

1 परिहार (Avoidance)- परिहार के नियम प्राय: मिश्रित लैंगिक सबधो पर लागू होते हैं। उदाहरण के लिए एक महिला और ससुर के बीच सबंध वर्जित हैं। हिन्दू परिवारो मे बहू ससुर के बीच पर्दा-प्रथा परिहार रीति का सूचक है। इसका एक उद्देश्य सामाजिक नियत्रण भी है।

2 परिहास के सबध (Joking Relationship) --परिहास सबध वे सबध नहीं होते जिनमे परिहास किया जाता है बल्कि इन सबधो मे परिहास करना आवश्यक होता है। इन सबधियो को आपस मे एक-दूसरे के साथ मजाक करने या तग करने की अनुमति होती है। भारतीय समाज में देवर-भाभी, जीजा-साली आदि परिहास संबध है। त्यौहार, विवाहोत्सव आदि के समय परिहास सबध मुखरित हो जाते हैं। पारिवारिक जीवन को सजीव बनाये रखने मे इनका महत्व है।

3 पितृश्वलेय (Amitate)—इस रीति मे माता की अपेक्षा पिता की बहन बुआ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। हिन्दुओ मे कुछ ऐसे संस्कार होते हैं जिन्हे बुआ को सम्पन्न करना होता है।

4 मातुलेय (Avanculate)—इस रीति मे मामा को भान्जो और भान्जियों के जीवन में विशेष स्थान मिलता है। यहाँ तक कि मामा के दायित्व पिता से अधिक होते हैं। मातृ-सत्तात्मक परिवार में मामा अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भाजे को बनाता है।

5 सह प्रसविता (Cuvade)—कुछ आदिम जातियों जैसे खासी, टोडा आदि में यह विचित्र रीति प्रचलित है। जब पत्नी प्रसव के समय कष्ट उठाती है तो पति भी पत्नी के समान ही व्यवहार करता है और उन सभी वर्जनाओं का पालन करता है जो उसकी पत्नी करती है। इस प्रकार के संबंधो का आधार सहानुभूति है।

व्यवहार व आचरण निर्धारित करने की उपर्युक्त रीतियों के अलावा सम्मान (Respect) की रीति का पालन किया जाता है। सम्मान की रीति सामाजिक

असमानता की कर्मकाण्डी अभिव्यक्ति है। निम्न सस्थिति का व्यक्ति उच्च सस्थिति के व्यक्ति को सम्मान देता है। सम्मान की रीति वर्तमान सत्ता सम्बन्धो को परिलक्षित करती है।

नातेदारी के आरेख

नातेदारी के आरेख हेतु उल्लेखनीय प्रतीक निम्नानुसार हैं—

1 पुरुष के लिए प्रतीक Δ

2 महिला के लिए प्रतीक ○

3 मृत पुरुष अथवा मृत महिला के लिए प्रतीक ▲ और ●

4 भाई-भाई, बहन-भाई अथवा बहन-बहन के लिए प्रतीक [

5 विवाह सम्बन्ध, पति-पत्नी के लिए प्रतीक]

6 वश (Descent) अथवा पीढी-माता-पिता एव सतान के बीच सम्बन्ध का प्रतीक क्षैतिज रेखा (Horizontal line) है।

उदाहरण
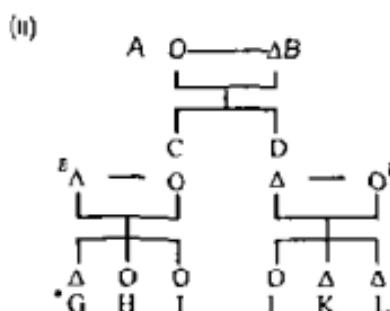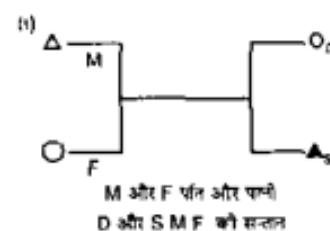
उत्तरी व मध्य भारत मे नातेदारी के लक्षण (Features of Kinship in North and Central India)

उत्तरी क्षेत्र मे नातेदारी के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं — (1) सन्दर्भित व्यक्ति (Ego) से छोटे (Junior) नातेदारो को उनके निजी नाम से सम्बोधित किया जाता है और उस व्यक्ति से वरिष्ठ नातेदारो को नातेदारी शब्दो से। (2) आरोही (Ascending)

और अवरोही (Descending) पीढ़ियों के सभी बच्चों को भ्रातृत्व समूह भाई-बहन के बच्चों के समान तथा भाई-बहन के बच्चों को स्वयं के बच्चों के समान समझा जाता है। (3) पीढ़ियों की एकता के सिद्धान्त को माना है जैसे पितामह व प्रपितामह को पिता जैसा सम्मान दिया जाता है। (4) एक ही पीढ़ी में बुजुर्ग और बच्चों में स्पष्ट भेद किया जाता है। (5) तीन पीढ़ियों के सदस्यों का व्यवहार और उनके कर्त्तव्य सख्ती से नियमित किए जाते हैं। (6) संस्कृत मूल के कुछ प्राचीन नातेदारी शब्दों को नवीन शब्दों में बदल दिया गया है, जैसे 'पितामह' के स्थान पर पिता। बड़ों को सम्बोधन करते समय 'जी' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है जैसे चाचाजी 'ताऊजी', आदि। बंगाल में 'जी' के स्थान पर 'मोशाय' जोड़ा जाता है। (7) सगे और नजदीकी रिश्तेदारों में विवाह की अनुमति नहीं होती। (8) विवाह के बाद कन्या से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने ससुराल वालों से स्वतंत्र हो, लेकिन जब वह माँ बन जाती है, तब उस पर से प्रतिबन्ध कम हो जाते हैं और उसे सत्ता एवं आदर का स्थान प्राप्त होता जाता है। (9) परिवार की संरचना इतनी सुगठित होती है कि बच्चे माता-पिता व दादा-दादी या तो साथ ही रहते हैं या उनके प्रति सामाजिक दायित्वों का निर्वाह भली-भांति किया जाता है। (10) संयुक्त परिवार जो व्यक्ति के निकटतम व घनिष्ठ रिश्तों का प्रतिनिधित्व है, के अलावा नातेदारों का एक बड़ा समूह भी होता है जो व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह नातेदार उसके पितृ या मातृ नातेदारी के प्रतिनिधि होते हैं तथा समय और आवश्यकता पड़ने पर उसे सहायता करते हैं।

भारत के मध्यवर्ती क्षेत्रों में नातेदारी संगठन के प्रमुख लक्षण उत्तरी क्षेत्र की नातेदारी से अधिक भिन्न नहीं हैं। उनके (मध्यवर्ती क्षेत्र के) प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं — (1) प्रत्येक क्षेत्र विवाह सम्बन्धी उन्हीं रीतियों व प्रचलनों को मानता है जिनका उत्तर क्षेत्र में पालन किया जाता है, अर्थात् विवाह में समरक्तिय सम्बन्ध (Consanguinity) का विशेष ध्यान रहता है। (2) अनेक जातियाँ बहिर्विवाही गोत्रों में बटी हुई हैं। कुछ जातियों में बहिर्विवाही गोत्र अनुलोमीय सोपान (Hypergameous hierarchy) में क्रमबद्ध रहते हैं (3) नातेदारी शब्दावली विविध नातेदारों के बीच निकटता एवं आत्मीयता दर्शाती है। यह सम्बन्ध 'न्योता-भेंट' रिवाज से संचालित होते हैं, जिनके अनुसार जितना रुपया नकद लिया जाता है उतना ही नकद लौटाकर भेंट में दिया भी जाता है। न्योता रजिस्टर बनाए जाते हैं जो पीढ़ियों तक सुरक्षित रहते हैं। (4) गुजरात में ममेरे भाई-बहनों तथा देवर के साथ विवाह (Levirate) कुछ जातियों में प्रचलित है। (5) गुजरात में आवधिक विवाह (Periodic Marriage) प्रथा ने बाल-विवाह एवं बेमेल विवाहों को प्रोत्साहन दिया है, परन्तु ऐसे विवाह आधुनिक भारत में भी मिलते हैं। (6) महाराष्ट्र में उत्तरी व दक्षिणी

दोनों क्षेत्रों का प्रभाव नातेदारी सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ मराठों का गोत्र सगठन राजपूतों के गोत्र सगठन की भाँति है। यद्यपि इनके गोत्र सकेन्द्रीय समूहों (Concentric Circles) में क्रमबद्ध होते हैं जबकि राजपूतों के (गोत्र) एक सीढी (Ladder) के रूप में क्रमबद्ध होते हैं। गोत्रों को खण्डों (Divisions) में बाँट लिया जाता है और प्रत्येक को उनकी सख्या के आधार पर एक नाम दिया जाता है, जैसे पचकुली, सतकुली आदि। इन गोत्रों को अनुलोम विवाह क्रम (Hypergameous Order) में व्यवस्थित किया जाता है सबसे ऊंचा पचकुली फिर सतकुली आदि। पचकुली अपनों में ही विवाह कर सकते हैं या फिर सतकुली की लडकी ले सकते हैं लेकिन अपनी लडकी पचकुली के बाहर नहीं दे सकते। (7) मध्यवर्ती क्षेत्र में कुछ जातिया जैसे मराठा और कुनबी वधू-मूल्य (Bride-Price) का भी लेन-देन करती हैं, यद्यपि दहेज प्रथा भी उनमे प्रचलित है। (8) यद्यपि महाराष्ट्र मे परिवार व्यवस्था पितृवशीय तथा पितृस्थानीय (Patrilocal) है लेकिन उत्तरी क्षेत्र की प्रथा के विपरीत जहा पत्नी गौन के बाद स्थाइ रूप मे पति के घर रहती है और अपने पिता के घर कभी-कभी ही जाती है, मराठा जैसी जातियो में वह (पत्नी) अपने पिता के घर बार-बार आती जाती रहती है। एक बार वह पिता के घर चली जाये तो उसे पति के घर वापस लाना कठिन होता है। नातेदारी सम्बन्धो पर दक्षिण क्षेत्र का प्रभाव इससे स्पष्ट हो जाता है। (9) यद्यपि नातेदारी शब्दावली अधिकतर उत्तरी है किन्तु कुछ शब्द द्रविड क्षेत्र से भी लिए गए हैं जैसे भाई के लिए 'दादा' शब्द के साथ 'अन्ना' और 'नाना' या फिर बहन के लिए 'अक्का' 'ताई' और 'माई' शब्दों का प्रयोग। (10) राजस्थान और मध्यप्रदेश की जनजातिया में नातेदारी व्यवस्था हिन्दुओ से कुछ भिन्न है। यह अन्तर नातेदारी शब्दावली मे विवाह नियमों मे उत्तराधिकार व्यवस्था मे तथा गोत्र दायित्वो म निहित है।

अत. यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नातेदारी सगठन उत्तरी व मध्यवर्ती क्षेत्रों म लगभग एक सा है फिर भी उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले क्षेत्रों में परिवर्तन मिलता है। महाराष्ट्र जसे राज्य को साँस्कृतिक उधार-ग्रहण (Borrowings) तथा साँस्कृतिक समन्वय का क्षेत्र कहा जा सकता है (कर्वे, 1953 174)।

दक्षिण भारत मे नातेदारी सरचना (Kinship Structure in South India)

दक्षिण क्षेत्र नातेदारी व्यवस्था का जटिल स्वरूप प्रस्तुत करता है। यद्यपि पितृवशीय व पितृस्थानीय परिवार प्रारूप अधिकतर जातियों और समुदायो मे प्रबल (Dominant) हैं (जैसे नम्बूदरी) फिर भी जनसख्या के कुछ महत्वपूर्ण भाग वे भी हैं जो मातृवशीय तथा मातृस्थानीय हैं (जैसे नायर), और पर्याप्त सख्या मे ऐसे भी जो पितृवशीय तथा मातृवशीय दोनों के लक्षण दर्शाते हैं (जैसे टोडा)। इसी प्रकार कुछ जातिया व जनजातिया हैं जो केवल बहुपत्नी प्रथा मानती हैं (जैसे नम्बूदरी) और कुछ ऐसी

हैं जो केवल बहुपति प्रथा मानती हैं (जैसे अगारी, नायर), और फिर कुछ ऐसी भी हैं जो बहुपति तथा बहुपत्नी दोनों का पालन करती हैं (जैसे टोडा)। उनके अतिरिक्त बहुपति-पितृवशीय (जैसे असारी) तथा बहुपति-मातृवशीय समूह भी हैं (जैसे तियान, नायर)। बहुपत्नी पितृवशीय समूह तो हैं (जैसे नम्बूदरी) परन्तु बहु पत्नी मातृवशीय समूह नहीं हैं। इसी तरह, पितृवशीय सयुक्त परिवार भी हैं तो मातृवशीय सयुक्त परिवार भी हैं। यह सभी दक्षिणी क्षेत्र मे नातेदारी व्यवस्था में विविधता दर्शाते हैं।

गोत्र संगठन एवं विवाह नियम (Clan Organisation and Marriage Rules)

एक जाति के विभिन्न गोत्र (Clans) कैसे सगठित होते हैं और उनम विवाह-दायित्व सम्बन्धी नियम क्या है?

(1) प्रत्येक गोत्र (कई परिवारों से मिलकर बना हुआ) का एक नाम होता है, जो किसी पशु, पौधे, या अन्य किसी वस्तु के नाम पर आधारित होता है।

(2) व्यक्ति अपने गोत्र को छोडकर किसी भी अन्य गोत्र से जीवन-साथी का चुनाव कर सकता है। यह वरण केवल सैद्धान्तिक मात्र है क्योकि पुत्रियों के 'आदान-प्रदान' (Exchange) का नियम इसमे रुकावट डालता है।

(3) विवाह में न केवल गोत्र से बाहर विवाह करने का नियम है, बल्कि परिवारों द्वारा पुत्रियों के आदान-प्रदान का नियम भी है।

(4) पुत्रियों के आदान-प्रदान के विवाह-नियम के कारण बहुत से नातेदारी शब्द सामान्य व समान होते हैं, जैसे जो शब्द 'ननद' के के लिए प्रयोग होता है वह 'भाभी' के लिए भी होता है, जो 'साले' के लिए होता है वह 'बहनोई' के लिए भी होता है, और जो 'ससुर' के लिए होता है वह 'भाभी के पिता' के लिए भी होता है।

(5) दो बहनों के बच्चों के (Maternal Parallel Cousins) बीच विवाह की अनुमति नहीं है।

(6) साली (पत्नी की छोटी बहन) के साथ विवाह का प्रचलन है। दो बहनों का विवाह एक परिवार के दो भाइयों से भी हो सकता है।

(7) दक्षिण में अधिमान्य वरण (Preferential Mating) की प्रथा है। अनेक जातियों मे प्रथम वरीयता बडी बहन की पुत्री को, दूसरी वरीयता पिता की बहन की पुत्री को तथा तृतीय वरीयता माँ के भाई की पुत्री को दी जाती है।

फिर भी, जो समूह उत्तर भारत के या पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में आए हैं, वे विलिंग सहोदरज सतति विवाह (Cross Cousin Marriage), विशेष रूप से चाचा-भतीजी विवाह को, पुरानी प्रथा व शर्म की बात मानते हैं।

(8) विवाह के निषेध (Taboos) इस प्रकार है — व्यक्ति अपनी छोटी बहन की पुत्री से विवाह नहीं कर सकता, विधवा अपने पति के छोटे या बडे भाई से विवाह नहीं कर सकती तथा पुरुष अपनी माता की बहन की पुत्री से विवाह नहीं कर सकता।

(9) विवाह वास्तविक आयु मे अन्तर के आधार पर होता है, न कि पीढी विभाजन के सिद्वान्त के आधार पर जैसा कि उत्तर भारत मे पाया जाता है।

(10) विवाह नातेदारी समूह के विस्तार के लिए तय नहीं किया जाता, बल्कि प्रत्येक विवाह पहले से ही प्रचलित बन्धनो को और अधिक मजबूत बनाता है, और वे लोग अधिक निकट आ जाते हैं जो पहले से ही नातेदार थे।

(11) लडकी को उस व्यक्ति से विवाह करना होता है जो उसके समूह से वरिष्ठ समूह का सदस्य हो। वह अपने माता-पिता से कम आयु वाले समूह के सदस्य अथवा बडे विलिग सहोदरज (Cross Cousin) से भी विवाह कर सकती है।

(12) प्रस्थिति (Status) तथा भावनाओ की द्विभाजकता (Dichotomy) जो कि उत्तर भारत मे प्रयोग किए जाने वाले शब्दो जैसे, कन्या' (अविवाहित लडकी), 'बहू' (विवाहित लडकी), पीहर' (माँ का घर), और 'ससुराल' (पति का घर) से प्रकट होती है दक्षिण मे बिल्कुल नही मिलती। ऐसा इसलिए होता है कि दक्षिण भारत मे उत्तर भारत की तरह लडकी विवाह के बाद घर मे अजनबी की तरह प्रवेश नहीं करती। लडकी का पति उसकी माँ के भाई का लडका अर्थात् मामा का लडका या इसी प्रकार का अन्य निकट का रिश्तेदार हो सकता है। इस प्रकार दक्षिण मे विवाह का अर्थ लडकी का पिता के घर से पृथक होने का प्रतीक नही होता। लडकी अपनी ससुराल मे आजादी से घूम फिर सकती है।

उत्तर व दक्षिण मे नातेदारी प्रथा की तुलना (Comparison of Kinship System of North and South India)

(1) दक्षिण क्षेत्र के परिवार मे उत्तरी क्षेत्र के परिवारो की भाँति जन्म के परिवार (जनक परिवार या Family of Orientation) तथा विवाह के परिवार (जनन परिवार या Family of Procreation) में स्पष्ट अन्तर नहीं होता है। उत्तर मे जन्म के परिवार का कोई भी सदस्य (यानी कि माता, पिता, भाई बहन) अपने विवाह के परिवार का सदस्य नहीं बन सकता, लेकिन दक्षिण मे यह सम्भव है।

(2) उत्तर मे नातेदारी का प्रत्येक शब्द स्पष्ट दर्शाता है कि सन्दर्भित व्यक्ति रक्त सम्बन्धी है या विवाहमूलक नातेदार, लेकिन दक्षिण मे ऐसा नहीं है।

(3) दक्षिण में सन्दर्भित व्यक्ति (Ego) के कुछ नातेदार ऐसे होते हैं जो उसके केवल रक्त-सम्बन्धी होते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि विवाहमूलक तथा रक्त-सम्बन्धी दोनों होते हैं।

(4) दक्षिण मे नातेदारी का सगठन आयु श्रेणी के अनुसार दो समूहो मे क्रमबद्ध किया जाता है, उत्तर मे नातेदारी (स्वजनो) का सगठन रिश्ते की प्रकृति के अनुसार होता है।

(5) दक्षिण मे नातेदारी सगठन वास्तविक आयु के अन्तर पर निर्भर होता है, जबकि उत्तर मे यह पीढी विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होता है।

(6) दक्षिण मे विवाहित लडकियो के लिए व्यवहार के कोई विशेष मानदण्ड नहीं होते, जबकि उत्तर मे उन पर अनेक बन्धन होते हैं।

(7) दक्षिण मे विवाह स्त्री के लिए पिता के घर से पृथकता का प्रतीक नहीं होता, जबकि उत्तर मे स्त्री कभी कभी ही पिता के घर आती है।

(8) उत्तर मे विवाह नातेदारी समूह के विस्तार का एक साधन है जबकि दक्षिण मे विवाह मौजूदा बन्धनों को और अधिक मजबूत बनाता है।

पूर्वी भारत में नातेदारी संगठन (Kinship Organisation in Eastern India)

पूर्वी भारत (बगाल, बिहार, असम व उडीसा के भाग सहित) में हिन्दुओं की अपेक्षा जनजातियों की संख्या अधिक है। प्रमुख जनजातियां इस प्रकार हैं : खासी, बिरहोर, हो, मुण्डा, तथा उराव। यहा नातेदारी सगठन का कोई स्वरूप नहीं है। मुण्डारी भाषा बोलने वाले लोगों के परिवार पितृवशीय या पितृस्थानीय होते हैं। इस क्षेत्र में सयुक्त परिवार विरले ही होते हैं। विलिग सहोदरज विवाह (Cross Cousin Marriage) कभी-कभी होते हैं, यद्यपि वधू-मूल्य सामान्य बात है। महिला को 'द्वैध' (Dual) शब्द से सम्बोधित (Address) किया जाता है, (तुम दो), द्वैध शब्द का अर्थ (वह दो) होता है तथा वह स्वय द्वैध मे बोलती है (मैं दो)। नातेदारी 'द्रविड़' व 'संस्कृत' दोनों से लिये गये हैं। 'खासी' और 'गारो' में (नायरो की भाँति) मातृवंशीय सयुक्त परिवार मिलते हैं। विवाह के बाद व्यक्ति अपने माता-पिता के साथ शायद ही कभी रहता है, वह अपना पृथक घर स्थापित करता है।

सारांश (Resume)

नातेदारी व्यवस्था समाज को संगठित तथा व्यवस्थित रखने की एक सशक्त प्रथा है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था पर भाषा तथा जाति का प्रभाव पडा है। जीवनयापन एवं प्रस्थिति की प्रतिस्पर्धा मे फसे इस युग मे व्यक्ति को मित्रों के रूप मे नातेदारों की आवश्यकता है। जाति व भाषाई समूह कभी-कभी व्यक्ति की सहायता कर सकते

हैं, किन्तु प्रबल समर्थक, विश्वसनीयता व वफादार लोग उसके नातेदार ही हो मकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति न केवल नातेदारो मे सम्बन्ध मजबूत करे, बल्कि उसे नातेदारी की परिधि और भी विस्तृत करनी होगी। सहोदरज विवाह (Cousin Marriages), अधिमान्य वरण (Preferential Mating) विनिमय नियम (Exchange Rules), तथा विवाह मानदड जो कि जीवनसाथी के चुनाव क्षेत्र को सीमित करते हैं, मे परिवर्तन की आवश्यकता है जिससे विवाह के माध्यम से नातेदारी सम्बन्ध विस्तृत हो सके और व्यक्ति सत्ता प्राप्ति मे उनसे सहायता ले सके और सत्ता प्राप्ति से उसकी प्रस्थिति मे भी वृद्धि हो सके।

17

शैक्षिक व्यवस्था

(Educational System)

शिक्षा और समाज (Education and Society)

समाज और शिक्षा के बीच सम्बन्ध उदारवाद और सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा के क्षेत्र में अल्प उपलब्धियाँ, शिक्षा का कार्यात्मक दृष्टिकोण और उच्च शिक्षा में संकट, आदि विषयों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। शिक्षा आवश्यक ज्ञान और दक्षता प्रदान करती है जो व्यक्ति को समाज में आदर्श रूप में कार्य करने योग्य बनाती है। शिक्षा वैचारिक मान्यताओं से प्रेरित होती है जो समाज से ही ली जाती हैं किन्तु इसका कार्य सांस्कृतिक विरासत हस्तांतरण में और समाज द्वारा धारित मूल्यों और आदर्शों को प्रोत्साहित करने तक ही समाप्त नहीं होता। सोद्देश्य अनुस्थापन (Purposive Orientation) किए जाने पर शिक्षा आधुनिक समाज के आधुनिकीकरण और पुनर्गठन के लिए शक्तिशाली साधन हो सकती है। शैक्षिक संस्थाएँ शून्य में स्थित नहीं होतीं। वे समाज के अभिन्न और संवेदनशील अंग हैं। कोई भी शैक्षिक व्यवस्था समाज के मूल्यों और प्रतिमानों से प्रभावित हुए बगैर नहीं चल सकती।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व शिक्षा से सम्बन्धित तीन विचारधाराएं प्रचलित थीं (एस. सी. दुबे S.C. Dube, *Tradition and Development*, 1967 : 282–83):— (1) प्रथम विचारधारा स्व-संस्कृति (Nativistic) और पुनरुज्जीवनवादी (Revivalistic) दृष्टिकोण वाली थी जो प्रत्येक उस वस्तु का निषेध करती थी जो

विदेशी हो और समाज की प्राचीन विरासत मे मान्य न हो। हिन्दू पुनरुज्जीवनवादियों ने प्राचीन भारत की गुरकुल व्यवस्था के प्रतिरूप अनेक विद्यालय और उच्च शिक्षा की संस्थाएँ स्थापित कीं। इन संस्थाओ ने जीवन की पवित्रता पर बल दिया और वैदिक साहित्य के अध्यापन पर ध्यान केन्द्रित किया। (ii) दूसरी विचारधारा का उद्देश्य शिक्षा का स्वदेशीकरण रहा। इस विशेषता वाली संस्थाएँ जानबूझकर विदेशी मूल के आधुनिक ज्ञान का निषेध करने को उद्यत नहीं थीं। उनका प्रमुख उद्देश्य शिक्षा को भारतीय दशाओ मे अधिक सार्थक बनाना और इसे एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने का था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, जामिया मिलिया इस्लामिया इस प्रकार की कुछ संस्थाएँ थीं। (iii) तीसरी विचारधारा ने लन्दन और ऑक्सफोर्ड—ब्रिटिश नमूने को शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना पर ध्यान दिया। यह उद्देश्य मैकाले ने 1835 मे अपने वक्तव्य मे अभिव्यक्त किया है . "हमे एक ऐसा वर्ग पैदा करना चाहिए जो हमारे और करोड़ो लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं दुभाषिये (Interpreter) का काम कर सके—ऐसे व्यक्तियो का वर्ग जो रग और रक्त से भारतीय हो, लेकिन रुचियो, विचारों, नैतिकता और बुद्धि मे इंग्लिश हो।"

स्वतंत्र भारत मे सभी स्तरों— प्राथमिक, हायर सेकेन्डरी, कॉलेज व विश्वविद्यालय स्तरो पर शिक्षा में अद्भुत विकास किया लेकिन संख्यात्मक (Quantitative) विकास ने गुणात्मक विकास को प्रभावित किया। शिक्षा का स्वरूप आमतौर पर उपनिवेशवादी ही रहा। शिक्षा व्यवस्था मे गुणात्मक सुधार करने के उपाय सुझाने के लिए कई समितियाँ और आयोग बने, लेकिन पुराना स्वरूप बना रहा। यथास्थिति बनाए रखने की प्रवृत्ति काम करती रही।

हाल मे, शिक्षा के क्षेत्र मे सरकारी दृष्टि और नीति का उद्देश्य है—प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण, सेकेन्डरी शिक्षा का व्यवसायीकरण और उच्च शिक्षा का तर्कसंगतीकरण। एक ओर अशिक्षा को उखाड फेंकने तथा सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था (Education For All) की नीतियाँ यह सुनिश्चित करने के लिए बनाई जा रही हैं कि 6 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के सभी बच्चों (अर्थात देश की कुल जनसंख्या का 24%) को स्कूल जाने का अवसर मिले और सभी प्रौढ़ (कुल जनसंख्या के 40% अनुमानित) लिखना और पढना सीख सके। दूसरी ओर शिक्षा की गुणवत्ता में भी सुधार के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Education)

शिक्षा के तीन शाश्वत उद्देश्य इस प्रकार हैं — (1) मनुष्य का स्वय को और जगत को जानने का प्रयास करते रहना और स्वय को शिक्षा जगत से प्रभावशाली ढग से जोड़ना, (2) अतीत और भविष्य के बीच पुल का निर्माण, अर्थात अतीत के एकत्रित

परिणामों का विकासमान पीढी (Growing Generation) को सम्प्रेषण (Transmit) करना ताकि वह सांस्कृतिक विरासत को आगे ले जा सके और भविष्य का निर्माण कर सके, (3) जहां तक सम्भव हो, मानव प्रगति की प्रक्रिया को तेज करना। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त शिक्षा के तीन और उद्देश्य भी माने जाते हैं। ये हैं— (a) व्यक्तित्व के गुणों का समग्र विकास, जैसे बुद्धि, दक्षता, इच्छा शक्ति, चरित्र, अभिरुचिया आदि, (b) मनुष्य की जीवन दशाओं में विकास, अर्थात, समाज और व्यक्ति दोनो का विकास। समाज के विकास का अर्थ केवल आर्थिक विकास से ही नहीं बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास से भी है। व्यक्ति के विकास मे शिक्षा एक विवेकशील आर आदर्श मस्तिष्क बनाने मे सहायक होती हैं, और (c) शान्ति और समन्वय (Harmony) पैदा करना तथा उसे सुदृढ करना। यहाँ 'शान्ति' को 'युद्ध' के विलोम के रूप में नहीं देखा गया है बल्कि इसे सकारात्मक दृष्टि से देखा गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय समझ और सहयोग के प्रयत्न के उद्देश्य से समन्वित कार्य करे। इसमें सभी लोगों के प्रति आदर भाव, उनकी संस्कृति, सभ्यता, मूल्यों और जीवन शैली के प्रति सम्मान निहित है।

सन् 1971 से यूनेस्को द्वारा स्थापित शिक्षा के विकास पर गठित अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा को प्रमुख आवश्यकता है "जानना (to Know), हासिल करना (to Possess), बनना (to be)"। यहां "होना" का अर्थ "व्यक्तित्व और इसके विकास" से है। सरल शब्दों मे कहा जा सकता है कि प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का उद्देश्य पढ़ना, लिखना, (3 R's) सीखना है, माध्यमिक स्तर पर चरित्र निर्माण है, उच्च माध्यमिक स्तर पर समाज को समझना है, और कॉलेज/विश्वविद्यालय स्तर पर दक्षता ज्ञान प्राप्त करना हैं।

शिक्षा के उद्देश्यों को यूनेस्को की डेलार्स आयोग रिपोर्ट मे रेखांकित किया गया है जो शिक्षा के चार स्तंभों की बात करते हैं— (1) विभिन्न विषयों पर एक व्यापक दृष्टिकोण रखते हुए और चुनिंदा क्षेत्रों पर परिश्रम से कार्य करते हुए दक्षता को विकसित करना, सीखने की शिक्षा और जीवन के अनुभवों से शिक्षा प्राप्त करना। (2) व्यावसायिक दक्षता प्राप्त करते हुए कार्य करना, सीखना और एक टीम के रूप में तथा विभिन्न परिस्थितियों मे कार्य करने की क्षमता विकसित करना। (3) साथ-साथ रहने की शिक्षा, दूसरों की संस्कृति, बहुभाषावाद, शान्ति का सम्मान करना और विवाद को दूर करने की कला तथा (4) अपने आपको एक बेहतर व्यक्तित्व के रूप में विकसित करने की शिक्षा ताकि व्यक्ति को न केवल अपने उत्तरदायित्वों का एहसास हो बल्कि वह सही समय पर उपयुक्त निर्णय लेते हुए अपने आपको एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करे।

शिक्षा के परम्परागत एवं आधुनिक सन्दर्भ
(The Traditional and the Modern Contexts of Education)

अतीत में शिक्षा (Education in the Past)

प्रारम्भिक, युग, मध्यकाल और ब्रिटिश काल में शिक्षा को दो दृष्टिकोणों से देखा जाता था : (a) ऐतिहासिक विकास के परिपेक्ष्य से और (b) दार्शनिक महत्व की दृष्टि से। दूसरे दृष्टिकोण से वैदिक काल में विद्यालय आवासीय होते थे जहां लगभग 8 वर्ष की आयु के बालक को गुरु को सौंप दिया जाता था जहां उसको उपयोगिता के उद्देश्य से ही नहीं परन्तु आदर्श व्यवहार का ज्ञान दिया जाता था। ऐसा माना जाता था कि ज्ञान जीवन को अर्थ (Meaning) यश (Glory) और चमक (Lustre) से भर देता है। गुरु अपने शिष्य के जीवन में व्यक्तिगत रुचि लेता था। शिक्षा पूर्ण और विस्तृत थी। उदाहरण के लिए शारीरिक शिक्षा आवश्यक थी तथा छात्रों को हृष्ट पुष्ट शरीर के बनाने की शिक्षा दी जाती थी। युद्ध कला की ट्रेनिंग दी जाती थी जिसमें धनुर्विद्या घुड़सवारी रथ हाँकना और दक्षता के अन्य क्षेत्र शामिल थे। विद्यार्थी शिक्षा स्वर विज्ञान (Phonology) से शुरू होती थी तथा व्याकरण भी पढ़ाया जाता था। इसके बाद तर्कशास्त्र (Logic) का अध्ययन कराया जाता था जिसमें तर्क के नियम व सोचने की कला का ज्ञान होता था। तत्पश्चात कला और हस्त कौशल आदि सिखाया जाता था। अन्त में जीवन में अनुशासन सिखाया जाता था जिसका सम्बन्ध यौन शुद्धि विचारों और कर्मों की पवित्रता से होता था। इसमें भोजन परिधान की सादगी, समानता, भ्रातृभाव और स्वतन्त्रता पर बल और गुरु का सम्मान सिखाया जाता था। इस प्रकार भाषा तर्कशास्त्र शिल्प अनुशासन और चरित्र निर्माण शिक्षा के मूल आधार होते थे (एस.सी.काला, *Dialogues on Indian Culture*, 1955, 81-82)।

ब्राह्मण युग में शिक्षा का प्रमुख विषय वैदिक साहित्य था। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वेदों का ज्ञान था। लेकिन शूद्रों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया था। शिक्षा योग्यता एवं रुझान की अपेक्षा जाति के आधार पर दी जाती थी। स्त्रियों को भी शिक्षा से बहिष्कृत रखा गया था। (वही, 82)।

मुस्लिम युग में शिक्षा के उद्देश्य बदल गए। इसमें लिखने पढ़ने (3 R's) की शिक्षा और धार्मिक प्रतिमानों में दीक्षा प्रमुख थे। उच्च शिक्षा विद्यालयों के माध्यम से तथा व्यावसायिक एवं शिल्प सम्बन्धी दीक्षा जाति संरचना के भीतर ही दी जाती थी। संस्कृत, अरबी या फारसी शिक्षा का माध्यम थी। अध्यापकों के पारिश्रमिक का भुगतान शासकों द्वारा भूमि आवंटन करके, शिष्यों की स्वैच्छिक भेंटों द्वारा धनी नागरिकों द्वारा दिये जाने वाले भत्तों से और भोजन वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के रूप

में किया जाता था। स्कूलों के पास अपने भवन नहीं होते थे। अनेक स्थानों पर तो स्कूल मन्दिरों, मस्जिदों या अध्यापकों के घरों पर ही चलाए जाते थे। मुस्लिम छात्रों के लिए अलग से ये मदरसे मौलवियों द्वारा और हिन्दू छात्रों के लिए ब्राह्मणों द्वारा चलाए जाते थे। व्यावसायिक दीक्षा बालकों को पिता, भाई आदि के द्वारा दी जाती थी, दक्षता को इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी सम्प्रेषित किया जाता था और लाभप्रद रोजगार भी प्रदान किया जाता था। शारीरिक शिक्षा, विचार शक्ति के विकास या किसी शिल्प की शिक्षा पर बल नहीं दिया जाता था। पवित्रता, सरलता, समानता छात्र जीवन के आदर्श नहीं थे। पेशेवर भूमिका की विशेषज्ञता ऐसी अवस्था में नहीं पहुंची थी कि अलग से कोई वर्ग या जाति शिक्षा को विशेष कार्य के रूप में करने। शिक्षा अधिक व्यवहारिक थी।

ब्रिटिश काल में शिक्षा का उद्देश्य अधिक संख्या में लिपिक पैदा करना था। शिक्षा शिक्षक केन्द्रित होने की अपेक्षा छात्र केन्द्रित अधिक थी। आज की तरह उन दिनों में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता, व्यक्ति की श्रेष्ठता, सभी लोगों के बीच समानता, व्यक्ति और समूह की आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय एकता नहीं था। शिक्षा देने के कार्य में लगे ईसाई मिशनरी धर्म परिवर्तन के काम को अधिक महत्व देते थे। स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा उत्पादक नहीं थी जो सामाजिक, क्षेत्रीय, और भाषायी अवरोधों को तोड़ सके। इसका उद्देश्य यह भी कभी नहीं रहा कि यह लोगों को तकनीकी ज्ञान में दक्ष बनाए। अन्याय, असहिष्णुता और अन्धविश्वास के विरुद्ध संघर्ष पर भी ध्यान नहीं था।

वर्तमान काल में शिक्षा (Education in the Present Period)

आज की शिक्षा, प्रतिस्पर्धात्मक उपभोक्ता समाज को प्रोत्साहित करने की ओर उन्मुख है। गत छह दशकों में यदि हम उन वैज्ञानिकों, पेशेवर और तकनीकी विशेषज्ञों का मूल्यांकन करें (जिनको शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से तैयार किया गया है और जिन्होंने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर श्रेष्ठता अर्जित की है) तो पता चलता है कि शिक्षा व्यवस्था ने ही उन्हें एक अच्छी संख्या में उपलब्ध कराया है। शिखरस्थ (Top) वैज्ञानिक, डॉक्टर, इन्जीनियर अनुसंधानकर्ता, प्रोफेसर आदि के लोग नहीं हैं जो विदेशों में शिक्षित हुए वल्कि उनकी तो सम्पूर्ण शिक्षा भारत में ही सम्पन्न हुई। यदि ये सभी विशेषज्ञ तथा वे सब लोग जो उच्चतम स्तर पर पहुंचे हैं, हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से ही आए हैं, तो हम आज की शिक्षा व्यवस्था के सकारात्मक पक्षों को किस प्रकार अस्वीकार कर सकते हैं? यद्यपि हम वर्तमान शिक्षा की पूर्णरूपेण आलोचना नहीं कर सकते, तथापि कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता है, यदि हम वास्तव में अच्छे भविष्य की कामना करते हैं। प्रश्न अतीत या वर्तमान का नहीं परन्तु भविष्य का है। हम किस प्रकार 21वीं सदी में सबसे

आधुनिक तकनीकी ज्ञान की चुनौतियो का सामना करने के लिए विभिन्न क्षेत्रो मे विशेषज्ञो को तैयार करने जा रहे हैं। प्रश्न यह नहीं है कि शिक्षा किस सीमा तक लोगो को रोजगार प्रदान करने मे सफल या असफल हुई है बल्कि प्रश्न शिक्षा से गरीबो और वचित लोगो को आधुनिक तकनीकी ज्ञान दिये जाने का है। प्रश्न शिक्षा की गुणवत्ता का है। बढती हुई जनसख्या को एक दायित्व (Liability) मानने की अपेक्षा इसको नियत्रण करने के प्रयास के साथ-साथ इसे परिसपत्ति (Asset) और ताकत (Strength) समझा जाना चाहिए। यह केवल शिक्षा और मानव विकास से हो सकता है। युवको को केवल डिग्री या प्रमाण पत्र देकर यह कह देना कि वह नियुक्ति के योग्य हो गया है काफी नहीं है। हम अपनी युवा पीढी को विचारवान बनाना है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थी को सोचने के लिये प्रोत्साहित नहीं करती। उसे एक निश्चित पाठ्यक्रम पढाया जाता है और अपेक्षा की जाती है कि वह परीक्षा मे उसकी पुनरावृत्ति कर दे। यह व्यवस्था दोषपूर्ण है। विद्यार्थियो को अधिक से अधिक प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए जो उन्हें न केवल सोचने मे मदद करेगा बल्कि अध्यापको का भी अधिक अध्ययन करने और सीखने के लिए बाध्य करेगा। इस प्रकार हमे परीक्षा प्रणाली बदलनी है। हमे छात्रो को पढाई को गम्भीरता से लेने के लिए प्रेरित करना होगा।

यद्यपि यह सत्य है कि सभी स्तरो पर शैक्षिक सस्थाओ और छात्रो की सख्या मे वृद्धि हुई है लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि शिक्षा की गुणवत्ता छात्रो की रुचि और अध्यापको मे समर्पण भाव मे भी साथ–साथ वृद्धि हुई है। परन्तु सभी आयोगों और समितियो ने शिक्षा म कमियो और दोषो को इगित किया है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के तीन दोषो को इस प्रकार बताया जा सकता है — (1) वर्तमान शिक्षा व्यवस्था उस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं करती जो हमारे बदले हुए समाज के लिए सार्थक हो, (2) वर्तमान शिक्षा ज्ञान की विशेष शाखा से सम्बद्ध प्रौद्योगिकी रोजगार सम्भावनाओ या निवेश माग की दृष्टि से हमारे विकास की अवस्था के लिए अनुपयुक्त है, (3) मूल्य सरचना प्रदान करने मे भी शिक्षा असफल रही है जो समर्पित राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ तथा अन्य पेशेवर लोग तैयार कर सके ताकि हमारा राष्ट्र ऊंचाइयो तक पहुचने के लिए इन लोगो की सेवाओ की सद्व्यवस्था पर निर्भर कर सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (National Policy on Education)

भारत सरकार ने 1985 मे देश के लिए एक नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NPE) बनाने की घोषणा की। विभिन्न क्षेत्रो से प्राप्त सुझावो और दृष्टिकोण पर विचार के बाद एन पी ई की घोषणा 1986 मे की गई। इसका बल इन बातो पर था — (1) शिक्षा प्रणाली मे आमूल परिवर्तन, (2) सभी स्तरो पर शिक्षण की गुणवत्ता मे सुधार।

(3) विज्ञान और प्रौद्योगिकी को अधिक महत्त्व देना। (4) नैतिक मूल्यों का परिवर्द्धन। (5) अखण्डता को सुदृढ करना। (6) समान संस्कृति और नागरिकता का भाव विकसित करना।

इस नीति में प्रमुख प्रस्तावित उपाय इस प्रकार थे – (1) सरकार द्वारा वित्तपोषित कार्यक्रम प्रारम्भ करके लिंग,जाति, विश्वास के भेदभाव के बिना सभी छात्रों को शिक्षा का लाभ पहुचाना, (2) देश के प्रत्येक भाग में 10+2+3 की समान शिक्षा सरचना धारण करना। प्रथम 10 वर्ष में 5 वर्ष प्राथमिक शिक्षा तीन वर्ष मिडिल स्कूल, तथा शेष 2 वर्ष हाई स्कूल के लिए होंगे (3) स्त्रियो अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसख्यकों तथा विकलांगों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करना, (4) राष्ट्र के द्वारा ससाधनों के समर्थन प्रदान करने का उत्तरदायित्व सभालना, भेदभाव कम करना, प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वभामिकरण, प्रौढ़ साक्षरता और प्रौद्योगिकी अनुसन्धान, (5) प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (6) व्यावसायिक शिक्षा और कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (7) उच्च शिक्षा को अवनति से बचाने के लिए कदम उठाना। विशिष्टीकरण की माग को पूरा करने के लिए पाठ्यक्रमों का पुनरीक्षण। विश्वविद्यालयो में अनुसन्धान कार्यों के लिए अधिक सहयोग दिया जाना, (8) मुक्त (Open) विश्वविद्यालय व्यवस्था प्रारम्भ करना, (9) डिग्रियों को नोकरियों से न जोडना, (10) ग्राम्य विश्वविद्यालय का नया प्रतिरूप विकसित करना, (11) प्राविधिक और प्रबन्धन शिक्षा का सुदृढ़ीकरण साथ ही ग्राम्य प्राविधिक विद्यालयों को सुदृढ बनाना, (12) शिक्षकों के साथ अच्छा व्यवहार और उनमे अधिक जवाबदेही का विकास करना, (13) मूल्य शिक्षा देने पर ध्यान देना, (14) शारीरिक शिक्षा व खेलकूद के लिए बुनियादी सुविधाएं प्रदान करना, (15) परीक्षा प्रणाली में सुधार लागू करना।

भविष्य के लिए शिक्षा (Education for the Future)

हमारा समाज एक अज्ञात भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। जो संकट आज हमारे समाज के सामने है उनकी आवृत्ति (Frequency) और प्रबलता (Intensity) में वृद्धि सम्भव है। बढ़ती जनसख्या और समाप्तप्राय: संसाधनों (Dwindling Resources) के साथ हमारे देश को नयी समस्याओं का सामना करना है। भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए हमें ऐसे ज्ञान और दक्षता की आवश्यकता होगी जो हमारी समस्या समाधान की क्षमता में योगदान कर सके, न केवल विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बल्कि मानव सम्बन्धों और प्रबन्ध के क्षेत्र में भी। आज की शिक्षा व्यवस्था आज की संकटपूर्ण स्थिति की चुनौतियों का सामना करने में असफल रही है। शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो आधुनिक, उदार हो और बदलते हुए समाज के साथ तालमेल बैठा सके। हमें निम्न आधार पर वरीयताओं को फिर से तय करने की जरूरत है।

प्रथम हम 'आत्मनिर्भरता के लिए शिक्षा' सिद्धान्त को स्वीकार करे। माध्यमिक और उच्च शिक्षा से अधिक बल प्राथमिक आर प्रौढ शिक्षा को देना चाहिए।

द्वितीय माध्यमिक आर कॉलेज, विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा की विषयवस्तु पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

तृतीय शिक्षा के प्रबन्धन की समस्या प्रमुख है। वर्तमान मे तो नौकरशाही शैली ही विद्यमान है। नौकरशाही शिक्षा के वातावरण मे होने वाले परिवर्तनो के प्रति सवेदनशील आर प्रत्युत्तर देने वाली नहीं है। अल्प बजट अति अनुशासनहीनता प्रशासकीय खामियाँ आर हस्तक्षेप आर राजनैतिक दबाव शिक्षा के क्षेत्र मे निर्णय लेने को कष्टप्रद बना देते हैं। इस प्रकार शिक्षा का प्रबन्धन नौकरशाही हस्तक्षेप और राजनीतिज्ञो के हस्तक्षेप से मुक्त होना चाहिए।

चतुर्थ शिक्षको की जवाबदेही (Accountability) की समस्या गम्भीर है, विशेष रूप से उच्च शिक्षा मे। ऐसे अनेक मामले प्रकाश मे आए हैं जहा शिक्षक नियमित रूप से कक्षाए नहीं लेते। वे नियमित रूप से पुस्तकालय जाकर पत्र–पत्रिकाए और आधुनिकतम पुस्तके पढने मे शायद ही रुचि रखते हैं। हमे शिक्षा के उद्देश्य को पुनर्स्थापित करना है और उपयुक्त शिक्षण विधियो को निश्चित करना है। फिर उन कारको को नियमित करना है जो शिक्षा को अवनत व बर्बाद कर रहे हैं। शैक्षिक व्यवस्था मे शिक्षको पर नियत्रण महत्वपूर्ण एव आवश्यक है।

पचम, हमे छात्रो मे अध्ययन के प्रति गम्भीरता पैदा करनी है जिनके लिए ज्ञान प्राप्त करना सबसे कठिन प्रश्न है। ऐसा माना जाता है कि शिक्षा गतिशीलता मे गुणात्मक वृद्धि करती है। यह स्थिति और विशेषाधिकार को शाश्वत बनाने का काम करती है। लेकिन क्या उच्च शिक्षा सभी छात्रो के लिए खुली होनी चाहिए? अनेक छात्र कानून, कला कॉमर्स पाठ्यक्रमो मे केवल इसलिए प्रवेश लेते हैं क्योंकि उन्हे जीवन मे स्थापित होने तक समय काटना होता है। क्या उन्हे तकनीकी व व्यावसायिक पाठ्यक्रमो के लिए नहीं भेजा जाना चाहिए? क्या शिक्षा को उनके लिए उपयोगी नहीं बनाना चाहिए?

छठा, हमे व्यावसायिक पेशेवर शिक्षा को प्रोत्साहन देना है जिसकी खुले बाजार म माग है। यह मानना उचित है कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति एक विशेषज्ञ नहीं बन सकता, लेकिन उसे अपने मे ऐसी कुशलता विकसित करनी है जिससे वह जीवनयापन कर सके। हमे आगामी दो या तीन दशको के विषय मे सोचना है और कृषि के प्रकार विकासशील उद्योगो के प्रकार, व्यापार और वाणिज्य तथा नौकरी और सेवा के नये क्षेत्रों पर ध्यान देना है। यह हमे ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना म सहायक होगा जो हमे अच्छे किसान, अच्छे कुशल श्रमिक, अच्छे प्रबन्धक या जिस किसी की भी बाजार मे माग हो, देगी।

सातवां प्रकरण विविध विभागों में तालमेल का है, जैसे कृषि, उद्योग, श्रम, इलैक्ट्रोनिक्स, कानून, विज्ञान तथा अन्य जिससे विश्वविद्यालय, आईआईटी और अन्य संस्थान यह जान सकें कि किस प्रकार के कुशल लोगों की आवश्यकता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण शिक्षा होनी चाहिए जिससे व्यक्ति अपनी इच्छा के रोजगार के लिए तैयार हो सके और नियोक्ता को भी अपने से जुड़ने वाले अभ्यर्थी मिल सकें।

आठवीं समस्या सभी निरक्षर लोगों को साक्षर बनाने की है। करोड़ों लोगों को अभी भी शिक्षित किया जाना है। यह एक महान कार्य है। शिक्षित एवं जागरूक नागरिक ही समाज एवं देश के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन कर राष्ट्र की प्रगति में योगदान दे सकते हैं। यह सर्वविदित है कि साक्षरता स्तर को ऊंचा उठाने की योजनाएं चल रही हैं, फिर भी कहा जा सकता है कि निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अभी और समय चाहिए।

नवीं समस्या प्राथमिक स्तर पर ही स्कूल छोड़ देने वाले छात्रों की संख्या में कमी करने की है। इस समस्या को रोकने के उपाय किए जा सकते हैं। उसी लीक पर चलते रहना अच्छी बात नहीं है। यदि हम यह जान लें कि हम प्रगति नहीं कर रहे हैं तो हमें अपनी नीतियां, कार्यक्रम और प्रतिदर्श बदलने होंगे और नये परीक्षण करने होंगे।

दसवां विषय वर्तमान परीक्षा प्रणाली का है। एक तरह से तो परीक्षाएं मजाक बन कर रह गई हैं। वर्तमान व्यवस्था में छात्र गाइडें व सस्ती पुस्तकें पढ़ कर परीक्षा उत्तीर्ण करना सरल समझते हैं। शिक्षक भी पुस्तकें व पत्र पत्रिका पढ़ने और नवीन अनुसन्धान परिणामों की जानकारी हासिल करने में कम से कम कष्ट उठाना चाहते हैं। क्या हम वर्तमान व्यवस्था के साथ चलते रहें? इसे अधिक लचीला और मुक्त बनाना होगा जिसमें रचनात्मक सोच पर बल दिया जाये। सीखने को सजीव, रुचिकर उद्देश्यनिष्ठ, प्रेरक बनाने से परीक्षा में विद्यार्थियों की सफलता सुनिश्चित की जा सकती है।

अन्त में, उच्च शिक्षा को ठीक करने का प्रश्न है। क्या प्रत्येक छात्र को जो प्रवेश चाहता है प्रवेश दिया जाये? उच्च शिक्षा, सस्ती क्यों हो? किस सीमा तक शिक्षा में अनुदान (Subsidy) प्रदान किया जाये? क्या हमें व्यावसायिक शिक्षा के लिए ही अनुदान देने चाहियें या कला व वाणिज्य में भी? ये वे प्रश्न हैं जिन्हें स्नातक और स्नातकोत्तर कार्यक्रमों के पुनर्गठन से छात्रों की बेहतर कार्य परिणामों से, शिक्षकों की अधिक जवाबदेही से और गर्मी की छुट्टियों के क्रियात्मक उपयोग से जोड़ा जाना चाहिए। यदि हम भविष्य के लिए तर्कसंगत तरीके से शिक्षा की योजना बनाना चाहते हैं तो हमें शिक्षण और परीक्षा प्रणाली के दोषों को दूर करना होगा।

एल्विन टॉफ्लर ने अपनी पुस्तक 'फ्यूचर शॉक' में भविष्य की शिक्षा के संबंध में गहराई से चिन्तन किया है। यूनेस्को द्वारा गठित अन्तरर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग 'लर्निंग दि ट्रेजर विदइन' ने इक्कीसवीं शताब्दी में शिक्षा के प्रारूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि भविष्य के लिए शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में आवश्यक संशोधन की आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षा की वर्तमान नीतियों तथा विधियों में परिवर्तन आवश्यक है। विज्ञान तथा तकनीकी के माध्यम से हम अपनी शिक्षा प्रणाली को 21वीं शताब्दी के लिए तैयार कर सकते हैं। सूचना तथा सम्प्रेषण तकनीक में आए ताजा बदलाव शिक्षा की अलख जगा सकते हैं।

शैक्षिक असमानता और सामाजिक गतिशीलता
(Educational Inequality and Social Mobility)

यद्यपि यह एक तथ्य है कि सभी मनुष्य योग्यता और दक्षता में समान नहीं हैं। ऐसे समाज की कल्पना करना भी अविवेकपूर्ण और आदर्शहीन होगा जो अपने सभी सदस्यों को एक समान स्थिति और लाभ प्रदान कर सके। फिर भी उनके उद्देश्यों और आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए सभी लोगों को समान अवसर प्रदान करना आवश्यक है। यहाँ हम लोगों के बीच आर्थिक असमानता की बात नहीं कर रहे हैं बल्कि उस असमानता की चर्चा कर रहे हैं जिसे आन्द्रे बेतेइ ने (*Inequality Among Men* 1977 3) "अस्तित्व की दशाओं" (Conditions of Existence) में असमानता कहा है। इस प्रकार हम न तो प्रकृति आधारित असमानताओं की (अर्थात, आयु स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति या मस्तिष्क के गुणों की) बात कर रहे हैं और न 'प्रकार' (Type) पर आधारित समाजों की जैसे, आदिवासी, कृषि और औद्योगिक समाज बल्कि गुणों और कार्यों या उन कारकों में असमानता की जो मनुष्य को स्थिति और शक्ति प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

अत, उस समाज का प्रयत्न, जो अवसरों की समानता के लिए कटिबद्ध है, अधिकतर सेवाएं प्रदान करने का रूप ले लेता है जो समाजीकृत सामुदायिक सेवाओं और शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करके आर्थिक पृष्ठभूमि में असमानता की क्षतिपूर्ति करते हैं। वास्तव में इस प्रकार की सुविधाएं पर्याप्त रूप से व सबको प्रदान करने के मार्ग में कठिनाइयाँ हैं। भारत जैसे समाज के लिए यह लगभग असम्भव है कि उन सभी को मुफ्त शिक्षा प्रदान की जाये जो इससे लाभान्वित होना चाहते हैं, सिवाय चयनित स्तरों के, या यों कहिए प्राथमिक स्तर तक या जरूरतमन्द और योग्य बच्चों को। इससे पुनः एक प्रकार से अवसरों की असमानता का उदय होता है। जहां जरूरतमंद लोगों के बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सकते है, यदि वे योग्य हों वहीं सम्पन्न लोगों के बच्चे तभी तक स्कूल जा सकते हैं जब तक वे शुल्क देते रहें।

सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए अवसर की समानता नवीनतम (Recent)

विचार है जो कि व्यक्ति के जीवन में प्रदत्त स्थिति के महत्त्व को अस्वीकार करने के बाद अर्जित स्थिति के महत्त्व को मान्यता देकर स्वीकार किया गया है। एम.एस.गोरे ने भी कहा है कि सामाजिक गतिशीलता तभी सम्भव हो पाई है जब से व्यक्ति की स्थिति आनुवंशिक बन्धनों से मुक्त हुई है (गोरे, *Indian Education*, 1990 29)। उनका कहना है कि प्रौद्योगिकी विशेषज्ञता अर्जित करना, उच्च प्रशासनिक पद ग्रहण करना, और नये धन्धे सीखना, धन की सफलता और समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए कुछ कार्य क्षेत्र हैं। योग्यता और श्रेष्ठता प्राप्त करना केवल शिक्षा से ही सम्भव है। यद्यपि शिक्षा सभी लोगों के उच्च स्थिति और उच्च पद पर पहुँचने की गारन्टी नहीं देती, फिर भी शिक्षा के बिना सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। एम.एस.गोरे (वही . 30) का मानना है कि शिक्षा तीन प्रकार से अवसरों को समान करने की भूमिका अदा करती है . (1) उन सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा सम्भव बनाकर जिनकी इच्छा शिक्षित होने की है और उस सुविधा का लाभ उठाने की है, (2) शिक्षा की ऐसी विषय-वस्तु का विकास करके जो वैज्ञानिक तथा वस्तुपरक दृष्टिकोण विकसित करेगी और (3) धर्म भाषा, जाति, वर्ग आदि पर आधारित परस्पर सहिष्णुता का वातावरण पैदा करके। समाज में सभी व्यक्तियों को सामाजिक गतिशीलता के लिए समान अवसर प्रदान करने में सबसे अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान करना महत्वपूर्ण बात है। वास्तव में, केवल शिक्षा ही सामाजिक गतिशीलता का मार्ग नहीं, है तथा वर्ग, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और माता-पिता का सहारा, आदि भी महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो अवसरों को प्रभावित करते हैं। लेकिन शिक्षा का अभाव निश्चित रूप से गतिशीलता के लिए अवरोध सिद्ध होता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि अवसर की समानता प्रदान करने में प्रयासरत समाज केवल चुनिंदा लोगों को ही शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करता है।

हमारे समाज के वे लोग जो लाभों से वंचित रहते हैं (जैसे, SCs, STs, OBCs, स्त्रियाँ और धार्मिक अल्पसंख्यक) शोषण के कारण बड़े कष्ट सहते रहे हैं क्योंकि वे अशिक्षित हैं। शिक्षा में क्षेत्रीय, ग्रामीण-शहरी, लिंग और जातिगत असमानताओं, स्कूल और कॉलेजों में प्रवेश में असन्तुलनों, और असमानताओं पर कुछ अध्ययन किए गए हैं। इन सभी अध्ययनों ने लाभों से वंचित लोगों के स्तर और पहचान पर शिक्षा के प्रभाव को इंगित किया है।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक विकास के लिए किए गए उपाय (Measures Adopted for Educational Development of SCs and STs)

(1) हमारे संविधान में राज्यों के लिए निर्देश है कि कमजोर वर्ग के लोगों के शैक्षिक हितों को प्रोत्साहित किया जाए, विशेषरूप से अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए शैक्षिक संस्थाओं को स्थापित किया जाये और उनमें प्रवेश सुनिश्चित

में (2) पहाड़ी, रेगिस्तानी जिलो में और दुरस्थ दुर्गम स्थानो मे सस्थात्मक मूलभूत ढाँचा प्रदान करना।

स्त्रियों की शिक्षा पर भी (उन लोगों की महत्त्वपूर्ण श्रेणी जो शैक्षिक रूप से पिछडे हैं) अध्ययन हुए हैं। ये अध्ययन समानताओ के प्रभाव और परिवर्तन की आवश्यकताओ को दर्शाते हैं।

शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण (Education, Social Change and Modernisation)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के बीच सम्बन्धो के विश्लेषण मे प्रश्न यह उठता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार करती है। शिक्षा और आधुनिकीकरण के बीच सम्बन्धो के विश्लेषण मे मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शिक्षा और किन दशाओ मे यह समाज मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को पैदा करेगी और उसे दृढ करेगी? शिक्षा को समाजीकरण की एक प्रमुख एजेंसी के रूप में और शिक्षको तथा शैक्षिक सस्थाओं को एजेंट के रूप मे स्वीकार किया गया है। शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप मे बताने मे तीन कारक महत्त्वपूर्ण हैं: परिवर्तन का एजेंट, परिवर्तन की विषय वस्तु और उन लोगो की सामाजिक पृष्ठभूमि जिनका परिवर्तन किया जाना है अर्थात, छात्र। विभिन्न समूहों के नियत्रण वाली शिक्षण सस्थाए उन समूहो के मूल्यो को प्रदर्शित करती हैं जो उन संस्थाओं का प्रबन्ध एवं समर्थन करती हैं। ऐसी स्थिति मे शिक्षक भी बच्चो में विशेष मूल्य, आकाक्षाएँ और अभिरुचियाँ पैदा करते हैं। इस प्रकार परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षको की भूमिका का विश्लेषण करने के लिए हमें उन तीन प्रकार की शिक्षण संस्थाओं को याद रखना होगा जो स्वतंत्रता से पूर्व भारत मे विद्यमान थीं : एक, जो वैदिक दर्शन सिखाना चाहती थीं (गुरुकुल), दो, जो शिक्षा के भारतीयकरण पर ध्यान देती थीं, तीन, वे जो पश्चिमी प्रकार की शिक्षा प्रदान करना चाहती थीं। दूसरे और तीसरे प्रकार की संस्थाओं का विश्वास था कि अंग्रेजी की शिक्षा, विशेष रूप से हाईस्कूल स्तर पर, सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन कर सकेगी। वे समाज सुधारक जो अंग्रेजी पढे लिखे थे, जाति प्रतिबन्धो की समाप्ति, स्त्रियों की समानता, बुरी सामाजिक प्रथाओं और रिवाजों से छुटकारा, देश के शासन मे भागीदारी, लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना आदि पर बल देते थे। वे समाज को बदलने के लिए शिक्षा के माध्यम से उदार दर्शन सिखाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे शिक्षा को ऐसी ज्ञान की ज्योति मानते थे जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करती है। परन्तु यह सन्देहास्पद है कि शिक्षको ने स्कूलों और कॉलेजो, दोनों मे—मूल्यो के उदारवाद को स्वीकार किया और तदनुसार शिक्षा दी। अत: शिक्षण सस्थाओ ने सामाजिक एकता, राजनैतिक लोकतंत्र और तर्कसंगतता का सन्देश छात्रों तक नहीं पहुँचाया। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात ही

लोकप्रिय लोकतंत्र की अवधारणा स्वीकार की गई जब यह माना गया कि समतावाद, धर्म निरपेक्षवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, मानववाद, जाति संस्था का अवमूल्यन और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में ह्रास, आदि उद्देश्यों को शिक्षा के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है और यह कार्य स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा की विषय सामग्री बदल कर ही किया जा सकता है।

आधुनिकीकरण के मूल्यों को फैलाने के लिए शिक्षा के उपयोग पर बल देने की बात 1960 और 1970 के दशकों के बाद समझी जाने लगी। अत्यधिक उत्पादक अर्थ व्यवस्था, वितरणशील न्याय, निर्णय करने वाली संस्थाओं में लोगों की भागीदारी, उद्योगों, कृषि तथा अन्य व्यवसायों और पेशों में वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का वरण, आदि भारतीय समाज को आधुनिक बनाने के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। इन लक्ष्यों को उदार शिक्षा के माध्यम से प्राप्त किया जाना था। इस प्रकार आधुनिकीकरण को तर्कसंगत मूल्य व्यवस्था पर आधारित आन्दोलन या दर्शन के रूप में नहीं वरन् एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया जो कि हमारे समाज की विशेषता मानी जाये। इस प्रकार आधुनिकीकरण केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहना था, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में भी प्राप्त किया जाना था। शिक्षा को आधुनिकता के विस्तार के लिए एक मार्ग के रूप में उपयोग किये जाने का प्रयत्न था।

समस्या यह है कि सामाजिक-राजनीतिक रूपरेखा व आधुनिकीकरण के मूल्यों के विषय में, हमारे समाज के अभिजात वर्ग में स्पष्ट असहमति है। अत प्रश्न यह है कि आधुनिकीकरण के मूल्यों को कौन समझायेगा? शिक्षा कौन देगा? यदि परिवर्तन करने वाले स्वयं परम्परावादी हैं और स्वयं अपने जीवन में आधुनिक मूल्यों को नहीं अपनाते, तो छात्रों को किस प्रकार वे इन मूल्यों को प्रदान करेंगे? इतने पर भी अनेक शिक्षा आयोग और 1986 की नयी शिक्षा नीति ने असाधारण स्पष्टता से आधुनिक समाज की विशेषताओं और मूल्यों को उजागर किया है, तथापि शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण का मार्ग इतना सरल नहीं है। आधुनिकीकरण के विशिष्ट मूल्यों (जैसे, धर्म—निरपेक्षता, व्यक्तिवाद, समाजवाद और समतावाद, आदि) की वैधता पर सहमति के अभाव में हम आधुनिकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने की उम्मीद कैसे करें? अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक प्रभावों को प्रसारित करने के लिए एक साधन के रूप में शिक्षा का उपयोग एक ऐसा प्रकरण है जो गम्भीर चिन्तन चाहता है।

अनेक समाजशास्त्रियों ने ए आर देसाई (1974), एस सी दुबे (1971), एम एस गोरे (1971), एन जयाराम (1977), के अहमद (1979), और ए बी शाह (1973), आदि) सामाजिक पुनर्गठन और आधुनिकीकरण के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में मानने के विषय पर ध्यान दिया है। के अहमद ने कहा है कि

यद्यपि औपचारिक शिक्षा लोगों की अभिरुचियों और मूल्यों में ज्ञान के परिवर्तन के माध्यम से वैचारिक परिवर्तन करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है, फिर भी समाज में सरचनात्मक परिवर्तन लाने मे इसका प्रभाव सीमित ही है। ऐसा शिक्षा में विद्यमान प्रचलनो और कार्यविधियों तथा यथास्थिति मे रुचि रखने वाले स्वार्थी लोगो के बीच सम्बन्धों के कारण है। सुमा चिटनिस (Suma Chitnis, 1978) ने भी विकास के साधन के रूप में शिक्षा की अनियमित कार्यप्रणाली की ओर संकेत किया है। ए.आर देसाई (1974) ने सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षा की मान्यता पर प्रश्न चिह्न लगाया है। उनका मानना है कि स्वतंत्रता के बाद शिक्षा को वांछित परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से तैयार नहीं किया गया है। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता और समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने मे शिक्षा की नीतियां तथा वित्त और कोष आवंटन की नीतियों की आलोचना की है। ए.आर देसाई के समर्थन में अनुसूचित जातियों, जनजातियों स्त्रियों और अल्पसंख्यकों की शिक्षा के उदाहरण दे सकते हैं जो उनकी स्थिति को ऊपर उठाने में असफल रही है। अशिक्षित युवकों की बेरोजगारी और अन्य रोजगारी युवाओं की आकांक्षाओं की पूर्ति में शिक्षा की असफलता का एक उदाहरण है। ग्रामीण क्षेत्रों में विकास और गरीबी मिटाने में असफलता एक और उदाहरण है। जब तक शक्ति के मौजूदा वितरण की रूपरेखा को तोड़ा नहीं जाता और गरीबों के प्रति नीतियों में परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक परिवर्तन के लिए ससाधन जुटाना कठिन ही बना रहेगा। सामाजिक परिवर्तन के लिए उच्च शिक्षा में भी परिवर्तन आवश्यक है। एम.एस.गोरे (1971) ने शिक्षा की विधियों और विषयवस्तु में, उस वातावरण और प्रसंग में जिनमें इसका सचालन हो रहा है, और शिक्षकों तथा प्रशासकों की उन आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं में, जो वांछित विकास को प्राप्त करने में शिक्षा की प्रभाविता के लिए शिक्षा के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी हैं, परिवर्तन लाने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है।

आजीवन शिक्षा (Life Long Learning)

नई तकनीकों तथा ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था के प्रादुर्भाव से कार्य एवं शिक्षा के पारंपरिक विचार में परिवर्तन हो रहा है। जैसे-जैसे हमारे समाज में परिवर्तन होते जाते हैं, पारंपरिक आस्थाएं तथा संस्थाएं जो समाज के आधार होते हैं, उनमें भी परिवर्तन होता जाता है। शिक्षा की धारणा जिसका अर्थ ज्ञान का संरचनात्मक संप्रेषण जो किसी औपचारिक संस्था में होता है अब बदल रहा है। उसका स्थान अब शिक्षा की विस्तृत धारणा ने लिया है जो अब विभिन्न परिवेशों में दी जा सकती हैं। 'शिक्षा' की धारणा से 'अधिगम' की धारणा में बदलाव कोई मामूली नहीं है। अधिगम पर बल देने से यह स्पष्ट होता है कि कौशल व ज्ञान सभी प्रकार के साधनों से प्राप्त किए जा सकते हैं—इंटरनेट तथा अन्य प्रकार के मीडिया आदि से।

शैक्षिक सस्थाओं तथा बाहरी विश्व के बीच की दीवारें अब ढहती जा रही हैं। ये केवल साइबर स्पेस के माध्यम से ही नहीं हो रहा बल्कि भौतिक विश्व मे भी ऐसा हो रहा है। आजीवन शिक्षा को ज्ञानाधारित समाज की ओर ले जाने मे अपनी भूमिका निभानी चाहिए। अधिगम को व्यापक मानवीय मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिए। अधिगम स्वविकास एव स्व समझ की सेवा में स्वतत्र स्वय-शिक्षा के साधन व साध्य दोनो होता है।

शिक्षा के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspectives of Education)

शिक्षा प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Education: Functionalist Perspective)

शिक्षा का प्रकार्यात्मक विचार शिक्षा द्वारा सामाजिक तत्र को बनाये रखने मे किये गये सकारात्मक योगदान पर ध्यान केन्द्रित करता है। दुर्खीम के अनुसार शिक्षा का प्रमुख कार्य समाज के मानकों व मूल्यों का सम्प्रेषण करना है। दुर्खीम का मानना था कि स्कूल वह कार्य करते हैं जो परिवार तथा समवयस्क समूह भी नहीं कर सकते। स्कूल मे बालक निश्चित नियमो के अन्तर्गत ही अन्य लोगो के साथ अतः क्रिया करता है। यह अनुभव बालक को समाज के सदस्यो के साथ समाज के नियमो के अन्तर्गत अत क्रिया करने हेतु तैयार करता है। स्कूल बच्चों मे उन मूल्यो का *सम्प्रेषण करता है जो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक समजातीयता प्रदान करते* हैं। स्कूल बालको को विशिष्ट कौशल प्रदान करते हैं जो सामाजिक सहयोग मे विविधता बनाए रखने हेतु आवश्यक होते हैं। दुर्खीम के समान ही पारसन्स भी यही मानते हैं कि विद्यालय समाज का लघुरूप मे प्रतिनिधित्व करते हैं। विद्यालय बच्चो को समाज के मूलभूत मूल्यो मे समाजीकृत करते हैं। समाज को प्रभावी रूप से चलाने हेतु मूल्यो के बारे मे मतैक्य आवश्यक है।

शिक्षा उदार परिप्रेक्ष्य (Education: Liberal Perspective)

शिक्षा का उदार विचार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य नहीं है। *यह विचार शिक्षा के व्यक्ति* मे सबधित न कि समाज से सबधित कार्यों पर ध्यान केन्द्रित करता है। डीवी (Dewey) मानते थे कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपनी सपूर्ण क्षमता को विकसित करने हेतु प्रोत्साहन देना है। *मार्क्सवादियों का मानना है कि शिक्षा के उदार* विचार का झुकाव समाज की विशेषताओं को नजरअदाज करने की ओर होता है। *ईवान इलिच (Ivan Illich) ने अपनी पुस्तक "डीस्कूलिंग सोसाइटी" (Deschooling Society, 1971) मे शिक्षा के उदार विचार को अपने तर्कयुक्त निष्कर्ष पर इस तर्क* के साथ पहुचाया कि औपचारिक शिक्षा अनावश्यक है तथा समाज के लिए हानिकारक है। इलिच के अनुसार वर्तमान विद्यालय ओर शिक्षण की पद्धतिया बच्चों की नैसर्गिक

प्रवृत्तियों को कुंठित कर उन्हे उपभोक्तावादी समाज मे ढाल रही हैं। इलिच शिक्षा तंत्र को आधुनिक ओद्योगिक समाज की समस्याओ की जड मानते हैं।

शिक्षा: संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य (Education: Conflict Perspective)

संघर्षात्मक परिप्रेक्ष्य के अनुसार शिक्षा की प्रमुख भूमिका पूँजीपतियों को कार्य हेतु जन–संसाधन उपलब्ध कराना है। पूजीवाद के लिए कार्य करने हेतु ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती हे जो कर्मठ, विनम्र, हों तथा वे इतने बंटे हुए हों कि वे प्रबधन के अधिकारो को चुनौती न दे सकें। पूजीवाद को अतिरिक्त कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इससे उन्हे श्रमिको को कम मजदूरी देने तथा श्रमिको को स्थानापन्न करने मे सहायता मिलती हे। साथ ही श्रमिको को सगठित होने मे कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त सम्पन्न व सत्ताधारी लोगो के बच्चों को अधिक अवसर मिलते हैं तथा वे उच्च वेतन वाली नौकरियों पर कब्जा कर लेते हैं। शिक्षा यह मिथ्या भ्रम पैदा करती है कि सत्ता के शीर्ष स्तर पर वैठे लोग ही सत्ता व विशेषाधिकार पाने की पात्रता रखते हैं। शिक्षा तत्र इसे गुणो को महत्व देने वाले तत्र की आड में मूर्तरूप देता है।

शिक्षा: उत्तर–आधुनिक परिप्रेक्ष्य (Education: Postmodern Perspective)

रॉबिन उशर (Robin Usher) व रिचर्ड एड्वर्ड्स (Richard Edwards) ने अपनी पुस्तक "उत्तर-आधुनिकवाद व शिक्षा" (*Post-modernism and Education*, 1994) में शिक्षा के भविष्य के सबंध मे चार सभावनाओ का उल्लेख किया है—

1 आधुनिक शिक्षा पद्धति जारी रह सकती है।

2 शिक्षा पद्धति को इस प्रकार पुनर्गठित किया जा सकता है जिसमें पारंपरिक मूल्यों पर वल देने के प्रयास किए जाएंगे तथा सभी व्यक्तियों पर समान मूल्य आरोपित किए जाएंगे।

3 शिक्षा को इस प्रकार आकार दिया जाएगा कि वह पूंजीवादी व्यवस्था को परिलक्षित करे। शिक्षा की विषयवस्तु (Content) को इस प्रकार संशोधित किया जाएगा, जिसमें उस ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाएगा जो उपयोगी हो तथा जो सत्य की खोज पर अधिक बल न देकर लाभ कमाने मे सहायता करे।

4. अन्तिम संभावना यह हो सकती है कि शिक्षा सांस्कृतिक बहुवाद विभिन्न समूहों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उत्तर आधुनिकवाद के पहलुओं को परिलक्षित करे। उशर व एडवर्ड्स मानते हैं कि विभिन्न लोगों जिनमें वे समूह भी शामिल हैं जो अपेक्षाकृत शक्तिविहीन हैं तथा वर्तमान में जिनका शिक्षा तंत्र पर कम प्रभाव है, उन्हें विभिन्न प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।

उत्तर आधुनिकतावादी इस दावे को टालने का प्रयास करते हैं कि उनका उपगमन

एक सुसगत (Coherent) सिद्धान्त पर आधारित है। वे शिक्षा तत्र मे परिवर्तनो का वर्णन कर रहे हैं अथवा किसी विशिष्ट दिशा मे परिवर्तनो का वर्णन कर रहे हैं अथवा किसी विशिष्ट दिशा मे परिवर्तन करने की वकालत कर रहे हैं अथवा उपरोक्त दोनो कर रहे हैं, यह अक्सर स्पष्ट नहीं होता। माइकल डब्ल्यू एपल (Michael W Apple) मानते हैं कि उत्तर आधुनिकतावादी शिक्षा मे स्थानीय सघर्षो पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं तथा ऐसा करने मे वे मुख्य बात से अपना ध्यान हटा रहे हैं। उत्तर आधुनिकतावादी शक्तिशाली आर्थिक व राजनीतिक कारको को नजरअदाज कर रहे हैं जो उन परिवर्तनो को आने से रोक रहे हैं जिनकी वे अपेक्षा कर रहे हैं।

18

आर्थिक व्यवस्था और आर्थिक विकास

(Economic System and Economic Development)

आर्थिक व्यवस्था (Economic System)

आर्थिक गतिविधियां समाजशास्त्रियों के अध्ययन का विषय हैं क्योंकि सामाजिक जीवन के आर्थिक तथा अन्य पहलू घनिष्ठता मे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को प्राय: तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—पूंजीवाद, समाजवाद व मिश्रित अर्थव्यवस्था।

1. पूंजीवाद (Capitalism)—पूंजीवाद का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है जिसमे प्राकृतिक संसाधनो तथा वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन के साधनो पर निजी स्वामित्व होता है। यह स्वतंत्र उद्यमिता की व्यवस्था है जो निजी लाभ के लिये निजी स्वामित्व पर आधारित होती है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तीन विशिष्ट विशेषताएँ हैं–स्मेलसर, (1967 6-7)।

1. संपत्ति पर निजी स्वामित्व—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था व्यक्ति के लगभग सभी वस्तुओं के स्वामित्व के अधिकार का समर्थन करती है। उद्योगपति तथा अन्य लोग व्यापारिक प्रतिष्ठानों के मालिक बन जाते हैं। इससे समाज मे दो वर्ग बन जाते हैं—एक वे जिनके पास सब कुछ है तथा दूसरे वे जिनके पास कुछ भी नहीं है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे संपत्ति के स्वामित्व व आर्थिक गतिविधियों पर शासकीय नियंत्रण की मात्रा कितनी हो यह प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था पर निर्भर करता है।

2 निजी लाभ का लक्ष्य—निजी सपत्ति का कुछ हाथो म सचय होना वर्ग सघष को जन्म देता है। इस व्यवस्था म कुछ लोगो द्वारा अधिकाश लोगो का शोषण होता ह व समाज वर्गो मे बट जाता है।

3 मुक्त स्पर्द्धा—विशुद्ध पूजीवादी अथव्यवस्था म शासन का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। इस व्यवस्था मे लोग बिना शासकीय हस्तक्षेप के मुक्त स्पद्धा म भाग ले सकते हैं। व्यापार स्वय द्वारा ही नियत्रित होता ह उमे नियत्रित करने हेतु शासकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं हाती।

मुक्त व्यापार युग की तुलना में समसामयिक पूजीवाद म व्यापक शासकीय नियत्रण होते हैं। यह शासन कराधान एव अन्य नियत्रक अभिकरणो के माध्यम से उपभोक्ताओं के हितो की रक्षा करता है। कपनिया क्या उत्पादित करती हैं उत्पादो की मात्रा व लागत आयात व निर्यात तथा प्राकृतिक ससाधनो का उपभोग व सरक्षण इन सभी को सरकार प्रभावित करती ह। इसके अलावा सरकार मजदूरी की न्यूनतम दरे तथा कार्यस्थल पर सुरक्षा के कडे मानदड लागू करती है। इसके बावजूद पूजीवादी अर्थव्यवस्था मे सरकार उद्योगो का स्वामित्व अपने हाथ में कभी नही लेती। फिर भी अनेक उद्योगो मे कुछ कपनिया सभी क्षेत्रो मे अपना प्रभुत्व बनाए रखती हैं। मार्क्स का मानना था कि पूजीवाद मे स्वय के विनाश के बीज विद्यमान हैं। मोटे तौर पर पूजीवादी वह तत्र है जिसमे उत्पादन तथा उपभोक्ता दोनो प्रकार की वस्तुओ मे निजी सपत्ति होती हैं। सविदा व स्पर्द्धा करने की स्वतत्रता होती है। आर्थिक मामलो मे शासन का हस्तक्षेप सीमित होता है।

2 समाजवाद (Socialism)—समाजवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमे वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व होता है। आर्थिक व्यवस्था का मूलभृत उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना न होकर लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है। समाजवादी इस बात को अस्वीकार करते हैं कि मुक्त स्पर्द्धा से आम जनता लाभान्वित होती है। वे मानते हैं कि आर्थिक निणय सरकार को ही लेने चाहिये क्योंकि वह जनता की प्रतिनिधि है। समाजवाद की विशेषताए निम्नानुसार है —

1 सपत्ति पर सामूहिक स्वामित्व- सपत्ति के प्रमुख साधनो पर सार्वजनिक स्वामित्व हो, यह समाजवाद का आधार है। समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन व वितरण के साधनो पर निजी स्वामित्व न होकर सार्वजनिक स्वामित्व होता है। समाजवाद आर्थिक विषमता को कम करने की दिशा मे कदम उठाता है।

2 सार्वजनिक लक्ष्यों की प्राप्ति—इस व्यवस्था मे निजी व्यापार को गैर कानूनी माना जाता है। सार्वजनिक स्वामित्व होने के कारण सपत्ति का उपयोग लोगो को

स्वास्थ्य सेवाए, शिक्षा, रहने हेतु मकान आदि मूलभूत सेवाओं को प्रदान करने में किया जाता है।

3 अर्थव्यवस्था पर शासकीय नियत्रण—समाजवादी सरकार केन्द्र नियत्रित अर्थव्यवस्था पर निगाह रखती है। सभी प्रमुख उद्योगों पर सरकारी स्वामित्व समाजवाद का एक प्रमुख लक्षण है। केन्द्रीय प्राधिकरण द्वारा बाजार को नियत्रित किया जाता है।

सामाजिक सेवा कार्यक्रम की ओर प्रतिबद्धता के मामले मे समाजवाद साम्यवाद से भिन्न है। समाजवाद मे सरकार नागरिकों को विशेषत गरीब लोगों को स्वास्थ्य सेवा को वित्तीय सहायता देती है। सक्षेप म समाजवाद एक ऐसा तत्र होता है जिसमे उत्पादन के साधन का सामूहीकरण होता है, इसमे किसी प्रकार के निजी लाभ नहीं होते, किन्तु आय मे भिन्नता व्यक्तिगत कौशलों व किये गये कार्य की मात्रा के अनुसार हो सकती है तथा निजी सपत्ति का उपभोग करने की अनुमति दी जाती है।

किसी भी समाज मे ऐसी अर्थव्यवस्था नहीं है जो विशुद्ध रूप मे पूंजीवादी अथवा विशुद्ध रूप मे समाजवादी हो। ये दोनो मॉडल वर्णक्रम के दो सिद्धातों का प्रतिनिधित्व करते है। अधिकाश देशों मे कुछ मात्रा में मिश्रित अर्थव्यवस्था विद्यमान है। भारतीय अर्थव्यवस्था सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का अनोखा मिश्रण है जिसे हम मिश्रित अर्थव्यवस्था कहते हैं।

3. मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यक संस्थाओं को कठोरता से सुरक्षित रखा जाता है। राज्य अपनी गतिविधियों के माध्यम से इन संस्थाओं के कामकाज मे सतुलन रखने का प्रयास करता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में योजनाओं को लागू करने में हर संभव प्रयास किया जाता है तथा उनमे निर्धारित लक्ष्यों को बडी गभीरता से लिया जाता है। जबकि मिश्रित अर्थव्यवस्था नियोजन में इस प्रकार की बाध्यता नहीं पायी जाती जबकि मिश्रित अर्थव्यवस्था में उन क्षेत्रों के लिए भी लक्ष्य निर्धारित किए जाते है जिन पर राज्य का नियंत्रण नहीं रहता।

आर्थिक अर्थव्यवस्था की तुलना

	पूंजीवादी अर्थव्यवस्था	समाजवादी अर्थव्यवस्था	मिश्रित अर्थव्यवस्था
उत्पादन	उत्पादन के साधन पर निजी स्वामित्व	उत्पादन के साधन पर राज्य का स्वामित्व	उत्पादन के साधन पर राज्य एवं निजी स्वामित्व
शासन की भूमिका	शासन की भूमिका सीमित	शासन की भूमिका प्रमुख	शासन की भूमिका हस्तक्षेप करने की
निर्णायक भूमिका	बाजार की भूमिका निर्णायक	नियोजन की भूमिका निर्णायक	बाजार की भूमिका निर्णायक तथा नियोजन की भूमिका सहायक
साधन	निजी क्षेत्र का प्राधान्य	सार्वजनिक क्षेत्र का प्राधान्य	निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र का सहअस्तित्व

आर्थिक तंत्र (Economic Network)

प्रत्येक देश का अपना एक आर्थिक तंत्र होता है। अर्थशास्त्र आर्थिक तंत्र को उन सभी युक्तियों का योग मानते हैं जिनके द्वारा आर्थिक क्रियाओं के वैकल्पिक उद्देश्यों में प्राधान्य का निर्धारण होता है तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु वैयक्तिक गतिविधियों का समन्वय किया जाता है। किसी आर्थिक तंत्र की सबसे प्रमुख समस्या संसाधनों का आवटन होती है। आधुनिक समाजों के आर्थिक तंत्रों का एक विशिष्ट लक्षण है—अत्यधिक जटिल व विविध प्रकार के श्रम विभाजन का विकास। श्रम विभाजन का अर्थ है काम का विशेषज्ञता लगने वाले विभिन्न व्यवसायों में विभाजन। दुर्खीम ने श्रम विभाजन को आर्थिक संस्थाओं के एक पहलू के रूप में माना है।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र (Sectors of Economy)

अर्थशास्त्री किसी भी अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बांटते हैं —

1 प्राथमिक क्षेत्र अर्थव्यवस्था का वह भाग होता है जो प्राकृतिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष रूप से कच्चा माल उत्पन्न करता है अथवा प्राकृतिक संसाधनों को एकत्र कर उनका दोहन करता है उदाहरणार्थ कृषि पशुपालन वानिकी मत्स्य ग्रहण खनन। आर्थिक विकास के साथ ही प्राथमिक क्षेत्र का महत्व घटता जाता है।

2 द्वितीयक क्षेत्र अर्थव्यवस्था का वह भाग होता है जो कच्चे माल से वस्तुओं का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ इस्पात, पेट्रोलियम। समाज जैसे-जैसे औद्योगीकृत होते हैं, यह क्षेत्र बढ़ता जाता है।

3 तृतीयक क्षेत्र अर्थव्यवस्था का वह भाग होता है जो वस्तुओं का नहीं बल्कि सेवाओं का सृजन करता है, उदाहरणार्थ शिक्षा, स्वास्थ्य बैंकिंग।

समाधनों के दोहन, वस्तुओं के उत्पादन तथा सेवाओं के प्रदाय संबंधी मानक व नियम समाज की आर्थिक संस्थाओं को बनाते हैं।

विनिमय पद्धति (Exchange System)

दो या अधिक पक्षों के मध्य वस्तु या धन के स्वतंत्र ऐच्छिक पारस्परिक एवं वैधानिक आदान–प्रदान को विनिमय कहते हैं। विनिमय पद्धतियों में व नियम निहित हैं जो समाजों के बीच तथा उनके अन्दर वस्तुओं व सेवाओं के स्थानान्तरण को नियंत्रित करते हैं। विनियम के चार प्रकार हैं —

1 पारस्परिक पद्धति—उपहारों का आदान-प्रदान पारस्परिकता का अच्छा उदाहरण है। वस्तुएं एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को स्थानांतरित की जाती हैं। ये स्थानांतरण यांत्रिक कम समारोही अधिक होते हैं।

2 पुन: वितरणशील पद्धति—पुन: वितरणशील पद्धति में समाज के सभी सदस्यों के उत्पाद एकत्र किये जाते हैं व उनका पुन: वितरण किया जाता है। कुछ सीमा तक यह कराधान के माध्यम से होता है। समाज के सदस्यों से विभिन्न दरों से कर एकत्र किया जाता है। इस एकत्र किए गए कोष में से कुछ कल्याण गतिविधियों व लोक सेवाओं के रूप में पुन: वितरित किया जाता है।

3 संघटन पद्धति—अर्थव्यवस्था को सामूहिक प्रकार की कमेटी द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। वस्तुओं का अधिग्रहण पारस्परिकता, पुन: वितरण अथवा बाजार तंत्र का मामला नहीं है बल्कि इसमें जब्ती, नियंत्रित वितरण अथवा सुव्यक्त प्राथमिकताएं निहित हो सकती हैं।

4 बाजार तंत्र—बाजार तंत्र विनिमय का सबसे अधिक प्रचलित रूप है। इसमें व्यक्तियों के बीच सौदेबाजी होती है जिसमें वस्तुओं का मूल्य निश्चित मौद्रिक मानक में व्यक्त किया जाता है। मूल्यों के तंत्र द्वारा विनिमय निर्धारित होता है। संभावित विक्रेता मूल्य को क्रेताओं की अपेक्षित मांग व वस्तु की पूर्ति पर आधारित करता है। बाजार तंत्र विनिमय की एक जटिल एवं परोक्ष पद्धति है।

कुछ समाजों में विनिमय की केवल एक ही पद्धति होती है। अन्य समाजों में चारों पद्धतियां पाई जाती हैं यद्यपि एक ही पद्धति प्रमुख होती है।

विनिमय सिद्धान्त का निहितार्थ है कि वे लोग जो पूर्णत: आदान–प्रदान नहीं कर सकते वे आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से स्वयं को सहायक की स्थिति में ला रखते हैं। मालिक व कर्मचारी श्रम के बदले में मजदूरी का विनिमय करते हैं, फिर भी इस प्रकार के विनिमय में मालिकों की स्थिति प्राय: वरिष्ठ की होती है। किए जाने वाले कार्य की सीमा व मजदूरी के निर्धारण का अधिकार मालिक का ही होता है।

आर्थिक विकास इसके निर्धारक और सामाजिक परिणाम (Economic Development · Its Determinants and Social Consequences)

आर्थिक विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययन म समाजशास्त्रीय प्रासंगिकता क कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं— आर्थिक विकास क्या ह? आर्थिक वृद्धि कैसे शुरू होती ह? आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार क मूलभूत ढाँच की आवश्यकता होती ह? आर्थिक परिवर्तन के लिए पूर्व शर्तें क्या हानी चाहिए और इनको किस प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है? क्या उन कारको को जा आर्थिक विकास को गति प्रदान करते हैं पहचाना जा सकता ह? क्या आर्थिक विकास क बीच आने वाली सामाजिक तथा सास्कृतिक रुकावटो पर विजय प्राप्त की जा सकती ह आर इसकी गति मे वृद्धि की जा सकती हे? आर्थिक विकास के सामाजिक परिणाम क्या हो सकते ह? आर्थिक विकास के कार्यात्मक (Dysfunctional) पक्ष को कैस रोका जा सकता ह?

आर्थिक विकास की अवधारणा (Concept of Economic Development)

विस्तृत अर्थों मे आर्थिक विकास को "किसी भी स्रोत से वास्तविक आय मे प्रति व्यक्ति वृद्धि" के रूप मे देखा जा सकता हे (रॉबर्ट फेरिस 1964 889)। बेच (Bach, 1960 167) ने इसका वर्णन इस प्रकार किया हे "अथव्यवस्था मे वस्तुओं और सेवाओ के कुल उत्पादन मे वृद्धि ही आर्थिक विकास ह"। डेविड नोवाक (David Novack, 1964 151) ने आर्थिक विकास को एक पुरानी परिभाषा के सन्दर्भ मे समझाया है: "यह प्रति व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओ के उपभोग मे निरन्तर ठोस वृद्धि है।" आर्थिक वस्तुओं का ठोस उपभोग तभी सम्भव हे जब आर्थिक वस्तुओं का ठोस रूप म उत्पादन हो और ठोस उत्पादन आजकल अधिक तकनीकी उपयोग पर निर्भर करता है। सकुचित अर्थ मे यह कहा जा सकता हे कि आर्थिक विकास का अर्थ ह : "आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण मे निर्जीव शक्ति व अन्य तकनीकियों का विस्तृत प्रयोग" (रॉबर्ट फेरिस, वही, 889)। इस अर्थ मे व्यावहारिक दृष्टि से आर्थिक विकास केवल औद्योगीकरण ही हे सही नहीं होगा क्योकि उत्पादन मे ऊर्जा और अन्य तकनीकियो के प्रयोग के साथ-साथ इसमें श्रमिक गतिशीलता, विस्तृत शिक्षा पद्धति आदि भी शामिल हे।

जेफ और स्टीवर्ट (Jaffe and Stewart) जिन्होने विकास आर्थिक उत्पादन का युक्तीकरण (Rationalisation) के रूप मे वर्णन किया है, उन्होंने विकसित और कम विकसित देशो मे द्विभाजन (Dichotomy) किया है, जिसका आधार हे प्रति व्यक्ति आय तथा कुछ अन्य कारक, जसे उच्च शिक्षा स्तर, लम्बी अवधि के जीवन की जन्म के समय आकाक्षा, निम्न प्रजनन शक्ति (Fertility) कृषि मे सलग्न श्रम शक्ति का कम अनुपात, और प्रति व्यक्ति बिजली का उच्च उत्पादन, आदि। इसके

अतिरिक्त इस वर्गीकरण में हम एक तीसरी श्रेणी भी जोड़ सकते हैं - वे देश जो विकसित और कम विकसित देशों के बीच हैं, अर्थात् विकासशील देश। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, और पश्चिमी यूरोप के देश (इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड) विकसित देश माने जाते हैं। दूसरी ओर, दक्षिण अफ्रीका, मैक्सिको और दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकतर देश विकासशील देश हैं। भारत भी प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विकासशील देश है।

जेफ और स्टीवर्ट ने कहा है कि उपरोक्त सभी विशेषताओं (विकसित देशों की) को प्राप्त करने के लिए आर्थिक विकास के हर क्षेत्र में परिवर्तन आवश्यक है। परन्तु राबर्ट फैरिस का विश्वास है कि यह निष्कर्ष (कि आर्थिक विकास के लिए हर चीज को तुरन्त प्राप्त करना) न्याय संगत नहीं है। उसका मानना है कि यद्यपि इसका (आर्थिक विकास का) निकटतम माप प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय में वृद्धि से लिया जा सकता है, फिर भी अन्य परिवर्तन आवश्यकता के स्तर पर निर्भर करेंगे।

आर्थिक वृद्धि एवं आर्थिक विकास
(Economic Growth and Economic Development)

आर्थिक वृद्धि का अर्थ किसी निश्चित अवधि में देश में वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में हुई वास्तविक वृद्धि अथवा यदि हम कहें कि प्रति व्यक्ति उत्पाद में वृद्धि तो यह अधिक उपयुक्त होगा। उत्पादन को सामान्यतया सकल अथवा कुल राष्ट्रीय उत्पाद में मापा जाता है। मापने की अन्य विधियां भी उपयोग की जा सकती हैं।

आर्थिक विकास शब्द अधिक व्यापक है। आर्थिक विकास का अर्थ देश की सामाजिक आर्थिक संरचना में प्रगतिशील परिवर्तन है। आर्थिक विकास में देश के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा धीरे-धीरे कम होता है तथा उद्योग, बैंकिंग, व्यापार, निर्माण तथा सेवाओं के हिस्से में सदृश्य वृद्धि होती है।

आर्थिक वृद्धि केवल उत्पादन में वृद्धि से संबंध रखती है जबकि आर्थिक विकास का अर्थ उत्पादन के तकनीकी तथा संस्थागत संगठन में साथ ही आय के वितरण के पैटर्न में परिवर्तन से होता है। वृद्धि के बिना विकास असंभव है।

आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाएं एवं बाधाएं
(Pre-requisites and Barriers to Economic Development)

किसी समाज की आर्थिक प्रगति में योगदान देने वाले कारक जो आमतौर पर माने जाते हैं, वे हैं— प्राकृतिक संसाधन, पूंजी संग्रह, प्रौद्योगिकी, ऊर्जा (Power) के स्रोत, मानव शक्ति, श्रम शक्ति, जनसंख्या की विशेषताएँ व इसके आर्थिक संगठन, और सामाजिक वातावरण। पूर्वापेक्षाओं (Prerequsites) की बात करते हुए राबर्ट फैरिस (1968 : 890) ने कहा है कि आर्थिक विकास की महत्वपूर्ण पूर्वापेक्षाएँ

इस प्रकार हैं— (i) मूल्य या विचारधारा (Ideology), (ii) संस्थाएँ अथवा नियामक जटिलताएँ (Normative Complexes) यानी एकमत से व्यवहार संबंधी नियमों को स्वीकारना या व्यवहार के सामान्य रूप से अनुमोदित प्रचलन का पालन करना, (iii) संगठन (नीतियाँ) अर्थात् क्या सरकार निजी या सार्वजनिक क्षेत्र को या दोनों को आगे बढ़ाना चाहती है, और (iv) लाभ/प्रतिष्ठा संबंधी प्रेरक (प्रोत्साहन)। गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) ने "एशियन ड्रामा" पुस्तक के तीन भागों में, जिसमें उन्होंने दक्षिण एशिया के देशों की गरीबी और विकास का विश्लेषण किया है, विकास को प्रभावित करने वाले छह महत्वपूर्ण कारक बताए हैं (1968 1942)— पैदावार (Output) व आय उत्पादन की दशाएँ जीवन के स्तर कार्य के प्रति दृष्टिकोण, संस्थाएँ व राजनीति। प्रथम तीन आर्थिक कारकों के सन्दर्भ में है आगले दो गैर, आर्थिक और अन्तिम मिश्रित श्रेणी के सन्दर्भ में है। मिर्डल का मानना है कि आर्थिक कारक निर्णायक व महत्वपूर्ण हैं।

नोवाक (Novack, 1961 156) मानते हैं कि कम विकास के प्रमुख कारक हैं पूंजी की कमी निम्न औद्योगिक जनसंख्या, और प्राकृतिक संसाधनों की कमी। दूसरी ओर आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाओं में भी, तकनीकी गुणवत्ता और प्राकृतिक संसाधन, आदि प्रमुख हैं। उनका मानना यह भी है कि कम विकसित क्षेत्रों में आर्थिक विकास में रुकावट डालने वाले कारक हैं— (i) नवाचारों (Innovation) की यथेष्ट मात्रा में कमी (ii) कृषि सम्बन्धी सुधारों में कमी, (iii) अनुशासन की कमी, (iv) जनसंख्या वृद्धि और (v) विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की कमी।

जेकब वाइनर (देखें ज्याँ मेनौड, (Jean Meynaud), 1963) ने आर्थिक विकास की छह रुकावटों को बताया है। यह हैं— प्रतिकूल भौतिक वातावरण, कार्यरत जनसंख्या की निम्न गुणवत्ता (Low Quality), तकनीकी ज्ञान की कमी, पूंजी की कमी, जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, तथा कृषि संबंधी संरचना में दोष।

यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट सुधारों के कारण पूँजीवाद के उदय एवं विकास का रास्ता समाज और उसकी संस्थाओं के दृष्टिकोण में आए परिवर्तनों के कारण खुल गया। इसी आधार पर प्रोटेस्टेन्ट नैतिकता का विकास हुआ जो कि आर्थिक विकास के लिए अनुकूल था। यूरोप की इस घटना के विषय में लिखते हुए मैक्स वेबर ने पूंजीवादी समाज की उन संस्थाओं पर बल दिया है जो पश्चिम में आर्थिक विकास से जुड़ी हुई हैं। ये हैं— (1) निजी स्वामित्व और उत्पादन के साधनों का नियंत्रण, (2) रुकावटें तथा सरकार द्वारा मूल्य निर्धारण, (3) गणनीय (Calculable) कानूनों का शासन जो लोगों को पूर्व में ही जानकारी देते हैं कि आर्थिक जीवन में किन नियमों के अन्तर्गत वे कार्य करें। (4) मजदूरी पर काम करने के लिए लोगों को आजादी, (5) पारिश्रमिक (Wages) और मूल्यों (Price) की बाजार व्यवस्था के माध्यम से

आर्थिक जीवन का व्यापारीकरण (Commercialism) ताकि उत्पादन समाधनो (Productive Resources) को क्रियाशील बनाया जा सके और उनका ठीक से वितरण किया जा सके। (6) सट्टेबाजी (Speculation) और जोखिम उठाना (Risk-taking) जो पहले के सामंती समाजो मे मुख्यत: निषेध थे। परन्तु कुछ विद्वानो ने इस विचारधारा मे दोष पाए हैं।

भारत में आर्थिक विकास में बाधाएँ
(Obstacles to Economic Development in India)

उपरोक्त तथ्य भारत मे आर्थिक विकास मे आने वाली बाधाओ को समझने मे सहायक हैं। थॉमस शी (देखें ज्याँ मेनार्ड 1963) के अनुसार भारत मे चार प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं . जाति भूमि पट्टेधारी (Land Tenure) का पटर्न (Pattern), जनसख्या वृद्धि और सम्पत्ति कानून (जिससे भूमि के अधिक टुकड़े होते हैं।)

ए आर देसाई (1959 130) द्वारा बताई गइ आर्थिक विकास म मूल बाधाए हैं : (a) अतीत से हस्तान्तरित सामाजिक ढाँचा और संस्थात्मक सरचना व मूल्य (अर्थात् जाति प्रथा) और (b) पुरोगामी निष्ठाओ का दुराग्रह (Persistence)।

यद्यपि भारत मे जाति प्रथा सिद्धान्त रूप मे तथा सवैधानिक रूप में समाप्त कर दी गई है लेकिन वास्तविक जीवन मे इसका महत्व, आर्थिक विकास पर इसका प्रभाव, सम्पत्ति सम्बन्धी के आदर्शो और उपभोग के तरीको पर इसका प्रभाव, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रो के सत्ता के ढाँचे की संस्थिति (Configurations) पर प्रभाव आज भी अच्छी तरह नहीं समझा गया है, इसलिए इसको गम्भीर रूप से नजर अन्दाज किया गया है। गतिशील आर्थिक विकास के लिए *अति आवश्यक लोगो की गतिशीलता को जाति रोकती है। यह कुछ समूहो को कुछ* पेशो अपनाने से रोकती है, तथा आर्थिक व्यवहार के कुछ आदर्शों और उपभोग के कुछ स्वरूपों को भी अपनाने से रोकती है। यह देखा गया है कि अर्थतंत्र, प्रशासन और सांस्कृतिक कार्यो मे अधिकतर नियंत्रण करने वाले पदो पर सम्पूर्ण भारत में कुछ जातियो द्वारा ही एकाधिकार कर लिया गया है। वास्तव में, समूचे देश के लोगो के भाग्य का नियंत्रण कुछ जाति के लोग ही करते हैं जिससे जाति सघर्ष, क्षेत्रीय तनाव, व सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है। यह अशान्ति विशेषाधिकार प्राप्त समूहो में आपस मे तथा विशेषाधिकार के वंचित लोगो और विशेषाधिकार प्राप्त लोगो के मध्य संघर्ष का कारण होती है और कटु प्रतियोगितात्मक सघर्ष को बनाए रखती है। स्वस्थ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास पर इसका विपरीत प्रभाव पडता है।

संयुक्त परिवार व्यवस्था, जाति (जो सामाजिक तथा पेशेवर गतिशीलता को रोकती है), साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद और भाषावाद भारत में आर्थिक विकास मे बाधा उत्पन्न करने वाले कारकों के रूप में पहचाने गए हैं। यह भी माना जाने लगा है

कि जाति प्रथा मे परिवर्तनो से ही विकास सम्भव हुआ है। क्योंकि गुन्नार मिर्डल ने जाति और परिवार जैसे सस्थाओ और उनके कार्यात्मक पक्ष को विकास के अपने विश्लेषण मे महत्व नहीं दिया, अत आर्थिक विकास के उनके विश्लेषण को नकारात्मक, बिखरा हुआ (Disjointed) और विषम कहा गया है।

एक अन्य समाजशास्त्रीय उलझाव पिछडे किस्म की निष्ठाओ के दुराग्रह से है जिससे भारतीय लोग छोटे-छोटे अह के साथ समूहो और टुकडो मे बँट गए हैं और जिसके कारण अति उच्च विकसित राष्ट्रीय चेतना के विकास मे बाधा पडी है। कुछ निष्ठाएँ जो भारत मे (जाति निष्ठा के अलावा) अति दुराग्रही हैं वे हैं— नातेदारी निष्ठा क्षेत्रीय पहचान, और धार्मिक लगाव। इस प्रकार के विभाजन समाज मे एकता की भावना आर इसके सदस्यो के बीच पहचान की भावना के विकास मे बाधक हैं। ऐसे वातावरण मे जो नियामक (Normative) दबाव रहता है, वह बाह्य परिस्थितियो और सम्बन्धो मे व्यक्ति के व्यवहार को बहुत प्रभावित करता है।

ए आर देसाई (1959 131-32) का यह भी मानना है कि पुरानी सस्थाओ के साथ-साथ यह सकुचित मानसिकता (Parochial Mentality) कई प्रकार से उपयुक्त आर्थिक विकास को बाधित करती है (i) इससे भाई भतीजावाद पनपता है, (ii) इससे अनुत्पादक विनियोजन के पैटर्न (Patterns of Unproductive Investment) और गलत उपभोग के पटर्नो जेसे हानिकारक प्रचलनो (Harmful Practices) का विकास होता है (iii) यह कार्य (Work) कुशलता, पेशे (Vocations) और साधनो के आवटन के प्रति विकृत अभिवृत्ति पेदा करता है। (iv) यह उन लोकरीतियो (Mores) और मान्यताओ (Sanctions) के विकास मे बाधा उत्पन्न करती है जो आधुनिक समय मे विकासशील अर्थव्यवस्था का मूल है, जैसे, कानून पर आधारित लोकरीतियाँ और मान्यताएँ व्यक्तित्व के प्रति सम्मान और समान नागरिकता की अवधारणा।

योगेन्द्र सिह (1973) के अनुसार भारत मे आर्थिक विकास मे बाधक कारक निम्न हैं— (i) उत्कर्ष (Transcendence) (जिसके अनुसार परम्परागत मूल्यो की वैधता को चुनोती नही दी जा सकती), (ii) पूर्णतावाद अथवा समष्टिवाद (Holism) (जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज (या समूह) के बीच का सम्बन्ध ऐसा है कि व्यक्ति अपने अधिकारो आर अपनी आकाक्षाओं को समाज के कल्याण के सामने गौण मानता है, जिसका अर्थ यह भी है कि व्यक्ति के ऊपर सामूहिकता का वर्चस्व होता है), (iii) श्रेणीक्रम (Hierarchy) (जाति, पेशा और सामाजिक स्थिति का वर्गीकरण) और (iv) निरन्तरता (Continuity) (पुनर्जन्म और कर्म मे विश्वास)।

आर्थिक विकास में अवस्थाएँ (Stages in Economic Development)

रोस्टो (1960 : 4) ने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएँ बताई हे। ये हे— (i)

परम्परागत समाज, (ii) उत्कर्ष (take off) की पूर्व दशाएँ (Pre-conditions), (iii) उत्कर्ष अवस्था, (iv) तकनीकी परिपक्वता की प्रेरणा, और (v) उच्च जन उपभोग (Mass Consumption) का युग।

परम्परागत समाज मूल रूप से कृषि प्रधान समाज होता है। इसके सदस्य भाग्यवादी, अन्ध विश्वासी और अपने समुदाय के बाहर की दुनिया से अनभिज्ञ (Ignorant) होते हैं। ऐसे समाज मे निष्ठा की इकाइयाँ परिवार, गाँव, जाति या धार्मिक समुदाय होती है। परम्परागत समुदाय (किसान) आत्मनिर्भर नहीं होते परन्तु बाजार के लिए शहरो पर, धर्म के लिए दर्शन पर और यहाँ तक कि सरकारो पर निर्भर रहते हैं क्योंकि समुदाय के भीतर नेतृत्व का विकास कम रहता है। किसानो के लिए बाहर से निर्णय लिए जाते हैं। अक्सर वे यह भी नहीं जानते कि यह निर्णय कैसे और क्यो लिए गए। यद्यपि वे प्रयत्न करते हैं लेकिन इन निर्णयो के लेने मे जो उनको बाहर से प्रभावित करते है उनमे उनकी कोई भागीदारी नहीं होती। इसमे न केवल जीवन के प्रति भाग्यवादी दृष्टिकोण उत्पन्न होता है बल्कि बाहर के लोगो के प्रति सन्देह और नये विचारो के प्रति सावधानी भी। बाह्य जगत के प्रति अविश्वास उन्हें उनके पडोसियो से नहीं जोडता। यह विस्तृत (Extended) परिवार अपने पडोसियों की बेईमानी से बचने के लिए एकजुट हो जाता है। परम्परागत समाज मे एकता की यह एक इकाई बन जाती है। परम्परागत समाज मे सीमित साधनो के कारण, विशेष कर सीमित भूमि के कारण उत्पादन सीमित रहता है।

तत्पश्चात् मन्द परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू होती है। इस अवस्था में उत्कर्ष (Take off) की पूर्व दशाएं विकसित हो जाती हैं। आमतौर पर ऐसी पूर्व दशाएं किसी उन्नत समाज द्वारा बाह्य हस्तक्षेप से उत्पन्न होती है। इस प्रकार के हस्तक्षेप नये विचार और भावनाए प्रेरित करते हैं और लोग यह विश्वास करने लग जाते हैं कि आर्थिक विकास अच्छा भी है और सम्भव भी। कुछ लोग शिक्षा की ओर अग्रसर होते हैं तो कुछ नये नेताओ का उदय होता है और व्यापार एव व्यवसाय जैसे विनियोजन के कुछ नये क्षेत्र दिखाई देने लगते हैं। यह सब धीरे-धीरे होता है क्योंकि स्थापित मूल्यों और परम्परागत सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन कठिन होता है। संस्थाओं और मूल्यो में परिवर्तन प्रारम्भ होने से पहले सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास के लिए कुछ पूर्व दशाएँ मौजूद होना आवश्यक है। ये हैं— उद्देश्य के प्रति जागृति, भविष्य पर दृष्टि, अत्यावश्यकता का बोध, विविध अवसरो और भूमिकाओं की आवश्यकता, स्वयं निर्दिष्ट कार्यों और बलिदानो के लिए भावात्मक तत्परता और गतिशील नेतृत्व का उदय।

उत्कर्ष की अवस्था मे विकास के विरुद्ध अवरोध को जीत लिया जाता है और विकास एक सामान्य स्थिति हो जाती है। पूँजी संग्रह होने लगती है, उद्योग और कृषि

मे तकनीकी विकास होने लगता है जो अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण को एक अह कार्य मानने लगता है। नये उद्योग तेजी से पनपते हैं और लाभ के अधिक विस्तार के लिए पुनर्विनियोजित किया जाने लगता है। श्रमिको की सख्या और उनके पारिश्रमिक मे भी वृद्धि होने लगती है।

उत्कर्ष अवस्था के बाद विकास का लम्बा अतराल शुरू होता है। इस अवधि मे *आर्थिक क्रिया द्वारा आधुनिक तकनीकी को फैलाने की मुहिम शुरू होती है।* नये उद्योग अपने विस्तार और उत्पादन की दर बढाने लगते है। परिपक्वता की ओर इस मुहिम का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि पहले जो वस्तुएँ आयात की जाती थीं अब वे देश मे ही उत्पन्न की जाती हैं। उत्कर्ष अवस्था के लगभग 40 वर्षों बाद परिपक्वता अवस्था आती है।

अत्यधिक बडे पैमाने पर उपभोग के *युग* मे *टिकाऊ (Durable) उपभोक्ता* वस्तुओ और सेवाओ की ओर झुकाव शुरू हो जाता है। अमेरिका इस अवस्था से उभर गया है जबकि पश्चिमी यूरोप और जापान ने इसका लाभ लेना शुरू किया है क्योकि कोई भी देश इस अवस्था से ऊपर नहीं उठा है तो यह कहना असम्भव है कि अगली अवस्था क्या होगी।

सामाजिक परिवर्तन : आर्थिक विकास का पूर्वगामी या अनुगामी (Social Change : Precede or Follow Economic Development)

एक दृष्टिकोण यह है कि आर्थिक विकास के बिना सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन सम्भव नहीं है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण यह है कि समाज के भीतर सस्थाओं मे होने वाले परिवर्तन आर्थिक विकास को सम्भव बनाते हैं। फ्रैन्किल (देखे ज्याँ मैनौड, 1963) के अनुसार आर्थिक विकास एव सामाजिक परिवर्तन एक-दूसरे पर निर्भर हैं, अर्थात् प्रत्येक एक-दूसरे का कारण और परिणाम है।

यदि हम तकनीकी परिवर्तनो के प्रभावो की बात करे तो हमे यह गलती करने से *बचना होगा कि "किसी काम को करने के ज्ञान" मे परिवर्तनो को "उस काम को वास्तव मे करने"* के परिवर्तनो से अलग किया जा सकता है। यह विचार कि तकनीकी परिवर्तन एक बाहरी शक्ति है जो समाज मे दिन-प्रतिदिन के स्थापित क्रियाकलापो को बदलती रहती है, *गलत सोचने के तरीके से उत्पन्न होता है।* इसमे यह भ्रामक विश्वास भी शामिल है कि समाज के क्रियाकलाप दो विभिन्न सवर्गो (Compartments) मे चलते हैं : प्रथम मे जानने की प्रक्रिया आती है और दूसरे मे ऐसे ज्ञान को व्यवहार मे लागू करना आता है। यही बात आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के विषय मे भी कही जा सकती है कि प्रथम कारक दूसरे के लिए या दूसरा कारक प्रथम के लिए कारण बनता है। जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है कि सामाजिक परिवर्तन न तो आर्थिक विकास से पहले न बाद मे आता

है। दोनों ही अन्त:सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए जब कृषि से उद्योग में परिवर्तन होता है (सीमेन्ट उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग या स्टील उद्योग) तो इससे नये कौशलों (Aptitudes) एवं काम की नई आदतों का भी विकास होता है। यदि एक उद्योग के प्रारम्भ को कुछ यान्त्रिक प्रक्रिया मान लें जिसका कुछ सामाजिक परिणाम भी होगा, तो हम यह बात नहीं देख पायेंगे कि जिसको हम परिणाम मान रहे हैं वह तो निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया स्वयं ही है। इस प्रकार यदि उद्योग में श्रमिकों को स्वतंत्र रूप से रहने के मकान हो या पोषण के स्तर में वे किसी कमी से पीडित हो, या उन्हें शिक्षा या मनोरंजन की कमी हो, (जो कि नये वातावरण में आवश्यक है) तब यह उद्योग में परिवर्तन की प्रक्रिया का परिणाम नहीं होंगे बल्कि इनको पूरा करने में असफलता के कारण होंगे। उत्पादन में वृद्धि की सीधी प्रक्रिया में भी (जैसे, सीमेन्ट, चीनी कागज या स्टील आदि) अधिकतम कुशलता प्राप्त नहीं की जा सकती जब तक उन सभी सामाजिक व आर्थिक क्रियाकलापों जिनमें यह कार्य सम्बन्धित हो, को भी विकसित न किया जाये। वास्तव में उद्योग प्रारम्भ भी नहीं हो सकता है जब तक कि पूर्व अभिवृत्तियों, आदतों, सामाजिक संगठनों के स्वरूप आदि में परिवर्तन न हो।

एक उदाहरण और लें जिसे मात्र तकनीकी परिवर्तन माना जा सकता है। यह मानें कि भूमि और पशुपालक समुदाय (गाँव) की उत्पादकता में वृद्धि वांछित है जो कि मक्खन व दुग्ध उत्पादों को या तो बेचने के लिए या स्वयं उपभोग के लिए कभी भी प्रयासरत नहीं रहे। यह आशा की जाती है कि यह समुदाय न केवल इन उत्पादों का स्वयं उपभोग करेगा बल्कि दुग्ध उत्पादों की बिक्री से अपनी आय में भी वृद्धि करेगा। पहले तो यह उत्पादन में नये तरीकों, यन्त्रों या उपयुक्त मशीनों को मात्र शुरू करने की ही समस्या प्रतीत होगी। लेकिन इसमें सामाजिक आस्थाओं और रिवाजों में वृहत परिवर्तन भी निहित है। यहाँ यह विचार करना होगा कि कौन से दूरगामी सामाजिक परिवर्तन करने होंगे ताकि तकनीकी परिवर्तनों को लागू किया जा सके। आय के स्रोत के रूप में पशुओं का उपयोग (भूमि होने के अलावा), समुदाय के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में मूल परिवर्तन पूर्वापेक्षित (Pre-supposition) है। इसमें समुदाय के सदस्यों के परम्परागत मूल्यों पर पुनर्विचार करना भी आवश्यक है। यह परम्परागत विश्वासों में परिवर्तन (Supposition) का सुझाव देता है कि भूमि पर कैसे और किसके द्वारा कृषि की जानी है (स्त्रियों या पुरुषों द्वारा), स्वयं के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों द्वारा या दूसरों के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों द्वारा। इस प्रकार नवीन अभिवृत्तियों एवं व्यवहार के स्वरूपों का विकास पूर्वापेक्षित होता है जो उनके सामाजिक और आपसी सम्बन्धों को नियमित करता है। इसके अलावा यह भी पूर्वापेक्षा है कि उन लोगों के समूह का समानान्तर उदय (Parallel Emergence) जो न केवल दुग्ध उत्पादों से सम्बद्ध होंगे बल्कि यातायात वितरण,

विपणन (Marketing) और वित्त और उन वस्तुओ से भी जिनको सब उत्पादको को खरीदना पडता है या बेचना पडता है। इसके लिए एक ऐसे राजनीतिक ढाँचे की भी आवश्यकता होगी—स्थानीय प्रान्तीय और राष्ट्रीय भी—जो इस प्रकार की पूरक आर्थिक क्रियाकलापो की स्थापना के लिये उपयुक्त हो। यह उस समुदाय की अनुमति पर भी निर्भर करेगा जो सभी वैधानिक राजनीतिक और प्रशासनिक सस्थाओ के विकास के लिए तैयार होगा जो इस प्रकार की नवीन अन्तर्निर्भर अर्थव्यवस्था मे लगे हुए लोगो के अधिकारो और कर्तव्यो के सामजस्य के लिए आवश्यक होगा।

सामाजिक समायोजन की इस लम्बी सूची का उद्देश्य यह दर्शाना है कि वह चाहे कुछ भी हो जिसे हम *तकनीकी परिवर्तन* की सज्ञा दे रहे हैं वास्तव मे यह समस्त सामाजिक ढाँचे के विभिन्न क्षेत्रो मे विकास के निधारक (Determining) और परस्पर निर्धारित पहलुओ मे से एक है। यह निश्चित करने का प्रयन व्यर्थ है कि कौन सा परिवर्तन नवाचार (Innovation) का कारण है और कौन सा प्रभाव है। फ्रैंकिल ने कहा है कि जब हम एक परिवर्तन को कारण और दूसरे को परिणाम मानते हैं तब हम परिवर्तन की प्रक्रिया का विभिन्न दृष्टिकोणो से मात्र परीक्षण कर रहे होते हैं।

आर्थिक विकास की समाजशास्त्रीय समस्याएँ
(Sociological Problems of Economic Development)

सचनात्मक परिवतन के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। एच डब्ल्यू सिगर (देखे ज्यॉं मेनोड वही 157) जैसे विद्वानो ने स्वीकारा है कि कम विकसित देशो के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण अति आवश्यक है। निर्धन व कम विकसित देशो मे 60 से 80 प्रतिशत तक जनसख्या कृषि पर निभर है। उनकी राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। ऐसे मे इन देशो के आर्थिक विकास के लिए दो विकल्प हैं . (i) मौजूदा प्रबल कृषि सरचना के सुधार से (अर्थात कम उत्पादकता को मौजूदा ढाँचे के अन्दर ही परिवर्तन द्वारा), (ii) समूचे ढाँचे को ही बदल कर अर्थात् कृषि से हटकर औद्योगिक विकास द्वारा। उपरोक्त दो विकल्पो के बीच चुनाव इससे निश्चित होना है कि दोनो मे से कौन सा रास्ता चुनौतीपूर्ण है। दोनो पर ही बल देना हमारे विचार से सही रास्ता है।

दो प्रश्न उठते हैं : (i) कृषि सुधार किस प्रकार सस्ते ढँग से किए जा सकते हैं? (ii) मौजूदा उद्योगो को कैसे सुधारा जा सकता है? कृषि सुधार, भूमि स्वामित्व व्यवस्था मे परिवर्तन द्वारा तथा सिचाई की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराकर सम्भव है। औद्योगिक आन्दोलन विस्तृत पुन: उपकरण (*Extensive re-equipment*) और पुन: अवस्थान (Relocation) कर के सम्भव है। सिगर (वही, 158) ने आगे कहा है कि कृषि से औद्योगिक ढाँचे मे परिवर्तन मे औद्योगीकरण की लागत (Cost)

को तीन प्रकार से कम किया जा सकता है— (i) शहरीकरण से बचकर, जिसका अर्थ होगा उद्योग को गाँव में लाना ताकि यातायात पानी, आदि की कम माँग हो। इससे शहरों की ओर जाने की प्रवृत्ति भी कम होगी, (ii) कम पूँजी वाले उद्योगों पर ही बल देकर, और (iii) ऐसी विधि का उपयोग करके जिसमें श्रम अधिक और पूँजी कम लगती हो। इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार मौजूदा ढाँचे में सुधार करना और संरचनात्मक परिवर्तन का प्रयास सम्भव हो सकता है।

विलबर्ट मूर (Wilbert Moore, 1964) ने निम्नलिखित प्रकार से सामाजिक और आर्थिक ढाँचे पर उद्योग का प्रभाव बताया है— (i) कृषि से निर्माण (Manufacture) और सेवा (Services) की ओर परिवर्तन (ii) पेशेवर विशिष्टीकरण (iii) श्रम का विभाजन, (iv) विशिष्ट क्रियाकलापों का समायोजन (v) श्रम की गतिशीलता, (vi) बैंको का सृजन (Creation) (vii) बाजार का विस्तार (Extension) (viii) उपभोग में परिवर्तन और (4) सामाजिक सम्बन्धों के तंत्र (Network) में परिवर्तन।

ए.आर. देसाई (1959 : 127) ने भारत में आर्थिक विकास की चार समाजशास्त्रीय समस्याएं बताई हैं— (1) पुराने सामाजिक संगठन का बदला जाना और सामाजिक सम्बन्धों के नये ताने बाने का उदय (2) पुरानी सामाजिक संस्थाओं में सुधार या तिलाञ्जलि (Discarding) व नई प्रकार की सामाजिक संस्थाओं का विकास करना, (3) सामाजिक नियंत्रण के पुराने स्वरूपों को बदलना या हटाना और नये प्रकार की सामाजिक सत्ता का सृजन होना, और (4) सामाजिक परिवर्तन के पुराने कारकों का समापन या उन पर पुनर्विचार और सामाजिक परिवर्तन के लिए नये उपायों और कारकों का निर्धारण।

अंग्रेजों ने भारत को अल्प विकसित ही रखा। जो कुछ भी थोड़ा औद्योगिक विकास हुआ था, वह उनके पूँजीवादी आवश्यकताओं के अनुरूप ही हुआ था। भारी उद्योगों को पनपने की अनुमति नहीं दी गई थी। जहाँ ब्रिटिश लोग भारत के आर्थिक विकास को रोक रहे थे, वहीं वे भारतीयों के सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक दृष्टिकोण को भी विकृत कर रहे थे। परम्परागत आत्मविश्वासी ग्रामीण समुदाय जो ग्राम पंचायत, जाति और संयुक्त परिवार जैसी संस्थाओं के माध्यम से कार्यरत था, लगभग बुरी तरह दबा दिया गया। इसके स्थान पर नवीन सामाजिक रचना, नवीन संस्थात्मक आधार या नवीन दृष्टिकोण को स्थापित नहीं किया गया। इनके अभाव में नयी कानूनी व्यवस्था के प्रारम्भ होने से तत्कालीन प्रचलित सामाजिक सम्बन्धों में विघटन होने लगा। सहयोग और सामंजस्य का पुराने सिद्धान्त प्रतियोगिता के सिद्धान्त द्वारा प्रतिस्थापित हो गए जिसमे सामाजिक ढाँचे में एक हलचल मच गई।

स्वतत्रता के पश्चात् सरकार ने पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। आर्थिक विकास ने एक ओर तो नकारात्मक लक्षणो वाली समाजशास्त्रीय समस्याओ (जैसे सामाजिक सम्बन्धों की समस्याएँ, सामाजिक सस्थाओं की समस्याएँ, सामाजिक नियत्रण और सामाजिक परिवर्तन की एजेन्सियाँ) को और दूसरी ओर सकारात्मक प्रकृति की समाजशास्त्रीय समस्याओ को भी जन्म दिया। नकारात्मक प्रकार की समाजशास्त्रीय समस्याएँ पुरानी सामाजिक सस्थाओ के बने रहने का परिणाम हैं जैसे सत्तावादी (Authoritarian) सयुक्त परिवार और परम्परागत-धार्मिक सस्थाएँ। *पुराने सामाजिक नियत्रण के स्वरूपो के कारण भी समस्याओ का उदय* हुआ है जैसे अन्धविश्वासों को मान्यता सत्तावादी मानदड (Authoritarian Norms), पारिवारिक जातीय, जनजातीय धार्मिक तथा अन्य रीति-रिवाज सम्बन्धी मान्यताए (Customary Sanctions)। इसके अतिरिक्त ये समस्याए पुराने सासारिक दृष्टिकोण *के कारण भी उठीं जो कि मूल रूप से धार्मिक भाग्यवादी और गैर जनतात्रिक था।* इसके अतिरिक्त इन समस्याओ का उदय अशिक्षा, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, जातिवाद और गरीबी से भी हुआ। सकारात्मक प्रकार की समस्याएँ औद्योगीकरण वाणिज्यीकरण और मुद्रीकरण (Monetisation) (मौद्रिक अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव) की नीतियों से उत्पन्न हुई। *औद्योगीकरण ने पुराने श्रम विभाजन को उखाड दिया और नव अनुशासन और नव जीवन* शैली की आवश्यकता वाले नये व्यावसायिक पेटर्न को जन्म दिया। आधुनिकीकरण ने भले ही कृषि मे हो या उद्योग मे, आदमी को उसकी सामाजिक इकाई की परम्परागत प्रक्रियाओ और विधियों से तथा उस कुशलता से जो वह अपने परिवार से सीखता था, *अलग कर दिया है।* वाणिज्यीकरण (Commercialisation) ने *भी असख्य समस्याएँ* पैदा कर दी हैं। अब किसान और उत्पादक (Producers) नहीं बल्कि भूस्वामी उद्योगपति तथा प्रशासक नये शासक समूह बन गए हैं। गाँवो मे भी राजनीतिक सत्ता का केन्द्र उच्च जातीय बुजुर्गो से हट कर साहूकारो, व्यापारियो, जमींदारो और अधिकारियो मे हो गया है। मुद्रीकरण (Monetisation) भी अनेक *समस्याएँ लिए हुए है।* इसके कारण जमीन के मूल्यो मे बडे उतार-चढाव होने का भय हो गया है, खाने की वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि हुई है। अत्यधिक धन विभ्रम पैदा हो गया है, और गैर खाद्य पदार्थों पर अधिक व्यय का खतरा पैदा हो गया है। इन खतरो के अतिरिक्त धन की अर्थव्यवस्था के प्रारम्भ होने से *परिवार के अन्दर व्यक्ति का परमाणुकरण (Atomisation) तथा पारिवारिक सम्बधो* का विनाश प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार तीनो प्रक्रियाओ (औद्योगीकरण, वाणिज्यीकरण और मुद्रीकरण) ने अनेक समाजशास्त्रीय समस्याओ को जन्म दिया है।

आर्थिक असमानताएँ (Economic Inequalities)

गरीबी और असमानता एक नहीं है। एक धनी व्यापारी और एक आराम से रहने वाला कॉलेज व्याख्याता भौतिक रूप से असमान हैं— लेकिन *व्याख्याता गरीब नहीं है।*

सामाजिक असमानता का अर्थ है कुछ व्यक्तियों या समूहों के पास दूसरों से अधिक भौतिक ससाधन होना। गरीबी में व्यक्ति या समूह के भौतिक संसाधनों में अपर्याप्तता निहित है। 'गरीबी' की अवधारणा के विषय मे यथेष्ठ असहमति है। क्या आज के युग मे टी वी अथवा फ्रिज न रख सकना गरीबी है? क्या बच्चे को अच्छे स्कूल मे न भेज पाना गरीबी है? कुछ लोग इन स्थितियों को गरीबी मे शामिल करते है, लेकिन अन्य लोग यह मान सकते हैं कि ऐसी स्थितिया गरीबी की अपेक्षा असमानता मे शामिल की जानी चाहिए। अमर्त्य सेन की पुस्तक 'ऑन इकॉनोमिक इनइक्वालिटीज' आर्थिक असमानता पर वर्ष 1973 मे प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने आर्थिक असमानता का मापने के टूल्स का विकास किया। इसमें गरीबी सूचकाक के लिए एक नये सूत्र का भी वर्णन है जो गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगो की आय की असमानता पर आधारित है। इसका 'सेन सूचकाक' गणना मे उपयोग किया जाता है।

धनी वर्ग द्वारा गरीबो के शोषण को अमीरो और गरीबो के बीच असमानता कम करके रोका जा सकता है जो कि पुन: आर्थिक सुधारो द्वारा गरीबी कम करने पर निर्भर करता है। यदि आर्थिक सुधार द्वारा अर्थव्यवस्था मे स्थाई व निरन्तर विकास होता है (जो कि वास्तविक मुख्य उद्देश्य है), तब गरीबो को दो प्रकार से लाभ हो सकता है। प्रथम, अनुभव यह बताता है कि विकास (विशेष रूप से कृषि विकास) गरीबो की ओर ध्यान देता है। दूसरे, स्थाई विकास ऐसा वातावरण है जो समग्र रूप से गरीबो को शक्तिशाली बनाने के लिए अनुकूल होता है। रोजगार के अवसरो मे विस्तार, शिक्षा प्रसार, व्यावसायिक गतिशीलता मे वृद्धि और उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण गरीबों को अधीनस्थ रखने वालो पर गरीबो की निर्भरता कम सकटपूर्ण हो गई है।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि अब तक के किए गए आर्थिक सुधारो से स्थाई विकास में निश्चित रूप से सहायता मिली है। यद्यपि आर्थिक सुधार हो रहे हैं तथापि कई सहायक उपायों की आवश्यकता है ताकि प्रभाव अधिक हो सके।

आय में असमानता के कारण (Causes of Income Inequality)

हमारे देश मे आर्थिक विषमता के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कारण बताये जा सकते हैं —

1. सरकारी नीति (Government Policy) — आयकर उच्च शिखर को घटाकर 50 से 30 प्रतिशत कर दिया गया है। कर नीति को प्रगतिशील (Progressive) (अमीरो पर थोड़ा अधिक कर डालकर) से प्रतिगामी (Regressive) के स्तर तक कर दिया गया है (कम सम्पन्न लोगों को अपेक्षाकृत अधिक कर-सीमा में लाकर)।

2. उदारवादी नीति (Policy of Liberatism)— स्वतंत्र बाज़ार असमानता में वृद्धि करता है।

3. बढ़ती हुई बेरोजगारी (Increasing Unemployment)— विगत गत 2–3 दशकों के देश में औद्योगिक विकास हुआ है। फिर भी नौकरियों की कमी अनुभव की गई है। इसने बेकारी, असुरक्षा और असमानता में वृद्धि की है।

4 उच्च वेतन प्राप्त कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि (Increasing Salary of High-paid Employes)— उच्च वेतन पाने वाले कर्मचारियों के वेतन (पंचम वेतन आयोग की सिफारिशों के पूर्व और पश्चात्) में समग्र (Absolute) अर्थ में न्यून वेतन भोगी कर्मचारी के वेतन से कहीं अधिक वृद्धि हुई है। इससे भी असमानता में वृद्धि हुई है।

आर्थिक विचारधारा (Economic Thought)

एडम स्मिथ (Adam Smith, 1723 1790) का विश्वास था कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके लोगों की जीवन की आवश्यकताओं तथा सुविधाओं हेतु लगने वाली वस्तुओं की उत्पादन क्षमता में खर्च होती है। मुद्रा केवल इन वस्तुओं के विनिमय का सुगम बनाने का एक साधन है। श्रमिक जितने अधिक सतुष्ट होंगे, उतनी ही अधिक उनकी उत्पादन क्षमता होगी। श्रम का विशिष्टीकरण उसके उत्पादों के बाजार के आकार तथा पूंजी की उपलब्धता पर निर्भर करता है। व्यापार का विस्तार आर्थिक विकास की कुंजी है।

स्मिथ के मुक्त व्यापार के सिद्धान्त का अर्थ है राज्य को अर्थव्यवस्था का नियंत्रित नहीं करना चाहिये बल्कि व्यापार एव वाणिज्य के कारकों को यह अधिकार देना चाहिये कि वे स्वय को नियंत्रित करें। यदि उन्हें अवसर दिया गया तो व्यापारी बाजार का विस्तार करेंगे तथा राष्ट्र को समृद्ध बनाएंगे। एडम स्मिथ का सिद्धान्त एक ऐसे पूर्णतः स्पर्द्धात्मक बाजार की कल्पना करता है। जहाँ किसी भी व्यापारिक प्रतिष्ठान को उत्पादन व मूल्यों के नियत्रण का अधिकार नहीं होगा। स्पर्द्धात्मक परिस्थितियों में वे प्रतिष्ठान जो बहुत अधिक उत्पादन करते हैं अथवा बहुत ऊँचे मूल्य निर्धारित करते हैं, उन्हें या तो बदलना होगा अथवा व्यापार से बाहर जाना होगा।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

मार्क्स के अनुसार एक विशिष्ट संस्था अर्थव्यवस्था सभी अन्य प्रमुख संस्थाओं जैसे परिवार, धर्म, राजनीतिक तत्र आदि में सबसे प्रबल होती है। इसलिए मार्क्स आर्थिक तंत्र को सामाजिक अधोसरचना की बुनियाद मानते थे। अन्य सभी सामाजिक संस्थाएं समाज की अधोसरचना के इसी बुनियाद पर बनती हैं। मार्क्स के अनुसार किसी समाज के विकास की अवस्था, उसके वस्तुओं के उत्पादन के तरीके द्वारा प्रदर्शित होती है। उत्पादन के तरीके के दो घटक होते हैं — 1 उत्पादन की शक्तियाँ— आर्थिक गतिविधियों की भौतिक एवं तकनीकी व्यवस्था तथा 2 उत्पादन के सामाजिक

संबंध—मानवीय संबंध जो आर्थिक गतिविधि को करते समय लोगों द्वारा एक-दूसरे के साथ बनाये जाते हैं। समग्र रूप में उत्पादन के तरीके को मार्क्स ने समाज की आर्थिक संरचना कहा है। उत्पादन के सामाजिक संबंधों से उस समाज में वर्ग संरचना का प्रादुर्भाव होता है जिसमें एक शक्तिशाली सम्पन्न वर्ग पूंजीपति तथा दूसरा कमजोर गरीब वर्ग मजदूर होता है। पूंजीपति वर्ग का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, वे उत्पादन की प्रक्रिया को दिशा देते हैं तथा उसमें लाभ अर्जित करते हैं। दूसरी ओर मजदूर मजदूरी पर कार्य करते हैं तथा उन्हें अपने श्रम का पूर्ण प्रतिफल नहीं मिलता।

व्यक्तियों की जीवित रहने व प्रगति करने के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन समाज में किस प्रकार संगठित किया जा रहा है इसका वर्णन करने के लिए मार्क्स ने 'उत्पादन की विधि' (Mode of Production) का प्रयोग किया। पूंजीवादी समाज के बारे में मार्क्स मानते थे कि वहां उत्पादक गतिविधियों को संचालित करने के लिए मुख्य प्रेरणा लाभ कमाना थी।

मार्क्स ने समाजशास्त्र के प्रमुख पहलू के रूप में वर्ग विश्लेषण का भी उपयोग किया। उन्होंने देखा कि समाजों में सत्ता असमान रूप में वितरित है तथा आर्थिक सत्ता, सत्ता के अन्य प्रकारों का आधार है।

मार्क्स द्वारा विकसित अन्य धारणा है 'विसंगत की धारणा'। इसकी मार्क्सवाद में बहुत सुनिश्चित व्याख्या है। इसमें वर्णन किया गया है कि उत्पादन को विशिष्ट पूंजीवादी तरीके से किस प्रकार संगठित किया जाता है जिससे श्रमिक को उसके उत्पाद से एक-दूसरे से तथा दूसरे वर्गों से पृथक किया जा सके।

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)

एडम स्मिथ एवं स्पेन्सर के सिद्धान्तों में बहुत सी समानताएं हैं। दोनों ही मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। स्पेन्सर अपने औद्योगिक समाज को उसी दृष्टि से देखते थे जैसे एडम स्मिथ स्पर्द्धात्मक अर्थव्यवस्था को।

स्पेन्सर गरीबों को जन कल्याण सहायता, राज्य समर्थित शिक्षा, शासकीय डाक व्यवस्था आदि के विरुद्ध थे। फिर भी गरीबों को स्वैच्छिक सहायता देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। राज्य के प्रति उनका अविश्वास इस दृढ़ धारणा पर आधारित था कि वह प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है जो प्रक्रिया गरीबों को विलोपित करती है क्योंकि वे निकृष्ट हैं। स्पेन्सर ने ही 'योग्यतम की उत्तरजीविता' (Survival of the Fittest) सूक्ति का सर्वप्रथम प्रयोग किया।

दुर्खीम (Durkheim)

एमिल दुर्खीम ने यह बताया कि स्पर्द्धात्मक बाजार तभी कार्यान्वित हो सकता है जब

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह माना जा सकता है कि आर्थिक विकास ने हमारी सामाजिक संरचना को वांछित दिशा में प्रभावित किया है। अपने समाज के मूल्यांकन के लिए भले ही हम कोई प्रारूप अपना ले, विकासात्मक प्रारूप (विभिन्न अवस्थाओं में समाज के उद्‌विकास का आकलन करके), संघर्ष प्रारूप (प्रतिस्पर्धा और शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष पर बल देकर), कार्यात्मक प्रारूप (सामाजिक ढाँचे मे प्रत्येक संस्थात्मक प्रचलन का सभी अन्य तत्वो पर परिणाम का विश्लेषण करके) आदि, यह तो स्पष्ट रहेगा कि सामाजिक सम्बन्धो के तन्त्र में, सामाजिक संस्थाओं में, सामाजिक व्यवस्थाओं में, सामाजिक ढाँचे में और सामाजिक प्रतिमानों में परिवर्तन हुआ है। अब भारत के लोग उतने रूढिवादी नहीं हैं जितने कि अर्ध पूर्व में हुआ करते थे। वे उन नैतिक आदर्शों और सामाजिक मूल्यों से दृढता से चिपके हुए नहीं हैं जो अतीत में उनको प्राप्त हुए हैं। लोग व्यक्तिगत रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हैं। उनके विचारों और दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। वे नये अनुभवों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। उनमें न केवल प्रौद्योगिकी ज्ञान का अनुकरण करने की उत्सुकता है बल्कि अन्य समाजों से सांस्कृतिक तत्वों के अनुकरण की भी है। उनमे नवाचारों (Innovations) के प्रति भी रचनात्मक जिज्ञासा है। वे नवाचारों को स्वीकार करने और सामाजिक परिवर्तन के परिणामों से डरते नहीं हैं। वे गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, मुद्रास्फीति, भाई-भतीजावाद, आतंकवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद की समस्याओं के समाधान में असफल होने के लिए उत्तरदायी सत्ता सम्पन्न अभिजात वर्ग का विरोध कर सकते हैं और उनके विरुद्ध आन्दोलित भी हो सकते हैं, तथापि वे जानते हैं कि भारत में सामाजिक व्यवस्था कभी भी असन्तुलित नहीं होगी। भारतीय संस्कृति, जिसमे विविधता है, न केवल जीवित रहेगी बल्कि विकसित भी होगी। आर्थिक विकास के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवहार को चाहे वह परम्परागत एवं संक्रमणकालीन (Transitional) हो विकास के बिन्दु एवं निर्देश प्रदान करता रहेगा।

❖❖❖

19
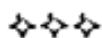
राजनीतिक व्यवस्था

(Political System)

राजनीतिक व्यवस्था · अवधारणा और प्रकार

(Political System : Concept and Types)

'व्यवस्था' विविध भागो का समन्वित समग्र रूप (Integrated Whole) है। 'सामाजिक व्यवस्था' समन्वित कार्यकारी इकाइयो का एक समुच्चय (Set) है जिसमे प्रत्येक इकाई नियत (Assigned) भूमिका निभाती है। 'राजनीतिक व्यवस्था' राजनीतिक सस्थाओं (जैसे, सरकार), सघो (राजनैतिक दल), और सगठनो का एकत्रीकरण (Collectivity) है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों ओर प्रतिमानो के आधार पर अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं (जेसे, आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखना, विदेशी सम्बन्धो को सचालित करना और बाहरी ताकतो से सुरक्षा प्रदान करना)। इसे राजनीतिक संस्थाओ व सघो का एकत्रीकरण भी कहा गया है जो समाज को सत्ता से शासित करते हैं, विद्यमान सत्ता व्यवस्था के अनुरूप कार्य करने को बाध्य करते है और जो कतिपय सिद्धान्तो और कार्यविधियो के आधार पर कार्य करते हैं। आलमण्ड और कोलमन (Almond and Coleman, *Politics of Developing Areas*, 1959 5) ने इसे "एक व्यवस्था जो समाज मे राजनीतिक कार्य करती है' कह कर परिभाषित किया है। मैक्स वेबर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है. 'ऐसा सगठन जो प्रदत्त सीमा अर्थात् राज्य के भीतर शक्ति के वैधानिक प्रयोग के एकाधिकार पर

सफलतापूर्वक दावा करता है (देखें गर्थ एवं मिल्स (Girth and Mills *From Max Weber* 78)। आइजेन्टाड (Eisenstadt) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है "भूभागीय समाज का ऐसा संगठन जो समाज में शक्ति के आधिकारिक प्रयोग का तथा उसे नियमित करने का विधिमान्य एकाधिकार (Legitimate Monopoly) रखता हो।"

राजनीतिक व्यवस्था के चार तत्व है — (1) वैधानिक बल प्रयोग (2) व्यापकता (Comprehensiveness) (3) परस्पर निर्भरता और (4) सीमाओं (Boundaries) की विद्यमानता। डेविड ईस्टन (David Easton *The Political System* 1953) ने इसके तीन घटक (Components) बताए हैं (1) यह नीतियों के माध्यम से मूल्यों का आवटन (Allocation) करता है (2) इसका आवटन आधिकारिक (Authoritative) होता है (3) इसके आधिकारिक आवटन पूरे समाज पर बाध्य होते हैं। आलमण्ड और कोलमन (वही 11) ने राजनीतिक व्यवस्था की चार सामान्य विशेषताएँ बताई हैं— (1) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक संरचनाएँ होती हैं (जैसे प्रतिरूपित (Patterned) सामाजिक सम्बन्ध प्रतिमान और अधिकार व कर्तव्य)। (2) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में कुछ प्रकार्य निभाये जाते हैं यद्यपि उनकी शैली व बारम्बारता (Frequencies) भिन्न होती है। (3) सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ बहुकार्यात्मक होती हैं (जैसे नीतियाँ भूमिकाओं (सरकार की) का मूल्यांकन लोगों में जागृति पैदा करना, जनता / समूहों, व्यवस्थाओं का नियंत्रण करना)। (4) सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक अर्थों में मिश्रित व्यवस्थाएँ होती हैं (अर्थात्, न तो कोई पूर्ण आधुनिक संस्कृति होती है और न कोई पूर्व आदि संस्कृति)।

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यों के विषय में आलमण्ड और कोलमन ने तीन प्रकार्यों का वर्णन किया है— (1) प्रतिमानों का निर्धारण करके समाज को एकजुट बनाये रखना, उन्हें सर्वत्र व्यावहारिक बनाना, उनका क्रियान्वयन कराना और उनका उल्लंघन करने के लिए दण्ड देना (2) सामूहिक (राजनीतिक) उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाना व उन्हें अनुकूल बनाना (3) बाहरी खतरों से राजनीतिक व्यवस्था की दृढ़ता से सुरक्षा करना। आलमण्ड और कोलमन ने इन कार्यों को दूसरे तरीके से भी व्याख्या की है। उन्होंने इनको 'बाह्य कार्य' (Output Functions) और 'अन्त: कार्य' (Input Functions) में वर्गीकृत किया है। 'बाह्य कार्य' है कानून बनाना, उनको लागू करना, और उनका अधिनिर्णयन करना। 'अन्त: कार्य' है : राजनीतिक समाजीकरण, हितों की अभिव्यक्ति (Interest Articulation), हितों का समूहन (Interest Aggregation) और राजनीतिक संवाद। आइजेन्टाड (Eisenstadt) ने राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक क्रियाकलापों

को विधायी (Legislative) (अर्थात् समाज में विद्यमान व्यवस्था को बनाना), निर्णय लेना (Decision Making) (अर्थात् समाज के प्राथमिक उद्देश्यों का निर्धारण करना), और प्रशासनिक (Administrative) (अर्थात विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में प्रारम्भिक नियमों के क्रियान्वियन की व्यवस्था करना और समाज के विभिन्न समूहों को विविध सेवाएँ उपलब्ध कराना)। शिल्स (Shills) द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रमुख रूप से वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है (i) *लोकतान्त्रिक व्यवस्था*, अर्थात्, नागरिकों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासितों की इच्छानुसार शासन करना। यद्यपि लोकतन्त्र बहुसख्यकों के शासन पर आधारित है तथापि अल्पसख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आवश्यक पक्ष माना गया है। राजनीतिक लोकतन्त्र में कानून की दृष्टि में समानता बोलने की, प्रेस की एव एकत्र होने की स्वतत्रता और मनमानी गिरफ्तारी से बचाव भी महत्वपूर्ण है। (ii) सर्वाधिकारी व्यवस्था (Totalitarian) अर्थात ऐसी व्यवस्था जिसमे राज्य की शक्ति को स्थिर करने आर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्यक्रमों को चलाने के लिए आवश्यक समझ जाने वाले जीवन के सभी पक्षों को राज्य सचालित व नियमित करता है। समाज के भीतर ही व्यक्ति या उप समूहों की स्वायत्तता पर केन्द्रीयकृत सत्ता को अधिक बल दिया जाता है। व्यवहार म, राज्य का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली शासक वर्ग या अभिजात वर्ग द्वारा किया जाता है जो अन्य सभी हित समूहों (Interest Groups) पर आधिपत्य जमाए रखता है। (iii) अल्पतत्रीय व्यवस्था (Oligarchic), *अर्थात् ऐसी व्यवस्था जिसमें एक छोटा समूह शासन करता है और* बृहद् समाज के ऊपर सर्वोच्च शक्ति रखते हुए शासन करता है।

आइजेन्टाड ने राजनीतिक व्यवस्था को बहुवादी (Pluralistic), प्रभुतावादी (Authoritarian), सर्वाधिकारी (Totalitarian), और पैतृक अधिकारवादी (Patrimonial) श्रेणियों मे रखा है। बहुवादी व्यवस्थाओं/राज्यों की विशेषता है कि उनमे शक्तिशाली केन्द्र होता है, राजनीतिक स्वतंत्रता को विस्तृत अवसर मिलता है और उसमे स्थाई विकास करने की क्षमता होती है। पैतृक अधिकारवादी राज्यों का द्वितीय महायुद्ध के बाद उदय हुआ। यह एक निजी शासन (Personal Rulership) होता है जिसमें शासक के अनुयायी उसके व्यक्तिगत गुणों मे नहीं बल्कि उसके द्वारा दिए गए भौतिक पुरस्कारों और प्रोत्साहनों मे विश्वास करते हैं।

परम्परागत और आधुनिक भारतीय समाज में लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था और सरचना (Democratic Political System and Structure in Traditional and Modern Indian Society)

विस्तृत अर्थ में, लोकतंत्र न केवल राजनीतिक अवधारणा दर्शाता है बल्कि समाज की एक जीवनशैली भी दर्शाता है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को समाज की सरचनाओं और संस्थाओं मे उसकी स्वतंत्र भागीदारी के सदर्भ में समानता का अधिकार होता

है। संकीर्ण अर्थ मे, लोकतन्त्र का अर्थ है जीवन के सभी क्षेत्रों में समाज के सभी सदस्यों को आज़ादी से वे निर्णय लेने के अवसर मिलना जो उनके जीवन को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं। सीमित (Restricted) अर्थ मे लोकतन्त्र शब्द राज्य के नागरिको को राजनीतिक निर्णयो मे स्वतन्त्रतापूर्वक भागीदारी के अवसर मिलने से है। इस प्रकार लोकतन्त्र समतावादी (Equalitarian) समाज की स्थापना का प्रयत्न है।

लोकतन्त्र के विविध प्रकार हैं - राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक। राजनीतिक लोकतन्त्र वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) तथा अपनी पसन्द के नेतृत्व के चुनाव तक ही सीमित है। सामाजिक लोकतन्त्र का उद्देश्य वर्गहीन और जातिहीन समाज की रचना करना तथा सामाजिक स्तरीकरण और पूर्वाग्रहो को तोडना है। आर्थिक लोकतन्त्र कल्याणकारी राज्य पर बल देता है और धन के केन्द्रीयकरण और आर्थिक विषमताओं के विरुद्ध विद्रोह करता है। नैतिक लोकतन्त्र का झुकाव प्रचलित अभिवृत्तियो के अनुस्थापन तथा सही और गलत व्यवहार की अवधारणा के साथ विचार करने की ओर है। लोकतन्त्र के पीछे मित्र भावना, भ्रातृत्व और सद्व्यवहार का दर्शन काम करता है।

प्राचीन भारत मे लोकतन्त्र (Democracy in Ancient India)

ऋग्वेद लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो और आदर्शों के प्रति इतना अधिक प्रतिबद्ध है कि इसमे लोकतन्त्र को एक देवता (Deity) माना गया है और इसे 'समजन' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ है लोगो की सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय मन (Mind) जिसके प्रति व्यक्ति का मस्तिष्क श्रद्धावनत होता है क्योंकि इसी स्रोत से वह शक्ति प्राप्त करता है। 'समजन' को सम्बोधित स्तुति गान (ऋग्वेद) में लोगो से कहा गया है कि वे एक सभा मे एकत्र हो (सगच्छध्व) और वहाँ एक स्वर मे बोले (सम्वदध्वम्), मन एक हो (सम्मनः), चित्त एक हो (समचित्तम), एक ही नीति हो (समानमंत्राह), और सभी लोग आशाओ व आकांक्षाओ में एक हो (आकृति)। इस प्रकार लोकतन्त्र अपने नागरिको की आन्तरिक एकता व उनकी भावनात्मक एकता पर निर्भर माना जाता था। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मे कार्य करते थे। वैदिक युग की लोकतान्त्रिक परम्परा युगो से भारतीय राजनीति की समूची वृद्धि को सचालित करती थी। जहा राजतत्र (Monarchy) था वहाँ यह सीमित (Limited) सवैधानिक राजतत्र था जिससे राजतत्र का स्वरूप मूलरूप से लोकतान्त्रिक ही रहा। यह विकेन्द्रीकरण या स्थानीय स्वायत्तता (Autonomy) पर निर्भर था। लोग निम्नलिखित उपयुक्त सघ और समूह आरोही क्रम (Ascending Order) में स्वशासन मे अपने अधिकारो का प्रयोग करने के लिए बना लेते थे— कुल (Clan), जाति (Caste), श्रेणी (Guild), पुर (Pura or Village Community),

और जनपद (The State)। प्रत्येक समूह के अपने नियम और कानून होते थे। प्रत्येक अपने स्तर पर स्वशासन लोकतन्त्र के लिए करता था। प्राचीन भारत मे कुछ जनपद तो स्वरूप मे गणतत्र जैसे होते थे और कुछ मे राजतन्त्रीय सगठन होता था। लेकिन प्राय प्रत्येक मे एक समिति आधुनिक ससद का पूर्व स्वरूप होती थी जिसमे ऊचे और नीचे लोग राज्य के मामलो पर निर्णय लेने के लिए उपस्थित होते थे। आर के मुकर्जी (R K Mukerjee, *Glimpses of Ancient India*, 1961 43) ने उल्लेख किया है : "राजतत्र के साथ-साथ नियमित गणतात्रिक प्रकार की राजनीति भी विकसित हुई जिनकी झलक विविध साहित्यिक पुस्तको–ब्राह्मण, बौद्ध और जैन-मे मिलती है। महाभारत मे भी कुछ गणराज्यों का उल्लेख है जो "सघट गण" कहलाते थे। पाँच गणराज्यो (Republican Unions) को अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज कहा जाता था। इनको मिला कर एक सघ बना हुआ था जिसका अध्यक्ष सघ मुख्य होता था। इसी तरह महाभारत मे 'गण' (Republics) का उल्लेख है जिसका शासन नेताओं की समितिगण प्रमुखों द्वारा होता था। इन सभी गणो मे पूर्णरूपेण लोकतान्त्रिक सविधान होता था। प्रत्येक मे एक परिषद् (Assembly) होती थी।

जैन और बौद्ध मूलग्रन्थों मे भी अनेक पूर्व गणराज्यो और कुछ गणराज्यो के परिसघो, जैसे 'वृजि' जिसमे नो मल्लकी, नौ लिच्छिवी तथा काशी-कौशल के अठारह गणराज्य तथा अन्य राज्य शामिल थे, का उल्लेख पाया जाता है। यह उल्लेख भी किया गया है कि महावीर स्वामी की मृत्यु पर इसी वृजि परिसघ के 36 गणराज्यो द्वारा उनकी अंत्येष्टि पर अग्नि प्रज्वलित कर श्रद्धाजलि अर्पित की गई थी। उन दिनो लिच्छिवी सुपरिचित गणराज्य था जिस पर 7707 राजाओ की समिति शासन करती थी जो सवैधानिक रूप से सम्राट होते थे। सख (Sakha) गणराज्य प्रसिद्ध है। इसी ने ससार को बुद्ध जैसा महापुरुष दिया। इस गणराज्य मे लगभग 80,000 घराने थे जो गणराज्य के अग थे जिसमे एक अध्यक्ष या राजा सहित 500 सदस्यो की परिषद या ससद थी। बौद्ध युगीन कुछ प्रसिद्ध गणराज्य थे: वैशाली, पवा, मिथिला, आदि। परिषद् विधान सभा का काम करती थी। उनके निर्णयो का क्रियान्वयन करने के लिए विविध प्रकार की न्यायपालिकाए तथा कार्यपालिकाए भी होती थीं। केवल एक प्रमुख चुना जाता था जो परिषद/राज्य की अध्यक्षता करता था। उसे 'राजा' पदनाम दिया गया था।

यह कहा जाता है कि प्राचीन भारत मे लोग लोकतान्त्रिक तरीके से रहते थे यद्यपि राजनैतिक लोकतन्त्र अपने पूर्व स्वरूप मे विद्यमान नहीं था। राजतन्त्र भी लोकप्रिय था।

छठी शताब्दी के बाद लोकतान्त्रिक सगठनो का पतन शुरू हो गया। राजा और सम्राट देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए युद्धो मे व्यस्त रहने

लगे क्योंकि कोई शक्तिशाली राजा नहीं था। परिणामतः समूचे देश में बड़ी संख्या में राज्यों का उदय हो गया। आठवीं शताब्दी में मुसलमानों ने आक्रमण शुरू कर दिए। अन्ततः बारहवीं शताब्दी में उन्होंने अपना शासन स्थापित कर ही लिया। मुस्लिम शासक निरंकुश (Autocratic) थे।

ब्रिटिश शासन लोकतन्त्र के विरुद्ध था। भारत सरकार के अधिनियम, 1935 ने भारत में लोकतन्त्र शासन की नींव रखी। कांग्रेस 1935 से 1937 तक दो वर्ष के लिए ही सत्ता में रही। 1940 से 1945 तक ब्रिटिश सरकार द्वितीय विश्वयुद्ध में ही फँसी रही। 1946 से भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने के प्रयास प्रारम्भ हुए और 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्र भारत के संविधान में लोकतन्त्र को ही देश में शासन का आधार बनाया गया।

आधुनिक भारत में लोकतन्त्र (Democracy in Modern India)

आधुनिक भारत में लोकतन्त्र कुछ सिद्धान्तों पर आधारित है— (1) प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिष्ठा होती है, (2) प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों के साथ अपने जीवन को चलाने और सीखने की क्षमता है। (3) प्रत्येक व्यक्ति को बहुसंख्यकों के निर्णय को मानना चाहिए। (4) प्रत्येक व्यक्ति का निर्णय-निर्धारण में हिस्सा होना चाहिए। (5) लोकतान्त्रिक कार्यवाही का नियन्त्रण और निर्देशन स्थिति में निहित है, न कि इसके बाहर। (6) जीवन की प्रक्रिया अन्तर्क्रियात्मक (Interactive) है और सभी व्यक्ति सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं। (7) प्रजातन्त्र व्यक्तिगत अवसरों और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों पर टिका होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात भारत ने लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था अपनाने का निश्चय किया। इस व्यवस्था की तीन विशेषताएं हैं— प्रथम, इसमें उच्च कोटि की स्वायत्तता होती है, द्वितीय, आर्थिक कार्यकर्ता और धार्मिक संगठन राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रहते हैं, तृतीय, विभिन्न व्यवस्थाओं की प्रतिस्पर्धा अखण्डता के लिए खतरा नहीं होती बल्कि सहायक होती है।

भारत में राजनीतिक दल (Political Parties in India)

लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक दलों के बिना नहीं चल सकती। प्रत्येक राजनीतिक दल का अपना संरचनात्मक स्वरूप, सिद्धान्तपरकता (Orientation), नेतृत्व का स्वरूप, और कार्यशैली होती है। राजनीतिक दल लोगों के वे संघ माने जाते हैं जिनके एक से विचार होते हैं और सरकार के कार्यों और नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रति एक से आदर्श होते हैं। ये आदर्श और कार्यक्रम चुनाव घोषणा-पत्र में दर्शाए रहते हैं जिसके आधार पर माना जाता है कि निर्वाचक समूह वोट का प्रयोग करता है।

राजनीतिक दलों से चार प्रमुख कार्यों के लिए जाने की अपेक्षा की जाती है (1) देश के सामने आई समस्याओं का अनुमान लगाना और वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत करना जिसके आधार पर दल अपनी नीति बना सके (2) इन समस्याओं के सम्बन्ध में निर्वाचक मण्डल को जानकारी देना तथा दल द्वारा बताए गए समाधानों की उपयुक्तता के विषय में उन्हें आश्वस्त करना (3) अन्य दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना विशेषरूप से सत्ताधारी दल और उसकी कमियों तथा खामियों को इंगित करना (4) शासन की लोकतंत्रीय प्रणाली में लोगों को हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करना।

सिरसीकर (Sirsikar 1964 31 36) के अनुसार दलीय व्यवस्था का स्वरूप समाज के प्रकार पर निर्भर करेगा। उन्होंने समाज को चार समूहों में विभाजित किया है— (1) समजातीय (Homogeneous) अविकसित समाज (2) समजातीय विकसित समाज (3) विषमजातीय अविकसित समाज (4) विषमजातीय विकसित समाज। समजातीय समाज वह समाज है जिसका एक धर्म एक भाषा और एक प्रकार प्रजाति हो जबकि विषमजातीय समाज वह समाज है जिसमें धर्म भाषा प्रजाति तथा जातियों आदि की विविधता हो। अविकसित समाज वह समाज है जिसमें आर्थिक विकास का स्तर निम्न हो उद्देश्य में एकता (Singularity) और लक्ष्य प्राप्ति में अत्यावश्यकता (Urgency) न हो। प्रथम प्रकार के समाज का उदाहरण इटली है दूसरे प्रकार का जर्मनी चीन और रूस तीसरे प्रकार का अमेरिका और चौथे प्रकार का भारत और पाकिस्तान। अन्तिम प्रकार के समाजों में विभिन्न विचारों वाले अनेक दल होते हैं।

राजनीतिक दलों के प्रकार छह विभिन्न आधारों पर पहचाने जा सकते हैं— (1) रुचि (Interest) के आधार पर, इनका वर्गीकरण धार्मिक तथा सांस्कृतिक (जैसे अकाली दल) आदि आधार पर किया जा सकता है जबकि सिद्धान्तों के आधार पर इनको इस प्रकार कहा जा सकता है जैसे साम्यवादी समाजवादी आदि। (2) सदस्यता के प्रकार के आधार पर इनको जन आधारित (Mass based) (प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला) और संवर्ग आधारित (Cadre-based) (जो विशिष्ट विचारधारा में विश्वास रखते हो उनके लिए खुला) में वर्गीकृत किया जा सकता है। (3) कार्यशैली (Style of Operation) के आधार पर उन्हें मुक्त (Open) (चर्चा का मुक्त मंच) और अव्यक्त (Latent) (जहाँ निर्णय करना अभिजन तक ही सीमित है) माना जा सकता है। (4) कार्यकर्ताओं की भर्ती के आधार पर इनको निर्वाचक (Elective) और कार्यात्मक ढाचे (Cooptative) के आधार पर दो प्रकार के दल एकात्मक (Unitary) (जहां शक्ति एकमात्र स्रोत में निहित हो) और संघीय (Federal) (जहाँ शक्ति विभाजित हो) हो सकते हैं। (5) कार्यकलापों (Activities) के विस्तार के आधार पर दल सीमित या असीमित विस्तार वाले हो सकते हैं।

कार्यस्तर के आधार पर भारत मे तीन प्रकार के राजनीतिक दल पाये जाते हैं· **(a)** जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं (जैसे काग्रेस मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय जनता पार्टी) (b) वे जो कुछ ही राज्यो मे कार्य करते हैं (जैसे समता पार्टी, बहुजन समाज पार्टी समाजवादी पार्टी) (c) वे जो एक ही राज्य मे कार्य करते हैं (जैसे शिरोमणि अकाली दल तेलुगु देशम पार्टी द्रविड मुनेत्र कषगम **(DMK)**, ए आई ए डी एम के नेशनल कान्फ्रेन्स असम गण परिषद मणिपुर पीपुल्स पार्टी केरल काग्रेस आदि)। कुछ ऐसे दल भी हैं जिन्हे चुनाव आयोग की मान्यता तो प्राप्त है किन्तु किसी भी राज्य मे सत्ता मे नहीं हैं (जैसे मुस्लिम लीग, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, तृणमूल काग्रेस आदि। चुनाव आयोग इन्हे मान्यता प्रदान करता है और समयानुसार इनकी स्थिति मे परिवर्तन होता है।

दलों की अनेकता (Multiplicity of Parties)

भारत के साथ प्रमुख परेशानी यह है कि पिछले तीन दशकों से बहुत अधिक राजनीतिक दल हो गये हैं। लोकतंत्र केवल दो ही दलो से कुशलता से चल सकता है जो एक–दूसरे के लिए सरकार के विकल्प की सम्भावना प्रस्तुत करते हों। अमेरिका जैसे देश मे केवल दो पार्टी व्यवस्था है क्योंकि वहाँ पार्टी व्हिप जैसी कोई चीज नहीं है जो कि विधायकों के वोट डालने के स्वरूप को नियंत्रित करती है।

दो राजनीतिक दलो के बीच केन्द्रीय नियंत्रण जैसी कोई स्थिति नहीं होती। यद्यपि यूरोप के कई देशो में राजनीतिक दलो की अनेकता है और संयुक्त सरकारें भी हैं लेकिन ये भारत की तरह सत्ताधारी सरकार को अप्रभावी तथा अस्थिर नहीं बनातीं।

क्षेत्रीय दलो को राष्ट्रीय एकता के लिए घातक मानना तर्कसगत नहीं है। क्षेत्रीय दल आवश्यक रूप से अलगाववाद मे विश्वास नहीं करते, वे तो केवल अपने क्षेत्रीय हितों की रक्षा करना चाहते हैं। क्षेत्रीय दल तभी बनते हैं जब लोग यह महसूस करते हैं कि केन्द्र में सत्ताधारी दल द्वारा उनके क्षेत्र की अनदेखी और उपेक्षा की जा रही है। क्षेत्रीय पार्टियो द्वारा क्षेत्रीय हितो पर बल देने को राष्ट्र विरोधी न कहना चाहिए और न कहा जा सकता है।

हमारे राजनीतिक दलों की एक और विशेषता यह है कि उनके संगठन मे अत्यधिक केन्द्रीयकरण है। इस प्रकार के अत्यधिक केन्द्रीयकृत नियंत्रण का घातक प्रभाव होता है। अनेक पदाधिकारी दल नेता द्वारा नामांकित कर दिए जाते हैं।

भारतीय राजनीतिक दलों की एक और विशेषता यह है कि जिस तरह से वे अपने कोष के धन को एकत्र और व्यय करते हैं उसकी सार्वजनिक जवाबदेही उन पर नहीं है। यह सर्वविदित तथ्य है कि धनी व्यक्तियों द्वारा राजनीतिक दलों को दिया जाने वाला अंशदान काले धन कोष में से ही दिया जाता है।

हम बहु-दलीय व्यवस्था के उन्मूलन का सुझाव नहीं दे रहे हैं बल्कि हम केवल जवाबदेही व्यवस्था लागू करने पर जोर दे रहे हैं। यदि चुनाव व्यवस्था का पुनर्गठन किया जाए तब राजनीतिक दलों के कार्य में सुधार हो सकता है जो अच्छी सरकार प्रदान करने में सहायक होगा। दलीय आधार पर पंचायतों और स्थानीय निकायों के चुनावों का निषेध, राजनीतिक दलों के वित्त कोष का लेखा परीक्षण प्रारम्भ कराना, संस्थानों की स्वायत्तता सुनिश्चित कराना तथा उन्हें राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रखना कुछ उपाय हो सकते हैं जो राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली को नियंत्रित रख सकते हैं और हमारे राजनीतिक जीवन के स्तर में गिरावट को रोक सकते हैं।

शक्ति का विकेन्द्रीकरण और राजनीतिक भागीदारी

(Decentralisation of Power and Political Participation)

वर्तमान लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में हमारे यहां किस प्रकार की शक्ति संरचना है? क्या यह अनेकतावादी (Pluralistic) या अभिजन (Elitist) शक्ति संरचना है? अनेकतावादी शक्ति संरचना की विशेषताएँ निम्न हैं —

(i) विकेन्द्रीकृत संरचना, अर्थात शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभाजित होती है, और निर्णय लेने की प्रक्रिया में बहुत बड़ी संख्या में लोग हिस्सा लेते हैं (ii) परस्पर अन्तर्निर्भर व्यक्ति (iii) सममित सम्बन्ध (Symmetrical) (अर्थात विभिन्न घटकों (Components) के बीच परस्पर अन्तर्क्रिया और पारस्परिक आदान प्रदान (Reciprocity) होता है, अर्थात ए, बी, सी (A, B, C) व्यक्ति एक्स, वाई, जेड (X, Y, Z) व्यक्तियों के ऊपर सत्ता दर्शाते हैं और इसके विपरीत भी। (iv) अनेक घटकों का व्यवस्था पर नैमित्तिक (Casual) प्रभाव होता है। इसके विपरीत, अभिजन वर्गीय शक्ति संरचना इस प्रकार है— (i) केन्द्रीकृत संरचना (अर्थात निर्णय लेने की शक्ति पर शिखर के कुछ लोगों का ही एकाधिकार होता है। (ii) तुलनात्मक रूप में स्वतंत्र व्यक्ति (iii) असीमित सम्बन्ध (अर्थात आधिपत्य और एकतरफा कार्यवाही) और (iv) इसके अनेक घटकों का व्यवस्था पर नैमित्तिक प्रभाव पड़ता है।

इससे हम भारत में शक्ति संरचना के प्रकार को पहचान सकते हैं। यह निश्चित ही अभिजन शक्ति संरचना है।

राज्य की धारणा (Concept of State)

राज्य संस्थाओं का एक विशिष्ट समूह होता है जिसे ये नियम बनाने का अधिकार होता है जो समाज को शासित करते हैं। यह एक निश्चित भूभाग पर एक सर्वोच्च सरकार द्वारा शासन करता है। राज्य मुख्यतः एक राजनीतिक संगठन होता है जिसकी सत्ता को एक विधिक व्यवस्था का समर्थन प्राप्त होता है।

राज्य के मौलिक तत्व है—

(i) जनसंख्या (Population)

(ii) निश्चित भू भाग (Definite Territory)

(iii) सरकार (Government)

(iv) सम्प्रभुता (Sovereignty)

शासन या सरकार राज्य का यन्त्र और उसका प्रतीक है। यह एक संस्था है जो राज्य की ओर से कानून बनाने, उसे लागू करने और उनका पालन न करने पर उचित दण्ड की व्यवस्था करती है।

राज्य के प्रमुख लक्षण है :—

सम्प्रभुता (Sovereignty)— एक राज्य मे सर्वोच्च शक्ति निहित होती है। अपने भूभाग की सीमा मे राज्य सम्प्रभु तथा सर्वशक्तिमान होता है। राज्य कानूनो के माध्यम से चलता है जिन्हे नागरिको को पालन करना अनिवार्य होता है। कानूनो का उल्लंघन करने वालो को राज्य दण्ड दे सकता है।

नागरिकता (Citizenship)— लोगो के समान अधिकार व कर्तव्य होते हैं इसकी मान्यता ही नागरिकता होती है। इसके द्वारा लोग राज्य मे उनकी भूमिका को जानते है।

राष्ट्रवाद (Nationalism)— यह प्रतीको व आस्थाओ का एक समूह होता है जो यह भावना प्रदान करता है कि हम एक राजनीतिक समुदाय के सदस्य हैं तथा हमे हमारे राष्ट्र–राज्य के प्रति निष्ठावान व प्रतिबद्ध होना चाहिए।

समाज और राज्य में अन्तर (Difference between State and Society)

राज्य, राजनीतिक रूप से संगठित समाज है। वेबर ने राज्य की व्याख्या इस प्रकार की है— किसी निश्चित भूभाग पर हिंसा के वैध प्रयोग का एकाधिकार है। इस परिभाषा के तीन घटक हैं—

1 हिंसा— राज्य का आधार सेना है। राज्य का अस्तित्व उसके सैन्य संगठन पर निर्भर करता है। सेना का विघटन अथवा पक्षत्याग सदैव ही किसी क्रान्ति का एक निर्णयात्मक घटक रहा है। राज्य के अन्दर आपराधिक हिंसा हो सकती है, किन्तु राज्य को तब तक चुनौती नहीं मिलती, जब तक हिंसा को अवैध माना जाता है।

2 वैधता— एक विधिमान्य राज्य अधिक आसानी से शासन कर सकता है। लोग साधारणतः स्वेच्छा से अथवा बिना किसी विरोध के राजाज्ञाओं का पालन करते हैं यदि राज्य विधि मान्य हो। राज्य की वैधता उसकी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। विदेशी मामलों में असफलता राज्य की वैधता को कम कर देती

है। वे राज्य जो कमजोर होते हे तथा युद्ध में पराजित हो जाते हैं, अपनी वैधता खो देते हैं।

3 भूभाग—राज्य उस भूभाग पर नियत्रण रखते हैं जो जनसख्या व ससाधनो से सम्पन्न हो। भूभाग खोने से राज्य सत्ता से वचित हो जाते हे।

मेकाइवर व पेज के अनुसार समाज, परिपाटियो, कार्यविधियो, सत्ता, पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहो एव श्रेणियो, मानवीय व्यवहार के नियत्रणो तथा स्वतत्रताओ की एक व्यवस्था है। समाज मे प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति भिन्न-भिन्न सम्बन्धो के आधार पर एक-दूसरे से जुडे होते ह। *समाज के अन्तर्गत मानवीय सबधों को* आधारभूत तत्व माना गया है।

राज्य और समाज मे अन्तर

राज्य	समाज
1 राज्य सदैव सगठित होता हे।	समाज सगठित अथवा असगठित दोनो हो सकता है।
2 राज्य की सदस्यता अनिवार्य है।	समाज की सदस्यता अनिवार्य नही है।
3 राज्य प्रदेशीय सगठन है।	समाज का कोई निश्चित भू-प्रदेश नहीं होता।
4 राज्य कानून और दमन के माध्यम से कार्य करता है	समाज रीति-रिवाजो एव अनुनय-विनय द्वारा सत्ता का प्रयोग करता हे।
5 राज्य मानवीय व्यवहार की प्रत्येक गतिविधि को नियमित नहीं कर सकता।	समाज मे मनुष्यों को बाधने वाले सभी बधन सम्मिलित हैं।

राज्य समाज के समरूप नहीं है। ई बार्कर (E Barker) के अनुसार राज्य का क्षेत्र यात्रिक क्रिया, इसकी शक्ति बल, इसका ढग अनमनीयता का है जबकि समाज *का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग, इसकी शक्ति सद्भावना, इसका ढग नमनीयता है। राज्य* सरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनो दृष्टि से समाज से भिन्न ह।

राज्य के प्रति समाजशास्त्रीय उपगमन (The Sociological Approach to the State)

समाजशास्त्रियो का न तो सरकारो की सरचनाओ व स्वरूपो से सबध होता है न ही उन तरीको से होता है जिनसे राज्य अपने विभिन्न कार्यो को करते हे। वे राज्य की कल्पना समुदाय की एक अभिकरण के रूप मे करते हैं जिसके बहुत विस्तृत व महत्वपूर्ण कार्य होते हैं फिर भी वे सीमित होते हैं। कुछ ऐसे सामजिक कार्य भी होते हैं जिन्हे केवल राज्य ही कर सकता है। एक जटिल समाज मे एक प्रभावी

व मूलभूत व्यवस्था की स्थापना राज्य ही कर सकता है। एक सार्वभौम व्यवस्था की स्थापना करना व उसे बनाए रखना राज्य का एक आवश्यक कार्य है। व्यापक अनुप्रयोग हेतु नियमों को केवल राज्य ही बना सकता है। समुदाय के संसाधनों जैसे वन, मत्स्य क्षेत्र, वन्य जीवन, खनिज संपदा आदि के अपव्ययी उपभोग को रोकने के लिए राज्य को ही हस्तक्षेप करना पड़ता है। फिर भी राज्य लोगों के मनों तथा उनकी नैतिकता को नियंत्रित नहीं कर सकता। राज्य सामाजिक संरचना का एक आवश्यक भाग तो है किन्तु वह संपूर्ण सामाजिक संरचना नहीं हो सकता। राज्य अन्य संस्थाओं का स्थान नहीं ले सकता जैसे परिवार, जिसके अपने विशिष्ट कार्य होते हैं।

सरकार के प्रकार (Types of Government)

प्रत्येक समाज अपने यहाँ एक राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करता है जिसके अनुसार वह शासित होता है। विश्व में इस समय लगभग 200 स्वतंत्र राष्ट्र हैं। उनमें से प्रत्येक अपनी पृथक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत चलता है। विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं को पाँच वर्गों में बाँट सकते हैं, जिनका वर्णन नीचे दिया गया है:—

(1) राजतंत्र (Monarchy)— राजतंत्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें एक परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी शासन करता रहता है। इसमें प्रायः राजा, रानी अथवा कोई आनुवंशिक शासक राज करता है। आनुवंशिक शासक दैविक अधिकार पर आधारित वास्तव में सत्ता का एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं। धीरे-धीरे अधिकांश राजा विश्व के परिदृश्य से हट गए हैं, जो हैं भी उनके पास नाम मात्र की सत्ता है तथा वे मुख्यतः राज्य के प्रतीकात्मक प्रमुख रह गए हैं। कुछ राष्ट्रों में जैसे सऊदी अरब में आज भी राजा अपने लोगों पर नियंत्रण रखते हैं।

(2) अल्पतंत्र (Oligarchy)— अल्पतंत्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें कुछ व्यक्ति शासन करते हैं। आज अल्पतंत्र ने सैनिक शासन का रूप ले लिया है। इसमें सत्ता शासक वर्ग के पास रहती है। यद्यपि प्रतिनिधिक (Representative) अल्पतंत्र की कल्पना करना सैद्धांतिक दृष्टि से संभव है, किन्तु वास्तव में इसका वर्णन हम अप्रतिनिधिक कुछ लोगों की सरकार के रूप में कर सकते हैं। अधिकांशतः अल्पतांत्रिक सत्ता का आधार सेना ही होती है।

(3) अधिनायक तंत्र (Dictatorship)— अधिनायक तंत्र शासन का वह स्वरूप होता है जिसमें एक ही व्यक्ति के पास कानून बनाने व उन्हें लागू करने की सभी शक्तियाँ होती हैं। तानाशाह सत्ता को जबरन प्राप्त करते हैं अथवा उत्तराधिकार में सत्ता का पद प्राप्त कर लेते हैं तथा शासन में उत्पीड़न का प्रयोग करते हैं। तानाशाह शक्ति के बल पर अपने ढंग से शासन करता है, उस पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं होता। हिटलर व स्टेलिन तानाशाह थे। दोनों पृथक राजनीतिक विचारधारा को

मानते थे। क्रमश. फासीवाद तथा साम्यवाद। किन्तु दोनो ने अपने हाथों मे सत्ता को केन्द्रित कर रखा था। फ्रास में नेपोलियन बोनापार्ट का शासन लगभग इसी प्रकार था। इटली का फासिस्टवाद और जर्मनी का नाजीवाद आधुनिक अधिनायक तन्त्र के उदाहरण हैं।

(4) सर्वसत्तावाद (Totalitarianism)— *सर्वसत्तावाद को प्राय अधिनायक* तत्र से जोडा जाता है किन्तु इसका प्रयोग विस्तृत होता है। सर्वसत्तावाद मे सत्ता कुछ व्यक्तियो अथवा एक व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित होती है। कुछ सर्वसत्तावादी शासन लोगो की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं किन्तु अधिकाश लोगो को शासन की इच्छा के अनुरूप झुकाते हैं। ऐसे शासन मे सत्ता का केन्द्रीयकरण होता है तथा किसी भी प्रकार के विरोध को निषेध कर दिया जाता है। सर्वसत्तावादी *शासन लोगो के प्रतिनिधित्व को राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक निर्णयो मे निषेध* कर देते है जिससे उनका जीवन प्रभावित होता है। जब कभी सर्वसत्तावादी समाज मे राजनीतिक विरोध ऊपर उठता है, तब शासकीय मतारोपण सख्ती से लागू किया जाता है। सर्वसत्तावादी शासन की विशेषताए हैं— एक दलीय व्यवस्था शस्त्रो पर नियत्रण, आतक, मीडिया पर नियत्रण तथा अर्थव्यवस्था पर नियत्रण।

(5) प्रजातत्र (Democracy)— अग्रेजी शब्द (Democracy) (प्रजातत्र) यूनानी (Greek) शब्द Demokratia से बना है। (Demo) का अर्थ साधारण लोग तथा (Kratia) का अर्थ शासन होता है। शाब्दिक अर्थ मे प्रजातत्र लोगो का शासन होता है। प्रजातात्रिक व्यवस्था को हम तीन प्रकारो मे बाट सकते है —

(i) प्रतिनिधिक प्रजातत्र (Representative Democracy)— प्रतिनिधिक अथवा परोक्ष प्रजातत्र मे लोग प्रत्यक्ष रूप से शासन करते हैं। प्रतिनिधिक प्रजातत्र ससदीय सस्थाओ से इतना अधिक जुडा है कि इसे प्राय. ससदीय प्रजातत्र कहा जाता है। अनेक बडे सगठन एक छोटी कार्यकारी समिति चुन लेते हैं जो प्रतिनिधि प्रजातत्र के रूप मे उन सगठनो का कार्य देखती है तथा निर्णय लेती है।

(ii) सहभागी प्रजातत्र (Participatory Democracy)— सहभागी अथवा *प्रत्यक्ष प्रजातत्र मे लोग स्वय प्रतिनिधित्व करते हैं तथा स्वय निर्णय लेते है। यह प्रजातत्र* का मूल रूप है तथा इसका प्रयोग प्राचीन यूनान मे होता था। आधुनिक समाजो मे *सहभागी प्रजातत्र का महत्व सीमित हो गया है क्योंकि सभी लोगो को उनको प्रभावित* करने सबधी सभी निर्णय लेने की प्रक्रिया मे सहभागी होना सभव नहीं है।

(iii) प्रत्यायोगक प्रजातत्र (Delegatory Democracy)— प्रत्यायोगक प्रजातत्र प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रजातत्र के बीच का रास्ता है। लोग अपने प्रत्यायुक्त (प्रतिनिधि) चुनते हैं तथा उन्हे विशिष्ट आदेशो का पालन करने हेतु निर्देशित करते

हैं। इन प्रतिनिधियों को अपने मतदाताओं की इच्छाओं से प्रायोगिक प्रतिनिधियों की अपेक्षा अधिक बंधा रहना होता है।

राजनीति की समाज में भूमिका (Role of Politics in Society)

सामाजिक व्यवस्था का उदय कैसे होता है इस संबंध में समाजशास्त्रियों ने दो विरोधी व्याख्याएं दी हैं— संघर्षवादी सिद्धान्त तथा सर्वसम्मति सिद्धान्त। ये सिद्धान्त समाज में राजनीति की भूमिका की व्याख्या करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में निम्नानुसार अंतर है—

संघर्षवादी सिद्धान्त (Conflict Theory)		सर्वसम्मति सिद्धान्त (Consensus Theory)
1 समाज मूलरूप में अस्थाई होता है।	1	समाज मूलरूप में स्थाई होता है।
2 सामाजिक परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं।	2	सामाजिक परिवर्तन प्रायः बहुत धीमे होते हैं।
3 समूह संघर्ष के माध्यम से समाज की स्थापना होती है।	3	समाज एकीकृत एवं परस्पर निर्भर होता है।
4. सामाजिक नियंत्रण बल प्रयोग का परिणाम होता है।	4	सामाजिक नियंत्रण समाज के सदस्यों द्वारा मानदंडों व मूल्यों का स्वेच्छा से पालन करने का परिणाम है।
5 व्यक्तिगत एवं सामूहिक क्रियाएं हितों के परिणामस्वरूप होती हैं।	5	व्यक्तिगत एवं सामूहिक क्रियाएं मूल्य व मानदंडों के परिणामस्वरूप होती हैं।
6 *मानव अधिकारतः स्वार्थी होते हैं।*	6	*मानव आवश्यक रूप से स्वार्थी नहीं होते।*

संघर्षवादी सिद्धान्त राजनीतिक जीवन का केन्द्र बिन्दु संघर्ष व परिवर्तन होता है, इस पर बल देता है, जबकि सर्वसम्मति सिद्धान्त सहयोग व स्थिरता पर बल देता है।

शक्ति और सत्ता (Power and Authority)

राजनीतिक व्यवस्था शक्ति (Power) और सत्ता (Authority) का विभाजन करती है, समाज की कार्य सूची निर्धारित करती है व निर्णय लेने का कार्य करती है। शक्ति किसी राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य बिन्दु है। शक्ति की परिभाषा उस क्षमता

के रूप मे की गई ह जिसके माध्यम से अन्य लोगो के विरोध के बावजूद अपना लक्ष्य प्राप्त किया जाता ह। वेबर ने शक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है ' यह एक ऐसी सम्भावना ह जिस मे सामाजिक सबंधो के दायरे म ही एक व्यक्ति ऐसी स्थिति मे होता ह जब वह अपनी इच्छा को दूसरो के विरोध के बावजूद उन पर लाद सकता है चाहे यह सम्भावना किसी भी आधार पर टिकी हो।' लहमन (Luhmann) के अनुसार स्वय निर्णय लेने की विकल्पो के चुनाव की तथा दूसरो के लिए जटिलता को कम करने की सभावना ही शक्ति है।' वेबर के अनुसार सामाजिक व्यवस्था शक्ति पर आधारित होती है। शक्ति का उपयोग बधनकारी निर्णय लेने सघर्षो को कम करने हेतु कार्य करने, तनावो को कम करने तथा जटिल तत्रो मे गतिविधियो का समन्वय करने हेतु किया जाता ह। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था मे शक्ति के तीन स्रोत होते हैं— बल (Force), प्रभाव (Influence) व सत्ता (Authority)। बल लोगो पर अपनी इच्छा को उत्पीडन के माध्यम से लादने हेतु वास्तविक अथवा धमकी का प्रयोग ह। प्रभाव का अर्थ समझाइश की प्रक्रिया के माध्यम मे शक्ति के उपयोग से होता है। सत्ता का तात्पर्य ऐसी शक्ति से है जिसे लोग उत्पीडन व समझकर सत्ता का वैध प्रयोग मानते हैं। शासन द्वारा शक्ति वैध प्रयोग ही सत्ता है। वैधता का तात्पर्य शासन द्वारा जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जा रहा ह उसमे उनकी सहमति होती है। इस प्रकार शक्ति सत्ता स भिन्न होती है।

यदि वेबर के समाजशास्त्र की एक प्रमुख धारा है तो वह ह शक्ति (Power)। वेबर शक्ति तथा सत्ता (Authority) मे अतर करते हैं। उनके अनुसार यदि शक्ति एक नगी तलवार है तो सत्ता म्यान के अदर रखी तलवार ह। उन्होने शक्ति को सत्ता मे बदलने लिए के तीन व्यापक प्रकार बनाए हैं— पारपरिक, चमत्कारिक तथा विवेकपूर्ण। उनका मानना था कि शक्ति सघर्ष के माध्यम से आर्थिक तथा सामाजिक साथ ही राजनीतिक लक्ष्य भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

पारपरिक सत्ता (Traditional Authority)— पारपरिक सत्ता पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था में वैध शक्ति परपरा स्वीकृत रीति-रिवाजो द्वारा प्रदत्त की जाती है। मानव के सपूर्ण इतिहास मे अधिकाश शासन पारपरिक सत्ता पर ही निर्भर करते थे। अनेक उदाहरणो से यह सिद्ध होता है कि पारपरिक सत्ता निरकुश होती ह क्योकि शासक को कानून तथा नीतिया बनाने का पूर्ण अधिकार होता हैं। परपरागत शासक के लिए सत्ता परपराओ मे बसती है, न कि व्यक्तिगत लक्षणो तकनीकी योग्यता अथवा लिखित कानूनो मे।

चमत्कारिक सत्ता (Charismatic Authority)— चमत्कारिक सत्ता शब्द का अर्थ है ऐसी शक्ति जो नेतृत्व की विलक्षण व्यक्तिगत आकर्षण के कारण उसके

अनुयायियों द्वारा वैध कर दी जाती है। चमत्कारिक नेतृत्व का उदाहरण हमें देखने को मिलता है जब एक असाधारण व्यक्ति आगे आता है व लोगों को जीवन की नई शैली अपनाने को कहता है। उस व्यक्ति के कुछ व्यक्तिगत गुण होते हैं जिनके कारण वह लोगों पर अत्यधिक प्रभाव डालता है। चमत्कारिक व्यक्तित्व के कारण ही वह व्यक्ति बधे नियमों अथवा परम्पराओं पर निर्भर न रहकर नेतृत्व प्रदान करता है। चमत्कारिक सत्ता, पारम्परिक अथवा विवेकपूर्ण वैध सत्ता से अपेक्षाकृत अल्पकालिक होती है। यदि ऐसी सत्ता को चमत्कारिक नेतृत्व के जीवनकाल के बाद भी टिकाना है तो उसे या तो पारम्परिक अथवा विवेकपूर्ण वैध व्यवस्था में स्वयं का विलीन करना होगा।

विवेकपूर्ण—वैध सत्ता (Rational Legal Authority)— कानून द्वारा वैध की गई शक्ति को विवेकपूर्ण वैध सत्ता कहते हैं। ऐसे समाजों के नेतृत्व अपनी सत्ता राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत नियमों व कानूनों द्वारा प्राप्त करते हैं। साधारणत: ऐसे समाजों में जो विवेकपूर्ण वैध सत्ता पर आधारित रहते हैं नेतृत्व को लोगों के सेवकों के रूप में समझा जाता है। विवेकपूर्ण वैध सत्ता पूर्व -औद्योगिक समाजों की अपेक्षा आधुनिक समाजों में अधिक प्रचलित है। इस प्रकार की सत्ता पदों के कारण मिलती है, न कि व्यक्ति के कारण। अधिकार, विशेषाधिकार तथा कर्त्तव्य पद के साथ ही मिलते हैं। जब कोई व्यक्ति कोई पद छोड़ता है तो उसके उत्तराधिकारी को वही सब अधिकार व कर्त्तव्य प्राप्त हो जाते हैं। जब तक व्यक्ति उस पद पर आसीन होता है उससे उस पद के मानदंडों के अनुसार ही व्यवहार अपेक्षित होता है।

◇◇◇

संदर्भ ग्रंथ सूची

Select Bibliography

Abel Theodore, *The Foundation of Sociological Theory*, Rawat Publications, Jaipur, 1980

Ahuja Mukesh, *Widows Role Adjustment and Violence*, Vishwa Prakashan, New Delhi, 1996

Ahuja Ram, *Indian Social System* Rawat Publications, Jaipur, 1993

Ahuja Ram, *Society in India*, Rawat Publications, Jaipur, 1999

Barrelt M and McIntosh M, *The Antisocial Family*, Verso, London, 1982

Beteille Andre, *Caste Class and Power*, California University, Berkeley, 1965

Beteille Andre, *Inequality Among Men*, Oxford University Press Delhi, 1977

Blumer H, *Symbolic Interactionism Perspective and Method* Prentice Hall 1969

Charles Wright Mills *The Sociological Imagination* Harmondsworth Penguin, 1979

Cohen Percy S, *Modern Sociological Theory*, Heinemann Educational Books, London, 1968

Collins Rendall, *Theoretical Sociology*, Rawat Publications, Jaipur 1997

Cooley C H, *Social Organisation* Schocker Books, 1962

Cooper D , *The Death of the Family* Penguin, 1972

Coser L A and Rosenberg B (eds) *Sociological Theory A Book of Readings*, Macmillan New York 1957

Cuff E C and Payne G C F , *Perspective in Sociology* George Allen and Unwin Ltd London, 1979

Desai A R , *Rural Sociology in India* Vora and Co , Bombay 1959

Desai I P , *Some Aspects of Family in Mahuva*, Asia Publishing House Bombay, 1964

Dube S C *Tradition and Development* Vikas Publishing House New Delhi, 1990

Durkheim E , *Rules of Sociological Method*, Free Press 1964

Etzioni, Amitai, *A Comparative Analysis of Complex Organisations*, Free Press, New York 1975

Fletcher Ronalld *Sociology Its Nature Scope and Elements* Bots Ford Academic and Educational Ltd London 1980

Freud Sigmund, *The Psychopathodology of every day life*, Harmonds worth, Penguin 1975

Garfinkel H , *Studies in Ethnomethodology* Prentice Hall, Englewood Cliffs, NJ 1967

Ghurye G S , *Caste, Class and Population*, Popular Book Depot, Bombay, 1961

Gidden Anthony, *Sociology*, Cambridge (Polity), U K , 2001

Ginsberg Morris, *Sociology*, Oxford University Press, London, 1963

Gore M S , *Urbanisation and Family Change*, Popular Prakashan, Bombay, 1968

Gore M S , *Education and Modernisation in India*, Rawat Publication, Jaipur, 1982

Gouldner Alvin W and Gouldner Helen P, *Modern Sociology An Introduction to the Study of Human Interaction*, Harcourt, Brace & World Inc , New York, 1963

Gupta Dipankar, *Social Statification*, Oxford University Press, Bombay, 1998

Haralambos Michael and Heald Robin, *Sociology Themes and Perspectives*, Oxford University Press, 1981

Horton Paul B and Hunt, Chester L, *Sociology*, McGraw-Hill, Singapore, 1984

Illich Ivan, *Deschooling Society*, Harmondsworth, Penguin, 1973.

Inkels Alex, *What is Sociology*, Prentice Hall, New Delhi, 1965.

Jean Piaget and Barbel Inhelder *The Psychology of the Child* Basic Books New York, 1967

Kapadia K M , *Marriage and Family in India* Oxford University Press Bombay, 1972

Karve Irawati *Kinship Organisation in India* Deccan College Monograph Pune, 1953

Kingsley Davis *Human Society*, The Macmillan Co , New York 1965

Kothari Rajni, *Caste in Indian Politics*, Orient Longman, New Delhi 1970

Laing R D *The Politics of the Family* Penguin Harmondsworth, 1967

Leach E R , *A Runaway World* BBC Publications London, 1967

Lundberg G A *Sociology* Harper and Brothers, New York, 1954

Macionis John J and Plummer Ken *Sociology a Global Introduction* Prentice Hall Europe, 1997

MacIver R M and Page Charles H , *Society An Introductory Analysis* Macmillan & Co Ltd, London, 1962

Malinowski Bramislaw, *A Scientific Theory of Culture*, University of North Carolina Press 1944

Mannheim Karl *Man and Society*, Routledge and Kegan Paul, London, 1960

Marx Karl, *Communist Menifesto*, Progress Publishers, Moscow, 1967

Mead G.H *Mind Self and Society*, University of Chicago Press, 1962

Merton, Robert K , *Social Theory and Social Structure*, Amerind Publishing Co Pvt Ltd 1968

Meynand Jean *Social Change and Economic Development* UNESCO Publication, 1963

Mills C W *The Sociological Imagination* (4th ed) Oxford University Press 1959

Mukerjee D P , *Diversities*, People s Publishing House, Bombay, 1958

Mukerjee R K , *Glimpses of Ancient India* Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay 1961

Murdock, George P , *Social Structure* Macmillan Company New York 1949

Myrdal Gunnar, *Asian Drama* The Penguin Press Harmmdsworth 1968

Ogburn and Nimkoff *Sociology*, Houghton Mifflin Company, 1958

O' Donell Mike, *Introduction to Sociology*, Thomas Nelson and Sons Ltd, UK, 1997

Parsons Talcott, *Essays in Sociological Theory*, Light and Life Publishers, New Delhi, 1975

Prabhu P N , *Hindu Social Organisation*, The Popular Book Depot, Bombay, 1954

Rawat H K , *Sociological Thinkers and Theorists*, Rawat Publications Jaipur 2001

Rawat H K , *Encyclopaedia of Sociology* Rawat Publications, Jaipur, 2001.

Rose Peter I, Glazer Myron and Glarger Penina Migdal, *Sociology Inequiring into Society*, St Martin's Press, New York, 1982

Ross, E. A , *The Foundation of Sociology*, The Macmillan Co, New York, 1956

Roucek Joseph S , *Social Control* D Van Nostrand Company, INC New York, 1905

Schaefer R T, *Sociology*, McGraw-Hill Inc, USA, 1989

Smelser Neil J , *Sociology An Introduction*, Wiley Lastern Private Ltd , New Delhi, 1967

Smith Ronald W and Preston Frederick W , *Sociology An Introduction*, St Martin's Press, New York, 1977

Spencer Metta, *Foundations of Modern Sociology*, Prentice Hall Inc, New Jersey, 1976

Tonnies F , *Community and Society*, Harper and Row, 1957

Weber M., *The Protestant Ethic and The Spirit of Capitalism*, Unwin Univ Books, 1965

Woods SFJ , *Introductory Sociology*, Harper, New York, 1954

Yogendra Singh, *Modernisation of Indian Tradition*, Rawat Publications, Jaipur, 1994

Young K , *An Introductory Sociology*, American Book Co, New York, 1939

Zimmerman Carle C , *Family and Civilization*, Harper and Brothers, New York, 1949

✧✧✧